प्रसाद के नारी चरित्र

[आधुनिक भारतीय समाज तथा हिन्दी साहित्य में नारी-स्थिति के विस्तृत विवेचन के साथ]

डॉ. देवेश ठाकुर,
एम० ए०, पी-एच. डी.,
प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, रामनारायण रुइया कॉलेज,
बम्बई-१९ ।

मूल्य : २८.००

मुद्रक :
राजकमल प्रिंटिंग प्रेस
तुर्कमान गेट, दिल्ली-६ ।

गुरुवर आचार्य नन्ददुलारे जी वाजपेयी को—

सम्पन्न और स्वस्थ साहित्यिक दृष्टि के साथ-साथ

जिनके पास

मानवीय संवेदना और अमित उदारता

भी है

प्रस्तुत पुस्तक का शीर्षक : स्पष्टीकरण

'प्रसाद के नारी चरित्र' सागर विश्वविद्यालय से पी.—एच. डी. की उपाधि के लिए स्वीकृत शोध प्रबन्ध है। वस्तुतः प्रबन्ध का पूर्ण शीर्षक 'आधुनिक भारतीय समाज तथा हिन्दी साहित्य में नारी स्थिति और प्रसाद के नारी चरित्र' है। किन्तु मुख-पृष्ठ पर इतना लम्बा शीर्षक कुछ अच्छा नहीं लगता, इसीलिए 'प्रसाद के नारी-चरित्र' के रूप में उसे छोटा कर दिया गया है। वैसे प्रस्तुत प्रबन्ध में भारतीय समाज तथा हिन्दी साहित्य में नारी-स्थिति का विवेचन प्रसाद के नारी-चरित्रों को आधुनिक जीवन और साहित्य के परिवेश में देखने के उद्देश्य को लेकर ही हुआ है। प्रबन्ध के अन्तिम चार अध्यायों में की गई विवेचना से इस कथन की पुष्टि हो जाती है। इसीलिए प्रथम खण्ड में आधुनिक भारतीय समाज तथा हिन्दी साहित्य में नारी स्थिति का विवेचन और विश्लेषण किया गया है और द्वितीय खंड में प्रसाद के नारी-चरित्रों का विस्तृत विवेचन। साथ ही आधुनिक भारतीय समाज तथा हिन्दी साहित्य में नारी स्थिति के विवेचन के संदर्भ में उनकी नारी सम्बन्धी मान्यताओं एवं योगदान की विश्लेषणात्मक चर्चा की गई है। इस प्रकार प्रथम खण्ड विवेचना प्रधान बन पड़ा है और द्वितीय खण्ड विश्लेषण प्रधान। इसमें लेखक की अपनी क्या उपलब्धि रही है, यह तो सुविज्ञ समीक्षक-गण ही बता सकेंगे।

आभार प्रदर्शन

प्रस्तुत प्रबन्ध को मैंने श्रद्धेय आचार्य नन्द दुलारे जी वाजपेयी के मार्ग निर्देशन में लिखा है। सभी प्रकार की सुविधाओं और सबसे विशेष अपने अमित स्नेह और प्रोत्साहन से उन्होंने इस प्रबन्ध की लेखन-अवधि में मुझे साहित्यिक-क्षेत्र में प्रवेश करने के लिए जो शक्ति और प्रेरणा प्रदान की है, वह मेरे लिए एक अमूल्य निधि है। 'डॉक्टरेट' की उपाधि से कहीं अधिक मैं अपनी उपलब्धि उनके स्नेह और आशीर्वाद की प्राप्ति को ही मानता हूं।

श्रद्धेय भाई डॉ. चन्दू लाल दुवे और डॉ. मोहन चन्द्र जोशी ने इस संदर्भ में मुझे जो स्नेह, प्रेरणा और अपनापन दिया है, उसके अभाव में मैं कभी शोध-कार्य की कल्पना भी न कर पाता।

इसके साथ ही मैं उन सभी महानुभावों एवं संस्थाओं का आभार स्वीकार करता हूं जिन्होंने मुझे इस दिशा में मनोबल प्रोत्साहन और सहायता प्रदान की है और जिनकी प्रेरणा से ही मैं इस श्रम-साध्य कार्य को पूर्ण कर पा सका हूं। अस्तु।

—देवेश ठाकुर

अनुक्रमणिका

स्पष्टीकरण

क्रान्ति : आधुनिक युग का आरम्भ

(तिथि-निर्धारण और विषय के महत्त्व पर विचार)

क्रान्ति और नवीन युग

प्राणी-मात्र का विकास सृष्टि की सहज स्वाभाविक प्रक्रिया है। प्रत्येक चेतन वस्तु अपनी अवस्था, वातावरण और प्रकृति के अनुसार गतिशील बनी हुई है। जीवन का प्रत्येक अणु दिन-प्रतिदिन की साधारण-असाधारण घटनाओं के माध्यम से भिन्न-भिन्न प्रकार के मोड़ों पर पहुँचता हुआ भी अपने विकास की शृंखला में सुसम्बद्ध है। प्रत्येक वस्तु के अस्तित्व और उन्नति की पृष्ठभूमि में विकास की भावना ही कार्यरत होती है। ठीक इसी प्रकार से मानव-समाज भी सृष्टि के प्रथम चरण से विकास पथ पर अग्रसर होता हुआ आज की उन्नत एवं सर्वतोमुखी विकसित सामाजिक व्यवस्था तक आ पहुँचा है, और सदैव ही की भाँति आज भी अपने नये-नये स्वरूपों में नई-नई मान्यताओं को स्थापित्व प्रदान कर प्रगति के पथ पर अग्रसर है। समाज का विकास निरन्तर प्रक्रिया एवं गतिशीलता का परिणाम होता है। उस की मान्यताएँ संस्कृति तथा परम्पराएँ समय-समय पर नवोदित प्रतिभाओं द्वारा परिवर्धित एवं संशोधित होती रहती हैं, और उनको नए युग का नया प्रकाश मिलता रहता है। लेकिन विकास की इस परम्परा के क्रम में कभी कभी किसी विशेष घटना को लेकर कोई महान् परिवर्तन होता है और हमें उस परिवर्तित व्यवस्था में पिछली परम्पराओं तथा आदर्शों से सर्वथा नवीन कुछ तथ्य दिखाई पड़ते हैं, जो पुरातन परिपाटी के जीर्ण आवरण को उघाड़ कर किसी नवीन दृष्टिकोण तथा नई जागृति की भावना का शिलान्यास करते हैं। यह नया दृष्टि-कोण सामाजिकों को अपने बौद्धिक प्रयोग के लिए नवीन भावभूमि प्रदान करता है। इस नवीन भावभूमि की अवतारणा उस महत्वपूर्ण जागृति एवं आमूलमूल-परिवर्तन का परिणाम होती है जिसे हम क्रान्ति के नाम से पुकारते हैं, और इसी महान् क्रान्ति के बाद का युग नवीन युग कहलाता है। इस नवीन युग में समाज परम्परागत संकीर्ण विश्वासों को वहीं छोड़, नवीन आदर्शों की स्थापना करते हुए अपने लिए उन्नति और विकास के नवीन मापदण्डों की योजना करता है।

क्रान्ति अपने स्वभाव में किसी विस्फोट की भाँति अचानक ही फूट पड़ने वाली ज्वाला नहीं है। इस विषय को लेकर वास्तविकता यह है कि यह परिवर्तन-

कारी भावना पिछली रूढ़िवादिता, अन्धविश्वासों और शोषण के विरुद्ध सामाजिकों के मस्तिष्क में नवीन दृष्टिकोण एवं नए विश्वासों के रूप में उपज कर धीरे-धीरे परिपक्व होती रहती है, और जब प्रत्याशित सफलता की सम्भावना को सुदृढ़ और व्यावहारिक धरातल की प्राप्ति हो जाती है तो किसी घटना-बिन्दु को लेकर वह प्रस्फुटित होती है और वहीं से क्रान्ति का सूत्रपात होता है। फलस्वरूप समाज को नया दर्शन मिलता है, नये आदर्श उसके सम्मुख आते हैं, अपने विश्वासों के प्रसार का उसे अवसर मिलता है और नई दिशा में चलने की प्रेरणा प्राप्त होती है। यहाँ पर 'क्रान्ति' शब्द का प्रयोग करते हुए यह जान लेना भी आवश्यक है कि इस 'शब्द' के मूल में 'शिव' की भावना निहित है। क्रान्ति सदैव ही शुभ के लिए, मंगल की ओर अग्रसर होने के लिए ही होती है। उसके द्वारा समाज के अमंगल और संकुचित दृष्टिकोण का विनाश होता है और इस प्रकार से समाज प्रगति और उन्नति के नये आदर्शों को लेकर नये युग के विकास की ओर उन्मुख होता है।

क्रान्ति से पूर्व का भारत

किसी भी क्रान्ति और उससे प्रसूत नवीन युग की पृष्ठभूमि में राजनैतिक विषमता, शासकीय निरंकुशता, आर्थिक शोषण, धार्मिक कट्टरता एवं सांस्कृतिक रूढ़वादिता ही मुख्य कारण होते हैं। अट्ठारहवीं और उन्नीसवीं शती के मध्य योरूपीय राजनीति के रंगमंच पर जिन महान् क्रान्तियों को अभिनीत किया गया, उन सब के मूल में किसी न किसी रूप में उपर्युक्त कारण ही विद्यमान थे। फ्रांस की राज्य-क्रान्ति लुई-कालीन जीर्ण-शीर्ण सामाजिक अव्यवस्था, जनता के लिए आर्थिक एवं राजकीय नियमों की असमानता, निर्धन कृषकों के प्रति शासकों की शोषण प्रवृत्ति, एकता के अभाव एवं आभिजात्य वर्ग की अनन्त सुविधाओं तथा सम्राट के असीमित अधिकारों के विरुद्ध वहाँ के बुभुक्षित एवं शोषित समाज की विद्रोहिनी हुंकार थी। वाल्टेयर और रूसो ने स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृभाव का नारा लगाकर तत्कालीन सामाजिक प्रथाओं एवं मान्यताओं पर गहन प्रहार करते हुए सम्राट् होने के दैवी अधिकार के सिद्धान्त का साहसिक खण्डन किया था। फ्रांस के सम्राट् ने पहली बार जनता की शक्ति में वह विश्वास देखा था जो अनाधिकृत शोषण और अत्याचारों के विरुद्ध अपना मस्तक ऊँचा कर बड़े से बड़े साम्राज्य को विनष्ट कर सकता है और अकल्याणकर रूढ़ियों एवं अंधविश्वासों पर आधारित सिद्धान्तों को मिटा कर बौद्धिकता की मनोभूमि पर अपनी मातृभूमि के लिए पुरातनता से सर्वथा नवीन सामाजिक, राजनैतिक अथवा धार्मिक व्यवस्था को जन्म दे सकता है[1]।

१—स्मिथ, पूजी तथा लायड - वर्ल्ड हिस्ट्री, पृष्ठ ३०५.

इससे पूर्व इंगलैंड में १६८८ में हुई रक्त-हीन राज्य-क्रान्ति भी सम्राट की असह्य निरंकुशता के विरोध तथा नागरिकों के अधिकार प्राप्त करने की दिशा में एक सफल चेष्टा थी। राजा की सार्वदेशिक एवं सार्वभौमिक सत्ता की मान्यता के विरोध के फलस्वरूप ही वहाँ की जनता अपने अधिकारों की व्याख्या करवाती हुई राजा की अधिकार शक्ति की सीमित्र रेखा खींच सकी[1]। आर्थिक तथा राजनैतिक क्रान्ति का अन्य उदाहरण अमेरीका का स्वातंत्र्य-युद्ध है। १८वीं शती के सातवें दशक तक अमेरीका के तेरह उपनिवेश अंग्रेज़ों के आधीन थे। इन उपनिवेश वासियों ने व्यापार की असुविधाओं तथा अधिकतम कर के रूप में आर्थिक शोषण के विरुद्ध[2] विरोध का स्वर ऊँचा किया, और अंग्रेज़ों के सप्तवर्षीय युद्ध (१७५६--६३) की विजय से उत्पन्न अति विश्वास पर १७७६ के स्वातंत्र्य युद्ध और विजय के माध्यम से गहरा आघात पहुँचाया। उस काल की अमेरीकी जनता का प्रतिनिधित्व वाशिंगटन ने 'प्रतिनिधित्व बिना कर नहीं देंगे' का नारा लगा कर किया था और उनको अपने अधिकारों के प्रति चेतना दी थी।

योरूपीय देशों की भाँति एशिया में भी जब चीन की मंचू सरकार अंग्रेज़ों द्वारा किए जाते हुए अफीम के व्यापार पर नियन्त्रण न कर सकी, उनके द्वारा प्रोत्साहित एवं प्रचारित ईसाई धर्म को अपने देश की मिट्टी में पल्लवित होने से रोक सकने में असमर्थ रही और देश की दिन प्रतिदिन गिरती हुई आर्थिक दशा को सुधारने की दिशा में प्रयत्नशील न हो सकी, तो निदान १८५० में चीन की जनता ने 'टाइपिंग विद्रोह' के रूप में अपनी तत्कालीन सरकार के प्रति असंतोष प्रकट किया और देश की रक्षा की बागडोर स्वयं अपने हाथ में लेनी चाही। इसी प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक भारतीय समाज भी सभी क्षेत्रों में आदर्श-विहीन तथा आत्म-विस्मृत हो अधःपतन की चरम सीमा पर पहुँच चुका था। राजनैतिक व्यवस्था के क्षेत्र में मुग़ल साम्राज्य का महान् प्रासाद बहादुर शाह के अशक्त व्यक्तित्व की नींव पर खड़ा हुआ डगमग कर रहा था। महाराष्ट्र जाति के गौरवपूर्ण अभ्युत्थान का शिर विधाता के कठोर वज्र-दण्ड से चूर-चूर हो[3] विनष्ट हो चुका था। सिक्खों का विजय-सूर्य उदयाचल के शिखर पर ही[4] तिरोहित हो किसी अनचाहे अंधकार को निमंत्रण दे रहा था। सारा देश खण्डों-उपखण्डों में विभाजित हो, अपनी मूल-शक्ति क्षीण कर चुका था। कहीं भी कोई ऐसी शक्ति

१—स्मिथ, पूजी तथा लायड : वर्ल्ड हिस्ट्री, पृष्ठ २४५

२—जवाहर लाल नेहरू : ग्लिम्प्सेस ऑफ वर्ल्ड हिस्ट्री, पृष्ठ ३५८.

३—विवेकानन्द चरित : ले० सत्येन्द्र नाथ मजूमदार : अनु० मोहिनी मोहन गोस्वामी, पृष्ठ ३०.

४—वही, पृष्ठ ३०.

शेष नहीं थी जो इन बिखरे सूत्रों में ऐक्य स्थापित कर किसी केन्द्रीय शक्ति का निर्माण कर सकती । और इसी प्रकार से तत्कालीन संगठन-विहीन समाज राष्ट्रीय स्तर पर देश के हित की बात सोच सकने में असमर्थ था । अब तक वणिक अंग्रेजों का मानदण्ड राजदण्ड के रूप में परिवर्तित हो चुका था । उन्होंने राज्य विस्तार की नीति अपना कर देश के शासन व्यवस्था पर अपना प्रभुत्व जमा लिया । छोटे-बड़े बहुत से राज्य उनकी अपहरण नीति के मुख्य मृगया क्षेत्र बन चुके थे, और उनके द्वारा आनीत पाश्चात्य शिक्षा, भाषा, सभ्यता एवं धर्म के माध्यम से भारतीय दृष्टिकोण में क्रान्ति की तीव्र लहर दौड़ रही थी । इस प्रकार बारहवीं शताब्दी के भारतवर्ष में जिस प्रकार असहाय होकर हिन्दू और बौद्ध एक ही साथ सिर झुकाते हुए इस्लामी राज्य-शक्ति के सामने खड़े हुए थे, अट्ठारहवीं उन्नीसवीं शताब्दी में ठीक उसी तरह हिन्दू और मुसलमान दोनों बदनसीब जातियाँ प्रायः बिना प्रतिवाद के अंग्रेजों के चरणों में झुक चुकी थीं[1] ।

सामाजिक स्थिति के क्षेत्र में हिन्दू जाति का तीव्र गति से ह्रास हो रहा था । इस्लाम के प्रभाव से आत्म-रक्षा के लिए 'सती, बाल-विवाह, पर्दा, खान-पान के बन्धन एवं छुआ-छूत आदि की जो दीवारें खड़ी की गई थीं, इस काल तक आते-आते उन दीवारों ने उनकी अपनी उन्नति के मार्ग में अवरोध उत्पन्न कर दिया' । जाति बहिष्कार की प्रथा बहिष्कृत हिन्दुओं में हिन्दू-धर्म के प्रति क्षोभ उत्पन्न कर रही थी । सम्पूर्ण समाज में रूढ़ियों, अन्ध-विश्वासों एवं परम्परागत संकीर्णता का स्तर ऊँचा था ।[2] बाल-विवाह, बहु-विवाह तथा गर्भ-विवाह सर्व प्रचलित[3] थे । जाति तथा वर्ण-भेद, विधवा जीवन की विडम्बना, महिला समाज में शिक्षा का अभाव इनकी व्याप्ति के परिणाम स्वरूप हिन्दू जनता के मन में उत्पन्न आक्रोश किसी न किसी बहाने फूट पड़ने के लिए अवसर की प्रतीक्षा कर रहा था । ये सभी विषमताएँ देश भर में व्याप्त थीं ।

हिन्दू जाति की भाँति यह काल मुसलमानों की भी सामाजिक अवनति का काल था । मुसलमान जाति में व्याप्त अशिक्षा उन्हें नवीन दिशा दे सकने में सर्वथा असमर्थ थी । नवाबों के अधिकार अंग्रेजी शासन द्वारा छीने जा चुके थे । कम्पनी की राजनीति द्वारा उन की स्थिति का पूर्णतः अधःपतन हो चुका था । धर्म-गुरु भी अपने क्षेत्र में निरंकुश न रह गये थे । उन के बनाये धार्मिक नियमों का निषेध कर, विदेशियों ने अपने अनुकूल नियमों को भारतीय सामाजिक एवं राजनैतिक व्यवस्था में मान्यता प्रदान की थी । काजियों के प्रभुत्व तथा फारसी भाषा का

१—विवेकानन्द चरित्र : ले० सत्येन्द्र नाथ मजूमदार : अनु० मोहिनी मोहन, गोस्वामी पृष्ठ ३० ।

—दयानन्द सरस्वती : ले० हरिश्चन्द्र विद्यालंकार, पृष्ठ ४६ ।

३—वही, पृष्ठ ४९ ।

वहिष्कार कर अंग्रेजों ने मुसलमानों की सामाजिक सुदृढ़ता के मूल पर घातक प्रहार किया था। इस प्रकार मुसलिम जाति के संरक्षक नवाब और धर्म-गुरू दोनों ही शक्ति-हीन हो, अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा खो चुके थे। उनमें अब नेतृत्व की योग्यता नहीं रह गई थी[1]।

सामाजिक अव्यवस्था की तरह हिन्दुओं का धार्मिक जीवन भी निष्क्रिय और खंडित हो चुका था। पूर्व मध्य युगीन धार्मिक परम्परा की उत्कृष्टता लुप्त-प्राय: हो चली थी। विशुद्ध वैदिक धर्म, वैष्णव, शैव तथा शाक्त आदि सम्प्रदायों-उपसम्प्रदायों आदि में विभक्त होकर शक्तिहीन हो आलस्य प्रमाद और गतिहीनता की सृष्टि कर रहा था। ब्राह्मण एवं आचार्यगण वाह्य आडम्बरों के कुहरे में वैदिक काल की वास्तविक ज्योति को भुला चुके थे। देश भर में मन्दिर और मठों का निर्माण कर देवदासी के रूप में खुला अनाचार हो रहा था। धर्म के तीनों अंगों (ज्ञान, कर्म तथा भक्ति) के प्रति जनता में उदासीनता व्याप्त हो रही थी। 'स्वामी शंकराचार्य द्वारा चलाया हुआ अद्वैतवाद जन-साधारण और कलुष आत्माओं में पहुँचकर भारतीय आत्मा में निष्कर्मण्यता तथा पाप वासना का महान् कारण वन रहा था।' 'अहम् ब्रह्मास्मि' कह कर साधु-संत, जो भिन्न-भिन्न मत-मतान्तरों के परिणाम स्वरूप प्रकट हुए थे, अपने आप को पाप-पुण्य की भावना से ऊपर समझने लगे थे[2]।' भक्ति-मार्ग अपनी पुनीत भावना को त्याग, राधा-कृष्ण को सामान्य प्रेयसी-प्रेयस के रूप में स्थापित कर, अपने को धन्य समझ, घोर शृंगारिक भावना की अभिवृद्धि कर रहा था[3]। हिन्दू धर्म के साथ-साथ जैन-धर्म भी अपनी अहिंसा की मूलभूत भावना का परित्याग कर कायरता, विडम्वना तथा निष्क्रियता का शिकार हो चुका था।

ऐसे समय में, जब भारतीय समाज अपने कुसंस्कारों के बोझ से दब कर आत्मरक्षा कर सकने में असमर्थ था, अँग्रेज़ों ने परिस्थितियों तथा वातावरण का लाभ उठाकर ईसाई मत का प्रचार करना आरम्भ कर दिया। विजित जाति की मनोवृति के अनुकूल बहुत से भारतीयों को इस नये धर्म में एक नया दर्शन मिला। हिन्दू-धर्म की संकीर्णता से ऊवे हुए लोग ईसाई मिशनरियों के धर्म-प्रचार के शान्त उपायों तथा आर्थिक लोभ से आकर्षित हो, उस में दीक्षित होने लगे। पाश्चात्य सभ्यता और शिक्षा के प्रति भारतीयों में एक विश्वास उत्पन्न हो गया और धीरे-धीरे वे इस निष्कर्ष पर पहुँचने लगे कि पतनोन्मुख भारतीय समाज की रक्षा पश्चिमी सभ्यता और संस्कृति के आलोक में ही की जा सकती है।

दूसरी ओर, इंग्लैंड में हुई औद्योगिक क्रान्ति ने भारत के आर्थिक जीवन

१—पन्निकर : ए सर्वे ऑफ इन्डियन हिस्ट्री, पृष्ठ २८१।

२—महर्षि दयानन्द सरस्वती : ले० हरिश्चन्द्र विद्यालंकार, पृष्ठ ४५।

३—वही, पृष्ठ ४५।

को बहुत अधिक प्रभावित किया। भारत, अंग्रेजों के आधीन होने के कारण उनके देश की उन्नति के लिए कच्चे माल के निर्यात का साधन बन गया। परिणाम स्वरूप देश की आत्म-निर्भर ग्राम्य-व्यवस्था खंडित हो गई। अब हिन्दू और मुसलमान दोनों जातियों के सम्मुख जीविका उपार्जन की समस्या मुख्य थी। न युग में भारतीय शिल्प-कला का ह्रास हुआ। देश का धन विदेशी हाथों देश से बाहर जाने लगा। विदेशियों की यह चतुर्मुखी शोषण-नीति देश भर में व्याप्त हो गई। परिणाम स्वरूप इस के प्रति सभी वर्गों में असंतोष उत्पन्न हो कर सन् १८५७ की महान् क्रान्ति का सूत्रपात हुआ।

क्रान्ति के परिणाम : मूल्य और महत्त्व

परन्तु देश-व्यापी क्रान्ति की यह लहर जो एक समय सतलज से नर्मदा तक व्याप्त हो गई थी, अंग्रेजों शासन के सुदृढ़ हाथों दबा दी गई। स्वातन्त्र्य संग्राम की इस असफलता के बाद देश का शासन-सूत्र कम्पनी के हाथों से निकल कर ब्रिटिश पार्लियामेंट के हाथों में चला गया और महारानी विक्टोरिया देश की साम्राज्ञी घोषित हुई। इस प्रकार भारतीय इतिहास में पहली बार विदेशी सत्ता का आविर्भाव हुआ। ईस्ट इण्डिया कम्पनी का अन्त हो गया और 'कम्पनी के डाइरेक्टरों ने इस विशाल देश को महारानी के प्रत्यक्ष नियन्त्रण में समर्पित' करके सन्तोष ले लिया। १ नवम्बर, १८५८ में हुई अपनी घोषणा में साम्राज्ञी ने भारतीयों को विश्वास दिलाया कि उनके साथ अन्य प्रजाजनों जैसा ही न्याय-संगत व्यवहार किया जाएगा। जाति-पाँति तथा रंग-भेद का विचार न कर सब को योग्यतानुसार उन्नति के समान अवसर प्रदान किये जाएँगे तथा देश के सर्वतोन्मुखी विकास के लिए शासन सदैव ही प्रोत्साहन देता रहेगा। इतनी उदार घोषणा, पराजित एवं हतोत्साहित भारतीयों के लिए, आशा का सुनहरा सन्देश लेकर आई थी। परन्तु व्यावहारिक रूप में अंग्रेजों की नीति इसके विपरीत ही थी। क्रांति के पश्चात् अंग्रेज और भारतीयों के बीच आंतरिक विद्वेष की दीवारें खड़ी हो गई। इतना ही नहीं, हिन्दू और मुसलमान भी परस्पर वैमनस्य की भावना लिये दो विरोधी शिविरों में विभक्त हो गये। मुसलमानों की धारणा थी कि क्रान्ति की असफलता का कारण हिन्दुओं की असहयोग नीति ही है और इसी कारण मुगल साम्राज्य का जर्जर भवन सदा के लिए धूलि-धूसरित हो गया है।

अब शासन-शक्ति ब्रिटिश पार्लियामेंट में जाने के परिणाम स्वरूप उसकी शक्ति विस्तृत हो गई। भारत में सुरक्षा और शान्ति स्थापित करने के लिए भारतीयों के साथ बाह्य रूप से उदार नीति का व्यवहार होने लगा। उच्च पदों

१—स्मिथ : द आक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृष्ठ ७०६।

२—सी. वाई चिन्तामणि : इण्डियन पालिटिक्स सिन्स द म्यूटिनी, से उद्धृत।

पर नियुक्ति का मापदण्ड धर्म तथा रंग न होकर योग्यता घोषित किया गया। क्रान्ति के पश्चात् अंग्रेज़ भारतीयों की ओर से सतर्क हो गये थे। भारतीयों के अन्तर का विद्रोह किसी भी क्षण बाहर फूट सकता है, उन्हें अज्ञात न था। अतः आत्म-रक्षा के दृष्टिकोण से अब देश में अंग्रेज़ी सेना का आधिक्य हो गया। देशीय सेना में उच्च वर्ग के भारतीयों की नियुक्ति न्यूनाधिक रूप से बन्द कर दी गई तथा युद्ध सामग्री अंग्रेज़ी सेना के आधीन हो गयी।

राजनीति तथा बौद्धिकता के अनुपात में उपर्युक्त क्रान्ति को धार्मिक तथा भावात्मक कहना ही अधिक तर्क संगत होगा। राजनैतिक दृष्टि से इस क्रान्ति को असफल कहा जा सकता है क्योंकि इसके पश्चात् भारत में अंग्रेज़ी शासन सुदृढ़तर हो गया। परन्तु अन्य क्षेत्रों को लेकर इसका मूल्य और महत्व कम नहीं है। क्रान्ति के पश्चात् कम्पनी की उस प्रत्यक्ष शोषण नीति का अन्त हो गया, जो क्रान्ति के कारणों में मुख्य थी। साम्राज्य-विस्तार की भावना का अन्त करके अब उन्होंने अपनी समस्त शक्ति का उपयोग विजित क्षेत्रों में शान्ति और सुरक्षा की स्थापना में आरम्भ कर दिया। अंग्रेज लोग अब इस तथ्य को भली-भाँति परिचित हो गये थे कि भारतीय जनता में अपनी सामाजिक परम्पराओं तथा धार्मिक विश्वासों के प्रति अगाध श्रद्धा है। अतः इन क्षेत्रों में किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप कभ भी महान् विद्रोह की भूमिका प्रस्तुत कर सकता है। इसी कारण उन्होंने सामाजिक तथा धार्मिक पहलुओं पर हस्तक्षेप की नीति का अन्त कर दिया।

इधर भारतीयों में इस क्रान्ति के पश्चात् नई जागृति का दिशा-ज्ञान हुआ। स्वतन्त्रता के महत्व को उन्होंने पहली बार अनुभव कर, अपने हितों को राष्ट्रीय स्वरूप देना प्रारम्भ किया। वास्तव में सन् १८५७ की क्रान्ति भारतीयों की एक परीक्षा थी कि वे किस सीमा तक एकता, स्वतन्त्रता तथा जन-शक्ति के महत्व को समझ सके थे। सदियों पश्चात् भारतीय राजनीति में उस सामान्य शासन-प्रणाली का अभ्युदय हुआ था जिससे भारतवर्ष एकता के सूत्र में बँध पाया[1]। एकता की इस भाव-भूमि का भी भारतीयों पर पूर्ण प्रभाव पड़ा और वे पहली बार यह अनुभव करने लगे कि समस्त भारतीय राष्ट्रीय स्तर पर एक हैं। राष्ट्रीय भावना के इस उद्भव ने उनके मस्तिष्क में नव-जागृति की भाव-भूमि प्रस्तुत कर भारत में नवीन युग के विकास का कार्य प्रस्तुत किया।

भारत में नवीन युग—तिथि निर्धारण

भारतीय जन-क्रान्ति के पश्चात् का काल भारतीय जन-जागृति का काल था। सन् १८५७ से सन् १८८५ तक के मध्य सभी क्षेत्रों में देश-व्यापी परिवर्तन हुए और उन परिवर्तनों ने भारतीय मस्तिष्क को राष्ट्रीयता सम्बन्धी खाद्य सामग्री

१—के० एम० पन्निकर : ए सर्वे आफ इन्डियन हिस्ट्री, पृष्ठ २६०।

प्रदान की। किसी भी युगारम्भ की तिथि एक निश्चित तिथि न होकर एक काल-विशेष होती है और पूर्वकाल तथा मध्यकाल के मध्य कोई भी स्पष्ट रेखा इसलिये नहीं खींची जा सकती क्योंकि युगारम्भ किन्हीं वैज्ञानिक तथ्यों या परिणामों पर आधारित न होकर जन साधारण के विचारों, उनकी भावनाओं तथा कार्य कलापों से सम्बन्धित होता है, और धीरे-धीरे विकास की प्राप्ति के माध्यम से नवीन काल की पूर्व पीठिका निर्मित होती है और समाज के आदर्शों को एक नया दर्शन मिलता है।

फिर भी युगारम्भ की तिथि सामान्यतः ऐतिहासिक क्रान्ति और राजनैतिक परिवर्तन, समाज तथा धर्म सम्बन्धी सुधार, शैक्षणिक विकास तथा राष्ट्रीय भावनाओं के प्रादुर्भाव की पृष्ठभूमि में ही निश्चित की जा सकती है। इन्हीं संकेतों के आलोक में भारत में युगारम्भ की तिथि का निर्धारण भी किया जा सकता है।

स्वतन्त्रता प्राप्ति की दिशा में सन् १८५७ की जन-क्रान्ति भारतीय इतिहास की सर्वप्रथम क्रान्ति है। यहीं से भारतीय समाज में सर्व-प्रथम विदेशी शासन की स्थापना होकर रूढ़िगत सामाजिक मान्यताओं में परिवर्तन होना प्रारम्भ हुआ। एक राष्ट्र, एक भाषा तथा एक लक्ष्य की भावना को यहीं प्रश्रय प्राप्त हुआ, और इसी से प्रेरणा प्राप्त कर, सम्पूर्ण देश नई जागृति और नए विश्वास को ले, आत्म-विकास और स्वतन्त्रता प्राप्ति की दिशा में अग्रसर हुआ।

क्रान्ति की असफलता के पश्चात् भारतीय शासन-सूत्र अंग्रेजी संसद के हाथों में चला गया। १८५८ के अधिनियम के अनुसार कम्पनी के शासन का अन्त होकर महारानी विक्टोरिया के द्वारा और उसके नाम का शासन आरम्भ हुआ। कम्पनी कालीन 'बोर्ड ऑफ् कन्ट्रोल' तथा 'कोर्ट आफ् डाइरेक्टर्स' में निहित शक्ति भारत सचिव को प्रदान की गई और उसकी सहायता के लिए १५ सदस्यों की 'भारतीय परिषद' का निर्माण हुआ। देशी राजाओं को अपने राज्यों में स्वतन्त्रता प्रदान की गई जिसके परिणाम स्वरूप देश की संरक्षकता साम्राज्ञी, भारत सचिव तथा देशी राजाओं के बीच विभक्त हो गई। इस प्रकार शासन-प्रबन्ध के क्षेत्र में अपूर्व व्यवस्था कर अंग्रेजों ने भारतवर्ष में राज्य करना आरम्भ किया। १८५७ से १८८५ तक भारतीय राजनैतिक व्यवस्था में जो भी परिवर्तन हुए वे सब अंग्रेजी राज्य तथा ब्रिटिश संसद के बदलते हुए नियमों के परिणाम थे। अंग्रेजों ने अपनी कार्य-प्रणाली को शिक्षा प्रसार से आरम्भ किया। १८५७ में ही मद्रास, बम्बई तथा कलकत्ता विश्वविद्यालयों की स्थापना हो गई थी। अब नगरों में शिक्षा विभाग खोले गए। वर्नाक्यूलर मिडिल पाठशालाओं तथा हाई स्कूलों की स्थापना तथा उनका विकास करके १८८२ तक देश भर में शिक्षा

संस्थाओं का जाल सा बिछा दिया गया। १[illegible]२ में हंटर कमीशन के निदेश से प्राथमिक शिक्षा को स्थानीय बोर्ड के आधीन करके लगभग सभी प्रमुख नगरों में शिक्षा प्रसार का उचित प्रबन्ध किया जा चुका था। इससे पूर्व, १८७८ में पंजाब विश्वविद्यालय कॉलेज का विकास हो चुका था। इसके पाँच वर्ष बाद प्रयाग विश्वविद्यालय की स्थापना हुई।

भारत में नवीन जागृति का दूसरा प्रमाण इस काल में हुए बहुदिशि सामाजिक एवं धार्मिक सुधार थे। आवागमन के साधनों तथा डाक-व्यवस्था के विकास ने देश के दूरस्थ छोरों को परस्पर मिला दिया था। सम्पूर्ण देश में समान न्याय-प्रणाली की स्थापना, जमींदारों के असीमित अधिकारों की सीमा-बद्धता तथा कर आदि के नियमों की सुस्पष्ट व्याख्या ने देश वासियों में एकीकरण तथा समान दिशा में बुद्धि-प्रयोग की भावना को विकसित कर, उन्हें, पहली बार जातीयता के संकीर्ण घेरे से निकाल, राष्ट्रीयता के स्वरूप को सम्मुख रख, सोचने की भावभूमि प्रदान की थी। स्थानीय संस्थाओं के निर्माण से नागरिक-गण अपने अधिकारों के प्रति जागरूक हो, स्वशासन के महत्व को अनुभव कर धीरे-धीरे अपने कर्तव्यों से अवगत हो रहे थे। इसी समय भारतवर्ष में महान् सुधारकों का जन्म हुआ जिन्होंने जन-जीवन की प्रगति और विकास के प्रति उदासीन एवं आशंकित अवस्था को नवीन उत्साह और शक्ति प्रदान की। सुधारकों की यह परम्परा १९वीं शताब्दी के प्रथम चरण में राजा राम मोहन राय से आरम्भ हो कर दयानन्द, विवेकानन्द एवं महादेव रानाडे आदि महान् सुधारकों से मार्ग दर्शन प्राप्त करती हुई गाँधी जी तक शृंखलित रही और उसने राष्ट्र के भाग्य-निर्माण में विशेष सहायता प्रदान की। इन सुधारकों द्वारा लाई गई सामाजिक एवं धार्मिक पुनरुत्थान की इस लहर ने पतनोन्मुख समाज को नए आदर्शों का सम्बल प्रदान किया, जिस से खंडित और तिरोहित होती हुई सामाजिक प्रतिष्ठा को बल मिला। धार्मिक जागृति और सामाजिक उन्नयन के इस प्रयास में ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज, आर्य समाज तथा ब्रह्म विद्या समाज आदि संस्थाओं के नाम उल्लेखनीय हैं। इन्हीं संस्थाओं के सतत सक्रिय प्रयत्न से देश में सामाजिक प्रगति के साथ-साथ राष्ट्रीय भावना को विकसित होने का श्रेय प्राप्त हुआ और राष्ट्रीय स्तर पर संस्थाओं की स्थापना प्रारम्भ हुई।

प्रादेशिक संस्थाओं की स्थापना की दिशा में भी इस काल में प्रयत्न हुआ। क्रान्ति से पूर्व १८५१ में प्रसन्न कुमार ठाकुर, डा० राजेन्द्र लाल मित्र तथा हरिश्चन्द्र मुकर्जी के प्रयत्न से 'ब्रिटिश इन्डियन एसोसिएशन' की स्थापना हो चुकी थी। बंगाल से प्रेरणा प्राप्त कर दादाभाई नौरोजी तथा जगन्नाथ शंकर सेठ ने लगभग उसी समय बम्बई में 'बॉम्बे एसोसिएशन' की स्थापना की, परन्तु यह अधिक सफल न हो सकी। क्रान्ति के पश्चात् १८७० में फिर उक्त संस्था के पुनर्संगठन की बात सोची जाने लगी किन्तु इसी समय एक दूसरी संस्था 'ईस्ट

इंडिया एसोसिएशन' की स्थापना हो जाने के कारण इसका पुनर्संगठन न हो सका। १८८० के लगभग 'ईस्ट इंडिया एसोसिएशन' भी विलुप्त हो गई। बंगाल, बम्बई की तरह मद्रास में भी 'मद्रास नेटिव एसोसीएशन' की स्थापना हुई, किन्तु इसका क्षेत्र अत्यन्त संकुचित होने के कारण वह जनता का सहयोग व सहानुभूति प्राप्त न कर सकी। मद्रास में राष्ट्रीय जागरण का आरम्भ वास्तव में 'हिन्दू' दैनिक (प्रकाशन: १८७८) से ही होता है। उपर्युक्त प्रदेशों की तरह पूना में भी राष्ट्रीय चेतना के प्रादुर्भाव के परिणाम स्वरूप १८७५ में 'सार्वजनिक सभा' की स्थापना हो गई थी।

संस्थाओं के इस स्थापना काल में इस तथ्य का निर्देश आवश्यक है कि ये संस्थाएं केवल प्रादेशिक सीमाओं तक ही सीमित थीं। राष्ट्रीय स्तर पर किसी संस्था के संगठन की पूर्व पीठिका मात्र थीं। इनके सम्मुख राष्ट्रीय समस्याओं सम्बन्धी कोई ठोस कार्य-क्रम अथवा लक्ष्य न था। अपने क्षेत्र के हितों की बात को थोड़े से सदस्यों के बीच कह सुन लेने तथा सरकारी नियमों की व्याख्या, आलोचना, कर लेने में ही इनकी शक्ति पूर्णतया शेष हो जाती थी। फिर भी इन संस्थाओं का मूल्य और महत्व इनके सीमित क्षेत्र तथा मात्र प्रादेशिक हितों की बात को लेकर कम नहीं किया जा सकता। क्योंकि सार्वजनिक भाषा के अभाव तथा यातायात के साधनों की विशेष व्यवस्था न होने के कारण सम्पूर्ण राष्ट्र की महान् समस्याओं को लेकर चलना अभी तक दुष्कर कार्य ही बना हुआ था। दूसरे, विदेशी सरकार के दमन चक्र का भय तथा क्रान्ति की असफलता जन्य निराशा अभी लोगों के मस्तिष्क से दूर नहीं हुई थी।

तदन्तर, १८८३ में बंगाल में, 'इन्डियन नेशनल कान्फ्रेंस' की स्थापना हुई, जिस में सर्व प्रथम राजनीतिक जागृति की भावना को बल मिला। इस कान्फ्रेन्स में 'इलबर्ट बिल' के विरोध में लोगों ने चर्चा की। भारतीयों को इस विरोध प्रदर्शन से आत्म-रक्षा के लिए अंग्रेजों ने लगभग डेढ़ लाख रुपया व्यय कर के डिफ़ेन्स एसोसिएशन' की स्थापना की। १८८५ में 'राष्ट्रीय कांग्रेस' की स्थापना के समय तक अन्य तीन संस्थायें 'ब्रिटिश एसोसिएशन,' 'इन्डियन एसोसिएशन' तथा 'सेन्ट्रल मोहमडन एसोसिएशन' की स्थापना हो चुकी थी और इस प्रकार से विचार-विनिमय कर, किसी निष्कर्ष पर पहुँचने की भावना को बल मिल रहा था।

क्रान्ति के पश्चात् अंग्रेजों और भारतीयों का सम्पर्क अधिक निकट हो जाने के परिणाम स्वरूप भारतीय जनता पाश्चात्य-शिक्षा के सम्पर्क में आने लगी। पाश्चात्य शिक्षा और दर्शन ने भारतीयों के मस्तिष्क में राष्ट्रीयता की भावना का उद्रेक कर, उन्हें संगठित होने की प्रेरणा प्रदान की। अंग्रेजों द्वारा पाश्चात्य शिक्षा प्रसार का उद्देश्य भले ही' हिन्दुत्व के अंग-अंग तोड़ना' 'अथवा' भारतीयों

१—डा० डफ : दिनकर द्वारा संस्कृति के चार अध्याय : पृष्ठ ४३५ : में उद्धृत।

के लिए सुन्दर ज्ञान-मन्दिर का द्वार खोलने की कुंजी प्रदान करना"[1] अथवा अपनी योजना प्रणाली के प्रचार में एड़ी चोटी का जोर लगाने वाले अंग्रेजी सीखे भारतीय नवयुवकों का निर्माण करना रहा हो, किन्तु उनके इस प्रयास ने तत्कालीन भारतीय जाति का बड़ा उपकार किया, इसमें लेश-मात्र भी सन्देश नहीं है। भारत के भिन्न-भिन्न प्रदेशों में भिन्न-भिन्न प्रकार के भाषा-प्रयोग के बदले समस्त देश में एक सामान्य भाषा का प्रचार कर, उन्होंने भारतीयों को एकता के सूत्र में बाँध कर, उन में संगठन की भावना का प्रस्फुटन किया जो आगे चल कर राष्ट्रीय हितों की दृष्टि से बड़ी उपयोगी सिद्ध हुई। अंग्रेजों ने पाश्चात्य-शिक्षा-विस्तार के साथ-साथ भारतीय शिल्प कला आदि का अध्ययन कर तथा उनकी महत्ता बतलाकर भारतीयों में अपनी पुरातन कला एवं संस्कृति के प्रति गौरव की भावना प्रदान की और वे एक बार फिर अपने देश की मिट्टी में प्राचीन आदर्शों के अंकुरण का स्वप्न देखने लगे। योरुपीय विद्वानों द्वारा भारतीय भाषाओं, विशेषतया संस्कृत के गम्भीर अध्ययन ने भारतीयों को उनकी सुपुप्त अवस्था का ज्ञान कराया। बनारस में स्थापित 'क्वीन्स कालेज' संस्कृत साहित्य के अध्ययन की प्रथम केन्द्र स्थली थी।

इस संक्रान्ति-काल में भारतीय शिक्षित वर्ग पर पाश्चात्य विद्वानों, दार्शनिकों तथा राजनीतिज्ञों की विचार-धाराओं का भी यथेष्ट प्रभाव पड़ा। भारतीय समाज सुधारकों तथा तत्कालीन नेताओं की प्रेरणा के स्रोत मिल्टन, बर्क, मैकाले, स्पैन्सर तथा मैज़िनी आदि पाश्चात्य विद्वान एवं विचारक थे। इनकी 'स्वतन्त्रता, राष्ट्रीयता तथा स्वशासन' की विचारधारा ने भारतीय मस्तिष्क को अत्यधिक प्रभावित किया था और वे तत्कालीन भारतीय सामाजिक अवस्था के प्रति असन्तोष प्रकट करने लगे थे। साथ ही राजनैतिक स्वतन्त्रता के प्रति उनकी आसक्ति दिन प्रति दिन महत्व का स्थान ग्रहण कर रही थी। मैज़िनी की विचार-धारा से प्रभावित सर सुरेन्द्र नाथ बनर्जी ने अपनी पुस्तक 'A Nation in Making'—में लिखा है—

Upon my mind the writing of Mazzini had created a profound impression. The purity of his patriotism, the loftiness of his ideals and his all embarking love for humanity, expressed with the true eloquence of the heart, moved me as I had never before been moved...... Mazzini had taught Italian unity; we wanted Indian unity. (Page 43)

१—सर चार्ल्स् ट्रेविलियन : नाहर द्वारा 'आधुनिक भारत' पृष्ट ६२१ में उत्कथित।

२—वही, पृष्ठ ६२२ पर उत्कथित।

उपर्युक्त कथन से यह बात पूर्णतया स्पष्ट हो जाती है कि भारतीय शिक्षित मस्तिष्क पाश्चात्य विचारकों से प्रभावित होकर उनकी विचार धाराओं के पथ-प्रदर्शन में अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए दृढ़ प्रतिज्ञ हो रहा था।

पाश्चात्य शिक्षा के विकास के साथ-साथ देशी भाषाओं में भी साहित्य के माध्यम, नए आदर्श सम्मुख आ रहे थे। बंकिम, द्विजेन्द्र लाल राय, भारती तथा रवीन्द्र नाथ ठाकुर ने इस काल में बंगाली साहित्य का विकास किया। भारतेन्दु तथा उनके सहयोगियों ने हिन्दी की धारा परिवर्तित की। इकबाल की लेखनी उर्दू को सशक्त बनाने में लगी। पश्चिम तथा दक्षिण प्रदेशों में मराठी, गुजराती तथा कन्नड़ साहित्य का विकास भी इसी काल में आरम्भ हुआ। वैज्ञानिक शिक्षा की प्रगति के लिए भी इसी काल में प्रयत्न किया गया जिसके फलस्वरूप १८७६ में महेन्द्र लाल सरकार ने कलकत्ते में 'वैज्ञानिक अध्ययन की भारतीय परिषद' का निर्माण किया[1]।

साथ ही जन शक्ति और जन-मत निर्माण के लिए इस काल में पत्र-पत्रिकाओं ने भी महान् योग दिया। बंगाल में 'इंडियन मिरर', 'अमृत बाजार पत्रिका', तथा 'बम्बई में टायम्स ऑफ इंडिया', 'नेटिव ओपीनियन', 'इंदु प्रकाश', 'केसरी और 'मराठा', उत्तर प्रदेश में 'इंडियन हैरल्ड', दक्षिण में 'हिन्दू' तथा पंजाब में 'ट्रिब्यून' आदि पत्रों के प्रकाशन से तत्कालीन विचारधाराओं का सम्पर्क जनता से किया जा रहा था तथा उससे समाज में नवीन जागृति विकसित हो रही थी। यह काल हमारे देश में पत्र-कारिता के उद्भव का काल था। अतः उनमें भाषा की प्रौढ़ता, भावों की गंभीरता तथा सुस्पष्ट नीति का अभाव परिलक्षित होता है, फिर भी राष्ट्रीय भावना के विकास में उनका योगदान स्तुत्य है, इस तथ्य से किसी प्रकार भी इन्कार नहीं किया जा सकता।

राष्ट्रीय भावना के विकास तथा नवीन युगारम्भ के इस प्रसंग में विदेशी लोगों से प्राप्त सहायता एवं सहयोग का उल्लेख न करना उनके प्रति अन्याय होगा क्योंकि भारत की राष्ट्रीयता के विकास क्रम में इन लोगों का भी बड़ा हाथ रहा है। १८८० में लार्ड रिपन ने शासन-सूत्र ग्रहण कर शिक्षा तथा समाज सम्बन्धी जिन सुधारों की प्रतिष्ठा में योग दिया, उसे कभी भी विस्मृत नहीं किया जा सकता। उनकी मान्यता थी कि नैतिक क्षेत्र में जो अधर्म है, राजनैतिक क्षेत्र में वह कभी भी धर्म नहीं हो सकता। इसी आदर्श के कारण वे भारतवासियों के प्रिय वाइसराय रहे और उनसे उन्हें उन्नति और विकास की प्रेरणा मिली। लार्ड रिपन के इस कार्य को मिस्टर ह्यूम ने प्रशस्त किया। स्वतन्त्रता के उत्कट अभिलाषी, प्रसिद्ध इतिहास वेत्ता तथा सफल संगठन कर्ता के रूप में उन्होंने १८८५ में

१—रवि भानुसिंह नाहर : आधुनिक भारत, पृष्ठ ५५८.

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना में महत्वपूर्ण योग दिया और इस प्रकार से विश्रृंखलित एवं दूर विभ्रष्ट देश-खण्डों को एक सूत्र में बाँध, एक्य का मार्ग निर्दिष्ट किया। स्वतन्त्रता का महत्व स्पष्ट करते हुए उन्होंने सर्व-प्रथम देश वासियों को संगठित होने का उपदेश दिया[1]।

इस प्रकार इन सभी राष्ट्रीय भावनाओं एवं नवीन जागृति तथा स्वतन्त्रता प्राप्ति के प्रयासों का प्रभातोदय भारतीय जन-क्रान्ति की घटना को लेकर होता है, इसीलिए प्रस्तुत प्रवन्ध में १८५७ की तिथि को ही भारत में आधुनिक युग की तिथि माना गया है, (हाँ, आधुनिक भारतीय समाज में नारी-शीर्षक, दूसरे अध्याय के अन्तर्गत विषय में क्रम एवं शृंखला की प्रतिष्ठा करने के उद्देश्य से तिथि विषयक इस प्रतिबंध को स्वीकार नहीं किया गया है।)

उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् निष्कर्ष रूप में यह कह देना पर्याप्त होगा कि राष्ट्रीय भावना के विकास की दिशा में योरुपीय विचारकों, उनकी मान्यताओं, पाश्चात्य शिक्षा तथा शासन व्यवस्था का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। साथ ही तत्काल भारतीय नेताओं की भारतीय समाज के प्रति उत्कृष्ठ सेवा भावना, प्रचलित पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन, देशीय साहित्य के विकास तथा समाज सुधारकों एवं संस्थाओं ने उस भावना को आगे बढ़ाया और अन्त में अंग्रेजी शासन की परोक्ष आर्थिक शोषण नीति, शासक तथा शासित के सम्बन्धों में निहित स्वाभाविक कटुता की भावना की उत्तरोत्तर वृद्धि, जातीय भेद तथा राष्ट्रीय स्तर पर भारतीय संस्थाओं के विकास के उस नवीन युग की भावभूमि को वह सुदृढ़ नींव प्रदान की जिस पर आगे चल कर स्वतन्त्रता के महान् प्रासाद का निर्माण हुआ।

विषय के महत्व पर विचार

उन्नीसवीं शती के उत्तरार्ध में राष्ट्रीय जागरण के फल स्वरूप जिन महान् भावनाओं को प्रस्फुटन और उन्नयन का अवसर प्राप्त हुआ, उनमें नारी स्थिति के सुधार की भावना भी प्रमुख थी। प्रत्येक देश तथा प्रत्येक काल में नारी की समाजगत स्थिति का निर्माण तत्कालीन राजनैतिक, आर्थिक एवं धार्मिक अवस्थाओं एवं विचारधाराओं के आधार पर ही होता है। इस काल तक चली आती हुई मध्य युगीन मान्यताओं एवं परम्पराओं पर प्रगतिशील, प्रजातन्त्रात्मक पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव भारतीय नारी की सामाजिक उन्नति के पुनरुत्थान में विशेष सहायक रहा है। पश्चिम के उदार आदर्शों से प्रभावित हो, थोथी आध्यात्मिकता के संकीर्ण घेरे से बाहर निकल, समाज सुधारकों ने नारी स्थिति की उस वैदिक प्रतिष्ठा का पुनर्स्थापन करना चाहा जो मध्यकाल तक आते-आते अपने स्वभाव में पूर्णतया परिवर्तित हो, नारी स्वरूप की मात्र विडम्बना रह गई थी।

१—लाला लाजपतराय : यंग इंडिया, पृष्ठ १३७.

नारी अनन्त काल से समाज की मुख्य शक्ति तथा साहित्य का मुख्य प्राण रही है। समाज के बदलते हुए मानदण्ड, विभिन्न सामाजिक एवं सांस्कृतिक अवस्थाओं का विकास तथा नवीन आदर्शों की स्थापना नारी स्थिति के उत्थान-पतन के लिये उत्तरदायी रहे हैं। साहित्यकार सामाजिक परिस्थितियों से प्रभावित हो साहित्य-सृजन करता है। नारी उसके काव्य का केन्द्रगत होती है, अतः उसकी नारी सम्बन्धी अनुरागात्मक अथवा घृणात्मक भावना तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक परिस्थितियों के आधार पर बनती है, या यों कहना चाहिए कि राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं आर्थिक कारणों से समाज में जो अवस्था नारी की होती है, प्रायः उसी का प्रतिबिम्ब कवि की नारी भावना होती है। जिस प्रकार से समाज और साहित्य के परस्पर सम्बन्ध का विच्छेद नहीं किया जा सकता, ठीक उसी प्रकार नारी और धर्म की घनिष्ठता पर भी किसी प्रकार की आशंका प्रकट करने के लिये कोई स्थान नहीं रह जाता। समाज और साहित्य की भाँति नारी और धर्म भी समान भाव भूमि पर प्रतिष्ठित रहते हैं। धर्म मनुष्य के कौटुम्बिक जीवन, सामाजिक कर्तव्य एवं प्रेम सम्बन्धी मान्यताओं की व्यवस्था एवं विश्लेषण करता है। उपर्युक्त तीनों भावनाओं में नारी का विशेष योगदान होता है। अतः धर्म की नवीन व्याख्या अथवा विश्लेषण से उसकी स्थिति प्रभावित होती है और उसमें परिवर्तन के परमाणु महत्व का स्थान ग्रहण करते हैं।

किसी विशेष युग में जब धर्म आध्यात्मिकता की ओर अग्रसर होता है, और समाज में लौकिक जीवन को गौण माना जाने लगता है तब आध्यात्मिक क्षेत्र में नारी को सिद्धि मार्ग की बाधा मानने की भावना के विकास के कारण उसकी सामाजिक स्थिति का ह्रास होना आरम्भ होता है, और उसके कार्य क्षेत्र एवं अधिकारियों की सीमायें संकुचित हो जाती हैं। परन्तु जब समाज सुधारकों में रूढ़िवादिता के प्रति असंतोष उत्पन्न होकर धर्म की उदार एवं विस्तृत व्याख्या के प्रति जिज्ञासा का प्रादुर्भाव होता है, नारी अपनी सीमित परिधि से बाहर निकल कर अपने अधिकारों का उपयोग करती हुई सामाजिक शक्ति की वृद्धि में स्वयं का योग प्रस्तुत करती है और उसको अपनी प्रतिभा के विकास की प्राप्ति होकर समाज में यथोचित मान्यता प्राप्त होती है। भारतीय संस्कृति का इतिहास भी नारी की इस उत्थान-पतन सम्बन्धी परिवर्तित अवस्था का परिचायक है।

भारतीय साहित्य का उद्गम वेदों से माना जाता है। वैदिक काल में प्रचलित धर्म की व्याख्या के अनुसार गृहस्थाश्रम को, जिसका केन्द्र नारी है, महत्ता प्रदान की गई। तत्कालीन समाज में धार्मिक कृत्यों से ले कर राजनीति तक नारी के समानाधिकार तथा सम्मान की भावना को प्रतिष्ठित किया गया।

१—शैलकुमारी : आधुनिक हिन्दी काव्य में नारी भावना । पृष्ठ १.

तत्कालीन समाज की नारी आर्थिक स्वातन्त्र्य के साथ-साथ शिक्षा तथा विचार स्वातन्त्र्य के अधिकारों का उपभोग कर अपनी वैयक्तिकता के प्रति जागृत रही। वैदिक नारी भावना ने प्राचीन ऋषियों में आह्लाद और आनन्द की सृष्टि कर, उन्हें समाज के सभी क्षेत्रों में उन्नत धरातल प्रदान करने के लिए प्रेरित किया। किन्तु पूर्व-वैदिक काल की यह सर्व सम्मानित नारी उत्तर-वैदिक काल, बौद्ध, पुराण, स्मृति तथा महाकाव्यों के काल से होती हुई मुग़ल काल के अन्त तक सामान्यतः उत्तरोत्तर ह्रासोन्मुख होती गई। अब तक जनता की धार्मिक भावनाओं से खेल कर धर्म संरक्षकों ने उन सामाजिक नियमों का निर्माण कर दिया था जिनके परिणाम-स्वरूप समाज की आदर्श व्यवस्था विशृंखलित हो गई। नारी का स्थान समाज में गौण हो गया, तथा बहु-विवाह, बाल-विवाह, सती प्रथा, अशिक्षा आदि नारी विषयक कुप्रथाएँ समाज के प्रतिष्ठित आदर्श मानी जाने लगी। शिक्षा और ज्ञान के अभाव में वास्तविक आदर्श की भावना लुप्त होकर अन्धविश्वासों और कुरीतियों को बल प्राप्त होने लगा।

मुस्लिम जाति द्वारा भारत में प्रवेश के समय ही हिन्दी काव्य के शिशु का जन्म रक्त-रंजित रण-भूमि के बीच हुआ। यहाँ पर यह आशा की जा सकती थी कि सम्भव है नारी पुरुष की प्रेरणा, वीर माता और सहयोगिनी के रूप में प्रकट होकर उसके पतनोन्मुख राजनैतिक एवं सामाजिक जीवन को अपने स्नेह तथा शक्ति का सम्बल प्रदान करे। परन्तु इसके विपरीत वह पुरुष की भोग्या और सम्पत्ति के रूप में ही सम्मुख आई। उसके लिए ही युद्ध हुए। तत्कालीन कवियों ने उसके रूप-सौन्दर्य का वर्णन कर समाज में विलास-भावना का विकास किया। किसी ने भी उसके मानस की अथाह गहनता में उतर कर उसके आन्तरिक गुणों की माणिक मंजूषा पा लेने की आवश्यकता नहीं समझी। फलतः मुस्लिम काल में नारी-स्थिति के सभी विकास-द्वार अवरुद्ध ही रहे।

तदन्तर, मुगलों के आगमन के समय हिन्दू जाति के बीच धार्मिक मर्यादा की कट्टरता का प्रादुर्भाव हो रहा था। हिन्दू समाज, राजनैतिक शक्ति खोकर तथा युद्ध-भूमि से थक कर, भगवान के शान्त रूप की उपासना करते हुए मुक्ति प्राप्त करने की दिशा में प्रयत्नशील था। हिन्दी साहित्य का यह युग साहित्य-सृजन की दृष्टि से स्वर्ण-युग कहा जाता है। परन्तु यह स्वर्ण-काल भी नारी के लिए किसी विशेष प्रकार की प्रगति का सन्देश लेकर नहीं आया। तत्कालीन संत कवियों ने भी नारी को 'नारी नागिन एक सुभाई' तथा 'सांप बीछि को मन्त्र' कहकर उसके प्रति उपेक्षा की भावना प्रकट की। इस युग में भक्ति सम्बन्धी साहित्य की सृष्टि होने के कारण उसकी सभी प्रकार से निन्दा की गई। भक्ति-कालीन भारतीय समाज में साधु-सन्तों तथा विभिन्न मत-मतान्तरों की एक बाढ़-सी आ गई थी।

इस प्रकार से भक्तियुग तथा-रीति युग में नारी-भावना को अभिव्यक्ति प्रदान की गई। नारी के प्रति भक्तिकाल की दृष्टि वैराग्यमूलक तथा उपेक्षापूर्ण है, तो रीतिकाल में यह मनोविनोद तथा एन्द्रिक सुख प्राप्ति का सहज साधन। दोनों कालों में उसकी स्थिति का ह्रास हुआ और वह कवियों की सहानुभूति प्राप्त कर पूर्ण-रूपेण उनकी विवेचना तथा श्रद्धेय भावना का विषय न बन सकी। भक्ति-काल में नारी-भावना के प्रति इस प्रकार के दृष्टिकोण की प्रेरणा जहाँ पुराण तथा स्मृति-ग्रन्थों से प्राप्त हुई, वहाँ रीतिकालीन भावना का मूलाधार संस्कृत साहित्य बना। 'पुरुप के एन्द्रिक जीवन के अतिरिक्त मानसिक जीवन में नारी का क्या स्थान है, नारी का निजी व्यक्तित्व क्या है, देश और जाति के जीवन में नारी का क्या मूल्य है, यह सब देखने का प्रयास मध्य-युगीन कवियों ने नहीं किया'[1]।

मध्य-युग के पश्चात् अंग्रेजी शासन विस्तार के समय से आधुनिक युग का आरम्भ होता है। पाश्चात्य शिक्षा, सभ्यता तथा संस्कृति के सम्पर्क में आकर भारतीय समाज की परम्पराओं में आमूल-चूल परिवर्तन हुए। रूढ़िगत अहितकर मान्यताओं और आदर्शों पर, जिन्होंने जन-जीवन के बौद्धिक विकास को भिन्न-भिन्न मत-मतान्तरों की खाइयों में बन्दी बना रखा था, जागृति और नव-चेतना का आलोक इसी काल में प्रतिबिम्बित हुआ। अंग्रेजों की शासन व्यवस्था ने भारतीय राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा धार्मिक सभी क्षेत्रों पर प्रभाव डाला। भारतीय व्यवस्था में तीव्रता से होते हुए परिवर्तनों ने समाज के सम्मुख नए आदर्श की स्थापना की, जिसके परिणामस्वरूप उनकी जड़ता को गति प्राप्त होकर आत्म-विकास की दिशा में अग्रसर होने का अवसर मिला। नारी-जागृति के दृष्टिकोण से यह काल महत्वपूर्ण है। उत्तर-वैदिक काल से उत्तर-मध्य काल तक सामान्यतः नारी को 'स्व' पर गौरवान्वित हो, अपनी मूल प्रेरक शक्तियों के विकास का अवसर नहीं मिला। पुरुष की दृष्टि में वह जीवन की विडम्बना, सिद्धि-मार्ग का कंटक अथवा शारीरिक सुख का सहज साधन बन कर रह गई। उसकी मातृत्व शक्ति को भुला कर उसकी नैसर्गिक प्रतिमा को प्रहारित एवं कुंठित किया गया। परन्तु बीसवीं शताब्दी में समाज के पुनरुत्थान के साथ-साथ नारी स्थिति के पुनरुत्थान की ओर समाज सेवियों, सुधारकों तथा विद्वानों का ध्यान आकर्षित हुआ। अंग्रेजी शासन के प्रचार से भारतीय विचारकों की चिन्तन धारा दो मार्गों में विभक्त हो गई थी। एक पक्ष के लोग अंग्रेजी सभ्यता के आलोक में राष्ट्र के पुर्नस्थापन की बात करते थे, जिनका विश्वास था कि भारतीय समाज में क्रान्तिकारी परिवर्तन की आवश्यकता है और इसके लिए वे पश्चिमी सिद्धान्तों की दुहाई देते थे। इस पक्ष में राजा राम मोहन राय, महादेव गोविन्द रानाडे तथा केशव चन्द्र सेन जैसे अग्रणीय

१—शैलकुमारी : आधुनिक हिन्दी काव्य में नारी-भावना, पृष्ठ ११।

नेता हुए। दूसरे पक्ष वाले भारत की पुरातन संस्कृति के पुनरुत्थान को महत्व देते हुए वेदों की दिशा में लौट चलने की प्रेरणा देते थे। इस पक्ष में दयानन्द सरस्वती, विवेकानन्द तथा तिलक आदि महात्मा नेता थे। क्रान्तिवादी तथा पुनरुत्थानवादी दोनों प्रकार के सुधारकों ने नारी जागृति का संदेश दिया। नारी को लेकर बाल-विवाह, बहु-विवाह, सती प्रथा, अशिक्षा आदि जिन संकीर्ण विचार-धारा को प्राचीन काल के धर्म-पुरोहितों ने नैतिक नियमों के रूप में प्रस्थापित किया था, अब उनका उन्मूलन हो विचार-स्वातंत्र्य, सुशिक्षा, समानता एवं सर्वतोन्मुखी विकास के लिए उसको विस्तृत क्षेत्र प्रदान किया गया। शिक्षा प्रसार से आत्म-हीनता की भावना विनष्ट हुई और उसमें आत्म-गौरव के भाव का उदय हुआ।

शिक्षित भारतीय समाज नारी को सहयोगिनी के रूप में देखने लगा। परिवार की संकीर्णताओं से निकल कर नारी समाज की समस्या बन गई। राष्ट्रीय और राजनैतिक पहलुओं की ओर उसका ध्यान आकर्षित हुआ और उसने सभी क्षेत्रों में सक्रिय सहयोग प्रदान किया। इस प्रकार नारी बदलती हुई सामाजिक मान्यताओं एवं परिस्थितियों में एक बार फिर महत्व का स्थान ग्रहण कर पाई। नारी-स्थिति का ऋग्वैदिक आदर्श सम्मुख रख कर जब समाज सुधारकों ने नारी जागृति का शंखनाद किया तो हिन्दी साहित्यकार के कर्ण-कुहरों पर भी उसके स्वर गूँज उठे और उससे प्रभावित हो साहित्यपटी पर नारी के चित्र परिवर्तित होने लगे। साथ ही देश-व्यापी पाश्चात्य-शिक्षा एवं विचारों के प्रचार एवं प्रसार नारी के शैक्षणिक जागरण तथा तत्सम्बन्धी राष्ट्रीय आन्दोलनों के प्रभाव से नारी को जैसे-जैसे समाज में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त होता गया और वह पुरुष की केलि-मात्र न रह कर सभी क्षेत्रों में उसकी सहयोगिनी एवं प्रेरणा बनती गई, वैसे ही वैसे हिन्दी साहित्य में भी उसका रूप उज्ज्वल, उन्नत और प्राँजल होता गया।

आधुनिक हिन्दी साहित्य का उदय भारतेन्दु काल को लेकर होता है। भारतेन्दु कालीन साहित्य नारी जागृति के चिह्न बहुत अधिक स्पष्ट न करते हुए भी नारी भावना के विकास की पृष्ठभूमि के रूप में अवश्य ही महत्वपूर्ण है। इस काल में रीतिकालीन परम्परा का पूर्ण ह्रास नहीं हुआ था। परन्तु सामाजिक एवं राष्ट्रीय भावनाओं को भार____ द्वारा ही मुखर होने का अवकाश मिला। वैसे इस संधि-काल में नारी में सौन्दर्य के साथ शिव का सामंजस्य न हो सका। फिर भी देश-व्यापी राष्ट्रीय आन्दोलनों तथा संस्थाओं का प्रभाव हिन्दी साहित्कार पर प्रचुर मात्रा में पड़ा। परिणामस्वरूप द्विवेदी-युग से प्रसाद-युग में आते-आते नारी पुरुष के लिए कर्तव्य की प्रेरणा बन गई। संक्रान्ति काल में राष्ट्रीय आवश्यकताओं के कारण जहाँ नारी-स्थिति को महत्वपूर्ण समझा गया वहाँ आगे चलकर परिवर्तन काल में नारी के प्रति उपयोगिता-वादी दृष्टिकोण का परित्याग कर, प्रकृति के साथ नारी का

सामन्जस्य करके सौन्दर्य दृष्टि को सूक्ष्मता एवं विविधता प्रदान करते हुए छायावादी कवियों द्वारा नारी को रहस्यमय बनाने का प्रयास किया गया, यहाँ तक कि जीवन की यथार्थ सीमा-रेखाएँ धुँधली और अस्पष्ट हो गई। कवि नारी को देवी के रूप में मान कर अपनी पूज्य भावना उसके प्रति समर्पित करने लगा। इसी काल में नारी की महिमा मंडित किया गया। तरल कोमल नारी 'देवी, माँ, सहचरी, प्राण' के सम्बोधनों से अनुप्राणित होकर संस्कृतिगत शुचिता की पुर्नस्थापना में संकल्पबद्ध हुई। आह्लाद और पवित्र आनन्द की निर्झरणी के साथ-साथ वह आन्तरिक तेज और वाह्य गुणों की समन्वयित्री बनी। नारी की मर्यादा का भाव इसी काल में मुखर हुआ। वह विश्व की मधुर कल्पना का स्वरूप लेकर पुरुष की अनिवार्य-आवश्यकता के रूप में प्रकट हुई। साथ ही बौद्धिक तथा आध्यात्मिक क्षेत्र में भी वह पुरुष की अर्धांगिनी बन, स्नेह की मधु रजनी में अजस्र सुहाग की वर्षा करती रही। पुरुष का अतृप्त हृदय उसके आँचल की स्नेहित छाँव में सन्तोष बन कर सुधा-पान करता हुआ तृप्त होता रहा। वैदिक युग के पश्चात् नारी प्रदत्त प्रेरणा में, प्रथम बार, इसी काल में कवि को मंगल और पावित्र्य के दर्शन हुए। परिवर्तन युग में नारी को असत् रूप या रीति-कालीन शृंगारिक रूप में जहाँ कहीं भी प्रकट किया गया है, वहाँ इस रूप के प्रति आसक्ति की भावना प्रसय प्राप्त नहीं कर पाई है।

विकास-काल के पश्चात् नव्य-काल में नारी भावना का साहित्यिक विकास अनेकानेक दिशाओं में हुआ है। सामाजिक एवं राष्ट्रीय चेतना, अपने 'स्व' एवं वैयक्तिक स्वतन्त्रता के प्रति जागरुकता तथा पश्चिमी आदर्शों का प्रवल प्रभाव—इस काल की नारी-भावना के विशेष अंग रहे हैं। नव्य-काल का साहित्यकार समाजवादी आदर्शों से प्रभावित होते हुए भी अभी तक नारी भावना को सुनिश्चित स्वरूप दे सकने में असमर्थ रहा है। इस युग की नारी सम्बन्धी विचारधारा मार्क्स के भौतिक आदर्श, फ्रायड के मनोविश्लेषणात्मक विज्ञान एवं भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलनों के मध्य संघर्षरत रही है। अभी तक नया-साहित्यकार स्थिर भाव-भूमि पर नारी-सम्बन्धी आदर्श निश्चित कर सकने में असमर्थ रहा है। वह कभी समाजवादी आदर्शों से प्रभावित हो, राष्ट्रीय नव-निर्माण कार्य में नारी से सहयोग की अपेक्षा करता है, कभी नारी का मनोविश्लेषण करते हुए क्षयी-रोमान्सवादी दृष्टिकोण को अंकुरित कर, बाद में उससे घृणा करने लगता है, और कभी विकास-युगीन कवियों की भाँति उसे जीवन की महती आवश्यकता मान कर उसके काल्पनिक अथवा दैहिक सौन्दर्य में लीन हो जाना चाहता है।

हिन्दी साहित्य को, प्रसाद की प्रतिमा का उपहार विकास काल में मिला। इस युग में भारतीय नारी विभिन्न संस्थाओं एवं समाज सुधारकों का आशीर्वाद लेकर अपनी प्रतिष्ठा-प्राप्ति की दिशा में संलग्न थी। सांस्कृतिक कवि मैथिलीशरण

गुप्त द्वारा नारी, साहित्यिक पुनरुत्थान की दिशा में प्रगति कर रही थी।[1] उनके द्वारा उसे माँ, बहिन, भाभी तथा पत्नी के रूपों में अभिव्यक्ति मिली। पत्नी के रूप में अपने अधिकारों और कर्तव्यों से परिचित उसने अपने पति से अधिकार की माँग करना आरम्भ कर दिया था। नारी हृदय में उदारता, दान, त्याग और महत्व की व्यंजना उन्हीं से आरम्भ हुई और प्रसाद ने इस भावना पर अपनी वैयक्तिकता की छाप लगा कर नारी की मातृत्व शक्ति के स्वरूप को महत्ता प्रदान की। उन्होंने 'असत् को सत् में, प्रमत्तता को उदारता में, राक्षसत्व को देवत्व में, बर्बरता को सभ्यता में एवं पाप को पुण्य में परिवर्तित करने का भार' नारी ही पर रखा है। ल्यूसिन के कथन का वह तथ्य कि यदि आत्मा को उच्चतर आध्यात्मिक प्रसाद की उपलब्धि में संलग्न होना हो तो उसे नारी बनना चाहिए, प्रसाद की नारी-भावना की कसौटी पर खरा उतरता है। पुरुष की समाज की उन्नति नारी बिना दुःसाध्य ही नहीं, असाध्य है। उसे समाज में आदर और महत्व की प्राप्ति होनी ही चाहिए, क्योंकि वह जननी है और जननी होने के नाते 'वात्सल्य, त्याग और करुणा की त्रिपथगा' है। वह श्रद्धा है। उसने पीयूष-वर्षा की है और जीवन के समतल को प्लावित कर अपनी सेवा और समर्पण की भी भावना से सजल संस्कृति का पोषण किया है।

इस प्रकार प्रसाद ने नारी-भावना की अभूतपूर्व चित्रपटी खड़ी करके आधुनिक हिन्दी साहित्य में भारतीय नारी के उच्चतम गौरव की प्रतिष्ठा की है। वे अपने समय के सामाजिक नवोत्थान से पूर्णतया परिचित थे। नारी स्थिति के विकास की भावना किन-किन दिशाओं में प्रस्फुटित एवं प्रसारित हो रही है, इस से वे विज्ञ थे। नारी सम्बन्धी सामाजिक चेतना के आलोक में साहित्य कौन-सी दिशा ग्रहण कर रहा है, यह भी उनसे अदृष्ट नहीं था। साथ ही भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के गम्भीर अध्ययन, शैव-दर्शन के प्रभाव तथा नव-विकसित रोमान्टिक साहित्य के आधार पर नारी के स्वच्छन्द रूप की कल्पना ने उनके सम्मुख जो आदर्श प्रस्तुत किए, उनसे प्रेरणा प्राप्त कर, उन्हीं को उन्होंने आधुनिक भारतीय नारी के लिए योग्य और उचित समझा। निरन्तर बढ़ती हुई पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव से नारी में जो अकल्याणकारिणी दर्प-पूर्ण अधिकार भावना बद्धमूल हो रही थी, उसके परिणामों से चिन्तित, प्रसाद ने साहित्य में भारतीय नारी के उस रूप को प्रस्तुत किया, जिसमें वह स्वयं अधिकारमयी है, पुरुष की पूज्या है, जीवन की सहचरी और लक्ष्य की प्रेरणा है। जिसकी दानशीलता के सम्मुख सृष्टि नत-शिर है और जो पुरुष की प्रहेलिकाओं का समुचित समाधान है। ऐसी नारी द्वारा अधिकारों की माँग करना वास्तव में उसका अपमान है, उसकी स्थिति का पतन है, परोक्ष रूप से प्रसाद ने अपने साहित्य की चिन्तनधारा से यह प्रमाणित कर दिया।

१—तुलसीराम शर्मा : हिन्दी काव्य में नारी : : कल्याण नारी विशेषांक, पृष्ठ १९८

अतः संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि प्रस्तुत प्रबन्ध आधुनिक समाज में नारी स्थिति के विकास-क्रम और उस विकास द्वारा प्रभावित आधुनिक हिन्दी साहित्य में उत्पन्न हुई विभिन्न विचारधाराओं पर विश्लेषणात्मक अध्ययन के निष्कर्ष उपस्थित करने की दिशा में एक प्रयत्न है, तथा प्रसाद ने भारतीय संस्कृति, साहित्य और दर्शन से प्रेरणा प्राप्त कर, अपने साहित्य में भारतीय नारी को सामाजिक, नैतिक, मनोवैज्ञानिक, साँस्कृतिक एवं दार्शनिक स्वरूप प्रदान करते हुए उसे प्रचलित सामाजिक एवं साहित्यिक मान्यताओं के मध्य किस प्रकार प्रतिष्ठित किया है, इस दिशा में नवीन दृष्टिकोण उपस्थित करने का प्रयास इस प्रबन्ध की अपनी विशेषता है।

प्रथम खण्ड

आधुनिक भारतीय समाज तथा हिन्दी साहित्य में नारी

प्रकरण—१

पृष्ठभूमि

कालीन[1] नारी-स्थिति : उत्थान-पतन के विभिन्न स्तरों पर

१—वेद काल से उत्तर-मध्य काल तक।

पृष्ठभूमि

विश्व-प्रकृति नारी के रूप में मूर्त होकर नर के लिए अनन्त काल से प्रेरणा और शक्ति का स्रोत रही है। नारी से शक्ति प्राप्त कर नर शक्तिवान् कहलाता है। अक्षय शक्ति की स्रोत नारी के जीवन-विकास पर ही पुरुष के जीवन का उत्कर्ष निर्भर है। नारी पुरुष के जीवन को उदयाचल से लेकर अस्ताचल तक प्रभावित और निर्दशित करती रहती है। नारी पुरुष जीवन के सृजन, पोषण और उन्नयन की आधार-शिला है। वह सामान्य पुरुषों की ही नहीं, देवताओं की भी जननी है इसीलिए देवताओं की सृष्टि में आदरणीय है। अर्ध-नारीश्वर ने पार्वती को अपने मस्तक पर स्थान दे कर नारी को सम्मानित करने के क्षेत्र में सीमा भीत्ति बाँध दी है, 'भारतीय संस्कृति का निर्माण अध्यात्म के सुदृढ़ धरातल पर उन महर्षियों द्वारा हुआ है जो दिव्य-दृष्टि सम्पन्न रागद्वेष-शून्य और समदर्शी थे।' उनकी दृष्टि में स्त्री-पुरुष का संयोग विकास का मूल है। सुसमाज में व्यवस्था, शान्ति और ऐश्वर्य की स्थापना में नारी का महत्वपूर्ण योगदान होता है। वह सृष्टि की साधन और प्रकृति की मूर्तरूप हो कर पुरुष के लिए सौन्दर्य, प्रेम, अनन्यता और आनन्द का कारण बनती है। इसीलिए वह मान्या है, पूज्या है, आराध्या है, इसलिए उसमें देवत्व है और इसीलिए वह श्री है, शक्ति है, चिति है।

प्राचीन मनीषियों ने 'जननी जन्मभूमिश्च, स्वर्गादपि गरीयसी' कहकर नारी के मातृत्व रूप को गौरव की पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया है। भारतीय संस्कृति में नारी को अन्य देशों की संस्कृतियों से अधिक सम्मान की प्राप्ति हुई है। भारतीय साहित्य का उदय ऋग्वेद को लेकर होता है। ऋग्वेदिक समाज पितृ-सत्तात्मक होते हुए भी नारी के प्रति उदार दृष्टिकोणों से पूर्ण था। जीवन के सभी क्षेत्रों में उसे महत्ता प्राप्त थी। 'युद्ध में विजय, और शान्ति में सम्पन्नता' प्राप्त करने के लिए उसका सहयोग आवश्यक समझा जाता था, आर्यों ने स्वभाव में दार्शनिक और चिन्तनशील होते हुए भी कभी भौतिक जीवन की उपेक्षा नहीं की।

भौतिक जीवन में नारी को मुख्य स्थान प्राप्त है, इसी कारण उसे भी उस काल में महत्व का स्थान प्रदान किया गया। पुरुषों के जीविकोपार्जन के साधनों में व्यस्त रहने के कारण गृहस्थी के समस्त कार्यों का भार नारी पर ही होता था। वह गृह-स्वामिनी होती थी। धार्मिक कृत्यों में पत्नी को पति के साथ भाग लेने का अधिकार होता था। ऋचाओं का निर्माण महिलाओं को ही प्राप्त था। उनकी उपस्थिति के बिना कोई भी धार्मिक कृत्य पूर्ण नहीं समझा जाता था। वह दान देती, सोमरस बनाती और पीती थी[१]। गृह-पत्नी के रूप में वह कुटुम्ब के सदस्यों को उनके दैनिक कृत्यों के लिए जगाया करती थी। उस काल का मान्यता थी कि पत्नी ही घर, गृहस्थी और आनन्द है[२]।

ऋग्वेदिक नारी को शिक्षा-प्राप्ति के पूर्ण अवकाश प्राप्त थे ब्रह्मवादिनियाँ सदैव अध्ययन में रत रहती थीं[३]। अपनी अध्ययनशीलता के परिणामस्वरूप उन्हें तत्कालीन समाज में उच्चतर प्रतिष्ठा की प्राप्ति थी। अध्ययन का क्षेत्र धार्मिक और दार्शनिक होते हुए भी सीमित अथवा संकुचित न था।

ऋग्वेद में कुछ मन्त्र ब्रह्मवादिनियों द्वारा भी आविष्कृत किए गए हैं। इनमें रोमसा, लोपामुद्रा, आप्त, विश्ववटा, घोषा और श्रद्धा आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। वैदिक नारियाँ संगीत-कला में निपुण होती थीं। वे यज्ञोपवीत धारण करती तथा अध्ययन के प्रति रुचिवान् थीं। कहीं-कहीं विदूषियों द्वारा पुरुषों के साथ शास्त्रार्थ करने का भी उल्लेख मिलता है। सुलभा, मैत्रेयी और गार्गी की विद्वता लोक-प्रसिद्ध है। त्याग और तपस्या से ऋषिभाव को प्राप्त करके वे मंत्रों की रचना करती थीं।

ऋग्वेदिक काल में मस्तिष्क के विकास के सभी साधन उनके लिए प्रस्तुत थे। सामाजिक समारोहों में भाग लेने की उन्हें पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त थी[४]। मेले, त्योहारों तथा अन्य सामाजिक संस्थाओं में वे प्रचुर मात्रा में उपस्थित होती तथा भाग लेती थीं। इस काल में नारियों के रणक्षेत्र में जाने के उदाहरण भी मिलते हैं[५]। समाज में पर्दा प्रथा का अभाव था। विदुषी, वीरांगनाओं तथा स्वतन्त्रता-प्राप्त नारियों के लिए सभी प्रकार की सुविधाएँ उपलब्ध थीं। प्रेम और विवाह के क्षेत्र में वे पूर्ण

१—ऋग्वेद : १।१२३।३, ५।४३।१५।

२—ऋग्वेद : ३।५३।४, ३।५३।६।

३—ए० एस० अल्तेकर : द पोजिशन आफ वोमन इन हिन्दू सिविलीजेशन, पृष्ठ १३।

४—वही पृष्ठ २३३।२३५।

५—ऋग्वेद : १।११२।१०, १।११६।१५, १।११७।११, १।११८।८।

स्वतन्त्र थीं। वे अपनी रुच्यानुसार पुरुष से प्रेम और तत्पश्चात् विवाह कर लेती थीं[1]। नारी के प्रति सौन्दर्यानुभूति के प्रमाण ऋग्वेद में भरे पड़े है। विवाह एक पवित्र कार्य समझा जाता था। बहु-विवाह प्रथा अधिकतर राजा, महाराजा तथा सम्मानित पुरोहितों तक ही सीमित थी। वैसे समाज में एक विवाह का आदर्श ही मान्य था। विवाह युवा होने पर ही होता था।

विवाह का अर्थ नारी के साथ रह कर सम्पन्नता प्राप्त, धर्मानुष्ठान तथा यज्ञ सम्पादन होता था। ऋग्वैदिक भारत में बाल-विवाह की प्रथा का, जो कालान्तर में इतनी अधिक प्रचलित हो गई, प्रादुर्भाव नहीं हुआ था[2]। सगोत्र और अन्तर्जातीय-विवाह प्रचलित थे। विधवा-विवाह वर्जित नहीं था। बल्कि ऐसा लगता है कि विधवा-विवाह के लिए, उस समाज में अवकाश था। प्रस्तुत मन्त्र इसका प्रमाण है—

कुह स्विद्दोषा कुह वस्तोरश्विना कुहाभिपित्वं करतः कहोषतुः
कोवाँ शयुत्रा विधवेव देवरं मर्यं न योषा कृणुते सधस्तं आ.
—ऋग्वेद १०।४०।२.

एक दूसरे मंत्र : ऋग्वेद १०।१८।८। : द्वारा भी विधवा विवाह की पुष्टि होती है। उक्त मंत्र का भावार्थ यों है :—

'उठो स्त्री, तुम उसके पास पड़ी हो, जिसका जीवन समाप्त हो गया है। अपने पति से दूर, तुम उसकी पत्नी बनो, जो तुम्हारा हाथ पकड़ता है, और तुमसे विवाह करने को तैयार है।'

इस काल में पुनर्विवाह के अवकाश होने के कारण सहमरण की प्रथा का जन्म नहीं हुआ था। जिस प्रकार पुरुष को पुनर्विवाह का अधिकार था, उसी प्रकार नारी को भी चार विवाह तक करने की अनुमति थी :—

सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः।
तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः।
ऋग्वेदः १०।८५।४० :

ऋग्वैदिक समाज, विकास के प्रथम चरण पर होने के कारण अपनी अर्थ-व्यवस्था में बहुत ही स्पष्ट नहीं हो पाया था। पुत्र-हीन पिता की सम्पत्ति पर ही पुत्री का अधिकार हो पाता था। वैसे विवाह के अवसर पर उसे स्त्री-धन की प्राप्ति होती थी। जिस पर पूर्ण रूप से उसका ही अधिकार होता था, और उसी धन में से वह दानादि किया करती थी। इस काल में दहेज-प्रथा अधिक विकास नहीं पा सकी थी क्योंकि स्त्री-पुरुष स्वेच्छा से एक दूसरे से प्रेम और विवाह करते थे।

१—ऋग्वेद : १।११५।२, ६।३२।५, ६।५६।३।
२—ए० बी० कीथ : 'द कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पहली पोथी, पृष्ठ ८८।

इस प्रकार से ऋग्वैदिक समाज में नारी की स्थिति सभी प्रकार से समुन्नत थी। वह पुरुष की सम्पत्ति न होकर उसकी सहधर्मिणी और साथिन थी तथा सामाजिक, धार्मिक एवं शैक्षणिक क्षेत्र में पुरुष के समान सभी सुविधाओं की अधिकारिणी थी। उसके गुणों के साथ-साथ उसके स्वत्व को भी प्रतिष्ठा प्रदान की गई और उसको पुरुष के समान भाव-भूमि पर प्रतिष्ठित कर उसके गौरवपूर्ण जीवन के मूल्य और महत्त्व को अनुभव किया गया।

ऋग्वैदिक काल के आध्यात्मिक जीवन का लक्ष्य आनन्द था। परन्तु उत्तर-वैदिक काल में ऋषि महर्षि आनन्द की अपेक्षा तप को अधिक महत्त्व प्रदान करने लगे। आनन्द की पवित्र विभूति और सुख की जनक जो नारी जो ऋग्वैदिक जीवन के लक्ष्य में अपनी महत्ता के शीर्ष पर आसीन थी, अब इस नए काल में एक सीढ़ी नीचे उतर आई। क्योंकि इस नवोदित मनोवृत्ति के अनुसार वह लक्ष्य (आनन्द) प्राप्ति में सहधर्मिणी नहीं, वरन् बाधा समझी जाने लगी। उत्तर-वैदिक काल में नारी-समाज में शिक्षा का अभाव हो गया था। यह एक अजीब-सी बात लगती थी कि एक ओर जहाँ पुरुष ज्ञान-प्राप्ति की तीव्र उत्कण्ठा से तपस्या और त्याग की ओर अग्रसर हो रहा था, वहाँ दूसरी ओर नारी के विद्याध्ययन के अधिकार को केवल धार्मिक शिक्षा तक ही सीमित कर दिया गया था। पुरुषों से स्वतन्त्र संपर्क अब बुरा माना जाने लगा। एक ओर शैक्षणिक अवरोध और पुरुष सम्पर्क के अभाव में उत्तर-वैदिक समाज की नारी अपने व्यक्तित्व का विकास कर सकने में असफल रही, दूसरी ओर ज्ञान प्राप्ति के लिए तत्कालीन पुरुष-समाज में इसी हीनता के कारण पुरुष और नारी की समानता के भाव को शिथिल करके उसकी स्थिति को और भी दुर्बल बना दिया। विद्या की उपासना के इस युग में नारी-समाज को अपेक्ष्य क्षति उठानी पड़ी। वैसे तो ऋग्वैदिक काल में भी पुत्र का जन्म आनन्ददायक होता था, परन्तु कन्या के जन्म पर लोग दुःखी नहीं होते थे। उत्तर-वैदिक काल में कन्या का जन्म विपत्ति लाने वाला माना जाने लगा। ऐतरेय ब्राह्मण : ७।१५ : में पुत्र को स्वर्ग-तुल्य तथा कन्या को कृपणम् अर्थात् विपत्ति के रूप में संबोधित किया गया है। तैत्तिरीय संहिता : ६।५।८।२ में उसे पुत्र से भी नीच कहा गया है। इस काल में वैवाहिक व्यवहार में भी कुछ कड़ाई आने लगी थी। सगोत्र-विवाह की मनाही अभी तो अभी नहीं हुई थी, किन्तु उसके प्रति किसी प्रकार का आकर्षण लोगों में नहीं रह गया था। विवाह अब भी पवित्र कर्म माना जाता था, परन्तु बहु-विवाह की प्रथा धीरे-धीरे विकास पा रही थी। मैत्रायणी संहिता में मनु की दस पत्नियों का उल्लेख है, :१।५।८। विधवा-विवाह अब भी प्रचलित था। किन्हीं मन्त्रों में सती-प्रथा का विधान भी देखने को मिलता है[1]। शतपथ ब्राह्मण : ब्रा० ५।२।३।१० का कथन है कि

१—अथर्व वेद : १८।३।१-२, तथा ऋग्वेद १०।१८।८।

पत्नी के विना पति स्वर्ग नहीं जा सकता। विधवा-विवाह के विपय में 'दिधितु' शब्द से ज्ञात होता है कि विधवा अपने देवर से विवाह कर लेती थी। विधवा-विवाह का संकेत 'पर-पूर्वा' शब्द से भी होता है[1]।

यजुर्वेद की तैत्तिरीय संहिता : ६।५।८।२ : में पिता के धन पर कन्या के अधिकार का निपेध वतलाया गया है। इस प्रकार से उत्तर-वैदिक काल में नारी-स्थिति के महत्व में एक आघात लगा। परन्तु इस करुण पक्ष के साथ-साथ नारी-स्थिति का उज्ज्वल पक्ष भी उत्तर-वैदिक साहित्य में देखने को मिलता है। उपनिपदों में शिक्षित नारियों का उल्लेख है। वे शिक्षिकाएँ होती थीं तथा नारी समाज में धर्म-शिक्षा का प्रचार करती थीं। उपनिपदों में नर-नारी द्वार lलोक संचालन की क्रिया का वर्णन भी किया जाता है। उपनिपदों ने संसार को पर-ब्रह्म की यज्ञशाला मान कर नर को होता तथा नारी को अग्नि-रूप में उपस्थित किया है। इस प्रकार से नर संचायक है और नारी विभाजक। इसमें नारी को पुरुप के समान ही महत्ता प्राप्त है, और इसी के आधार पर सारा संसार स्थित है। फिर भी उत्तर-वैदिक काल के मनीपी नारी को यह संदेश देना नहीं भूले हैं कि उनके लिए वही शुभ वुद्धि है, जिस वुद्धि से उन्हें अपने इस स्वरूप का ज्ञान हो जाय कि हम नर (ब्रह्म) की भिन्न भिन्नात्मिका शक्ति तथा अंश है और नर हमारा नियामक, संरक्षक और अभिवर्धक है। यदि हम नर से तनिक भी अपने को पृथक सत्ता वाली एवं स्वतंत्र मानती हैं तो हमारी वही गति होगी जो वृक्ष से पृथक होकर इतस्ततः गिरने वाले पत्र की होती है[2]।

वैदिक युग के पश्चात् सूत्र ग्रन्थों तथा महाकाव्यों का काल आता है। सूत्र-काल में नारी रक्षा का भार सम्राट पर होता था। अव उसके अधिकार पहिले की अपेक्षा सीमित हो गए थे। उसकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता का लोप हो गया था। यज्ञादि धार्मिक समारोहों में उसकी उपस्थिति अनिवार्य न रह गई थी[3]। इस काल में नारी पुरुप की सम्पत्ति मानी जाने लगी[4]। सहमरण की प्रथा का चलन अभी नहीं हुआ था। सन्तानहीन विधवाओं की पर-पुरुप से पुत्र प्राप्ति का अधिकार था[5]। वाल-विवाह होना आरम्भ हो गए थे। कन्या के रजस्वला होने से पूर्व ही विवाह करना उत्तम माना जाता था। उत्तर-सूत्र-काल में नारी सम्बन्धी विचारों में वड़ा अन्तर्विरोध मिलता है। नारी-स्थिति के विपय में सभी सूत्रकार एकमत नहीं हैं।

१—डा० वेनी प्रसाद : 'हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता,' पृष्ठ १०७।
२—व्रजवल्लभ शरण : 'कल्याण' : नारी विशेषांक : पृष्ठ ११०।
३—वौध : ११, २३, ४४, गौतम : १५।१ : 'द कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया' प्रथम पोथी, पृष्ठ २४७ पर उत्कथित।
४—वास, १६।१८।
५—वौध, २।४।६।

फिर भी नारी के लिए कुछ सामान्य आदर्शों की प्रतिष्ठा की गई है। माता के रूप में नारी को सर्वोच्च स्थान प्राप्त था। वधू का कुमारी होना अनिवार्य समझा जाता था[1]। विधवा-विवाह वर्जित थे। विधवाएँ असम्मानित, नियन्त्रित एवं उपेक्षापूर्ण जीवन व्यतीत करती थीं। सहमरण शास्त्र सम्मत न था।

इसके उपरान्त रामायणकाल में नारी-स्थिति का विकास हुआ। राजकुमारियों को स्वयं वरण करने का अधिकार था। इस काल में पतिव्रत धर्म का बहुत महत्व था। पति देवता के रूप में पूज्य था[2]। अयोध्याकाण्ड में सीता स्त्रियों के धर्म की व्याख्या इस प्रकार करती है —'स्त्री का सहारा न तो माँ बाप से है, न अपने से है, पति ही एक मात्र सहारा है[3]।' इस काल में बहु-विवाह प्रथा प्रचलित थी। दशरथ इसके उदाहरण हैं। सपत्नियों के सम्बन्ध अच्छे न थे। यज्ञादि में भाग लेने का अधिकार उन्हें प्राप्त था।

महाभारत काल तक आते-आते भारतीय सामाजिक व्यवस्था का स्तर अनेक दृष्टियों से पतित हो चुका था। जन्मगत वंश का अभिमान तथा वर्ण एवं जाति-भेद की दीवारें दृढ़ हो गई थीं। यह काल नारी-स्थिति के ह्रास का काल था। अब उन्हें शूद्रों के समकक्ष रखा जाने लगा। उनकी स्वतन्त्रता नियन्त्रित कर दी गई। पति के अन्धा होने के कारण गान्धारी को जीवन भर आँखों पर पट्टी बाँधे रहना पड़ा। द्रौपदी पाँच पतियों की पत्नी बनने पर विवश हुई। अपने प्रेम को विवाह में परिवर्तित करने के लिए अर्जुन को सुभद्रा का हरण करना पड़ा। नारी को सम्पत्ति समझ, सामान्य धन की भाँति जुए के दाँव पर लगा देना भरी सभा में नारी के सतीत्व-हरण की चेष्टा तत्कालीन नारी स्थिति का दयनीय चित्र उपस्थित करती है। धृतराष्ट्र के १०० पुत्रों का उल्लेख बहु-विवाह का द्योतक है।

महाभारत कालीन नारियों की स्थिति बड़ी विचित्र-सी दिखाई पड़ती है। कहीं उनके उज्ज्वल पक्ष को उपस्थित कर उन्हें सम्मान प्रदान किया गया है। वे पति की पथ-प्रदर्शिका, उन्हें दुष्कार्यों से बचाने में पूर्ण हृदय से संलग्न दिखाई पड़ती हैं। पति की असहाय अवस्था में राज्य का पूर्ण रूप से संचालन तथा अपने परिवार का पोषण उनके चरित्र की अपनी विशेषता रही है[4]। परन्तु कहीं-कहीं उन्हें किसी भी प्रकार की स्वतन्त्रता देने की अनुमति न देने का उल्लेख भी है[5]। घर की सीमाओं में उनके जीवन का उद्देश्य सीमित है। माया, अग्नि, सर्पिणी,

---

१—मनु, ८।६५।

२—वाल्मीकि रामायण : बालकाण्ड, १८।

३—डा० बेनी प्रसाद : 'हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता,' पृष्ठ १८३ पर उद्धृत।

४—वन पर्व : ११, २७, ३७, ५६, ६१।

५—अनुशासिक पर्व : ४५।

गरल, विचार-विहीना, चंचला तथा दुश्चरित्रा आदि विशेषणों से युक्त उनके प्रति उपेक्षा के प्रमाण भी महाभारत में मिलते हैं[1]। इस काल में बहुत-सी घटनाओं के कारण नारी द्वारा उच्च सम्मान-प्राप्ति की बात भी लक्षित होती थी। सुभद्रा हरण की घटना से नारी के स्वतन्त्रतापूर्वक विचरण का प्रमाण मिलता है। स्वयंवर की प्रथा इस काल में भी प्रचलित थी, विधवा-विवाह के विषय में परस्पर विरोधी प्रमाण मिलते हैं। माद्री अपने पति पांडु के साथ सती हो जाती है, जबकि दमयन्ती के दूसरे स्वयंवर की घोषणा का भी उल्लेख मिलता है[2]। नियोग प्रथा का प्रचलन सम्भवतः इस काल में आरम्भ हो गया था। नियोग पति की मृत्यु के पश्चात् तथा विशेष दशा में जीवित रहने पर भी उसकी आज्ञा से किया जाता था[3]। नारी के पत्नी स्वरूप को इस काल में उच्च महत्व प्राप्त था। 'पत्नी ही घर है, जिस घर में पत्नी नहीं, वह घर नहीं है......धर्म, अर्थ और काम में, देश में और परदेश में, सुख में, दुख में, हर बात में पत्नी ही साथी है[4]।

उत्तर-वैदिक काल से लेकर महाकाव्यों के काल तक ब्राह्मण धर्म की कट्टरता संकीर्ण पथ से निकलती हुई स्वतन्त्र वातावरण और उदार विचारों का दलन कार्य कर रही थी। इसी संकीर्णता के विरोध में बौद्ध धर्म का आविर्भाव हुआ। समस्त मानव जाति के लिए समानता का भाव लेकर इस धर्म ने आत्म-शुद्धि तथा आत्म-संयम का संदेश दिया। सन् १०० ई० तक इस धर्म का प्रचुर प्रचार हो चुका था। धर्म प्रस्थापन के ६ वर्ष बाद स्त्रियों को इस धर्म में दीक्षित होने की अनुमति प्राप्त हो गई थी। बुद्ध भगवान ने नारी के लिए आत्म-विकास की भावना का पुर्नस्थापन किया। बौद्ध-धर्म के भ्रष्ट होने से पूर्व नारी की सामाजिक स्थिति इस काल में उन्नत थी। धार्मिक क्षेत्र में उसे महान् स्वतन्त्रता प्राप्त थी। इसीलिए हिन्दू धर्म की कट्टरता से विक्षुब्ध नारियों ने इस नए धर्म को हृदय से स्वीकार किया। महाप्रजापति देवी, अन्य कई महिलाओं के साथ सबसे पहले इसमें दीक्षित हुई, वेश्याओं और नर्तकियों के लिए भी इस धर्म के द्वार बन्द नहीं थे। इस धर्म से प्रभावित समाज में अन्तर्जातीय विवाह होने आरम्भ हो गए थे। पुत्री का जन्म अमंगलकारी नहीं समझा जाता था। उनकी शिक्षा पर पुत्रों के समान ही ध्यान दिया जाता था[5]। विवाह आयु में अभी कमी नहीं हुई थी। पूर्ण वयस्क होने पर ही विवाह किया जाता जाता था कुमारियों को अपने प्रिय से विवाह करने

१—अनुशासिक पर्व : १२, १९-२१, ३८-३९, ५०।

२—नाहर : प्राचीन भारत का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास, पृष्ठ ११८।

३—वही।

४—डा० बेनी प्रसाद : हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता, पृष्ठ १६५।

५—हार्नर एल० वी० : 'वीमन अण्डर प्रिमिटिव बुद्धिज़्म' पृष्ठ १९-२०।

के लिए अभिभावकों की अनुमति लेनी पड़ती थी। माता को अपनी पुत्री के विवाह पर अपने विचार व्यक्त करने का अधिकार था। पति-पत्नी, एक दूसरे के विचारों का आदर करते थे, लेकिन पुरुष का स्थान ऊँचा होता था। इस काल में विधवा-विवाह लगभग बन्द हो गये थे। विधवाएँ अधिकतर बौद्ध संघ में दीक्षित होकर तपश्चर्या का जीवन व्यतीत करती थीं। वैसे विधवा-विवाह को बुरा नहीं माना जाता था। यह कहा जा सकता है कि बौद्ध धर्म के आरम्भिक काल में, जब वहाँ अष्टता का प्रस्फुटन नहीं हुआ था, नारी को महत्व का स्थान देने, और उसकी वेद कालीन उखड़ती हुई स्थिति को सँभालने की दिशा में प्रयत्न किया गया[1]।

नारी-स्थिति के इतने संरक्षण के साथ-साथ बौद्धकाल में उनकी स्थिति के ह्रास को दृष्टि-ओझल नहीं किया जा सकता। प्रारम्भ में महात्मा बुद्ध इस पक्ष में नहीं थे कि नारी को बौद्ध संघ में दीक्षित होने की अनुमति दी जाय। आनन्द की प्रार्थना पर ही उन्होंने संघ में प्रवेश की आज्ञा दी थी। साथ ही उन्होंने ८ ऐसे कठोर नियम बना दिए जिससे नारी के लिए संघ जीवन कष्टदायक, और पुरुष की तुलना में स्थिति निम्न हो गई। उदाहरण के लिए, सौ वर्ष की भिक्षुणी को भी पहिले भिक्षु की अभ्यर्थना करनी पड़ती थी, चाहे भिक्षु केवल एक ही दिन का क्यों न दीक्षित हुआ हो[2]। भिक्षुणियाँ भिक्षुओं के साथ स्वेच्छा से जाकर वार्तालाप नहीं कर सकती थीं, पर भिक्षुओं के लिए यह स्वतन्त्रता प्राप्त थी[3]। भिक्षुणियाँ किसी भिक्षुक पर दोषारोपण नहीं कर सकती थीं, जबकि भिक्षुक को यह अधिकार प्राप्त था। विनयपिटक : चुल्लवग्ग १।१।: में महात्मा बुद्ध ने आनन्द से नारी के संघ-प्रवेश पर अपना दुःख यों प्रकट किया है—'पर, अब, जब स्त्रियों का प्रवेश हो गया है आनन्द, धर्म चिरस्थायी न रह सकेगा।...जिस प्रकार ऐसे घरों में जिनमें स्त्रियाँ अधिक और कम पुरुष होते हैं, चोरी विशेष रूप से होती है, कुछ इस प्रकार की अवस्था उस सूत्र और विनय की समझी जानी चाहिए जिसमें स्त्रियाँ घर का परित्याग करके गृह-विहीन जीवन में प्रवेश करने लगती है............फिर भी आनन्द, मनुष्य जैसे भविष्य को सोचकर जलाशय के लिए बाँध बँधवा देता है, जिससे जल बाहर न बहने लग जाए, उसी प्रकार आनन्द, भावी के लिए, मैंने ये आठ कठोर नियम बना दिए हैं, जिनका पालन भिक्षुणियों के लिए अनिवार्य है। जब तक धर्म है, उन नियमों के पालन में प्रमाद न होना चाहिए।'

इस प्रकार से तत्कालीन समाज में स्त्रियों की स्थिति को पूर्वकालीन गौरव की प्राप्ति न थी। बुद्ध जैसे निष्पक्ष व्यक्ति को भी उनके आचरण पर पूर्ण

१—मीरा देसाई : 'वीमन इन माडर्न इण्डिया' पृष्ठ १६।

२—विनयपिटक चुल्लवग्ग १०।१।

३—वही।

विश्वास न था साधारणतया तत्कालीन नारी गृह-सीमाओं में आवद्ध हो गई थी। गृहस्थ धर्म तथा ललित कलाओं एवं संगीत में रुचि ही उसका मूल्य गुण बन गया था, और समाज सम्बन्धी स्वतन्त्र विचारधारा एवं व्यवहार उसके क्षेत्र से बाहर की वस्तु बन गए थे।

बौद्ध-धर्म के साथ-साथ भारतवर्ष में जैन धर्म का भी आविर्भाव हुआ। जैन धर्म ग्रन्थों में नारी के प्रति अटूट विरक्ति की भावना स्पष्ट लक्षित होती है। वे पुरुष के सिद्धि मार्ग की सबसे बड़ी बाधा माया-रूप मरीचिका तथा मृत्युपाश हैं। 'ज्ञानार्णव' में शुभचन्द आचार्य ने कहा—'स्त्रियाँ वाणी में अमृत रखती हैं, लेकिन हृदय में विष भरे हुए हैं। वे स्वभाव से ही कुटिल हैं। स्त्री, पुरुषों को वज्राग्नि की ज्वाला के समान और साँप की दाढ़ के समान भय संताप देने वाली है। क्रोध से फुंकार भरली हुई सर्पिणी का—आलिंगन करना श्रेष्ठ है किन्तु स्त्री को कौतुक-मात्र से आलिंगन करना भी उचित नहीं है, क्योंकि सर्पिणी यदि काटे तो एक बार ही का मरण होता है पर स्त्री तो नरक की पद्धति के समान है, वह एक बार नहीं, बार-बार मरण करा कर नरक में ले जाने वाली है।' : ज्ञानार्णव, अध्याय १२, २-३, ५ :

'सुभाषित रत्न संदोह' में भी अमित गति आचार्य ने नारी को माया, अस्थिर मना, अपकारी, असत्य भाषण में चतुरा तथा कुल में कलंक लगाने वाली कहा है[१]।'

नारी की सामाजिक स्थिति के ह्रास का प्रथम प्रत्यक्ष चरण स्मृति काल से आरम्भ होता है। उपर्युक्त काल तक नारी स्थिति के विषय को लेकर जो कुछ भी कहा गया वह नारी स्थिति के पतन के पूर्व-पीठिका मात्र था। वैदिक-कालीन धार्मिक अनुष्ठानों में नारी-महत्वपूर्ण भाग लेती रही थी, और उसकी उपस्थिति के बिना कोई भी कृत्य पूरा नहीं समझा जाता था, परन्तु अब उसकी बौद्धिक स्थिति को संकीर्ण सीमाओं में आबद्ध कर दिया गया। धर्म से नारी का सम्पर्क धीरे-धीरे छूट रहा था। केवल विवाह के अवसर पर ही उसे मन्त्रों का उच्चारण करना पड़ता था। अतः उसको शिक्षित करने की भी आवश्यकता नहीं समझी गई। परिणामस्वरूप नारी के धार्मिक जीवन के साथ-साथ उसकी शिक्षा भी समाप्त हो गई। स्मृतिकारों ने स्त्री को स्वतन्त्रता प्रदान करने में अपनी उपेक्षा प्रकट की है। सामाजिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक समारोहों में उपस्थित होने अथवा भाग लेने की पहली जैसी स्वतन्त्रता उसे अब नहीं रह गई थी। स्मृतिकालीन समाज रूढ़िवादिता की दिशा में अग्रसर हो रहा था। मनु ने ब्राह्मणों को अधिक

१—शाश्वन्माया करोति, स्थिर पति न मनो मान्यते नोपकारे,
या वाक्य वक्त्यसत्य, मलिन पति कुल, कीर्ति वल्लीलुनाति'। : सु० रं० सन्दोह ११६।

स्वतन्त्रता एवं अधिकार देकर नारी और शूद्रों की स्थिति को बहुत नीचे गिरा दिया। अब नारी की अपनी वैयक्तिकता समाप्त हो चुकी थी। पुरुष उसका नियामक बनने की दिशा में अग्रसर हो रहा था। उच्च कुलों में पर्दे की प्रथा थी। हिन्दू धर्म-शास्त्रियों के अनुसार विवाह के ८ भेद कर दिए गए। जिनमें से प्रथम चार प्रकार के विवाह हिन्दू धर्म द्वारा मान्य थे। पिता अपनी कन्या को उपहार के रूप में किसी योग्य पुरुष को दे देता था। कन्या के वयस्क हो जाने की अवस्था १२ वर्ष मानी गई[१]। वयस्क होने पर ही उसका विवाह होता था। विवाहित पत्नी का कर्तव्य पारिवारिक सुव्यवस्था के लिए धन का सदुपयोग करने, घर को स्वच्छ रखने, धार्मिक कृत्यों को पूर्ण करने, भोजन बनाने तथा बच्चों की देख-भाल करने तक सीमित हो गया[२]। मनु ने सती प्रथा का तीव्र खण्डन किया है। उनके अनुसार साध्वी पत्नी पति की मृत्यु के उपरान्त पवित्र जीवन व्यतीत करती है, तो उसे पवित्र पति की ही भाँति स्वर्ग की प्राप्ति होती है[३]। मनु-संहिता में सहमरण के साथ-साथ विधवा-विवाह का विरोध भी किया गया है। पुनर्विवाह करने वाली नारी दुराचारिणी है, और वह पुरुष जो ऐसी नारी के साथ सम्बन्ध स्थापित करता है, श्राद्ध, संस्कार से वंचित होना चाहिए[४]। मनु के विपरीत कौटिल्य ने सन्तानहीन विधवा के लिए 'नियोग' का विधान बतलाया है, जब कि मनु ने 'नियोग' की भी तीव्र आलोचना की है। इस प्रकार नारी पुनर्विवाह से वंचित रहती थी, जबकि पुरुष धार्मिक अनुष्ठानों को पूर्ण करने के हेतु एक पत्नी के मरने के बाद दूसरा विवाह कर सकता था। कौटिल्य अर्थ-शास्त्र में एक ही विवाह के आदर्श को माना गया है। विवाह होने पर सुगमता से सम्बन्ध-विच्छेद नहीं किया जा सकता था, वैसे उच्च वर्गों में औपशायक दोष उत्पन्न हो जाने पर सम्बन्ध-विच्छेद का नियम था। एक दूसरे से घृणा होने पर भी सम्बन्ध-विच्छेद का नियम था[५]। विवाह हो जाने के पश्चात् यदि स्त्री के गर्भ न रहता हो, अथवा गर्भदान-शक्ति क्षीण हो गई हो तो आठ वर्ष तक, मृत बच्चे के होने पर १० वर्ष तक, केवल कन्यायें होने पर १२ वर्ष तक प्रतीक्षा करने के पश्चात् पुत्रार्थी दूसरा विवाह कर सकता था। इस प्रकार से यदि युवती विधवा सन्तान प्राप्त करने की इच्छा से पुनर्विवाह करती तो उसे अपने श्वसुर तथा पति का धन-

---

१—शाम शास्त्री : कौटिलीय अर्थ शास्त्र, पृष्ठ १९६।

२—बुह्लर : 'द लाज़ ऑफ मनु' पृष्ठ ३२९।

३—एम० पिनखम द्वारा 'वीमन इन द सेकण्ड स्क्रिपचर्स' में पृष्ठ ८७ पर उत्कथित।

४—बुह्लर : 'द लाज़ ऑफ़ मनु' पृष्ठ, १०७।

५—शाम शास्त्री : 'कौटिलीय अर्थ शास्त्र,' पृष्ठ १७६-१७७।

विवाह के अवसर पर दे दिया जाता था[१]। सन्तानवती विधवा का विवाह वर्जित था। मनु सम्बन्ध-विच्छेद के भी पक्षपाती नहीं हैं।

नारी के सम्पत्ति विवाह अधिकारों की भी व्याख्या स्मृतिकारों ने की है। सहोदर विहीन बहिन पिता के धन की अधिकारिणी हो सकती थी। मनु-स्मृति में ऐसी अवस्था में बहिन को केवल विवाह योग्य धन देने की ही व्यवस्था है[२]। मनु का कथन है कि पत्नी, पुत्र और दास को सम्पत्ति पर कोई अधिकार नहीं होता। इनके धन पर उस पुरुष का अधिकार है, जिससे ये सम्बन्धित हैं[३]। आगे मनु ने ६ प्रकार के स्त्रीधन की व्यवस्था की है। जिस पर स्त्री का पूर्ण अधिकार होता है। यह धन विवाह के अवसर पर पिता से, विदाई के अवसर पर पिता से, समय-समय पर भेंट रूप में पति से, तथा विभिन्न अवसरों पर माता, पिता तथा भाई से प्राप्त होता है। विधवा अपने पवित्र वैधव्य काल में अपने पति की सम्पत्ति की अधिकारिणी होती है, और उसका उपयोग सन्तति-पोषण के लिए किया जा सकता है। मनु के अनुसार नारी पुरुष के प्रगतिपथ की सबसे बड़ी बाधा होती है। इस कारण विद्वान लोग उसका साथ नहीं करते। नारी मूर्ख मनुष्य को ही नहीं, वरन् साधुओं को भी पथ-भ्रष्ट कर, उनमें इच्छा जागृत कर देने की शक्ति रखती है[४]।

भारतीय नारी-स्थिति के ह्रास का यह क्रम पौराणिक युग में अधिक मुखर हो गया। पुराणों की रचना बौद्ध धर्म के विरोध में ब्राह्मणों की अक्षुण्णता स्थापित करने के लिए की गई थी। बौद्ध और जैन लोगों के इस विश्वास ने कि मोक्ष प्राप्ति के लिए आत्मा और परमात्मा के मध्य कोई मध्यस्थ रखने की आवश्यकता नहीं है और नारी भी भिक्षुणी होकर मोक्ष की अधिकारिणी हो सकती है, ब्राह्मण पन्थियों को भयभीत कर दिया था। इसलिए इस युग में एक बार फिर वर्णाश्रम धर्म की प्रतिष्ठा की गई। फलस्वरूप नारी के अधिकार और भी अधिक संकीर्ण हो गए। उनके लिए पति ही देवता हो गया। इनके द्वारा इस विश्वास को प्रस्थापित किया गया कि उसके द्वारा पति की आराधना जीव की ब्रह्म के प्रति आराधना है[५]। किसी भी दशा में पति को छोड़ने का अधिकार उसे नहीं है। एक बार विवाहिता हो जाने पर पति ही उसका लक्ष्य, धर्म और आदर्श है। श्री के. पी. जायसवाल ने अपनी पुस्तक 'मनु ऐण्ड याज्ञवलक्य'[६] में पौराणिक नारी की

१—देवदत्त शास्त्री : 'कौटिल्य अर्थ शास्त्र,' पृष्ठ ३१४।
२—बुह्लर : द लाज़ ऑफ़ मनु, पृष्ठ ३४८।
३—बुह्लर : द लाज़ ऑफ़ मनु पृष्ठ ३२६।
४—जान विलियम : मनुस्मृति, पृष्ठ ३६।
५—पद्म पुराण, : प्रथम पोथी : पृष्ठ ४१, ७०।

मनु और कौटिलीय नारियों से तुलना करते हुए लिखा है—

'It was not the wife of the time of the Kautilya who would bring an action for defamation or assualt and become a defendent in the court for beating her husband. It was not the wife of the time of Manava who regarded 'Mutual Fidelity' to be highest duty. It was the wife of Yajnavalkya's age permeated to the core like Pickle......with the dharma of object obedience and unnatural tolerance. (Page 232)

पौराणिक काल में नारी का धार्मिक जीवन केवल व्रत रखने तक ही सीमित हो गया था। नारी द्वारा वेदाध्ययन का अधिकार इस काल में समाप्त कर दिया गया। गृहस्थ जीवन को सबसे अधिक महत्ता प्रदान की गई। कोई भी नारी आजन्म कौमार्य पालन नहीं कर सकती। विवाह योग्य आयु और भी नीचे आ गई। साधारणतया ८-१० वर्ष की कन्या का विवाह कर दिया जाता था। ब्रह्म पुराण में विवाह की अवस्था चार वर्ष मानी गई है[1]। इस काल में अन्तर्जातीय विवाह होने बन्द हो गए थे। एक जातीय विवाह का आदर्श समाज में प्रचलित था। पुनर्विवाह प्रथा समाप्त हो चली थी[2]। पुराणों में सहमरण के बहुत से उदाहरण मिलते हैं। इससे पूर्व सहमरण के जो भी उदाहरण प्राप्य है, उनमें आत्म-त्याग की भावना विशेष होती थी। परन्तु अब उन्हें सती होने के लिए बाध्य किया जाने लगा। पौराणिक काल के इस धूमिल प्रहर में भी एक बात विशेष रूप से विचारणीय है और वह है स्त्री-धन की महत्ता। स्त्रियों को स्त्रीधन पर पूर्ण अधिकार था। पुत्र के अभाव में पति के धन की वे ही अधिकारिणी होती थी। परन्तु इसके लिए विधवा का पवित्र होना अत्यावश्यक होता था।

पौराणिक काल नारी के लिए उसकी दुरावस्था का संदेश लेकर आया। समाज में रूढ़िवादिता की जड़ें गहरी हो रही थीं। ब्राह्मण धर्म अपनी कट्टरता के बल, उसे अपनी वैयक्तिकता के विकास के लिए किसी भी प्रकार का अवकाश और अवसर प्रदान करने के पक्ष में नहीं था। इस प्रकार विदेशियों के आगमन से पूर्व ही भारतीय समाज विवाह, बहु-विवाह, सती-प्रथा, अशिक्षा, बाधित वैधव्य एवं पर्दा प्रथा आदि कुरीतियों का प्रचलन हो गया था। इनको उत्तर-पुराण काल में मुसलमानों के आगमन से और भी अधिक विकसित होने का अवसर मिला।

१—नीरा देसाई : 'वीमन इन माडर्न इण्डिया' पृष्ठ २१।
२—ब्रेन ब्वेंग, मुल्तोरे आर० एन० द्वारा 'लाइफ इन गुप्ता एज,' पृष्ठ १११ : में उल्लिखित।

पौराणिक युग से आरम्भ हुई संकीर्णता विदेशियों के आक्रमणों तथा उनके धर्म-प्रचार के प्रयास के कारण और भी अधिक संकीर्ण होती चली गई। अब नारी की प्रगति और स्वतन्त्रता समाप्त होकर उसका जीवन परम्परागत अवरुद्ध धाराओं में बहने लगा। उत्तर-पौराणिक काल नारी-स्थिति दृष्टि से सबसे अंधकारमय काल है। नारी की यह दयनीय स्थिति १९वीं शताब्दी के आरम्भिक वर्षों तक बनी रही। भारतीय समाज में मुसलमानों से पूर्व बहु-विवाह प्रथा प्रचलित थी, परन्तु इसका प्रचलन अधिकतर राज्य वंशों अथवा उच्चतर स्तर के लोगों तक ही सीमित था। मुसलमानों के प्रभाव से इस प्रथा का विस्तार हुआ और जन-साधारण में भी बहु-पत्नी प्रथा व्याप्त हो गई। सामाजिक समारोहों में एक प्रकार से उसका पूर्ण निषेध हो गया। घर की चहारदीवारी उसके कर्म-क्षेत्र की सीमा-रेखा के रूप में मान्य हुई। विधवा-विवाह प्रथा पूर्णतया नष्ट हो गई। सती प्रथा का विस्तार हुआ। अभी तक क्षत्रिय लोगों में ही सहमरण प्रथा प्रचलित थी। अब ब्राह्मणों ने भी आत्म-सम्मान की रक्षा की भावना से इस प्रथा को अपना लिया। कालान्तर में यह भावना इतनी अधिक बलवती हो गई कि सती होने से बचने वाली स्त्री को हेय दृष्टि से देखा जाने लगा। मुसलमानों में सम्बन्ध-विच्छेद, पति की सम्पति पर पत्नी का अधिकार तथा विधवा-विवाह आदि प्रथाएँ प्रचलित थीं, परन्तु ब्राह्मण आदर्शों से निर्देशित भारतीय समाज इन प्रथाओं को अपना सकने में असमर्थ रहा, और अपनी परम्परागत संकीर्णताओं से मोह रखते हुए प्राचीन परिपाटी पर ही चलता रहा।

हिन्दू समाज में रूढ़िवादिता तथा संकीर्ण भावना का विकास आत्म-रक्षा के उद्देश्य से किया गया था। परन्तु कालान्तर में यह भावना परिपाटी के रूप में चलकर संकीर्ण से संकीर्णतर होती हुई हिन्दू समाज के पतन का कारण बन गई। बौद्ध धर्म के विरुद्ध ८वीं शती में शंकराचार्य का अभ्युदय हो चुका था। उन्होंने ज्ञान के बल पर वेदों की उच्चता का पुनर्स्थापन करना चाहा। परन्तु जन-सम्पर्क की न्यूनता के कारण जन-साधारण को उनके ज्ञान का अधिक लाभ प्राप्त न हो सका। उनके उपरान्त १२वीं शताब्दी में जब भारतीय भूमि पर विदेशियों का पदार्पण हो चुका था, रामानुज ने भक्ति आन्दोलन का शिलान्यास कर, प्राणी मात्र के बीच परस्पर स्नेह तथा समानता का संदेश दिया। भक्ति आन्दोलन की यह लहर रामानुज से आरम्भ होकर १५वीं और १६वीं शताब्दी तक देश के कोने-कोने में व्याप्त हो गई। रामानुज का आविष्कृत सगुणभक्ति-मार्ग लोगों के जीवन की इच्छा का प्रादुर्भाव करते हुए उन्हें अपनी ओर आकर्षित कर रहा था। दूसरी ओर गुजरात प्रदेश में स्वामी माधवाचार्य वैष्णव धर्म का प्रचार कर रहे थे। पूर्व भाग में जयदेव और विद्यापति कृष्ण भक्ति की प्रतिष्ठा में रत थे। १५वीं शताब्दी के लगभग मध्य-भारत में रामानन्द राम-भक्ति का प्रचार कार्य कर रहे थे, और दूसरी

और उत्तर भारत में स्वामी वल्लभाचार्य कृष्ण-भक्ति के महात्म्य के बखान में लगे थे। भक्ति के इस युग में देश ने जहाँ रामानुज, निम्बार्क मुनि, माध्वाचार्य और चैतन्य जैसे महात्मा उपदेशकों को उत्पन्न किया वहाँ दूसरी ओर रामानन्द, कबीर, नानक, तुलसी, सूर, मीरा, नरसिंह, नामदेव एवं तुकाराम जैसे सन्तों और भक्तों की भी प्रतिष्ठा की, जिन्होंने भक्ति की इस धारा को सुदृढ़ता तथा दीर्घ जीवन प्रदान किया। इस काल में भिन्न-भिन्न जातियों से महात्माओं और साधकों का अभ्युदय हुआ, अतः जाति-पाँति और लिंग की समानता का घोष उच्च स्वर में किया गया। सभी धर्मावलम्बियों ने अपने धर्म के द्वार सभी के लिए समान रूप से खोल दिए। इसके परिणामस्वरूप नारी को एक बार फिर उपयुक्त वातावरण प्रदान करने की भावना का जन्म हुआ। भक्त और साधकों के इस युग में ऐसे साहित्य का सृजन किया जो जन-साधारण के लिए सुलभ हो। कबीर की साखियाँ, तुलसी की चौपाइयाँ, सूर के पद, चैतन्य के कीर्तन, नरसिंह के प्रातः गीत, नामदेव और तुकाराम के अभंग तथा मीरा के भजनों ने भारतीय समाज को अमूल्य साहित्य का उपहार दिया। महादेव गोविन्द रानाडे ने अपनी पुस्तक 'द राइज ऑफ मराठा पावर' : पृष्ठ, १५६ : में इस नव-रचित भक्ति-साहित्य के विषय में महत्वपूर्ण उद्धरण प्रस्तुत किया है :—

'The Professors of Sanskrit learning found for the first time, to their great surprise that the saints and prophets addressed the people in their own vernacular and boldly open the hitherto hidden treasures of all and sundry, men and women, Brahmans and Shuaras alike.'

भक्ति-युगीन साधकों तथा उपदेशकों के इस प्रवाह में नारी को धार्मिक क्षेत्र में महत्व प्रदान हुआ। पुरुष की भाँति नारी भी भक्ति के माध्यम से भगवान की पूजा करके मोक्ष प्राप्त कर सकती थी। पुराणों और स्मृतियों ने पतिव्रत धर्म के निभाने पर ही मोक्ष प्राप्ति के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। परन्तु भक्ति-काल में पतिता, वेश्या और अकुलीना भी मोक्ष प्राप्त कर सकने का अधिकार रखती थी। इस काल में सर्वोपरि भक्ति पर अगाध विश्वास रखने वाली कुछ भक्तिनें हुईं। जिन्होंने भगवद् प्राप्ति के लिए पारिवारिक जीवन से विमुख होकर त्याग और तपश्चर्या के जीवन को प्रमुखता दी। ऐसी भक्तिनों में मीरा, मुक्ता, केमा आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

धार्मिक क्षेत्र के साथ-साथ समाज गत व्यवस्था में भी कुछ सुधार हुए। इस काल में कीर्तन, भजन आदि धार्मिक मांगलिक कृत्यों के अवसर पर महिलाएँ

भी उपस्थित रहती थीं। पुरुषों के साथ बैठने, बात करने के प्रसंग आने के कारण पर्दे की प्रथा कम हुई। सन्त अमरदास ने अपनी शिष्याओं में पर्दा-प्रथा को उठा दिया था। साथ ही साथ एक बार नारी को घर की सीमाओं से बाहर सामाजिक समारोहों में भाग लेने का अवसर मिला। साधुओं द्वारा गृहस्थाश्रम धर्म पर विशेष बल दिया गया। सन्यासी बनने से पूर्व पति को पत्नी की आज्ञा लेना अनिवार्य था। यदि किसी अवसर पर पत्नी भी पति के साथ सन्यासिनी बनना चाहे, तो उसे ऐसा करने का अधिकार प्राप्त था। मोक्ष प्राप्ति में भी नारी पुरुष का साथ देती थी। तत्कालीन सन्तों ने जिस प्रकार के साहित्य का सृजन किया वह जन-साधारण के लिए सुलभ था। अतः नारी को एक बार फिर शिक्षा के क्षेत्र में प्रवेश करने का अवसर मिला। भक्ति-युग में युगल-पूजा के प्रचलन से नारी जाति गौरव का स्थान प्राप्त करने की दिशा में अग्रसर हुई। लक्ष्मी-नारायण, सीता-राम, राधा-कृष्ण, शिव-पार्वती आदि युगल देवताओं की आराधना ने नारी के प्रति एक मनोवैज्ञानिक सम्मानित दृष्टिकोण का भाव प्रदर्शित किया।

धार्मिक एवं सामाजिक क्षेत्र में इतनी प्रतिष्ठा प्राप्त करने के साथ-साथ भक्त उपदेशकों एवं सन्तों ने नारी के प्रति विरक्ति की भावना भी प्रकट की है। एकनाथ ने साधक को नारी से दूर रहने का आदेश दिया है[1]। उन्होंने यह भी कहा है कि पुरुष का नारी से आवश्यकता से अधिक सम्पर्क स्थापित करना उचित नहीं है। तुकाराम ने भी इसी प्रकार नारी संसर्ग से अलग रहने की इच्छा प्रकट की है, क्योंकि उसके सम्पर्क से भगवद्भक्ति में बाधा पड़ती है तथा मनोभाव संयमित नहीं रह पाते हैं[2]। चैतन्य उस पुरुष से किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रखना चाहते, जो नारी से सम्बन्ध बढ़ाने का अभ्यस्त है। मध्य-कालीन संतों ने कहीं-कहीं नारी विषयक बड़े उपेक्षामय उद्गार प्रकट किए हैं। ये लोग नारी में केवल यौन भावना से उद्भूत वासना ही देख पाये, उसके उच्च चारित्रिक गुणों पर उनकी दृष्टि नहीं गई। परन्तु जहाँ कहीं भी उन्होंने नारी को देवी अथवा माता के रूप में देखा है, उनकी जिह्वा उनका गुणगान करते थकी नहीं है। नारी के प्रति उपेक्षापूर्ण शब्दों को व्यक्त करने का उनका आशय यही रहा था कि नारी का दैहिक आकर्षण मोक्ष-प्राप्ति में बाधा उत्पन्न करता है। मोक्ष प्राप्ति उनका लक्ष्य था अतः उस तक पहुँचने के लिए उन्होंने सामान्य रूप में ही नारी की उपेक्षा की है। वैसे सभी सन्तों के मन में नारी के प्रति पूर्ण आदर और सम्मान के भाव निहित थे और इसीलिए अपने आराध्य को भी वे युगल रूप में ही स्वीकार करते थे। नारी के प्रति इतनी महत्वशालिनी एवं पवित्र भावना होने पर भी नारी-स्थिति के उत्थान का यह प्रयास इन भक्तसाधकों के साथ ही लुप्त हो गया और

१—बेलवेंकर रानाडे, 'और हिस्ट्री ऑफ इन्डियन फिलासफी' दूसरी पोथी, पृष्ठ २४२।
२—वही।

उत्तर-मध्य काल तक नारी स्थिति उत्तरोत्तर अधःपतित होती गई। इसका सबसे विशेष कारण हिन्दू समाज की निर्माण-शक्ति का क्षीण होना था। भक्ति-युगीन साधकों द्वारा प्रचारित सुधारों को अपना सकने में भारतीय समाज असमर्थ रहा। धार्मिक क्षेत्र में नारी को जो भी स्वतन्त्रता प्राप्त हुई, सामाजिक क्षेत्र के संकीर्ण होने के कारण उस स्वतन्त्रता का कुछ भी मूल्य नहीं रह गया। इस काल में आर्थिक व्यवस्था की विषमता उत्पन्न हो चुकी थी। अर्थ-सुव्यवस्था के बिना किसी भी सुधार का विकास एवं प्रसार करना कष्ट-साध्य होता है, दूसरे इन सुधारकों ने सम्पत्ति, परिवार एवं सामाजिक व्यवस्था की ओर ध्यान नहीं दिया। सामाजिक उत्थान की कोई सुनिश्चित रूप-रेखा के अभाव में उनका योग केवल धार्मिक क्षेत्र तक ही सीमित रह गया। तीसरे, इन भक्त साधकों के धर्म प्रचार में बौद्धिकता की अपेक्षा भावुकता तथा अपने आराध्य के प्रति अगाध विश्वास की भावना ही विशिष्ट थी। अतः जन साधारण के मस्तिष्क में इसका प्रभाव अधिक स्थायी रूप में नहीं बैठ सका। भक्त समाज अपने में संगठित नहीं था। विभिन्न मत-मतान्तरों में विश्वासी ये साधक अपने मत को एक दूसरे से अधिक उच्च और विशिष्ट बताने का दावा करते थे। अतः जनता पर सामान्य रूप से इस भावना का अच्छा प्रभाव नहीं पड़ा, और इनकी साधना एक प्रकार से असफल ही रह गई।

इस प्रकार से पूर्व-मध्यकाल से लेकर उत्तर-मध्य काल तक नारी का गौरव पतन की दिशा में ही अग्रसर होता चला गया। मध्य-कालीन मुगल शासकों की भाँति धार्मिक हस्तक्षेप की नीति नहीं थी, क्योंकि कटु अनुभवों के पश्चात् वे इस निष्कर्ष पर पहुँच गए थे कि हिन्दू जनता अपने धार्मिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्र में कट्टर पंथी है, और उसमें हस्तक्षेप का अर्थ, किसी भी क्षण विद्रोह का भयंकर विस्फोट हो सकता है। फिर भी अकबर ने सती प्रथा को बन्द कराने का प्रयास किया। उसके एक नियम के अनुसार कोई भी स्त्री सती होने के लिए बाधित नहीं की जा सकती थी।

मुगल शासन काल सामान्य रूप से कला और ऐश्वर्य का काल था। युद्ध भूमि से थके हृदयों को शान्ति और सुख की खोज थी। अतः बादशाहों के दरबारों में विलासिता की भावना को प्रश्रय मिला। इस भावना की पूर्ति का साधन नारी बनी। नारी जब इस प्रकार से पुरुष के मन-बहलाव और तृप्ति के साधन के रूप में उपस्थित हुई, तो उसे सम्मान देने की बात का प्रश्न ही नहीं उठा। इस काल में नारी स्थिति का मूल्य और महत्व भी नीचे गिर गया, और वह पुरुष की उपभोग्या मात्र रह गई। उसकी यह दशा उस समय तक रही जब तक १९वीं शताब्दी के आरम्भ में पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति के आलोक में भारत के नवीन सुधारकों द्वारा भारतीय नारी को सम्मानित करने का प्रयास नहीं किया गया।

इस प्रकार से वैदिक कालीन नारी जो अपने सम्मानपूर्ण पद पर प्रस्थापित हो, पुरुष की सहयोगिनी और प्रेरणा की स्रोत थी, जिसको सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक क्षेत्र में स्वतन्त्रता प्राप्त थी और जिसकी वैयक्तिकता पुरुषों द्वारा मान्य थी, आगे चल कर भक्तिकाल तक आते-आते वर्ण-व्यवस्था, नियोग-पद्धति, अशिक्षा, सती-प्रथा, बाधित वैधव्य तथा पर्दा प्रथा आदि कुरीतियों के विस्तार में अपनी स्थिति को बनाए रखने में असमर्थ हो गई। धर्म संरक्षकों एवं मनीषियों ने उसके अधिकार क्षेत्र को संकीर्ण और सीमित कर, उसकी मानसिक स्वतन्त्रता एवं बौद्धिक विकास के द्वार पर कठोर नियमों की अर्गला लगा दी। सैद्धान्तिक दृष्टि से उसकी स्थिति पुरुष से बहुत नीचे हो गई। वैशिष्ठ्य और व्यक्तित्वहीन सामाजिक मान्यताओं से रिक्त एवं अधिकारों से विमुख नारी अब या तो पुरुष की लौकिक तृषातृप्ति का साधन बन गई या उस पर भार-स्वरूप, और उसका मूल्य नहीं के बराबर ठहराया गया।

मुग़ल काल के अन्तिम समय तक वह अपनी इस शोचनीय अवस्था की पराकाष्ठा पर पहुँच चुकी थी, और तब क्रान्ति स्वरूप १९वीं शती के भारतीय समाज में पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति के विस्तार में समाज सुधारकों को नारी के प्रति नवीन दृष्टिकोण प्रदान किया, जिससे प्रेरणा प्राप्त कर युगों के पश्चात् नारी-जागृति का शंखनाद हुआ और वह अपनी दीर्घकालीन असहाय अवस्था को भूल कर एक बार फिर अपना गौरवान्वित पद प्राप्त करने की दिशा में अग्रसर हुई।

प्रकरण—२

आधुनिक भारतीय समाज में नारी

: पूर्व आधुनिक काल : उत्थानोन्मुख नारी स्थिति :

: १८५७ से १९०० तक :

विषय को क्रमबद्ध एवं पूर्ण बनाने के उद्देश्य से १८५७ से पूर्व योजनाओं एवं समाज सुधारकों की भी विवेचना कर ली गई है।

पूर्व-आधुनिक काल

जैसा कि पूर्व पृष्ठों में कहा जा चुका है कि उन्नीसवीं शती के आरम्भ काल तक—भारतीय नारी अपनी स्थिति के ह्रास की चरम सीमा का स्पर्श कर चुकी थी। पुरुष-समाज द्वारा प्रतिपादित नैतिक नियमों की अर्गला में उसकी सामाजिक, धार्मिक एवं आर्थिक स्वतन्त्रता आबद्ध होकर रूढ़-परम्पराओं के विरुद्ध विद्रोह करने योग्य न रह गई थी। स्वस्थ, हितकर एवं विस्तृत भाव-भूमि पर मस्तिष्क का उपयोग कर सकने की—सम्भावनाओं से ही उसकी शून्य स्थिति पंडिता रामाबाई के इन शब्दों में स्पष्ट रूप से व्यक्त होती है :—

'She is forbidden to read the sacred scriptures. She has no right to pronounce a single syllable out of them. To appeal to her uncultivated low kind of desire by giving her ornaments, to adorn her person and by giving dainty food together with an occasional bow which costs nothing, are the highest honours to which a Hindu woman is entitled. (The High Caste Hindu Woman, Page 81-82)

तत्कालीन भारतीय समाज की पितृ-प्रधान संयुक्त व्यवस्था, नारी स्थिति के विकास में अवरोध उत्पन्न करने लगी। उस समाज की हिन्दू एवं अहिन्दू सभी जातियों ने नारी को स्वतन्त्रता एवं अधिकार प्रदान करने के क्षेत्र में उदासीनता एवं उपेक्षा की भावना का ही प्रदर्शन किया, उसे पुरुष की मात्र शारीरिक एवं निम्नतर आकांक्षाओं की पूर्ति का साधन समझा गया, साथ ही किसी भी क्षेत्र में मस्तिष्क का विकास एवं उपयोग कर सकने के अयोग्य ठहराई गई[1]। इस प्रकार से तत्कालीन सामन्तवादी समाज, प्रधानतया आत्म-निर्भर ग्राम्य व्यवस्था, जातीयता, संयुक्त कुटुम्ब प्रथा एवं रूढ़िवादी आदर्शों पर आधारित होकर नारी के लिए किसी भी प्रकार का प्रबुद्ध विकास-क्षेत्र उपस्थित कर सकने मे असमर्थ रहा[2]। अतः इस

१—अब्बे जा दुबायस : हिन्दू मैनर्स कस्टम्स एण्ड सेरेमनीज, पृष्ठ ३३६।
२—नीरा देसाई : 'वीमन इन माडर्न इण्डिया,' पृष्ठ ३०।

अमंगल संकीर्णता की प्रतिक्रिया स्वरूप भारत को उस समय एक नवीन समाज की महत्ती आवश्यकता थी, जो इस हीनावस्था को प्राप्त नारी स्थिति को लेकर जागरण का शंखनाद कर सकता तथा उस जागरण के आलोक का स्वागत करती हुई तत्कालीन नारी अपने वास्तविक अधिकार क्षेत्र को पहचान, उनका उपयोग कर, नवीन समाज की नवीन भावभूमि में अपना सम्मानित स्थान ग्रहण कर पाती।

और ऐसी ही परिस्थितियों के बीच भारत पाश्चात्य देशों के सम्पर्क में आया। १५वीं शताब्दी के बाद से ही योरूप में सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक मान्यताओं में परिवर्तन होने लगा था। १८वीं शताब्दी में इंग्लैंड में हुई औद्योगिक क्रान्ति ने व्यापारिक विस्तार के लिए नए-नए उपनिवेशों की खोज आरम्भ कर दी थी। जमींदारी प्रथा की निरंकुशता तथा सम्राट् होने के ईश्वरीय अधिकार के सिद्धांत बौद्धिक जागृति के आलोक में व्यर्थ से लगने लगे थे। 'मुद्रण संस्थाओं के विकास ने व्यक्ति-गत स्वतन्त्रता तथा जन-सत्ता की भावना को बल प्रदान किया था'[1]। उस काल का योरुप वैज्ञानिकों, समाज-शास्त्रियों एवं दार्शनिक विचारकों का योरूप था, उसने बेकन, ह्यूम, लॉक, रूसो, वाल्टेयर तथा हेल्वेटियस आदि विद्वानों को जन्म देकर सामाजिक तथा राजनीतिक मान्यताओं में एक नवीन क्रान्ति का सूत्रपात किया। इस प्रकार 'पश्चिमी योरूपीय देशों में जिस नवीन समाज का निर्माण हुआ उसमें आर्थिक क्षेत्र में पूंजीवाद, सामाजिक तथा राजनैतिक क्षेत्र में प्रजातन्त्रात्मक भावना एवं व्यावहारिक स्तर पर व्यक्तिगत वैशिष्ट्य के आदर्श को प्रस्थापित किया गया'[2]। १९वीं शताब्दी के इस नए योरुप की स्वातन्त्र्य विचारधारा ने योरूप के सामाजिक को बुद्धि-प्रयोग के लिए नए क्षितिज प्रदान किए, जन्म से प्राप्त सुविधा-असुविधा के अन्धविश्वास पर कुठाराघात किया तथा राज्य की सर्वोच्च शक्ति को उसके उच्चतम शिखर से उतार कर व्यक्ति को महत्ता प्रदान की। इस काल में धर्म व्यक्तिगत प्रश्न बनकर अपने महत्व की दिशा में गौण हो गया तथा उसके बदले वैयक्तिकता को सम्मान के उत्कर्ष पर प्रतिष्ठित किया गया। इसी भावना से प्रेरित होकर 'मिल ने नारी जागरण का स्वर ऊँचा किया'; नारी के मताधिकार का प्रश्न उपस्थित करते हुए उसने कहा था—

'Workmen need other protection than that of their employers and women need other protection than that of their men."[3]

सर एन. जे. चन्दावरकर ने तत्कालीन योरूप का वर्णन इस प्रकार किया है:—

१—मीरादेसाई : 'वीमन इन माडर्न इण्डिया,' पृष्ठ ५०।
२—वही, पृष्ठ ४९।
३—स्ट्रैचे रे : 'दि काज,' पृष्ठ १०८ पर उल्लिखित।

It was an age of splendour when humanity seemed to stand at the start of a quickened life with promise of a bright future for modern civilization. In politics it was the age of reform bills, of free trade, of the abolition of slavery, of statesmen, of towering personality like Palmerston, Peel, Gladstone, Disraelli, Cobden, Bright, Clarkson and Wilberforce. In social reforms it was the age of emancipation of women, of Elizabeth Fry and Florence Nightangle. In literature which for the period reflects its currents and character and the ideals of the people, it was the age of Wordsworth, Tennyson, Browning reflecting through them the mighty that makes us the men.[1]

पाश्चात्य जागृति और चेतना के उपर्युक्त तत्वों से भारतीय समाज भी प्रभावित हुआ और उसमें भी प्रगतिशील मान्यताओं के परमाणु जीवन एकत्र करने लगे। पाश्चात्य राजनीति, सभ्यता, शिक्षा एवं संस्कृति के प्रभाव से भारतीय समाज को जैसे अपनी सुप्तावस्था का भान होकर, उसके निवारण के निमित इन्हीं पाश्चात्य आदर्शों से प्रेरणा प्राप्त होने लगी और वह समाज के नए दर्शन की स्थापना करने में जैसे प्राणपण से कटिबद्ध हो गया।

परिणाम स्वरूप बौद्धिक विकास और युग-चेतना के नवीन उत्थान में भारत में समाज-सुधारकों की एक बाढ़-सी आ गई। सामाजिक जीवन की शोचनीय अवस्था पर दुखी होकर तत्कालीन सुशिक्षित समाज ने व्यक्तिगत स्वतन्त्रता एवं समानता, राष्ट्रीयता एवं तर्क-शक्ति की भावना को प्रधानता दी, तथा अनीतिपूर्ण संकीर्ण मान्यताओं के मूलोच्छेदन के साथ-साथ नारी जागृति को स्वरूप देने का प्रयत्न भी इन्हीं सुधारकों से आरम्भ हुआ। श्री शंकरन नायर ने सामाजिक एवं धार्मिक समानता के विषय को लेकर घोषणा की थी :—

'To break down the isolation of Hindu religion, to remove the barriers which now prevent free social intercourse and unity of action, to extend the blessings of education to the lower classes, to improve the position of women to one of equality to men, we require the continuance of a strictly secular government in

१—बुन एम० ए० : 'राइज एण्ड ग्रोथ ऑफ लिबरलिजम' पृष्ठ १०२ पर उत्कथित।

पाँचवें दशक से होता है। १८४७ में कलकत्ता में सबसे पहिले महिला कालेज वेथ्यून कालेजकी स्थापना हुई[1]। इस कालेज द्वारा महिलाओं के लिए आधुनिक शिक्षा प्राप्ति के द्वार खुले। नारी-समाज के बीच शिक्षा प्रचार की यह लहर बंगाल से चलकर गुजरात तक फैल गई और १८४८ में स्थापित 'गुजरात वर्नाक्यूलर सोसायटी' ने १८४६ में स्वयं प्रस्थापित शिक्षा संस्थाओं में सह-शिक्षा आरम्भ कर दी। इस दिशा में अग्रसर होने वाली यह अपने समय की एकमात्र संस्था थी[2]। इसी वर्ष वम्बई में १८४७ में स्थापित 'विद्यार्थी संघ' ने नारी शिक्षा का प्रचार कार्य आरम्भ किया। महिलाओं की सुविधा के लिए नगर के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में प्रातः कक्षाएँ लगाई जाती थीं। 'एलफिन्सट्न इन्स्टीट्यूट' ने विना पारिश्रमिक लिए इन शिक्षा-संस्थाओं में प्रशंसनीय प्रचार कार्य किया[3]। १८५४ तक इस संस्था द्वारा ५ महिला-शिक्षा-संस्थाएँ संचालित की जाती थीं, जिनमें लगभग ६५० विद्यार्थी शिक्षित होते थे। १८५१ में ज्योतिराव फुले ने व्यक्तिगत रूप से महिलाओं को शिक्षित करने का प्रयास किया। इसी वर्ष 'गुजरात वर्नाक्यूलर सोसाइटी' ने मगनभाई करमचन्द से प्राप्त आर्थिक सहायता द्वारा दो नई पाठ-शालाओं की स्थापना की। इन्हीं दिनों आगरा में गोपाल सिंह द्वारा भी नारी-क्षेत्र में शिक्षा-प्रचार का कार्य किया गया। उनके द्वारा नारी शिक्षा के महत्व पर लग-भग दो सौ व्यख्यान आयोजित किए गये जिनमें लगभग ३८०० उच्च वर्गीय हिन्दू वालिकाएँ उपस्थित हुईं[4]। नारी शिक्षा के विकास के लिए राजकीय प्रोत्साहन सबसे पहिले १८५४ में 'वुड्स' द्वारा प्रकाशित 'सरकारी प्रेषण' से मिला, जिसमें वालिकाओं को उन ग्राम्य शिक्षा संस्थाओं में जाने के लिए प्रोत्साहित किया गया था जो अब तक केवल वालकों के लिए ही खुली थीं[5]। इससे पूर्व १८२३ में जब श्री एलफिन्स्टन ने नारी शिक्षा पर ६३ कण्डिकाओं का वृत उपस्थित किया था, तब भी नारी-शिक्षा पर किसी प्रकार का प्रकाश नहीं डाला गया। परन्तु इसके विपरीत लार्ड डलहौजी ने 'वेथ्यून कालेज' का अध्यक्ष पद भार ग्रहण करते समय कहा था कि 'गवर्नर जनरल इन कौंसिल' का यह विश्वास है कि जनता में तब तक कोई भी हितकारी विकास किया जाना सम्भव नहीं है, जब तक कि वालिकाओं को समुचित शिक्षा के उचित अवसर की प्राप्ति न हो[6]। श्री 'वुड' का प्रेषण इसी घोषणा का

१—हन्ना सेन : 'वीमन ऑफ इन्डिया,' पृष्ठ ४६।
२—नीरा देसाई : 'वीमन इन माडर्न इन्डिया,' पृष्ठ ११७।
३—चित्र रेखा नायक : 'एजूकेशन ऑफ वीमन इन द प्राविन्स ऑफ वाम्बे,' पृष्ठ ११८।
४—कोमन मीना : 'एजूकेशन ऑफ वीमन इन इन्डिया,' पृष्ठ ३६।
५—मारगेरेट ई कजिन्स : 'इन्डियन वीमनहुड टुडे,' पृष्ठ १४-१५।
६—चित्र रेखा नायक : 'एजूकेशन ऑफ वीमन इन द प्राविन्स ऑफ बॉम्बे, पृष्ठ १२१ पर उत्कथित।

परिणाम था, इधर १८३७ से लेकर १८८६ के मध्य उत्तर-भारत में आर्य-समाज तथा बंगाल में ब्रह्म-समाज और ईसाई मिशनरियों ने नारी-शिक्षा के प्रचार-कार्य को आगे बढ़ाया। इन संस्थाओं ने बालिकाओं को शिक्षिकाएँ तथा परिचारिकाएँ बनने के लिए प्रेरित किया[१]।

नारी-शिक्षा के प्रसार-कार्य में ईश्वरचन्द्र विद्यासागर का नाम उल्लेखनीय है। उन्होंने 'नारी-शिक्षा की उपयोगिता' विषयक एक निबन्ध प्रतियोगिता आयोजित की तथा तत्कालीन नारी-शिक्षा के महान समर्थक मिस्टर बेथ्यून को पारितोषिक वितरण के लिए आमन्त्रित किया। १८५५ से लेकर १८५८ तक पाठशाला-निरीक्षक के पद पर कार्य करते हुए उन्होंने लगभग ४० बालिका-विद्यालयों की स्थापना की[२]। १८५७ में बम्बई, मद्रास तथा कलकत्ता विश्वविद्यालयों की स्थापना हो चुकी थी। परन्तु इनमें से किसी में भी नारी-शिक्षा के लिए कोई विधान न था। १८७५ में बेलगाँव के प्रेपपति—खुरशेद जी ने अपनी पुत्री को बम्बई विश्व-विद्यालय की प्रवेशिका परीक्षा दिलानी चाही, परन्तु विश्वविद्यालय में छात्राओं द्वारा परीक्षा देने के किसी भी प्रकार के विधान के अभाव में वह परीक्षा देने में असमर्थ रही। कुछ समय उपरान्त यही समस्या कलकत्ता विश्वविद्यालय में भी उपस्थित हुई। चन्द्रमुखी बसु नामक छात्रा प्रवेश-परीक्षा उत्तीर्ण करना चाहती थी। उसे परीक्षा देने की अनुमति तो मिल गई। परन्तु उसे उपाधि प्राप्त करने के योग्य नहीं समझा गया। कालान्तर में १८७७ में उप-कुलपति श्री हॉबहाउस के सतत प्रयत्नों के परिणाम स्वरूप ही महिलाओं को परीक्षा में बैठने की अनुमति प्रदान की गई[३]। इसी काल में अहमदाबाद तथा पूना में प्रशिक्षण कक्षाएँ खुलीं तथा १८७५-७६ के मध्य 'ग्रान्ड मेडिकल कॉलिज,' बम्बई में धात्री-विद्या की कक्षाएँ भी प्रारम्भ की गई। १८८३ में बेथ्यून कॉलिज (कलकत्ता विश्वविद्यालय) से दो छात्राओं को स्नातिका की उपाधि प्रदान की गई। इस अवसर पर कलकत्ता विश्वविद्यालय के उपकुलपति ने कहा था :—

'The condition of the female education in India is still painfully backward......out of girls of school going age who ought to be in schools, only one in hundred is actually under instructions in Bengal."[४]

कुमारी कार्नेलिया सोराब जी बम्बई विश्वविद्यालय से उपाधि प्राप्त प्रथम स्नातिका थी।

१—मारगेरेट ई॰ कजिन्स : वीमनहुड डुडे, पृष्ठ १६।
२—नीरा देसाई : वीमन इन मॉडर्न इण्डिया, पृष्ठ ७४।
३—वही, पृष्ठ २०७।
४—चित्र रेखा नायक : एजूकेशन ऑफ वीमन इन द प्रॉविन्स ऑफ बॉम्बे, पृष्ठ १७३ पर उद्धृत।

१८५४ के उपरान्त महिला शिक्षा के क्षेत्र में दूसरा राजकीय प्रोत्साहन १८८२ में 'हन्टर आयोग' की नियुक्ति से मिला। इस आयोग द्वारा नारी-शिक्षा के प्रसार, शिक्षिका एवं निरीक्षिकाओं के प्रशिक्षण एवं नियुक्ति आदि बातों पर प्रकाश डाला गया तथा महिला शिक्षण संस्थाओं को आर्थिक सहायता प्रदान करने की सिफारिश की जाकर[1] नारी समाज में अनिवार्य रूप से शिक्षा-प्रचार की विशेष आवश्यकता समझी गई।

इधर १८८१ से लेकर १९०४ तक का युग समाज-सुधारवादी संस्थाओं के निर्माण एवं नवीन चेतना का युग है। इस काल की सभी संस्थाएँ एवं सुधारक महिला समाज में शैक्षणिक जागृति के लिए प्रयत्नशील रहे। रानाडे ने १८८४ में एक बालिका विद्यालय की स्थापना की तथा नारी-शिक्षा के कार्य को आगे बढ़ाया। १८९६ में महान् शिक्षा-शास्त्री एवं महिला समाज कल्याण के अग्रदूत महर्षि कर्वे द्वारा हिंगणे नारी-शिक्षण संस्था 'अनाथ बालिकाश्रम' के नाम से स्थापित की गई, जो आगे चलकर कर्वे विश्वविद्यालय के रूप में विकसित हुई, इस काल तक समाज सुधारवादी संस्थाओं का ध्यान नारी-शिक्षा पर प्रर्याप्त रूप से केन्द्रित होने लगा था। १८९६ में 'इन्डियन नैशनल सोशल कान्फ्रेन्स' ने अपने १०वें अधिवेशन में नारी-शिक्षण पर विशेष-बल दिया। इस अधिवेशन में नारी शिक्षा के प्रचार, प्रसार एवं वृद्धि के लिए महिला विद्यालयों में हिन्दू परिवारों की सुचरित्र अध्यापिकाएँ नियुक्त करने, महिलाओं को सफल शिक्षिका बनाने के लिए उनके लिए प्रशिक्षण की आयोजना करने, विद्यालयों में आकर शिक्षा ग्रहण कर सकने में असमर्थ प्रौढ़ महिलाओं में शिक्षा प्रचार के हेतु गृह-कक्षाएँ आरम्भ करने तथा महिलाओं को धार्मिक तथा नैतिक शिक्षा देने के उद्देश्य से पंडितों की नियुक्ति करने, महिला शिक्षण संस्थाओं के अनुकूल पाठ्य-पुस्तकें प्रकाशित करने के लिए प्रयास करने तथा उच्चतर माध्यमिक शालाओं में महिलाओं को स्वास्थ्य, कढ़ाई, कला तथा गृह-कार्यादि का प्रशिक्षण देने सम्बन्धी प्रस्ताव पारित किए गए[2]।

यहाँ पर यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि १९वीं शताब्दी में महिला-शिक्षा प्रचार क्षेत्र में केवल पुरुष वर्ग द्वारा ही प्रयास किया गया। बाल-विवाह तथा पर्दा प्रथा के प्रचलन से इस युग में नारियों को इस बात का अवसर ही प्राप्त नहीं हुआ कि वे स्वयं इस क्षेत्र में अपने मानसिक विकास के अवसरों की खोज कर, उनका उपयोग कर सकें। अतः अपनी बौद्धिक चेतना के लिए वे पूर्णतया पुरुष वर्ग पर ही निर्भर रहीं।

सती-प्रथा

इस युग में महिलाओं को शिक्षित करने की समस्या के साथ-साथ दूसरी

१—हंटर कमीशन रिपोर्ट, पृष्ठ ५४८-५४९।

२—चन्द्रकला हाते : 'हिन्दू वीमन एण्ड हर फ्यूचर' पृष्ठ २६४-२६५।

विशेष समस्या सती-प्रथा को नष्ट करने की थी। १६वीं शताब्दी के प्रारम्भिक सुधारकों ने इस समस्या को प्राथमिकता प्रदान की। नारी-सुधार आन्दोलन के अग्रदूत राजा राम मोहन राय ने सबसे पहिले सती-प्रथा को विनष्ट करने का दृढ़ संकल्प किया। १८१८ से ही उन्होंने अपने लेखों द्वारा इस कुप्रथा का विरोध करना आरम्भ कर दिया था[1]। इनकी प्रेरणा से १८२६ में लार्ड विलियम बेंटिंग ने सती-प्रथा निरोधक कानून पारित कर दिया जो कट्टर पन्थी हिन्दुओं के लिए असह्य था। अतः उन्होंने १८३० में उपर्युक्त कानून के विरोध में याचिका प्रस्तुत की। इस पर राजा राम मोहन राय ने कानून के पक्ष में अपनी दूसरी याचिका प्रस्तुत कर दी। यहाँ असफल होकर कट्टर हिन्दुओं की धर्म सभा ने इस कानून के विरोध में इंग्लैंड में अपनी याचिका प्रस्तुत की। परन्तु राजा राम मोहन राय के राजकीय कानून के समर्थन से वहाँ भी १८३२ में उनकी याचना अस्वीकृत हो गई। तदन्तर सती-प्रथा कानूनी रूप से अपराध ठहराई गई। तत्कालीन समाज में इस प्रथा के उन्मूलन को नारी स्थिति के उत्थान की दिशा में अपना महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

विवाह

इस काल में नारी-स्थिति के उत्थान के लिए जिन-जिन सुधारों का आयोजन किया गया उनमें विवाह विषय को लेकर किए गये सुधार प्रमुख थे। बाल-विवाह, बाधित-वैधव्य तथा बहु-विवाह की कुप्रथाओं से नारी-जीवन में एक घुटन-सी व्याप्त हो गई थी। किसी भी प्रकार की स्वतन्त्र दिशा पा सकने के अभाव में उनके मानसिक एवं भौतिक विकास के द्वार अवरुद्ध हो गये थे। अमेरिका में महिला-समाज सुधार के प्रवर्तक सुसान बी. एन्थोनी ने १८४८ में महिलाओं के लिए पुरुषों के समान, समान अवसर की प्राप्ति का स्वर ऊँचा किया। उनके इस आन्दोलन से प्रभावित भारतीयों में भी नारी-समाज को जागृत करने और उनको सम्मानपूर्ण जीवन-यापन करने की सुविधा प्रदान करने की प्रेरणा प्रसारित हुई। १८५३ में ईश्वर चन्द्र विद्यासागर ने 'विडो रिमेरिज' पुस्तक प्रकाशित कर कट्टर हिन्दू समाज में एक खलबली उत्पन्न कर दी। ये पुरातनपन्थी, जो सती-प्रथा को अवैधानिक घोषित कर दिए जाने पर संतुष्ट नहीं थे, किस प्रकार युगों से चली आई बाधित-वैधव्य की इस परम्परा पर नवीन दृष्टिकोणों का यह प्रहार सहन कर पाते। विद्यासागर के इस दुस्साहस से कोधित एवं व्यग्र इस कट्टर समाज ने उनकी हत्या तक करने का असफल प्रयत्न किया[2]। किन्तु इन बातों से अप्रभावित विद्यासागर के सतत प्रयत्न से १८५६ में विधवा पुनर्विवाह कानून पारित हो गया। जिसके अनुसार इच्छुक विधवा पुनर्विवाह कर सकती थी, तथा ऐसे विवाहों से उत्पन्न

१—नीरा देसाई : 'वीमन इन मॉडर्न इण्डिया, पृष्ठ ६३।

२—वही, पृष्ठ ७२।

सन्तान को सम्पत्ति-अधिकार के विषय में वैध समझा गया। विधवा-विवाह का प्रचार करने में विद्यासागर का प्रयत्न सराहनीय है। उन्हीं की प्रेरणा से १८६० से १९०१ तक १३८ पुनर्विवाह हुए[1], तथा विधवा पुनर्विवाह पर लिखी हुई उनकी पुस्तक गुजराती तथा मराठी में भी अनूदित हुई। १८६१ में 'विधवा पुनर्विवाह संस्था' की स्थापना हुई तथा महादेव गोविंद रानाडे सक्रिय सदस्य रहे। उन्होंने विधवा-विवाह का समर्थन करते हुए कहा था—

'The advocates of remarriage have never mentioned that a woman after her husband's death should not live a life of single devotion, to her deceased husband...But a woman who cannot like this species of life, a woman who is widowed when a girl, before she knew what her duties as a wife were, surely such a woman cannot practise this devotion. It is on behalf of such women that this reform is a peremptory and crying want, and to require them to live a life of devotion in the manner Manu precribes is a simple mockery of all religion and justice."[2]

और जब १८६९ में सबसे पहिला विधवा-विवाह हुआ तो रानाडे उसमें उपस्थित हुए थे, जिसके परिणाम स्वरूप शंकराचार्य ने उनका बहिष्कार कर दिया था। पूना में सबसे पहिला विधवा-विवाह १८६३ में हुआ। १८७० में रानाडे ने ऐतिहासिक वाद-विवाद में भाग लिया, जिसमें 'विधवा-विवाह शास्त्र-सम्मत है या नहीं' विषय पर चर्चा हुई थी। शंकराचार्य ने इस सम्मेलन में सभापति पद ग्रहण किया था।

ब्रिटिश साम्राज्य के प्रभाव में आकर भारतीय अन्तर्जातीय विवाहों में भी रुचि लेने लगे थे। इसी दिशा में १८७२ में अन्तर्जातीय विवाह अधिनियम पारित हुआ। जिसमें सम्बन्ध-विच्छेद तथा सम्पत्ति अधिकार का भी विधान था। इस अधिनियम के अन्तर्गत विवाहितों को यह घोषणा करनी पड़ती थी कि उन्हें उस धर्म में, जिसमें वे उत्पन्न हुए हैं, किसी प्रकार का विश्वास नहीं है। इस अधिनियम में १९२३ और १९५४ में कुछ सुधार किए गये जिनका वर्णन अगले अध्याय में किया जाएगा। विधवा-विवाह की इस परम्परा में १८६१ में स्थापित 'विधवा-विवाह संस्था' का १८९३ में महर्षि कर्वे द्वारा पुनरुत्थान किया गया, तथा यह विधान बनाया गया कि इस संस्था के सभासद वे ही व्यक्ति हो सकेंगे, जिन्होंने या

१—नीरा देसाई : 'वीमन इन मॉडर्न इण्डिया,' पृष्ठ ७६।
२—रेव कैलाक : 'महादेव गोविंद रानाडे,' पृष्ठ ६६।

जो विधवाओं से विवाह किया हो, या जो ऐसे पुनर्विवाहितों के साथ खान-पान सम्बन्ध बनाए रख सकते हों। पहली श्रेणी के लोग 'सभासद' तथा दूसरी श्रेणी के लोग सहानुभूति रखने वाले होते थे[1]। इसके उपरान्त 'इण्डियन नेशनल कान्फ्रेन्स' ने १८९६ में कलकत्ता में हुए १०वें अधिवेशन में इस आशय का प्रस्ताव पारित किया कि देश में बालिकाओं के पुनर्विवाह की भावना को हतोत्साहित नहीं करना चाहिए, यदि उनके अभिभावक उनका विवाह शास्त्र-सम्मत रीति से करते हों[2]।

इस काल में बाल-विधवा प्रथा के उन्मूलन सम्बन्धी सुधार भी किए गये। एक प्रकार से इस प्रथा के द्वारा ही तत्कालीन समाज में अधिकतर महिलाओं को वैधव्य का दारुण दुःख भोगना पड़ा। इस कुप्रथा को कम करने के लिए न्यूनतम विवाह योग्य आयु निश्चित करने की दिशा में सबसे प्रथम प्रयास १८६० में किया गया। भारतीय दण्ड संहिता में इस बात की घोषणा की गई कि वह व्यक्ति जो १० वर्ष से कम आयु की कन्या से विवाह करेगा उसे बलात्कार के अपराध के अन्तर्गत आजीवन कारावास के दण्ड का भागी बनाया जा सकता है[3]। १८८४ में इसी विषय को लेकर बहरामजी मालाबारी की पुस्तक 'भारत में बाल-विवाह तथा बाध्य-वैधव्य' प्रकाशित हुई। जिसमें अपरिपक्व-आयु में विवाह करने के कुपरिणामों पर प्रकाश डाला गया था। उदाहरणार्थ, इसमें कहा गया था कि ऐसे विवाहों के फलस्वरूप पुरुष की अध्ययन अवधि लगभग समाप्त-प्राय: हो जाती है तथा स्त्री रोगी बच्चों को उत्पन्न करने की साधन मात्र बन जाती है जिससे भावी समाज की आधार-शिला क्षीण से क्षीणतर होती चलती है, और उसकी दृढ़ता को आघात, पहुँचता है। १८८४ से लेकर १८८९ तक मालाबारी ने नारी-स्थिति को सुधारने की दिशा में सक्रिय योग दिया तथा सरकार से परस्पर विनिमय करके निरन्तर इस बात पर बल दिया कि न्यूनतम विवाह योग्य आयु को बढ़ा कर १२ वर्ष कर दिया जाये। इसी काल में 'नेशनल सोशल कान्फ्रेन्स' ने भी अपनी सभाओं में यह प्रस्ताव पारित किया कि सरकार भारतीय दण्ड संहिता में संशोधन कर, न्यूनतम विवाह योग्य आयु १२ वर्ष कर दे। संयोगवश इन्हीं दिनों ११ वर्षीया विवाहिता फूलमणि दासी की बलात्पादित संभोग क्रिया के परिणामस्वरूप मृत्यु हो गई[4]। इस घटना को लेकर बड़ी खलबली मची और १८९० में मालाबारी इंग्लैंड गए तथा बाल-विवाह पर चर्चा करने के लिए एक सभा की स्थापना की, जिसमें न्यूनतम विवाह योग्य आयु को १२ वर्ष तक बढ़ाने तथा बाल-विवाहों के पति-पत्नी की

१—नीरा देसाई : 'वीमन इन मॉडर्न इण्डिया, पृष्ठ ८८-८९।
२—चन्द्र कला हाते : 'हिन्दू वीमन एण्ड हर फ्यूचर', पृष्ठ २८५।
३—नीरा देसाई : 'वीमन इन मॉडर्न इण्डिया,' पृष्ठ १३०।
४—वही, पृष्ठ ७८।

इच्छा से होने तथा वैधानिक मान्यता प्राप्त करने सम्बन्धी प्रस्ताव पास कि् गये। इस प्रकार सुधारकों के सम्मिलित प्रयास से १८६१ में 'सहमति वयस्क कानून' पास हुआ, जिसके द्वारा न्यूनतम विवाह योग्य आयु १० से बढ़ाकर १२ वर्ष ठहराई गई। सुधारकों के इस काल में सुधारवादी संस्थाओं ने भी बाल-विवाह निरोधक प्रस्ताव पास करके इस कुप्रथा को विनष्ट करने में योगदान दिया। १६०० में 'इन्डियन नेशनल सोशल कान्फ्रेन्स' ने लाहौर के अपने १४वें अधिवेशन में इस आशय का नवाँ प्रस्ताव पास किया कि "बालिकाओं की विवाह योग्य आयु १२ से १४ तथा बालकों की १५ से २१ वर्ष तक होनी चाहिए।"

तत्कालीन बंगाल में बहु-विवाह प्रथा के प्रचलन से भी नारी-स्थिति के विकास का अवसर अवरुद्ध हो रहा था। राजा राम मोहन राय तथा ईश्वर चन्द्र विद्यासागर ने इस दिशा में सुधार भावनाओं को बल प्रदान किया। उच्च वर्गीय बंगाली ब्राह्मणों में कुलीन भावना के विकास के परिणाम स्वरूप ही बंगाल में बहु-विवाह प्रथा का जन्म हुआ। उपर्युक्त दोनों ही सुधारकों ने इस प्रथा का तीव्र विरोध किया, किन्तु वैधानिक सहायता के अभाव में उनके प्रयत्नों द्वारा इस दिशा में संतोषजनक उपलब्धि न हो सकी।

१६ वीं शती के उत्तरार्द्ध में विवाह-सम्बन्धी कुछ अधिनियम भी पारित किए गये। १८७२ में 'क्रिश्चियन मैरेज़ अधिनियम' के अन्तर्गत ईसाई विवाह-इच्छुकों को विवाह-निबन्धक को तदविषयक सूचना देनी पड़ती थी, तथा उनमें से एक को यह घोषणा करनी पड़ती थी कि उनके इस विवाह-सम्बन्ध के विषय को लेकर कोई वैधानिक अड़चन नहीं है, और यदि उनमें से कोई अवयस्क हो तो यह घोषणा करनी पड़ती थी कि सम्बन्धित व्यक्ति के अभिभावकों से विवाह की अनुज्ञा प्राप्त करली गई है[1]। इस प्रकार के विवाह में पुरुष की आयु १६ वर्ष तथा स्त्री की आयु १३ वर्ष से अधिक होनी आवश्यक थी। (परन्तु अब यह आयु क्रमशः १८ वर्ष और १५ वर्ष हो गई है क्योंकि बाल-विवाह निरोधक कानून ईसाइयों पर भी लागू होता है)।

ईसाई विवाह-सम्बन्ध विच्छेद को लेकर १८६६ में एक कानून पारित हुआ जिसके अनुसार न्यायालय को सम्बन्ध-विच्छेद कर देने का अधिकार दिया गया। न्यायालय पति से पत्नी का जीविका-भार वहन करने तथा ऐसे विवाहों से उत्पन्न संतान का पालन-पोषण तथा शिक्षित करने की माँग भी कर सकता था। इससे पूर्व १८६६ में पारित 'धर्म परिवर्तन विवाह-सम्बन्ध विच्छेद कानून' के अनुसार एक साथी दूसरे साथी द्वारा ईसाई धर्म ग्रहण कर लेने के परिणाम स्वरूप सम्बन्ध विच्छेद कर सकता था।

१—रेनु चक्रवर्ती : 'वीमन इन इन्डिया', पृष्ठ ८४।

देवदासी एवं वेश्यावृत्ति—

तत्कालीन दक्षिण भारत के हिन्दू मन्दिरों में देवदासी प्रथा धार्मिक वेश्या-वृत्ति के रूप में प्रचलित थी। भारत की तरह मध्य पूर्व की सभ्यताओं की आदि-स्रोत सुमेरी सभ्यता में भी इस प्रथा का प्रचलन था। मन्दिर में स्थापित देवताओं का कुमारी कन्याओं से विवाह करके उन्हें उन देवताओं की सेविका के रूप में स्वीकृति मिली होती थी। सुमेर तथा भारत की तरह ही साइप्रस, फीनिशिया, कॉरथेज, रोम, इटली तथा फ्राँस आदि देशों में भी—धार्मिक वेश्यावृति धर्म मान्य थी। समाज में इन स्त्रियों को वैधानिक पद प्राप्त था। भारत के पश्चिमी घाट और कोंकण प्रदेश में 'लिंगम्' पूजा का बहुत प्रचार था। देवदासियों की प्रथा के साथ-साथ यह भी आवश्यक था कि 'लिंगम्' के साथ अक्षत-योनि कुमारिकाओं का संस्पर्श कराया जाय[1]। १९वीं शती में भारतीय समाज सुधारकों का ध्यान इस ओर अधिक आकर्षित नहीं हुआ। दक्षिण भारत से कोई भी सुधारवादी संस्था इतनी साधन या शक्ति सम्पन्न नहीं थी जो इस धार्मिक परम्परा के विरोध में अपना स्वर ऊँचा कर सकती। इस प्रथा के उन्मूलन में २०वीं शताब्दी के महान् राजनीतिक एवं समाज सुधारक महात्मा गाँधी का नाम उल्लेखनीय है।

उत्तर प्रदेश में विवाहादि उत्सवों के अवसर पर नृत्य-प्रथा का प्रचलन था। इस नृत्य को वेश्या-नृत्य की संज्ञा दी जाती थी। 'उस समय के लोगों को यह सोचना भी कठिन होता था कि वेश्या-नृत्य के विना विवाह भी हो सकता है कि नहीं[2]।' तत्कालीन सुधारवादी संस्थाओं ने इस दिशा में कुछ सुधार-प्रयास किए। १९०० में 'इन्डियन नेशनल सोशल कान्फ्रेन्स' के लाहौर अधिवेशन में वेश्या-नृत्य वन्द कराने विषयक प्रस्ताव पास किया गया[3]। परन्तु उस काल में जनता के मस्तिष्क को इस कुप्रथा के परिणामों से अवगत करा सकना साधारण कार्य न था।

उपर्युक्त धार्मिक वेश्यावृत्ति से आधुनिक वेश्यावृत्ति का जन्म हुआ[4]। आधुनिक वेश्यावृत्ति का विकसित रूप हमें केवल वड़े नगरों में ही देखने को मिलता है[5]। इस दिशा में पश्चिमी विचारकों एवं समाज-शास्त्रियों द्वारा ही सुधार-कार्य आरम्भ किये गये। १८५० के लगभग डा० लिपर्ट ने वेश्याओं की हृदय-द्रावक कहानियों से योरूप के मानसिक धरातल को कम्पित कर दिया। १८६२ में डा०

१—ईस्ट इन्डिया जर्नी, पृष्ठ १६१।
२—वसन्त लाल मुरारका स्मृति ग्रन्थ, पृष्ठ ५०७।
३—चन्द्रकला हाते : हिन्दू वीमन एण्ड हर फ्यूचर' पृष्ठ २६८।
४—गोथे : वसन्त लाल मुरारका स्मृति ग्रन्थ, पृष्ठ २६० पर उत्कथित।
५—शापन हावर : जनरल फार द सप्रेशन ऑफ वेनरल डेजीज टू० पोथी, पृष्ठ ३११-३१२।

अल्फ्रेड ब्लाखों ने 'मैडिकल सोसाइटी', बर्लिन की ओर से वेश्यावृत्ति के विनाश के लिए एक विश्व-सम्मेलन किया[1]। वेश्यावृत्ति निरोध के लिए भारत में १९वीं शती में कोई उल्लेखनीय प्रयास नहीं हुआ। हाँ, सभी सुधारकों की मौखिक सहानुभूति सदा ही इस वर्ग के साथ रही।

सम्पत्ति

पिछली पंक्तियों में वर्णित सुधारों के अतिरिक्त १९वीं शताब्दी में नारी के सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकारों की ओर भी सुधारों का ध्यान आकर्षित हुआ। राजा राम मोहन राय ने नारी की अवनति का प्रमुख कारण उसकी शोचनीय आर्थिक हीनता बताया तथा साथ ही उसके सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकारों की व्याख्या भी की। प्राचीन धर्म ग्रन्थों में वर्णित 'स्त्रीधन' तथा 'दयाभाग' के अन्तर्गत आने वाले विषय ही अब तक स्त्री सम्पत्ति समझे जाते थे। इस दिशा में १८७४ में पारित 'विवाहित महिलाओं की सम्पत्ति सम्बन्धी अधिनियम' द्वारा 'स्त्रीधन' का क्षेत्र विस्तृत हो गया। इस नियम के अनुसार नारी किसी नौकरी, व्यवसाय तथा वैधानिक मान्यता प्राप्त व्यापार द्वारा अर्जित धन; साहित्यिक, कलात्मक एवं वैज्ञानिक ज्ञान से संचित धन, उपर्युक्त साधनों से प्राप्त धन में से शेषधन तथा अपने जीवन बीमा गोपलेख से प्राप्त धन की अधिकारिणी हो सकती थी[2]। इस प्रकार पूर्व 'स्त्रीधन' की मान्यतानुसार 'अचल सम्पत्ति' के साथ-साथ वह अपने परिश्रम से प्राप्त धन की भी स्वामिनी हो गई।

१९वीं शताब्दी की भारतीय नारी अपनी स्थिति में इतनी दयनीय थी कि उसे कभी राष्ट्रीय एवं सामाजिक स्तर पर अपनी क्षमता प्रदर्शित करने का अवसर ही प्राप्त नहीं हुआ। उसका नागरिक एवं बौद्धिक जीवन शून्य और निष्प्राण-सा रहा। फिर भी पारा ने कांगड़ा शैली की चित्रकारी में लोकप्रियता प्राप्त की। विश्व कवि रवीन्द्र नाथ ठाकुर की बहिन स्वर्ण कुमारी को संगीत साहित्य तथा चित्रकारी सभी क्षेत्रों में ख्याति मिली। तत्कालीन सामाजिक संकीर्णताओं के मध्य भी पंडिता रामाबाई ने नारी-जागृति के क्षेत्र में अपना ज्वलन्त उदाहरण प्रस्तुत किया, और इस प्रकार उन्नीसवीं शती के अन्तिम चरण में बीसवीं शताब्दी में हुए नारी स्थिति के चतुर्मुखी विकास की पृष्ठभूमि को सुदृढ़ आधार मिला।

१—विश्वम्भर नाथ पान्डे : बसन्त लाल मुरारका स्मृति ग्रन्थ, पृष्ठ, ७६२।
२—नीरा देसाई : 'वीमन इन मॉडर्न इण्डिया,' पृष्ठ १८४।

खण्ड—२

समाज सुधारक

प्रत्येक देश ने समाज में व्याप्त बुराइयों के निवारण एवं सामाजिकों को उन्नतिशील दिशा देने एवं राष्ट्रीय गौरव की रक्षा के लिए समय-समय पर समाज-सुधारकों को जन्म दिया है। व्यक्ति और समष्टि के पारस्परिक सम्बन्धों के विकास से जिस सामाजिक चेतना का प्रादुर्भाव होता है, उसी चेतना से अनुप्राणित ये समाज-सेवक समाज में स्वतन्त्रता, समानता एवं बंधुत्व के सिद्धांतों की प्रतिष्ठा के लिए आत्मोत्सर्ग द्वारा दलित समाज में नये प्रगतिशील, दृष्टिकोण, मान्यताओं, एवं सिद्धांतों की आयोजना करते हैं जिससे उच्चतर सामाजिक जीवन की उपलब्धि में योगदान प्राप्त हो सके। भारत में सामाजिक क्रान्ति या समाज-सुधार की यह परम्परा तथागत से प्रारम्भ होती है। तेरहवीं और चौदहवीं शताब्दी में जिन समाज गत सुधारों की प्रतिष्ठा की गई, उनका कारण मुस्लिम सम्पर्क था। उसी प्रकार १९वीं शताब्दी के भारत में हुए समाज सुधारों की पृष्ठभूमि में पाश्चात्य प्रभाव स्पष्ट था। इस काल में जिन समाज सुधारकों ने नारी-स्थिति के उत्थान कार्य में सहयोग दिया, उन्हें दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है—सुधार-वादी तथा पुनरुत्थानवादी। दोनों वर्ग के सुधारक इस विषय पर एकमत थे कि तत्कालीन सामाजिक परम्पराओं में भारी दोष उत्पन्न हो गए हैं तथा उनमें परिवर्तन की आवश्यकता है। परन्तु पहिले वर्ग के लोग उन परम्पराओं में प्रगति-शील आन्दोलनों के द्वारा सुधार करना चाहते थे, जब कि दूसरे वर्ग के लोग वैदिक मान्यताओं की पुनर्स्थापना में विश्वास करते थे। इन दोनों ही वर्ग के सुधारकों ने नारी-स्थिति की दयनीय अवस्था के सुधारकार्य में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया है। पाश्चात्य शिक्षा एवं संस्कृति से अत्यधिक प्रभावित इन सुधारकों में सुधारवादी वर्ग के लोग ही अधिक हैं। पुनरुत्थानवादी सुधारकों में स्वामी विवेकानंद तथा स्वामी दयानन्द के नाम अग्रगण्य हैं। अगले पृष्ठों में हम इन सुधारकों एवं इनके सुधार कार्य का विवेचन करेंगे।

राजा राम मोहन राय (१७७२-१८३३)

'भारतीय नवोत्थान की धारा में क्रम से छोटे-बड़े अनेक व्यक्ति उत्पन्न हुए हैं। यह धारा अब भी प्रवाह में है और आज भी ऐसे व्यक्तियों का आविर्भाव अवरुद्ध नहीं हुआ है, किन्तु इन सारे व्यक्तित्वों के आध्यात्मिक पिता राम मोहन राय हैं'[1]।

समाज-सुधार आन्दोलन के आदि-प्रवर्तक इस मनस्वी का जन्म ब्रिटिश काल में १७७२ में हुआ था। इन्हें नारी स्थिति के उत्थान की प्रेरणा १८८१ में अपने ज्येष्ठ भ्राता जगमोहन की मृत्यु की घटना से मिली। मृत भाई के शव के साथ उनकी पत्नी ने भी सती होने का निश्चय किया। परन्तु ज्वालाओं से भयभीत होकर वह बचने का प्रयास करने लगी। तब सभी उपस्थित सम्बन्धियों ने उसे बलात् ज्वालाओं के बीच में ढकेल दिया। हृदय द्रावक इस दृश्य ने राम मोहन के बाल मस्तिष्क में खलबली उत्पन्न कर दी और उन्होंने तभी शपथ ली कि वे अपने जीवन काल में सती की इस कुप्रथा को समाप्त करके दम लेंगे[2]।

राम मोहन कालीन-समाज में सहमरण प्रथा, बहु-विवाह, बाल-विवाह, पर्दा-प्रथा, अशिक्षा एवं देवदासी आदि कुप्रथाएँ प्रचलित थीं। राम मोहन राय ने सबसे प्रथम सती प्रथा के विनाश का बीड़ा उठाया। १८१८ से ही उन्होंने अपने पत्र 'सम्बन्ध कोमुदी' में सती प्रथा के विरोध में लेख लिखने आरम्भ कर दिए थे। सती प्रथा को शास्त्र-सम्मत बताने वाले कट्टर पन्थियों को उन्होंने अपने पत्र में खूब फटकारा। उन्होंने बताया कि वेदकालीन समाज में यह प्रथा स्वयं इच्छित थी। किसी को सहमरण के लिए बलात् विवश नहीं किया जाता था। लेकिन आज का भ्रष्ट एवं विपथगामी समाज नारी को सहमरण के लिए विवश करता है, जो किसी भी प्रकार से वांछनीय नहीं है। उन्होंने तत्कालीन धर्म पुरोहितों को जो यह दलील देते थे कि नारी का पवित्र होना आवश्यक है, इसीलिए विधवाओं के लिए सहमरण का विधान है, बताया, कि मन से पवित्र नारी कभी भी अपवित्र नहीं हो सकती, और जो कलुषित भावना से मुक्त है वह पति के जीवित रहते भी अपवित्र जीवन बिता सकती है। उन्होंने तर्क से इस बात का भी प्रमाण दिया कि नारी पुरुष से किसी भी प्रकार से हीन नहीं है, उसकी आज की हीनावस्था इस कारण से है कि उसे विकास का अवसर ही प्रदान नहीं किया गया। इस प्रकार अपने लेखों तथा प्रपत्रों के माध्यम से वे जनता में इस कुप्रथा के विनाश का प्रचार करते रहे तथा अन्त में १८२९ में बंगाल की सरकार ने उनसे सहायता प्राप्त करके सती निरोधक

१—ए० सी० ई० जकारिया : 'रिनेसेंट इन्डिया' : दिनकर द्वारा 'संस्कृति के चार अध्याय,' पृष्ट ४८२ पर उत्कथित।

२—नीरा देसाई : 'वीमन इन मॉडर्न इन्डिया', पृष्ठ ६४।

कानून पास कर दिया। श्रीयुत जे. फॉक्स ने 'ग्रेट मैन ऑफ इण्डिया (पृष्ठ ४६५) में इस विषय को लेकर लिखा है '—

'There is no doubt that it was greatly through his firmness, his enlightened reasonings and his persevering efforts, that the government of Bengal at last thought themselves enabled to interdict the immolation of widows.'

तत्कालीन बंगाल में उच्च कुलीन ब्राह्मण परिवारों में वैवाहिक क्षेत्र की संकीर्णता के परिणाम स्वरूप एक प्रकार की विषमता उत्पन्न हो गई थी। कुलीन वंशीय महिलाओं को कुलीन वंश में ही विवाह करना पड़ता था अतः पहिले से ही आर्थिक संकटों में ग्रस्त ब्राह्मण भारी दहेज दे सकने में असमर्थ होकर, अविवाहित व्यक्तियों के अभाव में अपनी कन्याओं का विवाह पूर्व विवाहित व्यक्तियों से ही कर देते थे, इस ने बहु-विवाह प्रथा को जन्म दिया। साथ ही भावी संकटों से भयभीत निर्धन माता-पिता द्वारा पुत्री को जन्मते ही मार डालने की प्रथा का प्रादुर्भाव भी यहीं से हुआ। परिणामतः पारिवारिक जीवन की शान्ति छिन्न-भिन्न हो गई तथा बाल-विधवाओं की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ने लगी। राम मोहन राय ने अपने समाज की इस विषमता का गहन अध्ययन किया और उन्होंने बतलाया कि कुलीनवाद की यह प्रथा शास्त्र सम्मत नहीं है। मनु ने उस पिता की पुत्री का विक्रेता बतलाया है जो विवाहावसर पर पुत्री देने के बदले में द्रव्य प्राप्त करता है। अन्य शास्त्रों में भी दूसरे विवाह की आज्ञा विशेष परिस्थितियों में ही प्रदान की गई है। राजा जी ने इस बात पर बल दिया कि सरकार किसी को दूसरा विवाह करने से पूर्व परिस्थितियों की वैधानिक जाँच करे।

राजा राम मोहन राय पहिले व्यक्ति थे जिन्होंने सती प्रथा को नारी जीवन में व्याप्त भारी आर्थिक विषमता के साथ जोड़ा। उनका कहना था कि नारी स्वयं की इच्छा से कभी-कभी इसीलिए सहमरण की कामना करती है, क्योंकि पति के मरने के बाद उसकी आर्थिक स्थिति बड़ी दयनीय हो जाती है। उसे ग्लानि, हीनता और दुर्दैवपूर्ण अभिशप्त जीवन बिताना पड़ता है। ऐसा जीवन बिताने की अपेक्षा वह अपने पति के शव के साथ जीवनोत्सर्ग करना अच्छा समझती है। उन्होंने इस बात की घोषणा की कि पूर्व कालीन नारी अधिकारों से सभी नियामकों में पति की सम्पत्ति पर पत्नी का पुत्र के समान अधिकार बतलाया है। केवल उत्तरकालीन शास्त्रियों ने माता के अधिकार को 'दयाभाग' की सीमाओं में आबद्ध कर दिया। पुत्री के आर्थिक अधिकारों की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा है कि उसे पिता के धन से पुत्र के अधिकार का चतुर्थांश प्राप्त होना चाहिए।

किन्तु 'दयाभागकारों'[1] का मत है कि पिता की सम्पत्ति से पुत्रों को उसके विवाह के लिए ही धन प्राप्त होना चाहिए। राजा जी सरकार से इस बात की अपेक्षा करते थे कि वह वैधानिक रीति से नारी के सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकारों का आरक्षण करे, और इस प्रकार से उन्हें आर्थिक स्वतन्त्रता एवं मानसिक विकास के क्षितिज प्रदान करे।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि राजा राम मोहन राय ने नवीन आदर्शों का स्वागत करते हुए भारत में नवीन संस्कृति का श्रीगणेश किया[1]। भारतीय समाज की उन्नति एवं विकास की दिशा में किए गये महान् प्रयत्नों का उल्लेख करते हुए मिस कालेट ने लिखा है कि 'इतिहास में राम मोहन राय का स्थान उस महासेतु के समान है, जिस पर आरूढ़ होकर भारतवर्ष अपने अथाह अतीत से अपने अज्ञात भविष्य में प्रवेश करता है'[2]।

ईश्वर चन्द्र विद्यासगार (१८२०-१८६१)

सुधारवादी विचारकों की परम्परा में राजा राम मोहन राय के बाद ईश्वर चन्द्र विद्यासागर का नाम उल्लेखनीय है। तत्कालीन ब्रह्मवाद से प्रभावित परिवार में जन्मे उनके चरित्र में 'उदारता, सहिष्णुता, तेजस्विता और दृढ़ता का अपूर्व सम्बन्ध देखने को मिलता है'[3]। राजा राम मोहन राय ने जिस नारी को बाधित सहमरण की कारा से मुक्त कराया, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने उसे पुनर्विवाह का वैधानिक अधिकार दिलाने की दिशा में प्रयत्न किया। विद्यासागर के विद्यार्थी जीवन में सम्पूर्ण वंग-समाज विभिन्न प्रकार के वाद-विवादों, तर्क-वितर्कों, आन्दोलन-प्रति-आन्दोलनों के व्यूह में अवरुद्ध होकर कोई सुनिश्चित दिशा ग्रहण करने का प्रयास कर रहा था। बालक विद्यासागर के चरित्र में आरम्भ से ही असीम मातृभक्ति, सादा जीवन, निर्मलता तथा नीतिमत्ता आदि महान् गुणों का समावेश हो गया था। उनकी माता निरक्षरा होते हुए भी उदार वृत्ति वाली महिला थीं। उन्होंने विद्यासागर के योरूपीय मित्रों के साथ तथा पुनर्विवाहित युगल के साथ भोजन किया। ईश्वर चन्द्र विद्यासागर माता की इसी महानता के कारण ही समस्त नारी जाति के प्रति श्रद्धालु हो उठे तथा नारी-स्थिति के सुधार की ओर अग्रसर हुए। इस दिशा में दूसरी घटना उनकी गुरु-पत्नी के असमय विधवा हो जाने की हुई। उनके गुरु ने उस अवस्था में विवाह किया था जब कि उन्हें सन्यासाश्रम में पदार्पण करना चाहिए था। इस विवाह के एक ही वर्ष बाद उनकी मृत्यु हो गई[4]। इस घटना के परिणामस्वरूप विद्यासागर के मन में नारी

१—वुच एम० ए० : 'राइज एण्ड ग्रोथ ऑफ इन्डियन लिबरलिज्म,' पृष्ठ ८१।
२—वही, पृष्ठ ८२ पर उत्कथित।
३—विनय घोष : बसन्त लाल मुरारका स्मृति ग्रन्थ, पृष्ठ ४२४।
४—नीरा देसाई : 'वीमन इन मॉडर्न इन्डिया,' पृष्ठ ६६।

के प्रति श्रद्धा एवं दया का ऐसा अजस्र स्रोत प्रवाहित हुआ कि वे जीवन भर इस जाति के उत्थान कार्य में ही जुटे रहे। नारी-स्थिति को सुधारने सम्बन्धी उनके इस अभियान में उनकी साथिन राममणि ने भी यथेष्ठ सहयोग दिया[1]।

संस्कृत कालेज में अध्यापक हो जाने के पश्चात् ही उनके सुधार-कार्य का आरम्भ होता है। उनका विश्वास था कि किसी भी सुधार की लोक-मान्यता एवं लोक-प्रतिष्ठा के लिए यह आवश्यक है कि वह सबसे पहिले स्वयं सुधारक द्वारा अपने जीवन में प्रतिष्ठित हो। अतः उन्होंने संकल्प किया कि 'वे अपनी पुत्रियों के लिए उच्च शिक्षा की व्यवस्था करेंगे, ग्यारह वर्ष से पूर्व अपनी पुत्रियों का विवाह नहीं करेंगे', (उनकी सभी पुत्रियों का विवाह १६ वर्ष के उपरान्त ही हुआ।) अपनी पुत्रियों के वर का चुनाव करते समय वे धन को महत्ता नहीं देंगे, पुत्री के विधवा होने पर, यदि वह पुनर्विवाह करना चाहेगी, तो उसे ऐसा करने की अनुमति देंगे, अपने किसी भी पुत्र की १८ वर्ष की अवस्था से पूर्व विवाह नहीं करने देंगे तथा वे अपनी पुत्री का विवाह पूर्व विवाहित पुरुष से नहीं करेंगे[2]। उनके इस संकल्प में शिक्षा, बाल-विवाह, कुलीन-वाद, पुनर्विवाह तथा बहु-विवाह आदि तत्कालीन सभी नारी-समस्याओं का चित्र उपस्थित हो जाता है।

विद्यासागर ने 'पराशर संहिता' से तथ्य उपस्थित करके पुनर्विवाह के स्थापना के तर्क की पुष्टि की। उपर्युक्त संहिता के अनुसार 'नारी पति की मृत्यु के उपरान्त, उसके सन्यासी हो जाने पर, नपुंसक, पतित अथवा रोगी हो जाने पर पुनर्विवाह कर सकती है[3]'। इसी प्रकार अन्य धर्म ग्रन्थों, पुराणों, श्रुतियों एवं स्मृतियों से भी उद्धरण देकर उन्होंने विधवा विवाह को शास्त्र सम्मत बताते हुए उसका जोरदार समर्थन किया। हिन्दू धर्म शास्त्र के अनुसार विधवा-विवाह किस है इस विषय पर १८५३ में 'विधवा-पुनर्विवाह' नामक उनकी एक पुस्तक भी प्रकाशित हुई। १८५६ में विधवा-विवाह को वैधानिक मान्यता प्राप्त हो गई जो ईश्वरचन्द्र विद्यासागर की तत्कालीन रूढ़िवादी समाज के विरुद्ध महान् उपलब्धि थी। परन्तु यह सुधार संकीर्ण सामाजिकों के क्षेत्र में अधिक लाभप्रद न हो सका। फिर भी बंगाल में उत्पन्न विधवा-विवाह की यह भावना महाराष्ट्र और गुजरात के समाज सुधारकों द्वारा अनुप्राणित होती रही।

सन् १८५१ से १८५८ तक विद्यासागर शिक्षा पद्धति में आमूलचूल परिवर्तन करने में श्रमरत रहे। उन्होंने स्त्री पुरुषों को समान रूप से शिक्षा प्राप्ति के अवसर प्रदान करने की बात का समर्थन किया तथा महिलाओं के लिए अंग्रेजी शिक्षा की आवश्यकता बतलाई। उन्होंने लगभग ४० विद्यालयों की स्थापना करके महिला-

१—नीरा देसाई : वीमन इन माडर्न इण्डिया पृष्ठ ७०।

२—वही: पृष्ठ वही।

३—एल० यू० त्रिवेदी : 'विधवा-विवाह' पृष्ठ ६।

शिक्षा प्रचार के कार्य को आगे बढ़ाया। नारी-शिक्षा की उपयोगिता पर निबन्ध प्रतियोगिताएँ आयोजित करके उसका प्रचार किया। महिला विद्यालयों में उनके लिए उपयोगी पाठ्य-पुस्तकों की रचना में विद्यासागर जी का पूरा हाथ रहा[1]।

विद्यासागर ने दूसरा आघात कुलीन वर्ग पर किया। इस समाज में दैनन्दिन बढ़ती हुई बहु-विवाह प्रथा नारी के अस्तित्व तथा महत्ता को निम्न से निम्नतर कर रही थी। राम मोहन राय द्वारा इस समस्या का उद्घाटन पाहले ही किया जा चुका था अब विद्यासागर ने ऐसे बहु-विवाहित पुरुषों की सूची बनाई। उस सूची में उन्होंने ५ विवाह करने वाले लोगों की भारी संख्या हो जाने के भय से सम्मलित नहीं किया था[2]। इस सूची के अनुसार एक बहु-विवाहहित के ८० पत्नियाँ थीं। इस खोज में एक उदाहरण ऐसा भी प्राप्त हुआ जिसमें एक पुरोहित ने ५० वर्षीय एक वृद्ध के एक सौ सात विवाह सम्पन्न कराये थे[3]। विद्यासागर ने पहली बार इस परम्परागत दोष को समाज के सम्मुख रखकर उसे इसके भयंकर परिणामों से अवगत कराया।

विद्यासागर का विश्वास था कि युवा होने पर ही कन्या का विवाह अपेक्षित है। विवाह आयु के बढ़ाने विषयक उनके निरन्तर प्रचार के परिणाम स्वरूप ही १८६० में वैधानिक रूप से न्यूनतम सम्भोग स्वीकृति आयु १० वर्ष कर दी गई थी।

विद्यासागर सदैव ही नारी-जाति के परम हितैषी, उनकी समृद्धि के परम इच्छुक तथा उनके उन्नयन और विकास की दिशा में प्रथम कोटि के सहायक रहे। यह सत्य है कि उनके तथा राम मोहन राय के द्वारा किए गये सुधारों को उनके युग में मान्यता प्राप्त नहीं हुई, परन्तु फिर भी उन्होंने तत्कालीन बुद्धिवादी वर्ग को चिन्तन की जिस नवीन दिशा का दर्शन कराया, उसी पर अग्रसर होकर भावी सुधारकों ने समाज-सुधार क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान किया। विद्यासागर जी की चतुर्थ वार्षिकी के अवसर पर कवि गुरु रवीन्द्र ने कहा था—'विद्यासागर का समाज-निर्माण में बहुत बड़ा हाथ रहा है......आज वे संसार में नहीं हैं—लेकिन उनके महत्त चरित्र का जो अक्षय-वट समाज में फैला हुआ है—उसके नीचे बैठ कर आने वाली संतान को एक नया संकेत मिलता है—एक नई दीक्षा मिलती है[4]।'

महादेव गोविंद रानाडे (१८४२-१९०१)

पाश्चात्य शिक्षा, सभ्यता एवं संस्कृति से प्रभावित समाज सुधारकों में महादेव गोविंद रानाडे अग्रगण्य हैं। जब बंगाल में ईश्वर चन्द्र विद्यासागर द्वारा स्थगित

१—विनय घोष : वसन्त लाल मुरारका स्मृति ग्रन्थ, पृष्ठ ४२५।
२—पाँचवीं इन्डियन नेशनल सोशल कान्फ्रेन्स का सूचना पत्र, पृष्ठ २७।
३—नीरा देसाई, : 'वीमर इन माडर्न इन्डिया,' पृष्ठ ७३।
४—विनय घोष : वसन्त लाल मुरारका स्मृति ग्रन्थ, पृष्ठ ४२६ पर उल्लिखित

मान्यताओं पर तर्कपूर्ण आघात-प्रतिघात हो रहे थे, तब महाराष्ट्र में भी आगरकर, फुले तथा रामाबाई पंडिता द्वारा सामाजिक चेतना विकसित हो रही थी आगरकर' द्वारा सम्पादित 'सुधारक' में प्रकाशित लेखों, व्याख्यानों द्वारा जनता में जागृति उत्पन्न हो चली थी। इसी जागृति-काल में महादेव गोविंद रानाडे का आविर्भाव हुआ।

उच्च न्यायालय के न्यायाधीश पद पर आसीन होते हुए भी उन्होंने सामाजिक प्रगति के पुण्य कार्य में सदैव ही सक्रिय भाग लिया। वे जाम्बेकर तथा पांडुरंग के सम्पर्क में आए जो नारी-शिक्षा का प्रचार-कार्य कर रहे थे। उन्होंने विष्णु शास्त्री से सम्पर्क स्थापित किया जो महाराष्ट्र में विधवा-विवाह के कार्य को आगे बढ़ा रहे थे[1]। वे पश्चिम के उदार दर्शन से बहुत प्रभावित थे। उनका विश्वास था कि समाजगत जीर्ण-शीर्ण मान्यताओं में क्रांतिकारी परिवर्तन करके ही समाज को प्रगति के पथ पर अग्रसर किया जा सकता है। नारी-स्थिति के सुधार कार्य में उन्होंने सबसे पूर्व विधवा-विवाह की समस्या को लिया। उन्होंने पूर्व-सुधारकों की तरह ही सप्रमाण इस तथ्य की पुष्टि की कि वेदकालीन भारत में विधवा-विवाह वर्जित नहीं था। वे विधवा-विवाह संस्था के सक्रिय सदस्य तथा पुनर्विवाह के समर्थकों के सहायक थे। विधवा-विवाह की समस्या को लेकर समय-समय पर उनके लेख 'इन्दु प्रकाश' में प्रकाशित होते रहे।

इस दिशा में उनका दूसरा सुधार कार्य बाल-विवाह प्रथा की समस्या को लेकर था। उन्होंने बताया कि वेद कालीन भारत में युवा होने पर ही विवाह का विधान था। उनके अनुसार स्त्री-पुरुष की न्यूनतम विवाह आयु क्रमश: १२ तथा १८ वर्ष तथा सम्भोग सहमति आयु १६ और २५ वर्ष होनी चाहिए। रानाडे ने नारी-शिक्षा का प्रश्न भी उठाया तथा एक नारी शिक्षण संस्था की स्थापना की। सुधार-कार्य क्षेत्र में रानाडे का सबसे महत्वपूर्ण कार्य 'दि इन्डियन नेशनल सोशल कान्फ्रेन्स' की स्थापना है। इस संस्था द्वारा दूसरे समाज सुधारों के साथ-साथ नारी स्थिति संबंधी सुधार कार्य भी सम्पादित किए गये।

रानाडे महाराष्ट्र के प्रथम सुधारवादी नेता थे, जिन्होंने अपने सुधार-आन्दोलन को राष्ट्रीय स्वरूप प्रदान किया। उनका विश्वास था कि राजनैतिक चेतना तथा समाज-सुधार कार्य पृथक रूप से नहीं चल सकते, इन्हें अन्योन्याश्रित होना चाहिए। इसी बात को दृष्टि में रखकर 'नेशनल कान्फ्रेन्स' की स्थापना हुई थी। नीरा देसाई ने एक स्थान पर उनके विषय में लिखा है—

'Ranade's role as a pioneer in the movement for women's uplift is great and unique. He correctly understood the Indian situation. He did not stand for

१—नीरा देसाई : वीमन इन माडर्न इन्डिया पृष्ठ ७६।

blind imitation of the west, as 'Young Bengal' movement in initial stages did, nor was he the worshipper of India's past, as the revivalist were. He believed in synthesising the best elements of the two."

दयानन्द सरस्वती (१८२४-१८८३)

स्वामी दयानन्द १६वीं शताब्दी के भारतीय नवोत्थान के विकास क्रम में एक अनिवार्य कड़ी थे। ये पहिले सुधारक थे जिन्होंने पश्चिमी संस्कृति से उदासीन हो भारत की सामाजिक पुनरुत्थान की दिशा में प्रेरित किया। जनतन्त्र और तर्क के इस युग के संस्थापकों में उनका नाम सदैव ही स्मरणीय रहेगा। १८२४ में काठियावाढ़ के मोरवी राज्य के एक ब्राह्मण परिवार में उत्पन्न इस तेजस्वी महापुरुष का वास्तविक नाम मूलशंकर था। बचपन से ही विद्याध्ययन में इनकी रुचि थी। युवावस्था में इनके मन की सत्य की खोज की चाह ने इन्हें वैरागी बना दिया। १८४५ में घर से निकल कर सबसे पहिले इन्होंने गुरु की खोज की। १८७५ में सामाजिक सुधार की भावना से प्रेरित होकर बम्बई आर्य समाज की स्थापना की स्थापना की गई जो १८७७ के उपरान्त लाहौर में खूब विकसित हुई।

दयानन्द ने हिन्दुओं की कट्टरता एवं संकीर्णता के परिणाम स्वरूप हिन्दुत्व के महान् प्रासाद को खंडित होते हुए देखा था। उन्होंने अनुभव किया था कि ये रूढ़िवादी अनिष्टकर परम्परा हिन्दूधर्म का नेतृत्व कर रही है। उनका विश्वास था कि एक विशिष्ठ जाति, जो आज के हिन्दू समाज में दिशा निदेश का कार्य कर रही है, उसकी वास्तविक अधिकारिणी नहीं है, इसलिए उन्होंने जन्म के स्थान पर विद्वता और नैतिकता के आधार पर व्यक्ति की सामाजिक प्रतिष्ठा प्रस्थापित करने का उपदेश दिया।

नारी-स्थिति के पुनरुत्थान की ओर अग्रसर होते हुए उन्होंने वैदिक धर्म ग्रन्थों से उद्धरण-प्रस्तुत किए और इस बात की घोषणा की कि पूर्व काल में नारी को पुरुष के समान अधिकार प्राप्त थे। उसको शिक्षा प्राप्ति के समान अवसर की प्राप्ति थी। अनन्तर इस अधिकार के छीन लिए जाने से नारी का सांस्कृतिक जीवन समाप्त प्रायः हो गया। शिक्षा के अभाव में बाल-विवाह की प्रथा आरम्भ हुई और उसके उपरान्त नारी सम्बन्धी अनेक कुप्रथाओं का श्री गणेश हुआ। इस लिए नारी के सांस्कृतिक एवं सामाजिक जीवन को पुनर्जीवित करने के लिए सबसे महत्वपूर्ण आवश्यकता उनके बीच में शिक्षा का विकास करने की है, जिनसे उनमें मानसिक चेतना का प्रादुर्भाव हो। शिक्षा सम्बन्धी उनकी योजना अन्य सुधारकों की अपेक्षा अधिक विस्तृत थी। दयानन्द के अनुसार सामान्य शिक्षा के साथ-साथ उनके लिए शारीरिक शिक्षा प्राप्त करने का भी विधान था। उनके मतानुसार

१—नीरा देसाई : वीमन इन माडर्न इन्डिया पृष्ठ ८४।

बालिकाओं को १६ वर्ष की अवस्था तक विद्याध्ययन करना चाहिए। दयानन्द सह-शिक्षा के कट्टर विरोधी थे। वेदोक्त रीति से प्रदत्त विद्या ही उनके मत में सर्व श्रेष्ठ थी। नारी के लिए भाषा, धर्मशास्त्र, शिल्प, संगीत तथा वैद्यक शास्त्र की शिक्षा आवश्यक मानी गई। दयानन्द जी इस बात पर बल देते थे कि नारी-शिक्षा ऐसी होनी चाहिए, जो गृह-कार्यों के साथ-साथ सामाजिक जीवन में भी लाभप्रद हो सके तथा जिससे नारी आर्थिक दृष्टि से भी स्वयं को स्वतन्त्र अनुभव कर सके[1]। इस प्रकार 'स्त्री शिक्षा का व्यापक प्रचार करके ही दयानन्द ने भारत की राजनैतिक क्रान्ति का मार्ग प्रशस्त किया था'[2]।

दयानन्द विवाह को स्त्री और पुरुष का पवित्र सम्बन्ध मानते थे सम्बन्ध-विच्छेद में उन्होंने कभी भी विश्वास नहीं किया। वे पूर्व-कालीन स्वयंवर रीति के पक्षपाती थे। विधवा-विवाह में वे नियोग पद्धति का समर्थन करते थे[3]। बाल-विधवा का मृत पति के भाई से विवाह उनकी दृष्टि में अनुचित न था। बाल-विवाह को वे अनेक पापों का मूल मानकर उसका तीव्र विरोध करते थे।

तत्कालीन समाज को दयानन्द की विशेष देन आर्य-समाज है। इस नवीन संस्था द्वारा दयानन्द जी के सिद्धांतों का प्रतिपादन किया गया। शिक्षा के क्षेत्र में गुरुकुलों की स्थापना हुई। अनेकों विधवाश्रम खोले गए। पतन काल में शुद्धि-आन्दोलन इस की विशेषता रही है। दयानन्द युगीन भारत, जो तीव्रता से पश्चिमी आदर्शों की ओर अग्रसर हो रहा था, आर्य-समाज के प्रादुर्भाव से वैदिक संस्कृति की ओर आकर्षित हुआ। यह पहली संस्था थी, जिसने नारी जागृति के लिए ठोस प्रयत्न किए। आर्य समाज द्वारा पहली बार आत्म-विश्वास, आत्म-निर्भरता तथा आत्म-मान की भावना को विशेष महत्व प्रदान किया गया तथा युगों के बाद भारत को एक बार अपने अतीत की ओर देखकर गौरवान्वित होने की प्रेरणा मिली।

इस प्रकार, नारी उत्थान की दिशा में दयानन्द ने 'स्त्रो शूद्रौनाधियाताम्' का खण्डन करके 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता' वाले मन्त्र की घोषणा की। तत्कालीन हिन्दुत्व को निन्दित तथा आक्रान्त देख कर उन्होंने जो मार्ग अपनाया, उसी पर चलकर नए भारत के निर्माताओं ने एक ऐसे तन्त्र का निर्माण किया, जिसकी परिणति हमारी राजनीतिक ही नहीं, मानसिक मुक्ति में भी हुई''[4]।

विवेकानन्द

'वह देश और वह जाति, जो अपनी स्त्री-जाति की प्रतिष्ठा नहीं करती है, वह न तो कभी उन्नतिशील हुई थी और न हो सकेगी। हमारी जाति के इस अधःपतन का मुख्य कारण यही है कि हमने शक्ति की इन सजीव प्रतिमाओं का

१—नोरा : 'वीमन इन माडर्न इण्डिया,' पृष्ठ १०६
२—विष्णु प्रभाकर : बसन्तलाल मुरारका स्मृति ग्रन्थ, पृष्ठ ४१६।
३—हरिश्चन्द्र विद्यालंकार : महर्षि दयानन्द सरस्वती, पृष्ठ २१६।
४—विष्णु प्रभाकर : बसन्तलाल मुरारका स्मृतिग्रन्थ, पृष्ठ ४२०।

आदर करना छोड़ दिया है। यदि तुम स्त्रियों की, जो आदि-माता की सजीव मूर्तियाँ हैं, उन्नति की चेष्टा नहीं करोगे तो तुम यह निश्चय जान लेना कि तुम्हारे अभ्युदय का कोई दूसरा मार्ग है ही नहीं"।

—विवेकानन्द।

उपर्युक्त कथन के प्रणेता स्वामी विवेकानन्द पुनरुत्थानवादी सुधारकों की कोटि में आते हैं। प्राचीन भारतीय संस्कृति की शुचिता पर उन्हें पूर्ण आस्था थी। मात्र हिन्दुत्व के समर्थक रामकृष्ण परमहंस के शिष्य होते हुए भी उन्होंने पाश्चात्य सभ्यता का अध्ययन, मनन और अनुशीलन किया। परन्तु उनके द्वारा शिकागो तथा पैरिस की धर्म सभाओं में सर्वत्र भारतीय संस्कृति की प्रतिष्ठा प्रस्थापित की गई। शुद्ध वेदान्तवादी होते हुए भी वे विचार स्वातन्त्र्य के प्रबल समर्थक थे। समाज सेवा की भावना को उन्होंने सदैव ही महत्ता प्रदान की।

स्वकालीन हिन्दू धर्म में व्याप्त असमानताओं, दोषों एवं समस्याओं के निवारण के निमित्त उन्होने सतत प्रयत्न किए। तत्कालीन नारी की करुण दशा उनसे अदृष्ट नहीं थी। फिर भी भारतीय नारीत्व को उन्होंने प्रतिष्ठा के शीर्ष पर आसीन किया। उनका कहना था कि 'भारत में स्त्री जीवन के आदर्श का आरम्भ और अंत मातृत्व में ही होता है'[२]। स्त्री जीवन के इस आदरणीय स्थान को पाने के लिए नारी के नारीत्व का पूर्ण विकास होना आवश्यक है[३]। क्योंकि 'विश्व के समस्त दैवी गुण और शक्तियाँ उस गृह, समाज तथा राष्ट्र में विद्यमान रहते हैं, जहाँ नारियों की पूजा होती है'[४]। भारतीय नारियों की बौद्धिक प्रगति के लिए उन्होंने पाश्चात्य नारी का उदाहरण प्रस्तुत किया। न्यूयार्क में दिए गए अपने भाषण में उन्होंने कहा था—'मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी कि भारतीय स्त्रियों की ऐसी बौद्धिक प्रगति हो, जैसी इस देश में हुई है, परन्तु वह उन्नति तभी अभीष्ट है जब वह उसके पवित्र जीवन एवं सतीत्व को अक्षुण्ण बनाए रखते हुए हो'[५]।

विवेकानन्द चाहते थे कि धर्म को केन्द्र बना कर स्त्री शिक्षा का क्षेत्र निर्धारित किया जाए। उनका विश्वास था कि उनमें, बिना शिक्षा प्रचार के, किसी भी प्रकार का विकास होना सम्भव नहीं है। 'नारी सुशिक्षित बनकर स्वयं कहेगी कि उसे किन सुधारों की आवश्यकता है। नारी-समाज में शिक्षा के प्रचार एवं प्रसार के लिए उन्होंने ब्रह्मचारिणियों की नियुक्ति की आयोजना की।

१—'चाँद' मासिक : १९२५ : के पृष्ठ ३१४ पर सम्पादक द्वारा 'रमणी का स्थान' के अन्तर्गत उल्लिखित।
२—विवेकानन्द : भारतीय नारी, पृष्ठ २३।
३—वही : „ पृष्ठ २६।
४—वही, : „ पृष्ठ ३२।
५—वही, : „ पृष्ठ २१।

आदर करना छोड़ दिया है। यदि तुम स्त्रियों की, जो आदि-माता की सजीव मूर्तियाँ हैं, उन्नति की चेष्टा नहीं करोगे तो तुम यह निश्चय जान लेना कि तुम्हारे अभ्युदय का कोई दूसरा मार्ग है ही नहीं"[1]।

—विवेकानन्द ।

उपर्युक्त कथन के प्रणेता स्वामी विवेकानन्द पुनरुत्थानवादी सुधारकों की कोटि में आते हैं। प्राचीन भारतीय संस्कृति की शुचिता पर उन्हें पूर्ण आस्था थी। मात्र हिन्दुत्व के समर्थक रामकृष्ण परमहंस के शिष्य होते हुए भी उन्होंने पाश्चात्य सभ्यता का अध्ययन, मनन और अनुशीलन किया। परन्तु उनके द्वारा शिकागो तथा पैरिस की धर्म सभाओं में सर्वत्र भारतीय संस्कृति की प्रतिष्ठा प्रस्थापित की गई। शुद्ध वेदान्तवादी होते हुए भी वे विचार स्वातन्त्र्य के प्रबल समर्थक थे। समाज सेवा की भावना को उन्होंने सदैव ही महत्ता प्रदान की।

स्वकालीन हिन्दू धर्म में व्याप्त असमानताओं, दोषों एवं समस्याओं के निवारण के निमित्त उन्होने सतत प्रयत्न किए। तत्कालीन नारी की करुण दशा उनसे अदृष्ट नहीं थी। फिर भी भारतीय नारीत्व को उन्होंने प्रतिष्ठा के शीर्ष पर आसीन किया। उनका कहना था कि 'भारत में स्त्री जीवन के आदर्श का आरम्भ और अंत मातृत्व में ही होता है'[2]। स्त्री जीवन के इस आदरणीय स्थान को पाने के लिए नारी के नारीत्व का पूर्ण विकास होना आवश्यक है[3]। क्योंकि 'विश्व के समस्त दैवी गुण और शक्तियाँ उस गृह, समाज तथा राष्ट्र में विद्यमान रहते हैं, जहाँ नारियों की पूजा होती है"[4]। भारतीय नारियों की बौद्धिक प्रगति के लिए उन्होंने पाश्चात्य नारी का उदाहरण प्रस्तुत किया। न्यूयार्क में दिए गए अपने भाषण में उन्होंने कहा था—'मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी कि भारतीय स्त्रियों की ऐसी बौद्धिक प्रगति हो, जैसी इस देश में हुई है, परन्तु वह उन्नति तभी अभीष्ठ है जब वह उसके पवित्र जीवन एवं सतीत्व को अक्षुण्ण बनाए रखते हुए हो[5]।

विवेकानन्द चाहते थे कि धर्म को केन्द्र बना कर स्त्री शिक्षा का क्षेत्र निर्धारित किया जाए। उनका विश्वास था कि उनमें, बिना शिक्षा प्रचार के, किसी भी प्रकार का विकास होना सम्भव नहीं है। 'नारी सुशिक्षित बनकर स्वयं कहेगी कि उसे किन सुधारों की आवश्यकता है। नारी-समाज में शिक्षा के प्रचार एवं प्रसार के लिए उन्होंने ब्रह्मचारिणियों की नियुक्ति की आयोजना की।

१—'चाँद' मासिक : १९२५ : के पृष्ठ ३१४ पर सम्पादक द्वारा 'रमणी का स्थान' के अन्तर्गत उत्कथित।

२—विवेकानन्द : भारतीय नारी, पृष्ठ २३।

३—वही : „ पृष्ठ २६।

४—वही, : „ पृष्ठ ३२।

५—वही, : „ पृष्ठ २१।

विवेकानन्द बाल-विवाह के विरोधी थे उनका कहना था कि बाल-विवाह के फलस्वरूप भावी सन्तति दुर्बल तथा लघुजीवी होती है। सम्भोग आयु-सहमति के विरोधी कट्टर धर्म पन्थियों को ललकारते हुए उन्होंने कहा था कि 'जैसे धर्म का अर्थ १२ या १३ वर्ष की बालिका को माँ बनाने में ही सीमित हो गया है" ।

'भारतीय नारी' में एक स्थान पर उन्होंने कहा है—'यदि हमारे यहाँ कन्याओं का विवाह कुछ अधिक आयु में हो और उनका लालन-पालन संस्कृत वातावरण में हो तो वे ऐसी सन्तान को जन्म देंगी, जिससे देश का यथार्थ कल्याण हो सकता है। अब घर-घर विधवाएँ पाये जाने का मूल कारण बाल-विवाह ही है।'

विवेकानन्द ने कभी भी विधवा-विवाह का समर्थन नहीं किया। इस प्रकार के विवाह को वे निम्न श्रेणी के लोगों में प्रचलित परम्परा मानते थे। वे प्रेम विवाह के भी विरोधी थे। इस विषय में उनका कथन था कि यदि 'हम परस्पर प्रेम और विवाह की पूर्ण स्वतन्त्रता दे देते हैं तो ऐसे विवाहों से उत्पन्न सन्तान दुष्ट और राक्षसी वृत्ति की होगी" ।

उपर्युक्त उपदेशों के साथ-साथ विवेकानन्द ने नारी स्वातन्त्र्य पर भी यथेष्ठ बल दिया है। उनके विचार से 'स्त्री के पैरों में पराधीनता की बेड़ी डालना तथा निर्धन जनता को जातीय बन्धनों के आधार पर समस्त मानवी अधिकारों से वंचित रखना"—ये दो सामाजिक अनर्थ भारत की प्रगति के पथ को अवरुद्ध किए हुए हैं। विवेकानन्द भगवान् बुद्ध की तरह स्त्री-पुरुषों के क्षेत्र तथा अधिकार विभाजन में विश्वास नहीं करते थे वे कहा करते थे कि मेरा इस देश की स्त्रियों के लिए वही संदेश है, जो पुरुषों के लिए है' ।

इस प्रकार नवीन जागृति के इस नवीन कलाकार राजकुमार ने' भारतीय नारी की पतनोन्मुख दशा के मूल कारणों को खोज करके उनके उन्मूलन की दिशा में प्रयास किया। उन में शिक्षा प्रचार की भावना को विशेष बल देकर नारी जाति के स्वतन्त्र व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा की। उनके उपदेशों से ही भारतवासी अपने पतन की गहराई माप सके, अपने शारीरिक श्रम एवं आधिभौतिक विनाश, अपनी क्रिया विमुखता और आलस्य तथा अपने पौरुष से भयानक ह्रास को पहचान सके। विवेकानन्द ही की वाणी में सांस्कृतिक राष्ट्रीयता का जन्म हुआ और लोगों में अपने भविष्य के प्रति उज्ज्वल आशा संचारित हुई' ।

१—अद्वैत आश्रम : पृष्ठ ३१-३२।

२—विवेकानन्द : भारतीय नारी, पृष्ठ ६१।

३—वही, पृष्ठ ६५।

४—रोम्यां रोलां : प्राफेट्स आफ द न्यू इंडिया, पृष्ठ १७३।

५—दिनकर : संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ ५०६।

६—दिनकर : वही, पृष्ठ ५०६।

केशव चन्द्र सेन

नारी के व्यक्तिगत अधिकारों को सामाजिक क्षेत्र में स्वीकृति दिलाने का श्रेय ब्रह्म-समाज के अप्रतिभ नेता केशव चन्द्र सेन को है। १९५७ में जब भारत राजनीतिक स्वतन्त्रता के लिए विदेशियों से संघर्ष कर रहा था, केशव चन्द्र सेन ने राजा राम मोहन राय द्वारा प्रस्थापित ब्रह्म-समाज में प्रवेश किया। १८६० से लेकर १८७० तक का काल ऐसा काल था कि तब ब्राह्म तरुणों ने बंगाल के सामाजिक जीवन में नवीन विचार-धाराओं की एक लहर उत्पन्न कर दी थी[1]।

बंगाल में पाश्चात्य शिक्षा से प्रभावित नवयुवकों में रूढ़िवादी हिन्दुत्व के प्रति जिस विद्रोह भावना का विकास हो रहा था, केशव चन्द्र सेन के प्रवेश ने उसमें घृताहुति का कार्य किया। वे योरुप के धर्म और संस्कृति दोनों पर आसक्त थे[2]। सबसे पहिले केशव चन्द्र ने अन्तर्जातीय विवाह का समर्थन किया। उनके द्वारा सामाजिक सुधार के क्षेत्र में सबसे महत्वपूर्ण अवदान स्त्री-शिक्षा और स्त्री-स्वतन्त्रता का प्रचार था। १८८६ में जब देवेन्द्र नाथ से मतभेद होने के परिणामस्वरूप केशव चन्द्र ने अपने 'ब्रह्म समाज' की पृथक स्थापना की तो उनके अन्तर्गत पहली बार नारी को सामाजिक स्वीकृति मिली। उपासना मन्दिरों तथा सामाजिक सम्मेलनों में प्रत्यक्ष रूप से भाग लेने के अधिकार सम्बन्धी आन्दोलन का प्रादुर्भाव यहीं से हुआ। इस आन्दोलन के परिणामस्वरूप १८७२ में 'सिविल मैरिज' कानून बना। इस प्रकार केशव चन्द्र या रामकृष्ण-विवेकानन्द के युग में धर्म सुधार तीव्रता का पथ अतिक्रमण कर क्रमशः सुस्थिर समन्वय का पथ खोजने लगा। रामकृष्ण अपने सर्व-धर्म-समन्वय के आदर्श की उपलब्धि में उसे व्यक्त करने लगे, विवेकानन्द ने तेजोदीप्त कण्ठ से उसी सत्य की वाणी का देश-विदेश में प्रचार किया, केशव चन्द्र ब्रह्म-धर्म और ब्रह्म-समाज को नए रूप में गढ़ने के लिए बद्ध परिकर हुए, उसकी संकीर्णता की प्राचीर तोड़कर, क्षुद्र गोष्ठी से बाहर लाकर समस्त जातियों के बीच प्रसारित करने को प्रस्तुत हुए। साथ-साथ प्रत्यक्ष सुधार कार्यों में भी उन्हें आगे आना पड़ा[3]।

अन्य सुधारक

गुजरात प्रदेश में

बंगाल में राजा राम मोहन राय से आरम्भ हुई सुधार की यह परम्परा गुजरात में सबसे पहिले दुर्गाराम मेहता (१८०९-१८७६) के नेतृत्व में मुखरित हुई। तत्कालीन गुजराती समाज में भी बंगाल की ही भाँति, बाधित वैधव्य, बाल-

१—विनय घोष, बसन्तलाल मुरारका स्मृति ग्रन्थ, पृष्ठ ५००।

२—दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ ४५४।

३—विनय घोष, बसन्तलाल मुरारका स्मृति ग्रन्थ, पृष्ठ ५००-५०१।

विवाह, नारी-समाज में अशिक्षा आदि समस्याएँ उपस्थित थीं। मेहता जी ने विधवा पुनर्विवाह की समस्या को प्रमुखता प्रदान की तथा सामाजिक रूढ़िवादियों के विरुद्ध व्यक्ति के बौद्धिक विकास की इच्छा से १८४४ में 'मानव धर्म समाज' की स्थापना की। इस सभा में तत्कालीन सामाजिक विषमताओं के विषय में चर्चा होती थी तथा उनके निवारण के लिए समाधान प्रस्तुत किए जाते थे। यह सच है कि इस सभा को तत्कालिक सफलता नहीं मिली। फिर भी रूढ़िवादी समाज को बौद्धिक एवं तर्कसंगत शिक्षा देने के क्षेत्र में सर्वप्रथम संस्था होने के कारण इसका स्थान महत्वपूर्ण है।

गुजराती समाज के बीच सुधारकर्ताओं में दुर्गा राम मेहता के उपरान्त दलपतराय (१८२०-१८९८) ने अपने साहित्य के माध्यम से इस कार्य को आगे बढ़ाया। उनका विश्वास था कि औद्योगिक उन्नति के उपरान्त ही सामाजिक कुप्रथाओं का अन्त होकर भारत सामाजिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक रूप से जागृत हो सकेगा। वे नारी शिक्षा के प्रबल समर्थक थे। उन्होंने देखा था कि गुजराती समाज में बाल-विवाह के कारण न तो बालिकाओं को पर्याप्त शिक्षा ही दी जा सकती है जो उन्हें सुगृहिणी बनने में योग दे सकें, और न उनका मानसिक विकास ही हो पाता है। इस हीनता का अन्त करने के लिए उनमें शिक्षा का प्रचार आवश्यक है। इसी विचार को अपनी कविता के माध्यम इस प्रकार प्रकट किया था, 'यदि तुम अपनी पुत्री को आभूषण दोगे, तो उसका पति उन्हें छीन लेगा, पर यदि तुम उसे विद्या दोगे, तो उसे कोई नहीं छीन पायेगा''। तत्कालीन गुजराती समाज में, पुनर्विवाह की अनुमति नहीं थी। अतः बाधित वैधव्य की यातनाओं से भयभीत होकर बहुत सी महिलाएँ धर्म-परिवर्तन कर लेती थीं। दूसरे सुधारकों की तरह से दलपतराय ने भी पुनर्विवाह का समर्थन किया। 'विधवा-पुनर्विवाह' सम्बन्धी एक लेख में उन्होंने असांस्कृतिक परम्पराओं का तीव्र खण्डन किया। उनके लेखों एवं कविताओं से गुजराती समाज में नवीन सामाजिक चेतना का आविर्भाव हुआ।

बम्बई में प्रस्थापित 'प्रार्थना समाज' के संस्थापकों में गुजराती नेता महीपत राम रूप राम (१८३०-१८९०) का नाम उल्लेखनीय है। उपर्युक्त समाज सुधारकों की तरह इनके द्वारा भी विधवा-विवाह का समर्थन तथा नारी के शिक्षा के विकास पर बल दिया गया। परन्तु उदार सिद्धांतों के प्रस्थापन तथा सामाजिकों की बौद्धिक चेतना के विकास में नर्मदाशंकर (१८३३-१८८६) का स्थान विशिष्ठ है। नारी को जन्म से ही हीन तथा अशिक्षित रखने के पक्षपाती धर्म-पुरोहितों के विरुद्ध उन्होंने नारी-शिक्षा का जोरदार समर्थन किया। उन्होंने तर्क प्रस्तुत किया कि नारी को शिक्षित करने से पहिले ही यह कैसे निर्णय किया जा सकता है कि नारी शिक्षा-प्राप्ति के योग्य नहीं है। विधवा पुनर्विवाह का समर्थन करते हुए उन्होंने कहा कि

१—दलपतराम, दलपत काव्य, भाग २, पृष्ठ ६२।

पत्नी की मृत्यु के बाद जब पुरुष को पुनर्विवाह का अधिकार प्राप्त है, तो फिर नारी को क्यों नहीं। मानवता एवं नैतिकता के स्तर पर नारी के इस स्वतन्त्रता उपभोग के अधिकार को नहीं छीना जा सकता। आरम्भ में वे पाश्चात्य तर्क पद्धति एवं बौद्धिक जागृति से अत्यधिक प्रभावित थे, परन्तु बाद में उनका रुझान भारतीय संस्कृति की ओर हो गया था। उदारवादी सुधारकों की इस परम्परा में लाल शंकर उमिया शंकर का नाम भी उल्लेखनीय है। इन्होंने विद्यासागर की पुस्तक 'विडो रिमैरिज' का गुजराती में रूपान्तर किया। उनका सम्पर्क बहुत सी प्रादेशिक समाज सुधार सम्बन्धी संस्थाओं से था तथा विख्यात 'इण्डियन सोशल कान्फ्रेन्स' से भी वे सम्बन्धित थे।

गुजराती समाज सुधारकों की इस शृंखला में बड़ौदा के महाराजा सयाजी राव गायकवाड़ एक विशिष्ट कड़ी हैं। अपने राज्य के सर्वेसर्वा होने के नाते उन्हें दूसरे सुधारकों की तरह किसी सरकारी सहायता, संस्थागत सहयोग अथवा जनमत की अपेक्षा नहीं करनी पड़ी। वे बाल-विवाह के कट्टर विरोधी तथा नारी-शिक्षा के विकास के प्रबल समर्थक थे। बहु-विवाह प्रथा से उन्हें घृणा थी। बालिका वैधव्य का वे तीव्र विरोध करते थे। इस विषय को लेकर उन्होंने अपने एक भाषण में कहा था—

'The one keeps up a duly low standard of morality among men, the other demands an impossible high standard from women............Inspite of harsh measures we fail to preserve even an ordinary standard of morality in this much ill treated class.'

१९०४ में उन्होंने अपने राज्य में बाल-विवाह निरोधक कानून प्रचलित किया। उन्होंने अक्षत योनि विधवाओं को विवाह की अनुज्ञा दी। महिलाओं को औद्योगिक शिक्षा का महत्व बतलाया तथा छात्र-वृत्तियाँ प्रदान कीं। आपने अन्तर्जातीय विवाहों का समर्थन किया। अपने राज्य में पर्दा-प्रथा का अन्त किया। विवाह-विच्छेद का विधान बनाया तथा कन्या विक्रय की परम्परा समाप्त कीं। साथ ही १८८२ में स्त्रियों के उत्तराधिकार का नियम बनाकर नारी को आर्थिक क्षेत्र में भी अधिकार प्रदान किए। महिला समाज के चतुर्मुखी विकास के लिए संगीत तथा नृत्य भवन एवं अन्य सांस्कृतिक संस्थाओं की स्थापना में भी आपका महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

महाराष्ट्र क्षेत्र में

गुजरात की भाँति महाराष्ट्र में भी समाज सुधार की प्रवृत्ति का जन्म

१—स्पीचेज आफ महाराजा सयाजी राव गायकवाड़, पृष्ठ १९४।
२—विशाख शास्त्री, चरित्र कोष, पृष्ठ, १८४।
३—वही, पृष्ठ १८४।

१६वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में ही हो गया था। महाराष्ट्र के प्रथम सुधारक बाल-शास्त्री जांभेकर थे जिन्होंने १८४० के लगभग गंगाधर शास्त्री फड़के द्वारा विधवा विवाह पर एक पुस्तक लिखवा कर महाराष्ट्र में विधवा विवाह आन्दोलन को बल प्रदान किया। उपर्युक्त अन्य सुधारकों की भाँति उन पर भी पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति का पूर्ण प्रभाव पड़ा था। समाज सुधार के कार्यों में उनकी उदार वृत्ति, धर्म की सीमाओं में आबद्ध सुधार भावना एवं 'सार्वजनिक हिताकांक्षा' आदि-सद्-गुणों का परिचय मिलता है[1]। बाल शास्त्री के काल में महाराष्ट्र में सामाजिक जागृति विकसित होना आरम्भ हुई थी, उस समय स्त्री स्वातन्त्र्य की दृष्टि से विधवा के पुर्नविवाह का प्रश्न समाज के सम्मुख था। इस दिशा में बालशास्त्री के बाद मराठी के प्रख्यात वैयाकरण दादोबा पाँडुरंग का कार्य 'परमहंस मंडली' की स्थापना के रूप में बहुत ही महत्वशाली है। इस गुप्त संस्था की स्थापना बम्बई में १८४० में हुई थी। यह संस्था जाति भेद पर विश्वास नहीं करती थी तथा विधवा विवाह का समर्थन करती थी। इसी काल में लोकहितवादी ने अपनी साहित्यक प्रतिभा एवं सम्पादकीय अधिकार द्वारा महाराष्ट्रीय जनता में सर्वांगीण उन्नति का पथ प्रशस्त किया। वे तत्कालीन महाराष्ट्रीय समाज के विकास के लिए पश्चिम से प्रेरणा एवं शिक्षा लेना आवश्यक समझते थे। उनका कहना था कि 'हमारी जो संस्कृति नष्ट-भ्रष्ट सी दीख पड़ती है, उसका पूर्व रूप प्राप्त करने के लिए मानों ईश्वरीय प्रेरणा से अंग्रेज भारत में पधारे है[2]'।

महाराष्ट्रीय नेताओं में समाज सुधार की प्रमुख नींव डालने वाले महादेव गोविंद रानाडे थे, जिनका वर्णन पिछले पृष्ठों में किया जा चुका है। इसी समय तिलक का आविर्भाव हुआ। उन्होंने सामाजिक सुधारों की अपेक्षा राजनीतिक सुधारों को अग्र स्थान एवं प्राथमिकता देने की बात कही। उन्होंने समाज सुधार विषयक अपनी सैद्धान्तिक भूमि को स्पष्ट करते हुए कहा कि 'समाज-रचना चाहे जिस प्रकार की क्यों न हो, जब तक स्वाधीनता एवं राष्ट्रीयता का उत्साह देश में जागृत है, तब तक समाज की दुर्बलता राष्ट्र की उन्नति व उत्कर्ष में रोड़े नहीं अटका सकती। किन्तु वह जोश ही यदि नष्ट हो गया तो वे कमजोरियाँ रावण के धनुष के समान सीने पर गिर कर हँसी का कारण बन जाएगी[3]'। फिर भी वे समाज सुधार के विरोधी नहीं थे। १८६० में उनकी ओर से प्रकट निवेदन में कहा गया था कि लड़के और लड़की की विवाह-आयु क्रमशः २० तथा १६ वर्ष होनी चाहिए, बाल-विवाह तथा दहेज प्रथा का अन्त होना चाहिए। उनका कहना था कि 'हमें जन-समूह में सुधार करना है पर कहीं सुधार के हेतु जन-समूह में फूट

१—आचार्य शंकरराव जावड़ेकर, बसन्तलाल मुरारका स्मृति ग्रन्थ, पृष्ठ ३६६।
२—काशी नाथ सोमण, बसन्त लाल मुरारका स्मृति ग्रन्थ, पृष्ठ ५१३।
३—वही पृष्ठ ५१५।

न पढ़ जाये"[1]। वैधानिक वल से किए गये समाज-सुधार में उनका विश्वास नहीं था। इसी कारण उन्होंने 'सम्भोग सहमति आयु बिल' का तीव्र विरोध किया। उनका कहना था कि सामाजिक सुधार समाज द्वारा ही प्रतिपादित होने चाहिए, विधि द्वारा नहीं।

महाराष्ट्र के अग्रगण्य समाज-सुधारकों में गोपाल गणेश आगरकर का नाम महत्वपूर्ण है। समाज-सुधार क्षेत्रों में इनका प्रथम परिचय राष्ट्रीय नेता चिपलूणकर तथा तिलक के साथ हुआ। तिलक के साथ राष्ट्रीय शिक्षा के विकास में उनका विशेष योगदान है। इनके प्रयत्नों से महिलाओं के लिए भी शिक्षण संस्थाओं की स्थापना की गई। वे महाराष्ट्र में समाज-सुधार भावना को विकसित करनेवाले व्यक्तिवादी तथा बुद्धि-प्रभाव्य वादी पुरुष थे। वे पहिले समाज-सुधारक थे, बाद में राष्ट्रीय वादी, जब कि तिलक पहिले राष्ट्रीय दल के संगठन कर्ता थे। इस प्रकार से यदि एक राजनीतिज्ञ तथा देशभक्त पंडित था तो दूसरा संस्कृति का सुधारक।

महाराष्ट्रीय सामाजिक क्रान्ति के वीरों में ज्योतिबा फुले: (१८२७-१८९०) का नाम आदर के साथ लिया जाता है। वे नारी शिक्षा विकास के प्रबल समर्थक थे। उन्हीं के द्वारा १८४१ में पूना में बालिका-विद्यालय की स्थापना हुई। दो वर्षों में इस विद्यालय की दो शाखाएँ और खुल गईं। उन्होंने उच्च वर्गों में विधवा विवाह का प्रचार किया। अवैध संतान की जीवन रक्षा के लिए १८६४ में 'बाल-हत्या प्रतिबन्धक गृह' की स्थापना इन्हीं के द्वारा की गई। अपनी मान्यताओं को नैतिक आधार प्रदान करने के लिए उन्होंने १८७३ में 'सत्य शोधक समाज' की स्थापना की। महात्मा फुले मराठा समाज के उद्धारकर्ता माने गए हैं[2]। वे सच्चे अर्थों में मानवतावादी थे। आपकी धर्म की परिभाषा यही थी कि जो धर्म एक ही घर में बौद्ध धर्मी पत्नी, इस्लाम धर्मी कन्या एवं सार्वजनी सत्य धर्मी पुत्र आदि के परिवार को प्रेम से वर्ताव करने की सीख देगा वही वास्तविक धर्म है।

प्रथम कोटि के सुधारकों में, महाराष्ट्र को संस्कृत की महा पंडिता रामाबाई (१८५८-१९२२) के रूप में प्रथम महिला सुधारिका उत्पन्न करने का गौरव प्राप्त है। आपका अधिकांश जीवन कलकत्ता में ही बीता। वहाँ के समाज सुधार आन्दोलन का आप पर पूर्ण प्रभाव पड़ा। इन्होंने बाल-विवाह तथा विधवा-विवाह आदि विषयों पर व्याख्यान दिए तथा इन समस्याओं को लेकर अपने समाधान प्रस्तुत किए। अन्तर्जातीय विवाहों को मान्यता देने के लिए उन्होंने स्वयं विपिन विहारी मेधावी से अन्तर्जातीय विवाह किया। तत्कालीन महाराष्ट्रीय नेता रानाडे तथा भंडारकर ने इन्हें महिला-शिक्षा के विस्तार में सहायता प्रदान की। १८८३ में

१—काशी नाथ सोमण, वसन्तलाल मुरारका स्मृति ग्रंथ, पृष्ठ ५१२।
२—वही, पृष्ठ ५१७।

आप इंग्लैंड गई तथा वहाँ धर्म-परिवर्तन कर लिया। १८८७ में आपके द्वारा लिखित 'हाई कास्ट हिन्दू वीमन' पुस्तक प्रकाशित हुई। अमेरिका आवास काल में भारत विधवा-शिक्षण संस्था आरम्भ करने की आपकी कल्पना को प्रोत्साहन मिला। उसी के परिणामस्वरूप १८८९ में बम्बई में 'शारदा सदन' की स्थापना हुई। "शारदा सदन' का तिलक द्वारा तीव्र विरोध किया गया क्योंकि उनका विश्वास था कि उक्त संस्था बालिकाओं को ईसाइयत की राह पर ले जाती है। अतः इसका बहिष्कार होना चाहिए। फिर भी नारी होकर रामाबाई पंडिता ने सुधार क्षेत्र में जो अपूर्व साहस और उत्साह प्रदर्शित किया, इससे उनकी गणना प्रथम कोटि के समाज सुधारकों में होने लगती है।

पंजाब, उत्तर प्रदेश और दक्षिण में

पंजाब और उत्तर प्रदेश में नारी स्थिति के विकास का कार्य मुख्यतः आर्य-समाज के द्वारा ही सम्पादित किया गया। फिर भी इन प्रदेशों में सर गंगाराम (१८५१-१९२७) तथा लाला देवराज द्वारा नारी जागरण के प्रशंसनीय प्रयास हुए। समकालीन अन्य समाज सुधारकों की ही तरह सर गंगाराम ने भी विधवा-विवाह के प्रश्न को उठाया। उन्होंने अपने धन का सदुपयोग इन विधवाओं के उद्धार-कार्य में ही किया। सम्पूर्ण विधवाओं के चार भिन्न-भिन्न श्रेणियों में विभाजित करके उन्होंने उनकी समस्याओं के निवारण के लिए 'सर गंगारामट्रस्ट सोसाइटी' की स्थापना की। लाहौर में उनके द्वारा 'औद्योगिक शाला' प्रस्थापित की गई, वहाँ विधवाओं को शिक्षिका बनने के लिए प्रशिक्षित किया जाता था। साथ ही सिलाई, कटाई, बुनाई की भी शिक्षा दी जाती थी। उन्होंने अपने ही नाम पर एक बालिका विद्यालय की स्थापना करके पंजाब में स्त्री शिक्षा का विकास किया।

लाला देवराज का नाम नारी शिक्षा के प्रसार के साथ सम्बद्ध है। इस विषय में उन्होंने आर्यसमाज के एक अधिवेशन में कहा था—'मैं कन्या विद्यालय के काम को कोलम्बस के काम से उपमा दूँगा। अन्तर केवल इतना है कि कोलम्बस ढाई वर्ष की मेहनत के बाद पाताल देश के तट पर पहुँच गया। मगर विद्यालय के कार्यकर्ताओं को २० वर्ष के अर्से के बाद अभी सिर्फ किनारा नजर आने लगा है।..........लडकियों के लिए औद्योगिक शाला की आवश्यकता है। जिल्द-साजी, घड़ी साजी के काम लड़कियाँ घर बैठे कर सकती हैं। कन्याओं को विदेश भेजकर विद्यालाभ कराने के लिए 'विदेश यात्रा फण्ड' कायम करने की ज़रूरत है.........स्त्री प्रचारिकाएँ भी पैदा करनी हैं'[1]। देवराज जी द्वारा स्थापित महा-विद्यालय में बालिकाओं में अतीत के प्रति श्रद्धा भावना तथा भविष्य के प्रति आशा

१—सत्यदेव विद्यालंकार, वसन्तलाल मुरारका स्मृति ग्रन्थ, पृष्ठ ३८३।

उत्पन्न करने का पूर्ण ध्यान रखा जाता था। वे पहिले व्यक्ति थे, जिन्होंने कन्याओं के लिए छात्रावास की व्यवस्था की।

१९वीं शती के बम्बई प्रदेश के समाज सुधारकों में काशीनाथ त्रिम्बक तैलंग (१८५०-१८९३) का नाम नारी शिक्षा के प्रचार तथा पुनर्विवाह के समर्थकों के रूप में उल्लेखनीय है। 'सम्मोग सहमति आयु बिल' पर इन्होंने भी चर्चा की थी। काशी नाथ को 'हिन्दू लॉ' का पूर्ण ज्ञान था। उन्होंने वैधानिक रूप से नारी-स्थिति के उत्थान की बात कही। महिला जागृति का यह कार्य दक्षिण में के० वीरेसलिंगम पांतुलु (१८४८-१९१९) द्वारा सम्पन्न किया गया। वे बाल-विवाह तथा वेश्या-नृत्य के कट्टर विरोधी एवं बाल-विधवाओं के पुनर्विवाह के समर्थक थे। उनकी मान्यता थी कि देवदासी प्रथा के प्रचलन से उच्चतर सामाजिक आदर्श का ह्रास होता है। नारी के सामाजिक अस्तित्व की प्रतिष्ठा पर उन्हें पूर्ण आस्था थी। उनके सुधार कार्य प्रार्थना समाज से सम्बद्ध थे।

मुस्लिम सुधारक

अंग्रेजी राज्य के प्रारम्भिक वर्षों में पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव, केवल हिन्दुओं पर ही पड़ा और उन्होंने ही सामाजिक सुधारों की ओर अपना ध्यान आकृष्ट किया। आरम्भ में मुसलमानों में अंग्रेजी तथा अंग्रेजी सभ्यता शिक्षा तथा संस्कृति के प्रति उदासीन एवं घृणात्मक भावना ही व्याप्त थी। वे उस प्रत्येक वस्तु का बहिष्कार करते थे, जिसका सम्बन्ध अंग्रेजों से होता था। सर सैयद अहमद खाँ (१८१७-१८९८) पहिले मुस्लिम थे जिन्होंने पाश्चात्य शिक्षा के महत्त्व को समझा। उन्होंने मुस्लिम समाज में अंग्रेजी शिक्षा तथा पाश्चात्य सभ्यता के प्रसार का प्रयत्न किया। इस क्षेत्र में उन्हें बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा[1]। हालांकि मुस्लिम समाज में नारी-अधिकारों की व्याख्या होने के कारण—सैद्धान्तिक दृष्टि से उनकी दशा हिन्दू नारी से उन्नत लगती थी। परन्तु उस समाज में पर्दा-प्रथा के प्रचलन से उसका सार्वजनिक जीवन समाप्त होकर, मानसिक विकास का मार्ग अवरुद्ध हो गया। सर सैयद भी, जो मुस्लिम समाज के दिशा-प्रवर्त्तक जाने जाते हैं, केवल महिलाओं को घर की चहारदीवारी के भीतर ही शिक्षा देने के पक्ष में थे, सार्वजनिक विद्यालयों में नहीं। बदरुद्दीन तयबजी (१८४४-१९०६) पहिले व्यक्ति थे, जिन्होंने पर्दा प्रथा का विरोध किया तथा नारी के अधिकाधिक अधिकारों की माँग की। इन्होंने ने नारी शिक्षा के प्रचार को बल प्रदान किया, उन्होंने बताया कि महिला का शिक्षित होना इसलिए आवश्यक है कि शिक्षित नारी द्वारा समस्त परिवार के बौद्धिक एवं नैतिक-स्तर का विकास होता है[2]। सैयद इमाम नारी

१—नाटेसन, प्रकाशक:, 'एमिनेन्ट मुसलमान्स' पृष्ठ २५।

२—वही पृष्ठ २५।

स्थिति के विकास को देशोन्नति एवं राष्ट्रीय प्रगति और जागरण का प्रतीक मानते थे उन्होंने पटना में 'जनाना स्कूल' की स्थापना की।

इस प्रकार उपर्युक्त समाज-सुधारकों के सतत् प्रयत्नों से भारतीय-समाज में नारी-जागृति का शंखनाद हुआ। नारी, अब जीवन को विकासोन्मुख करने की दिशा में प्रेरित हुई। उसे उस मनोभूमि की प्राप्ति हुई जिसमें आगे चल कर वह अपनी सर्वांगीण प्रगति का स्वप्न हरियाता हुआ देख सके।

खण्ड—३

सुधार-संस्थाएँ

पूर्व पंक्तियों में वर्णित समाज-सुधारकों की प्रेरणा से इस युग में कई समाज-सुधार-संस्थाओं की भी स्थापना हुई। इन सुधार-संस्थाओं ने नारी-स्थिति के उन्नयन का सामूहिक प्रयत्न किया तथा सुधारकों द्वारा प्रस्थापित नवीन जागृति की मान्यताओं के लोक-प्रचार कार्य को विकसित करने में योग दिया। इस काल में प्रायः सभी सुधार-संस्थाएँ इन्हीं समाज-सुधारकों के मस्तिष्क की खोज थीं। अपने सुधार-कार्य को आगे बढ़ाने के लिए ही राजा राम मोहन राय ने ब्रह्म-समाज, दयानन्द ने आर्य-समाज तथा रानाडे ने 'भारतीय परिषद' की स्थापना की। अगली पंक्तियों में हम इस काल की कुछ विशिष्ट सुधार-संस्थाओं के कार्य-क्रमों तथा उनकी उपलब्धि की विवेचना करेंगे।

आर्य-समाज

१८७५ में स्वामी दयानन्द द्वारा संस्थापित 'आर्य-समाज' समाज-सुधार-संस्थाओं में सबसे अधिक व्यापक एवं नारी-स्थिति को व्यावहारिक अर्थों में उन्नतिशील बनाने में सहायक हुआ है। नारी स्थिति सम्बन्धी दयानन्द के आदर्शों को व्यावहारिकता की मनोभूमि पर प्रतिष्ठित कर, आर्य-समाज ने नारी-जाति को सचमुच उपकृत किया। नारी-शिक्षा के विस्तार हेतु आर्य-समाज ने सम्पूर्ण राष्ट्र में अपनी शाखाओं-उपशाखाओं की स्थापना की। इस संस्था द्वारा वैदिक-शिक्षा की प्रतिष्ठा की गई। बालिकाओं के लिए गुरुकुलों की स्थापना हुई। उनके लिए संस्कृत, दर्शन तथा गृह-विज्ञान की शिक्षा आवश्यक एवं उपादेय समझी गई। विधवाश्रमों की स्थापना भी आर्य-समाज के कार्य-क्रमों में प्रमुख था। इस समाज ने भारतीय-नारी

को वैदिक पीठिका के आलोक में नई दीक्षा देने का प्रयत्न किया एवं उसकी स्थिति को सुधारने सम्बन्धी कार्यों को व्यावहारिक भावभूमि प्रदान की। आर्य-समाज का योगदान राष्ट्रीय भावनाओं के विस्तार एवं ईसाइयत तथा इस्लाम धर्म से हिन्दू-संस्कृति की रक्षा के क्षेत्र में बहुत महत्वपूर्ण है[1]। आर्य-समाज द्वारा प्रतिपादित वैधव्य जीवन की पवित्रता-सुरक्षा एवं सह-शिक्षा का विरोध आदि सिद्धांत भले ही आज के बौद्धिक युग में संकुचित मनोवृति एवं सीमित दृष्टिकोण के परिचायक हों, परन्तु तत्कालीन समाज में, विशेष रूप से उत्तरी-भारत में, इस संस्था द्वारा जिन सुधार कार्यों का आयोजन किया गया, उनकी महत्ता को सहज ही विलुप्त नहीं किया जा सकता।

भारतीय परिषद

इण्डियन नेशनल सोशल कान्फ्रेंस

भारतीय परिषद की स्थापना राष्ट्रीय स्तर पर सुधार कार्यों को विकसित करने के उद्देश्य से १८८७ में हुई थी। १८८५ में राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रथम अधिवेशन में रानाडे ने एक ऐसी संस्था की स्थापना पर विशेष बल दिया था, जो पूर्ण रूप से समाज-सुधार कार्यों से ही संबन्धित हो। १८८७ में मद्रास में हुए 'परिषद' के प्रथम अधिवेशन में रानाडे ने घोषणा की थी कि—

'The conference is intended to strengthen the hands of a local associations and to furnish informaticns to each association, to provide and caste and stimulate active interest by mutual sympathy and co-op:ration.'[2]

भारतीय परिषद के कार्यक्रमों में समाज-सुधार कोष का निर्माण, सुधार-विषयक सामाजिक व्याख्यान, स्थानीय-संस्थाओं की स्थापना, आंग्ल तथा प्रादेशिक भाषाओं में साहित्य-प्रकाशन एवं संस्थाओं का निबन्धन आदि विषय प्रमुख थे।

नारी-स्थिति विषयक सुधारों के अन्तर्गत परिषद ने बाल-विवाह का विरोध किया। बाधित वैधव्य की यातनाओं को लोगों के सम्मुख रखा, तथा नारी को उस असह्य वातावरण से मुक्ति दिलाने की दिशा में परिवर्तन किए। आर्य-समाज की भाँति शिक्षा-प्रचार क्षेत्र में भी परिषद का योग सराहनीय है। इस परिषद द्वारा

१—ए सर्वे ऑफ इण्डियन हिस्ट्री, पृष्ठ २६६।

२—नीरा देसाई द्वारा 'वीमन ऑफ माडर्न इण्डिया,' पृष्ठ १२४ पर उल्लिखित।

पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित लेखों, समारोहों में दिए गए भाषणों एवं अधिवेशनों में पारित प्रस्तावों द्वारा तत्कालीन नारी-स्थिति के दयनीय चित्र उपस्थित किए गए तथा लोगों को इस दिशा में सोचने की प्रेरणा प्रदान की गई कि नारी की महत्ता बीमार बच्चों को उत्पन्न करने तथा घरेलू वातावरण में सीमित रह सकने से कहीं अधिक है। अतः उसे अपने व्यक्तित्व के विकास का अवसर मिलना ही चाहिए। सुधार क्षेत्र में भारतीय परिषद का स्थान इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है कि यह राष्ट्रीय स्तर पर सुधार कार्यों की आयोजना करने वाली प्रथम संस्था थी। सम्पूर्ण भारत की सामाजिक समस्याओं के समाधान के लिए उसने पुरोगम प्रस्तुत किए तथा उन्हें व्यावहारिक रूप देने की चेष्ठा की। 'भारतीय परिषद' के सभी सुधारक रानाडे की ही भाँति पाश्चात्य शिक्षा एवं संस्कृति से प्रभावित थे। इसलिए गणतन्त्रात्मक भारतीय-समाज की रचना के लिए उन्होंने पश्चिमी उदार सिद्धान्तों का पक्ष समर्थन किया। परिषद के विषय में एक समय चन्दावरकर ने कहा था—

'All this (widow remarriage, education etc.) we may say in the language of Mr. Risley in the last cencus report is due to the influence to western ideas which through the agency of social conference and otherwise is gradually bringing a change of feeling among the upper classes and larger cities.'[1]

विद्यार्थी संघ

आर्य-समाज के पश्चात् नारी-शिक्षा के प्रचार में सबसे अधिक कार्य विद्यार्थी परिषद द्वारा सम्पन्न हुआ है। १८४८ में प्रोफेसर पैंडन की अध्यक्षता में संघ ने दो शाखाओं-मराठी ज्ञान प्रसारक सभा तथा गुजराती ज्ञान प्रसारक मंडली के रूप मेंअपना कार्य आरम्भ किया। प्रसारक मण्डली केवल पारसी-क्षेत्र तक ही सीमित थी। १८७२ में हिन्दू गुजराती जाति में महिला-शिक्षा के विस्तार के लिए 'बुद्धिवर्धक सभा' की स्थापना की गई। इन संस्थाओं ने समय-समय पर लेखों को प्रकाश में लाकर अथवा व्याख्यानों की आयोजना करके शिक्षा-प्रसार कार्य को आगे बढ़ाया। १८४६ में बहराम जी खुर्शीद गाँधी ने 'नारी-शिक्षा' पर एक निबन्ध पढ़ा। बुद्धिवर्धक हिन्दू सभा के तत्वाविधान में पहला व्याख्यान 'स्त्री-शिक्षा' पर हुआ। विद्यार्थी संघ द्वारा १८५१ तथा १८५४ में क्रमशः पायधुनी तथा फोर्ट में दो बालिका विद्यालयों की स्थापना हुई। १८५५ में 'मराठी बालिका पत्रिका' भी इसी संघ द्वारा प्रकाशित की गई। १८५६ में 'मराठी विद्यालय' में चिमाबाई नामक प्रथम अध्यापिका की नियुक्ति हुई। पहले १०-१२ वर्ष की अवस्था के पश्चात् बालिकाओं

१—नीरा देसाई द्वारा 'वीमन इन माडर्न इन्डिया,' पृष्ठ १२८ में उत्कथित।

को पाठशाला से उठा लिया जाता था। परन्तु १८८३ में यह आयु-सीमा हटा दी गई। १८८४ में 'गर्ल्स-वर्नाक्यूलर स्कूल' की स्थापना हुई। 'विद्यार्थी परिषद' के तत्त्वाधान में १८४३ से १८५१ के मध्य, 'महिलाओं की प्रारम्भिक शिक्षा' तथा 'भारत में बाल-विवाह से हानि' आदि विषयों पर व्याख्यान हुए। १८५५ तथा १८५६ के बीच, 'भारत में नारी-शिक्षा' और 'विधवा-पुनर्विवाह' पर व्याख्यान हुए। १८७०-७१ के अधिवेशन में दलपतराम जीवन राम ने 'महिलाओं के अधिकार' पर व्याख्यान देकर उनके अधिकार-क्षेत्र पर प्रकाश डाला। मराठी ज्ञान-प्रसारक सभा के तत्त्वाधान में १८४९-१८५१ के मध्य मुकुन्द राम दीक्षित ने 'नारी-शिक्षा' पर तथा बहराम जी खुर्शीद जी ने गुजराती ज्ञान-प्रसारक मण्डली के तत्त्वाधान में 'नारी-शिक्षा की आवश्यकता' पर भाषण दिए। उधर १८५४ से १८५६ के मध्य 'गुजराती हिन्दू सभा' के अधिवेशनों में मनसुख राम नरसी दास द्वारा 'शीघ्र विवाह से हानि' गंगादास केशवदास द्वारा 'विवाह', सोमनारायण नन्दनारायण द्वारा 'हिन्दू नारी की दशा', महीपत राम रूपराम द्वारा 'विवाह अर्थविद्या' तथा दलपतराम दयाभाई द्वारा 'मृत्यु होने पर महिलाओं में छाती पीटने की प्रथा' आदि विषयों पर भाषण हुए। इस प्रकार से विद्यार्थी संघ द्वारा तत्कालीन नारी-स्थिति की प्रायः सभी दिशाओं पर प्रकाश डाला गया तथा समाज में उनके प्रति जागृति उत्पन्न करने की चेष्टा की गई।

भारतीय महिलाओं की राष्ट्रीय परिषद

१८७५ में राष्ट्र परिषद महिला समाज की सामाजिक एवं नैतिक समृद्धि के उद्देश्य से संस्थापित हुई थी। इस परिषद की स्थापना में बम्बई की श्रीमती दोराब टाटा का विशेष सहयोग रहा। इसके द्वारा भी दूसरी संस्थाओं की भाँति ही नारी-शिक्षा पर बल दिया गया तथा महिला-समाज की जागृति के लिए वैधानिक रूप से अधिकार प्राप्त करने की बात कही गई। नारी की सामाजिक एवं आर्थिक स्वतन्त्रता विषयक कई प्रस्ताव पारित किए गये, तथा इस बात पर बल दिया गया कि स्त्री जाति को अपने चतुर्मुखी विकास के लिए अवसर प्राप्त होने चाहिएँ। महिला राष्ट्रीय परिषद स्तर पर सुधार कार्य सम्पन्न किए। बम्बई, बंगाल, नागपुर, दिल्ली तथा बर्मा तक में परिषद की शाखाएँ स्थापित की गई। महिलाओं की इस राष्ट्रीय परिषद के विषय में विशेष उल्लेखनीय यह है कि यह १९वीं शती की पहलीसंस्था थी, जिसकी स्थापना में एक महिला का विशेष योगदान रहा और जिसने पुनरुत्थान की बात न कह कर पाश्चात्य आलोक में प्रगतिशील मान्यताओं का अनुसरण किया।

ब्रह्म-समाज और प्रार्थना-समाज

नव-युगीन समाज सुधारकों के आदि पुरुष राजा राम मोहन राय ने अपने सिद्धान्तों को क्रियात्मक रूप देने के उद्देश्य से १८२८ में ब्रह्म-समाज की स्थापना

की थी। वास्तव में ब्रह्म-समाज ईसाई-धर्म के बढ़ते हुए प्रभाव के परिणामस्वरूप घबड़ाई हुई मनोवृति एवं हिन्दुत्व की रक्षा के प्रति किए गए प्रयत्नों का एक साकार रूप था। अतः ब्रह्म-समाज का रूप-निर्विवाद रूप से भारतीय था, और भारतीय परम्परा में कहें तो कह सकते हैं कि यह अद्वैतवादी हिन्दुओं की संस्था थी[१]। किन्तु इस समाज के संस्थापक मूल रूप में समाज-सुधारक थे अतः इस समाज द्वारा अन्य समाज सुधार सम्बन्धी कार्यों के साथ-साथ नारी-स्थिति का उत्थान सम्बन्धी कार्य भी सम्पन्न किया गया। राजा राम मोहन राय के सभी सिद्धान्तों को इस समाज द्वारा मुखर होने का अवसर मिला। उनकी मृत्यु के उपरांन्त समाज का कार्य-भार महर्षि देवेन्द्र नाथ के हाथों में चला गया। वे इसे धार्मिक संस्था ही बनाए रखना चाहते थे, जिसके लिए इसकी स्थापना की गई थी। अतः उनके काल में 'समाज' द्वारा समाज-सुधार की गति धीमी पड़ गई थी। परन्तु १८५७ में केशव चन्द्र के प्रवेश से 'समाज' को फिर जीवन प्राप्त हुआ। और पाश्चात्य सभ्यता के आलोक में सुधार-कार्य आगे बढ़ने लगा। केशव चन्द्र सेन के समय में 'समाज' ने अन्तर्जातीय विवाह का समर्थन किया, तथा सामाजिक क्रान्ति में पूर्ण उत्साह से भाग लिया। महर्षि देवेन्द्र नाथ और केशव चन्द्र सेन में सैद्धान्तिक मतभेद हो जाने से केशव चन्द्र का 'समाज' 'ब्रह्म-समाज' तथा देवेन्द्र नाथ का 'समाज' आदि 'ब्रह्म-समाज' कहलाया। 'आदि ब्रह्म-समाज' देवेन्द्र नाथ के विचारों के अनुकूल हिन्दू धर्म की संस्था बन कर रह गया। वैसे 'योरूपीय संस्कृति, धर्म और विचारधारा से अत्यधिक प्रभावित होने के कारण ही ब्रह्म-समाज सदैव ही थोड़े लोगों की संस्था रहा। जिनमें धन या विद्या का प्राचुर्य था वे ही इस में रहे। बंगाल की साधारण जनता ने इसे कोई प्रश्रय नहीं दिया। फिर भी ब्रह्म-समाज आन्दोलन भारतीय संस्कृति के महान् आन्दोलनों में से एक है क्योंकि योरुप से आने वाले बहुत से विचारों ने आरम्भ में ब्रह्म-समाज से ही हिन्दू धर्म में प्रवेश किया।' इसके माध्यम 'भारतवर्ष योरुप के साथ अपना समन्वय खोज रहा था[२]।' इस प्रकार भारत के अग्रगण्य नेता भारतीय उन्नति के लिए पश्चिम से प्रेरणा ग्रहण कर रहे थे। इसके विपरीत आर्य-समाज ने लोगों में आत्म-विश्वास, आत्म-निर्भरता तथा आत्म-ज्ञान की भावना पर विशेष बल दिया एवं हिन्दू-संस्कृति की पृष्ठभूमि में वैदिक युग की पुनर्स्थापना करनी चाही। श्री L. L. S. O. Malley ने अपनी पुस्तक 'Modern India and the West' (पृष्ठ ६८०) में दोनों संस्थाओं की तुलना करते हुए लिखा है—

'Brahmo Samaj arose out of admiration of Chris-

१—रामधारी सिंह 'दिनकर' : संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ ४५१।

२—वही, पृष्ठ ४५५।

tianity, whereas Arya Smaj frankly and avowedly antagonistic to Christianity.'

बंगाल के ब्रह्म-समाज की ही भाँति बम्बई में १८६७ में प्रार्थना-समाज की स्थापना हुई। महर्षि देवेन्द्र नाथ के 'आदि ब्रह्म-समाज' की भाँति वैसे तो प्रार्थना-समाज भी धार्मिक हिन्दुओं की संस्था थी। परन्तु 'उदार धर्म भावना के परिणाम-स्वरूप सामाजिक सुधार की प्रेरणा भी स्वभावतः ही उसमें से उत्पन्न हो गई'। समाज-सुधार क्षेत्र में प्रार्थना-समाज ने 'बाल-विवाह प्रतिबन्धक सभा' की स्थापना की। अनमेल तथा वृद्ध-विवाह रोकने की व्यवस्था की। विधवा-विवाह को प्रोत्साहन दिया तथा स्त्री-शिक्षा के प्रचार तथा वेश्या-नृत्य निषेध आदि सामाजिक सुधार सम्पन्न किए।

क्रिस्तीन महिला संस्था : वाई. डबल्यू. सी. ए.

भारत में क्रिस्तीन महिला-संस्था की स्थापना १८७५ में हुई। इस संस्था का उद्देश्य भारत के समस्त धर्म एवं मतावलम्बियों में विश्वासी महिला वर्ग में विश्व-बंधुत्व की भावना का प्रचार करना है। इस संस्था के द्वारा ग्रीष्म शिविर एवं ग्रीष्म कक्षाएँ भी आयोजित की जाती हैं, जिनमें जीवन के सभी क्षेत्रों में उन्नतिशील बनने के लिए महिलाओं को प्रशिक्षित किया जाता है जिससे उनमें समाज-कल्याण की भावना विकसित हो। आज इस संस्था की शाखाएँ समस्त भारतवर्ष में हैं। भारतीय क्रिस्तीन महिला-संस्था अखिल विश्व क्रिस्तीन महिला-संस्था से सम्बद्ध है।

अन्य-संस्थाएँ

उपर्युक्त सुधार संस्थाओं के अतिरिक्त भी १९वीं शती में बहुत-सी अन्य-संस्थाओं की स्थापना हुई। जिनके द्वारा नारी-सम्बन्धी कुप्रथाओं के अन्त का प्रयास किया गया तथा नारी-जागृति की भावना को बल प्राप्त हुआ। १८९६ में पूना में महर्षि कर्वे द्वारा हिन्दू 'विधवाश्रम' की स्थापना की गई। इस आश्रम का उद्देश्य उन ऊँचे वर्ग की विधवाओं को, जिनमें पुनर्विवाह की प्रथा नहीं है, शिक्षा देना था, जिससे वे प्रतिष्ठापूर्वक अपनी जीविका उपार्जित कर सकें और शिक्षित भी हो जायें। 'विधवाश्रम' की प्रगति के कुछ समय उपरान्त हिंगणे नामक स्थान में 'नारी-शिक्षण संस्था' की स्थापना हुई, जहाँ बालिकाओं को सामान्य शिक्षा, विवाहित महिलाओं को गृह-शिक्षा एवं विधवाओं को प्रशिक्षित करने की व्यवस्था थी, जिससे वे आत्म-निर्भर बन सकें। सतारा आदि नगरों में भी इस संस्थाओं की शाखाएँ हैं। बम्बई प्रदेश में उपर्युक्त संस्था की भाँति 'दक्षिण-शिक्षा मण्डली' का नाम भी उल्लेखनीय है। इस संस्था की स्थापना से पूर्व १८८० में चिपलूणकर ने तिलक और

१—मटु भाई शू : बसन्त लाल मुरारका स्मृति ग्रन्थ, पृष्ठ ५३४।

आगरकर की सहायता से पौर्वात्य सिद्धान्तों पर आधारित 'न्यू इंग्लिश विद्यालय' आरम्भ किया था। बाद में इन सुधारकों ने मिल कर १८८४ में नारी-जाति में शिक्षा-प्रचार के उद्देश्य से उक्त संस्था की स्थापना की। उनका विश्वास था कि विद्याध्ययन के माध्यम से ही महिला जगत में जागृत उत्पन्न की जा सकती है। इन्हीं दिनों १८९५ में शोलापुर में निराश्रया नारी की सहायता के उद्देश्य से 'वासुदेव बाबाजी नवरंगी अनाथालय' की स्थापना की गई। इस अनाथालय में आई हुई असहाय महिलाओं को औद्योगिक प्रशिक्षण दिया जाता है जिससे वे आत्म निर्भर होकर जीवन यापन कर सकें। बम्बई के उपनगर विले पार्ले में भी इस संस्था की एक शाखा है।

बम्बई की भाँति गुजरात में भी बहुत-सी समाज-सुधार-संस्थाओं की स्थापना हुई। १९वीं शती के मध्यकाल में गुजरात का सामाजिक स्तर अंधविश्वासों, अशिक्षा तथा कुसंस्कारों के परिणामस्वरूप अधःपतित हो चुका था। सामाजिक स्तर के गिरने से महिला समाज की दशा भी शोचनीय थी। इस दिशा में १८४८ में स्थापित 'गुजरात वर्नाक्यूलर सोसाइटी' ने नारी-शिक्षा के विकास की भावना को बल देकर तत्कालीन गुजरात को वास्तविक अर्थों में उपकृत किया। इस संस्था के सदस्यों में दलपतराम, महीपत राम, लाल शंकर, उमिय शंकर आदि प्रमुख थे। सुधारकों द्वारा सह-शिक्षा के विकास पर भी बल दिया गया। साथ ही नारी-सम्बन्धी समस्याओं पर साहित्य प्रकाशित करने का श्रेय भी इसी संस्था को प्राप्त है। इन्होंने पुरस्कार भेंट आदि देकर महिला-शिक्षा को प्रोत्साहित किया। गुजराती समाज में इस संस्था द्वारा शिक्षा-प्रचार का कार्य विशेष रूप से सराहनीय है। निराश्रित महिलाओं को आश्रय देने तथा उनके भरण-पोषण का भार सँभालने के क्षेत्र में अहमदाबाद में १८९२ में स्थापित 'महीपतराम रूपराम अनाथालय' की गणना तत्कालीन प्रमुख सुधार संस्थाओं में की जाती है। इसमें कुमारियों, विवाहितों एवं विधवाओं के लिए प्रश्रय, शिक्षा और प्रशिक्षण की व्यवस्था है। १८९७ में 'रामकृष्ण मिशन' की स्थापना वेदान्तवादी विचारधारा के प्रचार, जाति-पाँति कुप्रथा के विनाश तथा सामाजिक सुधारों के प्रसार के दृष्टिकोण से की गई। महिला-सुधार क्षेत्र में मिशन द्वारा प्रसूति गृह, बालिका विद्यालय एवं औषधालय संचालित होते हैं। ग्राम्य-बालिकाओं में शिक्षा-प्रचार कार्य में इस मिशन का विशेष सहयोग रहा है, उपर्युक्त मिशन की मद्रास, कलकत्ता आदि प्रमुख नगरों में शाखाएँ भी हैं।

उपर्युक्त प्रदेशों की भाँति पश्चिमी बंगाल में भी १८८२ में 'निर्धनों की भगिनी' नामक संस्था की स्थापना हुई। इस संस्था द्वारा वृद्धाओं के भरण-पोषण की व्यवस्था एवं औषधिक सहायता की जाती है। कलकत्ता में दूसरी सुधारवादी संस्था 'कलकत्ता मुस्लिम अनाथालय' है जो १८९२ में स्थापित हुई। इस संस्था

द्वारा लिंग, जाति एवं धर्म के भेद-भाव बिना सभी को शिक्षा प्राप्ति का समान अवसर दिया जाता है। इसमें अपहृरित महिलाओं को आश्रय देने की व्यवस्था भी है। महिलाओं में शिक्षा-प्रचार के लिए १८९५ में स्थापित 'शारदेश्वरी आश्रम एवं निःशुल्क कन्या विद्यालय' का नाम भी उल्लेखनीय है। इसके तत्त्वावधान में विधवाओं के लिए धार्मिक व्याख्यानों की आयोजना होती है। नवद्वीप (कलकत्ता) तथा गिरिदिहड्ग (विहार) में इस आश्रम की शाखाओं द्वारा सुधार कार्य सम्पन्न होता है।

पंजाब में समाज सुधार कार्य प्रायः आर्य-समाज द्वारा ही सम्पन्न किया गया। १८७७ में फिरोजपुर में 'आर्य-समाज अनाथालय' की स्थापना हुई। इसमें निराश्रित महिलाओं को औद्योगिक प्रशिक्षण दिया जाता है। बालिकाओं के लिए उच्चतर माध्यमिक शिक्षा की व्यवस्था है। १८५४ में स्थापित 'संत जोसफ अनाथालय' द्वारा मद्रास में किया हुआ कार्य भी सुधारवादी दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण है। वृद्ध नारियों का भरण-पोषण, अविवाहिता माताओं को शरण तथा निर्बलों की सहायता इस संस्था का लक्ष्य है। इस अनाथालय में शिक्षा की भी व्यवस्था है। बालिकाओं को औद्योगिक प्रशिक्षण दिया जाता है। साथ ही पशु-पालन एवं गृह-उद्योगों की शिक्षा भी दी जाती है। दक्षिण में नारी-सुधार सम्बन्धी पहली संस्था होने के नाते सुधार-संस्थाओं में कैथोलिक मिशनरी द्वारा स्थापित इस संस्था का स्थान विशिष्ट है।

उपसंहार

१९वीं शती में नारी-स्थिति के क्रमागत विकास, समाज-सुधारकों एवं सुधार-संस्थाओं के उपर्युक्त अध्ययन और विवेचन के पश्चात् यह कहा जा सकता है कि इस युग में सुधारवादी एवं पुनरुत्थानवादी दोनों प्रकार के समाज-सुधारकों ने नारी-समाज की परम्परागत दयनीय स्थिति का विरोध करके उसके लिए उच्चतर सामाजिक जीवन की प्रतिष्ठा करनी चाही। वैदिक काल के पश्चात् पहली बार नारी को सम्मानपूर्ण स्थिति का अवकाश देकर समान भाव-भूमि पर अपने व्यक्तित्व का विकास करने का सुयोग इसी काल में पुरुष समाज द्वारा प्रदान किया गया। स्वामी दयानन्द को छोड़कर प्रायः अन्य सभी समाज-सुधारों की प्रतिष्ठा करना चाहते थे। पाश्चात्य मान्यताओं पर आधारित राजा राम मोहन राय का 'ब्रह्म-समाज' तथा महादेव गोविंद रानाडे की 'सामाजिक परिषद' तत्कालीन नारी-सुधार-

संस्थाओं में प्रमुख थीं। इस काल में आरम्भिक सुधारकों ने नारी-स्थिति के विकास की दिशा में प्रयत्न करने के बदले तत्कालीन समाज में व्याप्त कुप्रथाओं का अन्त करने की चेष्टा की। इस सम्बन्ध में राजा राम मोहन राय द्वारा सती-प्रथा का विरोध एवं विद्यासागर तथा मालावारी द्वारा पुर्नविवाह समर्थन विशेष रूप से उल्लेखनीय है। वैसे 'विद्यार्थी परिषद' द्वारा नारी-समाज में शिक्षा-प्रचार कार्य आरम्भ हो चुका था, परन्तु इस दिशा में राष्ट्रीय स्तर पर विशेष कार्य आर्य-समाज द्वारा सम्पन्न किया गया। बालिकाओं की शिक्षा के लिए गुरुकुल, निराश्रित विधवाओं के लिए अनाथाश्रम एवं आर्य-समाजी वैवाहिक पद्धति आर्य-समाज के नारी-स्थिति के उत्थान सम्बन्धी व्यावहारिक प्रयासों में प्रमुख हैं। स्वामी दयानन्द द्वारा ही पौराणिक परम्पराओं के नीचे दवे हुए वैदिक हिन्दुत्व की रक्षा की गई। 'जैसे राजनीतिक क्षेत्र में हमारी राष्ट्रीयता का सामरिक तेज पहिले-पहल तिलक में प्रकट हुआ था वैसे ही संस्कृति के क्षेत्र में भारत का आत्माभिमान स्वामी दयानन्द में निखरा'[1]। हिन्दुत्व और संस्कृति की रक्षा के परिणामस्वरूप दयानन्द द्वारा नारी जाति भी व्यावहारिक रूप से उपकृत हुई। विवेकानन्द ने भी नारी को सम्मान के शीर्ष पर आसीन किया है। बौद्धिक तर्कों से उन्होंने भी इस सत्य की प्रतिष्ठा की है कि नारी को पुरुष की भाँति व्यक्तित्व के विकास तथा सामाजिक जीवन की सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि के समान अवसर की प्राप्ति होनी चाहिए। उन्होंने भी महिला-समाज में शिक्षा-प्रचार के लिए आजन्म सेवारत ब्रह्मचारिणयों की नियुक्ति की, परन्तु उन्हें व्यावहारिक क्षेत्र में उतनी सफलता प्राप्त नहीं हो सकी, जितनी स्वामी दयानन्द को। क्योंकि दयानन्द की कार्य-प्रणाली आर्य-समाज के माध्यम से सुनिश्चित योजना के अनुसार व्यवहारित होती थी। आर्य-समाज के विषय में यह भी उल्लेखनीय है कि यह पहली पूर्ण भारतीय-संस्था थी। इसने कभी भी शासकों की सहायता की अपेक्षा नहीं की। नारी को शरीरिक विकास के क्षेत्र में प्रथम प्रोत्साहन इसी संस्था के द्वारा दिया गया। इसी 'समाज' ने वैदिक संस्कृति के आलोक में आधुनिक भारत के निर्माण के योग प्रदान किया। इस प्रकार से वैदिक धर्म की प्रतिष्ठा कर, पाश्चात्य संस्कृति को आँखें मूँद कर ग्रहण कर लेने की तत्कालीन मनोवृति पर इसी समाज द्वारा रोक लगाई गई।

इस काल के प्रायः सभी प्रमुख सुधारकों ने भिन्न-भिन्न संस्थाओं की स्थापना करके सुधार कार्य को आगे बढ़ाया। उनका विश्वास था कि रूढ़िगत परम्पराओं का मूलोच्छेदन करने में व्यक्तिगत प्रयासों की अपेक्षा संस्थागत और सामूहिक प्रयत्न अधिक लाभकारी सिद्ध हो सकते हैं। इन सभी सुधारकों द्वारा नारी-जागरण की भावना को बल मिलता रहा। राम मोहन राय से लेकर बहराम जी

१—दिनकर : संस्कृति के चार अध्याय।

मालावारी तक सती-प्रथा, वाल-विववाह, वाधित-वैधव्य आदि कुप्रथाओं का विरोध किया गया। गुजराती सुधारकों ने साहित्य के माध्यम से सुधार भावना को मुखरित किया। दयानन्द ने नारी-शिक्षा के विकास पर वल दिया और रानाडे ने नारी-जागृति के इस नवोदित आन्दोलन को राष्ट्रीय स्वरूप प्रदान किया। इस प्रकार से नारी-सुधार भावना के प्रासाद का दृढ़ शिलान्यास १९वीं शती की समाज-सुधार क्षेत्र में महान् उपलब्धि है।

नारी-स्थिति के उत्थान क्षेत्र की इन उपलब्धियों के साथ-साथ १९वीं शती के इस क्रान्ति काल में कुछ न्यूनताएँ भी शेप रह गई जिनका विवेचन भी आवश्यक हो जाता है। इस काल के सुधारकों ने मुख्यतया परम्परागत कुप्रथाओं को मिटाने की ही चेष्टा की। अधिकार प्राप्ति के नवीन क्षितिजों का स्पर्श इस काल में नहीं के वरावर किया गया। रामावाई पंडिता के अतिरिक्त किसी भी महिला ने सुधार आन्दोलन में सक्रिय भाग नहीं लिया। वाणी एवं विचारशून्य तत्कालीन नारी अशिक्षिता होने के कारण स्वयं कोई लक्ष्य निर्धारित कर सकने में असमर्थ रही। केवल पुरुष वर्ग द्वारा ही यह कार्य सम्पन्न किया गया। परिणामस्वरूप नारी को सम्मानपूर्ण स्थिति प्रदान करने के वदले उसके प्रति करुणा और दया की भावना ही अधिक व्यक्त हुई। सुधार कार्य भी केवल उच्च वर्गीय तथा उच्च मध्य वर्गीय नारी-समाज तक ही सीमित रहा। ग्रामीण एवं निम्न वर्गीय महिला-समाज इन सुधारों से किसी प्रकार की प्रेरणा ग्रहण नहीं कर सका। इस रूप में समाज-सुधार की इस योजना को एकांगी कहा जा सकता है। दूसरे, वेश्या-वर्ग, देवदासी समाज तथा विस्तृत अनैतिक व्यापार की ओर इस काल के सुधारकों का ध्यान आकृष्ट नहीं हुआ और वे केवल सती-प्रथा, वाल-विवाह एवं विधवा-विवाह और इससे आगे शिक्षा-प्रचार कार्य तक ही सीमित रहे।

इसके साथ-साथ ही विशेप वात यह भी हुई कि वहुत से प्रमुख सुधारक स्वयं प्रतिष्ठित सुधारकों को मान कर नहीं चल सके। वाल-विवाह के विरोधी रानाडे ने ९ वर्ष की वालिका से विवाह किया[1]। विधवा-विवाह के समर्थक दुर्गा राम मेहता ने अपनी पूर्व पत्नी की मृत्यु के वाद एक कन्या से विवाह किया[2]। ब्रह्म-समाज के स्तम्भ एवं वाल-विवाह के कट्टर विरोधी केशव चन्द्र सेन ने अपनी अल्प-वयस्क कन्या का विवाह कूच-विहार के अल्प-वयस्क राजकुमार से किया[3]। तथा वेश्या-नृत्य के विरोधी वीरेस-लिंगम् पांतुल अपने विवाह समारोह में वेश्या-नृत्य नहीं रोक सके। इन सव की पृष्ठ-भूमि में समाज भय की भावना प्रमुख थी। सुधारक स्वयं

१—नीरा देसाई : 'वीमन इन माडर्न इन्डिया,' पृष्ठ ७९।

२—वही पृष्ठ ९३।

३—दिनकर : संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ ४५४।

प्रस्थापित सुधारों को अपनाने में हिचकिचाते थे, क्योंकि अब भी समाज में कट्टर-पन्थियों की शक्ति क्षीण नहीं हुई थी। इन पुरातन पन्थियों से भयभीत ये समाज-सुधारक जो कुछ भी कर पाये उससे वे महिला क्रान्ति को उनका सम्मानपूर्ण स्वरूप अनुभव करा सकने में असमर्थ रहे। दूसरे 'आर्य-समाज' तथा 'सामाजिक परिषद' के अतिरिक्त दूसरी सुधारवादी संस्थाएँ केवल प्रादेशिक क्षेत्रों तक ही सीमित रहीं तथा बंगाल, बम्बई, महाराष्ट्र तथा गुजरात और पंजाब आदि कुछ विशिष्ट प्रदेशों में इस सुधार आन्दोलन का अधिक प्रभाव नहीं पड़ा। इसके अतिरिक्त कभी-कभी समाज-सुधारकों में परस्पर मतभेद भी हो जाता था। 'सम्भोग सहमति आयु विधेयक' को लेकर रानाडे और तिलक में मतभेद की खाई उत्पन्न हो गई थी। इस प्रकार प्रारम्भिक अवस्था में इस सुधार-क्रान्ति में कतिपय त्रुटियाँ रह गई थीं, जिनके कारण नारी के सम्पूर्ण व्यक्तित्व के विकास की भावना पूर्ण रूप से प्रसरित नहीं हो पाई। फिर भी १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में नारी-जाति को विकासोन्मुख करने की जो चेष्टा की गई, उसी भाव-भूमि पर आधारित २०वीं शती में उसके चतुर्मुखी विकसित व्यक्तित्व के प्रासाद का निर्माण हुआ।

प्रकरण—३

आधुनिक भारतीय समाज में नारी

: क्रमश :

उत्तर आधुनिक काल : विकासोन्मुख नारी-स्थिति
(१९०१ से १९५७ तक)

उत्तर-आधुनिक काल :

बीसवीं शती राष्ट्रीय उद्बोधन एवं प्रगति के साथ-साथ नारी-जागृति के दृष्टिकोण से भी बहुत महत्वपूर्ण है। १९वीं शताब्दी के दर्वे दशक के मध्य में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना से जनता में स्वाधिकार एवं स्वशासन के प्रति एक प्रकार की अधिकार भावना बद्धमूल हो रही थी। तात्कालिक राजनैतिक चेतना विभिन्न प्रकारों में मुखर होती हुई सामाजिक जीवन को भी प्रभावित करती चल रही थी। अतः इस नवीन व्यवस्था में नारी को भी राष्ट्रीय स्तर पर कार्य-क्षेत्र प्राप्त करने का अवसर मिला। अब तक उसमें शिक्षा का प्रचुर प्रचार हो चुका था। सामाजिक हीन-भावना को विनष्ट करने के लिए भाव-भूमि प्रस्तुत की और उदार पंथी सुधारकों के द्वारा समाज में कुप्रथाओं के प्रति एक उपेक्षापूर्ण भावना का निर्माण किया जा चुका था। अब केवल इस बात की अपेक्षा थी कि उसे एक सुनिश्चित दिशा देकर व्यावहारिक कार्य-क्षेत्र में प्रोत्साहित किया जाए। भारतीय राजनीति में महात्मा गाँधी के पदार्पण ने इस कार्य को पूरा किया। उन्होंने अपने आन्दोलनों में नारी-समाज को समान कार्य-क्षेत्र प्रदान किया। उसके संकोचशील व्यक्तित्व को विकास का अवसर देकर उसे भी पुरुष समाज की भाँति स्वतन्त्रता आन्दोलन में भाग लेने की आयोजना सर्व प्रथम उन्हीं के द्वारा सम्पन्न हुई। नारी ने भी विस्तृत वातावरण में अपनी स्थिति का अनुभव कर, अपने अधिकारों की शक्ति को पहचाना और पहली बार स्वयं अपनी प्रगति और विकास की दिशा में अग्रसर हुई। महिला-समाज की इस बौद्धिक जागृति के काल में देश की राष्ट्रीय भावना को बल मिला और समाज के एक निष्प्राण अंग में फिर से यौवन रेखा दौड़ गई। इस काल में नारी ने अपनी स्थिति को सुदृढ़ करने के लिए वैधानिक अधिकारों का भी आश्रय लिया। इसलिए इस काल में, इस दिशा में बहुत से वैधानिक सुधार किए गए जो उसे उच्चतर सामाजिक जीवन की स्वीकृति प्रदान करने में सहायक हुए। अगली पंक्तियों में हम तद्विषयक वैधानिक सुधारों एवं सामाजिक प्रगति की विवेचना करेंगे।

खण्ड—१

वैधानिक सुधार

(अ) विवाह-सम्बन्धी

इस काल में नारी-सम्बन्धी वैधानिक सुधार मुख्यतः विवाह, सम्बन्ध-विच्छेद, सम्पत्ति अधिकार तथा वेश्यावृत्ति को लेकर हुए. विवाह विषयक सुधारों का आरम्भ प्रादेशिक स्तर से होता है। १९०४ में सयाजी राव गायकवाड़ ने अपने राज्य में बाल-विवाह निरोधक कानून प्रचलित किया, जिसमें बाल-विवाह करने वाले संरक्षक को दण्ड देने का विधान था[1]। उन्हीं के द्वारा फिर १९१० में 'सिविल मैरिज कानून' बनाया गया,[2] जिसको सम्पन्न करने के लिए किसी भी धार्मिक-विवाह विधि की अनिवार्यता आवश्यक नहीं समझी गई। सन् १९२३ में पारित 'विशेष विवाह कानून' में भी संशोधन किया गया। इससे पूर्व इस कानून के अन्तर्गत विवाह करने वालों को यह घोषणा करनी पड़ती थी कि वे किसी धर्म या जाति पर विश्वास नहीं करते हैं। इस शोधन से उक्त संघोषणा के प्रतिबन्धों को हटा दिया गया। इसके उपरान्त १९२५ में सम्मति वय को वैवाहिक तथा अवैवाहिक सीमा रेखाओं में विभाजित कर, १२ वर्ष के बदले, क्रमशः १३ वर्ष और १४ वर्ष में बढ़ा दिया। १९२८ में श्री एम० एम० जोशी की अध्यक्षता में 'सम्मति वय समिति' नियुक्त की गई जिसने सम्मति वय को वैवाहिक और अवैवाहिक परिस्थितियों में क्रमशः १५ वर्ष और १८ वर्ष में बढ़ाने का सुझाव दिया। इसी बीच में १९२७ में श्री हर विलास सारदा द्वारा हिन्दू जाति में सम्मति आयु विषयक एक विधेयक विधान सभा में प्रस्तुत किया गया जिसमें कहा गया कि यह कानून हिन्दुओं के साथ-साथ सभी भारतीयों पर लागू होना चाहिए। एक दूसरी प्रवर समिति की नियुक्ति के बाद १९२९ में बाल-विवाह निरोधक कानून पास किया गया जिसके अनुसार बालक और बालिका की न्यूनतम-विवाह आयु क्रमशः १८ वर्ष और १४ वर्ष ठहराई गई।

१—सुमन्त मेहता : बसन्त लाल मुरारका स्मृति ग्रन्थ, पृष्ठ ४८१।

२—वही, पृष्ठ ४८३।

१८५६ में पारित 'विधवा-विवाह' कानून के अनुसार पुनर्विवाहिताओं की सम्पति विषयक कोई अधिकार प्राप्त नहीं होता था। इस दिशा में बम्बई प्रादेशिक समाज सुधार-संस्था ने १९३८ में उक्त कानून में संशोधन के निमित्त एक विधेयक प्रस्तुत किया, परन्तु उसका कोई सुपरिणाम नहीं निकला[1]। १९४२ में बड़ौदा सरकार ने पूर्व विवाह-सम्बन्ध को विच्छेद किए बिना दूसरा विवाह करने के अधिकार पर रोक लगाने सम्बन्धी कानून प्रचलित किया। १९४६ में बम्बई सरकार ने भी इस आशय का 'हिन्दू बहु-विवाह निरोधक कानून' लागू किया, जिसकी अविज्ञा करने पर ७ वर्ष के कारावास तथा आर्थिक दण्ड का विधान था। इसी वर्ष 'हिन्दू विवाह अयोग्यता निवारण कानून' के पारित हो जाने से समान गोत्रीय विवाहों को मान्यता प्राप्त हुई। इसके तीन वर्ष उपरान्त १९४९ में 'हिन्दू विवाह मान्यता कानून' के अन्तर्गत अन्तर्जातीय विवाहों के लिए अवसर प्रदान किया गया। १९५४ में 'विशेष विवाह कानून' पारित हुआ जिसके अनुसार अपने पहले पति या पत्नी से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाने अथवा उनकी मृत्यु हो जाने पर, स्त्री-पुरुष, यदि वे क्रमशः १८ वर्ष तथा २१ वर्ष की आयु के हैं, परस्पर विवाह-सम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं। महिलाओं को उच्चतर सामाजिक जीवन की स्वीकृति दिलाने के उद्देश्य से सरकार द्वारा १९४१ में श्री बी० एन० राव की अध्यक्षता में एक समिति बनाई गई थी जिसने उत्तरा-धिकार के सम्बन्ध में हिन्दू कानून के पुनर्निमाण का समर्थन किया था। सरकार द्वारा स्वीकृति इस सुझाव के परिणाम स्वरूप १९४२ में इस आशय का एक विधेयक व्यवस्थापिका सभा के सन्मुख प्रस्तुत किया गया। व्यवस्थापिका सभा में प्रवर समिति ने उतराधिकार सम्बन्धी कानून के साथ-साथ उक्त राव समिति द्वारा सम्पूर्ण हिन्दू कानून का मसविदा पुनः तैयार करने का सुझाव दिया। इसी सुझाव का परिणाम १९५७ का 'कोड बिल' था। जिसकी रूप-रेखा निर्माण करने में भारत के तत्कालीन विधि मन्त्री स्वर्गीय भीम राव अम्बेदकर ने बहुत प्रयत्न किया था। राव समिति द्वारा प्रस्तुत मसविदे पर १९४८ में संसद की प्रवर समिति ने विचार विनिमय के उपरान्त, उसमें परिवर्तन कर हिन्दू कोड बिल को हिन्दू विवाह विधेयक, हिन्दू उत्तराधिकार विधेयक, हिन्दू अल्पवयस्कता व संरक्षणता विधेयक तथा हिन्दू दत्तक ग्रहण और निर्वाह विधेयक के रूप में चार विभिन्न उप-विभागों में विभाजित करने तथा अधिनियम बनाने की बात का समर्थन किया। इसी के परिणाम स्वरूप 'हिन्दू विवाह विधेयक' १८ मई १९५५ को पारित होकर अधिनियम बन गया। इस अधिनियम द्वारा बहु-विवाह का निषेद तथा विशेद परिस्थितियों में सम्बन्ध विच्छेद की अनुमति प्रदान की गई। इस अधिनियम के अनुसार एक विवाह की अनिवार्यता लागू हुई तथा इसके अन्तर्गत किए गये विवाहों के पंजीकरण की भी आवश्यकता नहीं समझी गई।

१—नीरा देसाई : 'वीमन इन माडर्न इन्डिया' पृष्ठ १६९-१७०।

(आ) सम्बन्ध विच्छेद सम्बन्धी

विवाह-सम्बन्धी वैधानिक सुधारों के साथ-साथ इस काल में सम्बन्ध-विच्छेद सम्बन्धी भी कुछ कानून पारित किए गये। इस प्रकार के कानूनों का आरम्भ १९३६ के 'पारसी विवाह एवं विच्छेद अधिनियम' से होता है, जिसके अनुसार विवाहोपरान्त एक वर्ष तक सम्भोग न करने, अस्वस्थ मस्तिष्क होने, विवाह से पूर्व पत्नी के गर्भवती होने तथा कारावास होने एवं पत्नी को वेश्यावृति के लिए विवश करने आदि परिस्थितियों में पारसीक जाति में सम्बन्ध विच्छेद किया जा सकता है। १९३७ में बड़ौदा राज्य में भी ७ वर्ष तक अज्ञात वास करने, धर्म परिवर्तन करने, क्रूर होने तथा मद्यप होने आदि कारणों से परस्पर सम्बन्ध-विच्छेद कर लेने सम्बन्धी कानून पास किया गया। इसी आशय का कानून मुसलमानों में भी प्रचलित है। मुस्लिम पति, बिना कारण दिए ही केवल तीन बार 'तलाक' शब्द का उच्चारण कर, अपनी पत्नी से सम्बन्ध विच्छेद कर सकता है¹। मुस्लिम पत्नी द्वारा अपने पति को तलाक देने सम्बन्धी दो प्रकार हैं, प्रथम न्यायालय के द्वारा तथा दूसरे स्वयं पति की अनुमति से। न्यायालय के द्वारा सम्बन्ध-विच्छेद की माँग करने सम्बन्धी नियम १९३९ में पारित 'मुस्लिम विवाह अधिनियम' के अनुसार व्यवहारित होते हैं। उपर्युक्त बड़ौदा के सम्बन्ध-विच्छेद संबंधी नियम के समानान्तर १९४७ में बम्बई में भी 'बम्बई हिन्दू सम्बन्ध विच्छेद अधिनियम' पारित हुआ, जिसके अनुसार हिन्दू नारी को सम्बन्ध-विच्छेद और पुनर्विवाह के क्षेत्र में अधिक अधिकारों की प्राप्ति हुई। हिन्दू, मुस्लिम और पारसीक लोगों की भाँति भारतीय ईसाई मतावलम्बी स्त्री-पुरुष भी १९५४ के 'विशेष विवाह अधिनियम' के अनुसार परस्पर सम्बन्ध-विच्छेद कर सकते हैं। ईसाई मतावलम्बियों के अतिरिक्त यह अधिनियम उन पर भी लागू होता है जो इस नियम के अन्तर्गत विवाहित हुए हैं। सम्बन्ध-विच्छेद सम्बन्धी इन नियमों की परम्परा में हिन्दू कोड बिल के अन्तर्गत १९५५ में पारित 'हिन्दू विवाह अधिनियम' विशेष उल्लेखनीय है। इसके अनुसार पति या पत्नी दूसरे व्यक्ति के व्यभिचारी होने, मत परिवर्तन करने, असाध्य रूप से पागल होने, संक्रामक अथवा असाध्य कुष्ठ रोग अथवा स्पर्श जन्य किसी भयंकर त्वचा रोग से पीड़ित होने, सन्यासी बन जाने, सात वर्ष तक जीवित रहने का समाचार न मिलने तथा न्यायालय द्वारा पृथक रहने का आदेश दिए जाने के उपरान्त दो वर्ष तक सहवास न होने पर परस्पर सम्बन्ध-विच्छेद कर सकते हैं²। इस अधिनियम के अनुसार पत्नी अपने बहु-विवाहित पति से भी सम्बन्ध-विच्छेद कर सकती है। सम्बन्ध विच्छेद-सम्बन्धी प्रार्थना पत्र विवाह की तिथि के तीन वर्ष बाद ही स्वीकार किया जाता है। किन्तु

१—नीरा देसाई : 'वीमन इन माडर्न इन्डिया,' पृष्ठ १३४।

२—क्षितीश कुमार विद्यालंकार : बसन्त लाल मुरारका स्मृति-ग्रन्थ पृष्ठ २११।

विशेप परिस्थितियों में उपर्युक्त तिथि से पूर्व भी न्यायालय प्राथी का प्रार्थना-पत्र स्वीकार कर सकता है।

(इ) सम्पति अधिकार सम्बन्धी

सन् १८७४ में 'विवाहित नारी सम्पति अविनियम' के अन्तर्गत नारी को जिस सम्पति अधिकार का आभास मात्र हुआ था, उसका विकास २०वीं शताब्दी में स्त्री-धन के अधिकार के अतिरिक्त भी अन्य वहुत-सी दिशाओं में हुआ। १९२५ में 'भारतीय उतराधिकार अविनियम' के अन्तर्गत ईसाई तथा पारसी महिलाओं को अपने पति की सम्पति में अधिकार प्राप्त हुआ। १९२७ में 'भारतीय परिमितता अधिनियम (संशोधित) के अनुसार मृत पति की सम्पति पर विधवा पत्नी का अधिकार वेध माना गया। १९२९ में 'हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम' व्यवहारित हुआ, जिसके अनुसार दादा अथवा चाचा अथवा मातुल के बाद पुत्र की पुत्री, पुत्री की पुत्री, वहिन तथा वहिन के पुत्र को सम्पति का उतराधिकारी माना गया।[1] सम्पति सम्बन्धी अधिकारों का विकास १९३३ में वड़ौदा राज्य में पारित अविनियम द्वारा भी किया गया। इसके अनुसार विधवा को मृत पति की सम्पत्ति पर पूर्ण अधिकार प्रदान किया गया। यदि वह स्वतन्त्र रहना चाहती है, तो उसे पुत्र के समान सम्पत्ति पर अधिकार था अन्यथा वह मृत पति की सम्पति का पुत्र के साथ-साथ रहकर भी उपभोग कर सकती थी। १२००० रु० तक की सम्पति पर विधवा के पूर्ण अविकार का मान्यता प्रदान की गई[2]। इसके उपरान्त १९३७ में 'हिन्दू महिला सम्पति अधिकार सम्वन्धी अधिनियम' के अन्तर्गत भी विधवा के सम्पति-अविकारों की व्याख्या की गई तथा १९४२ में वम्बई सरकार ने वम्वई प्रदेश में उपर्युक्त नियम के आलोक में कृपि-सम्बन्धी सम्पत्ति में भी नारी को अधिकार क्षेत्र प्रदान कर दिया। उपर्युक्त सम्पति सम्बन्धी अधिनियम नारी को अधिक अधिकार देने के क्षेत्र में दूसरे अविनियमों से विशिष्ठ हैं। इसके विपय में 'मायने' ने कहा है—

'Mitakshara widow succeed to the coparcenery interest of her husband in the partable property of the joint family and along with his male issue to his separate property and to enable a 'Dayabhaga' widow to succeed along with the male issue in all case.'[3]

१—रेणु चक्रवर्ती : 'वीमन ऑफ इन्डिया,' पृष्ठ ८५।

२—'सोशल रिफार्म एनुअल' १९३८, पृष्ठ ९९-१०२।

३—चन्द्रशेखर ऐय्यर द्वारा 'मायनेज ट्रीटाइज आन द हिन्दू ला एण्ड यूसेज' में पृष्ठ ६०३ पर उत्कथित।

नारी द्वारा सम्पत्ति अधिकार प्राप्त करने के क्षेत्र में सबसे महत्वपूर्ण और अन्तिम अधिनियम 'हिन्दू कोड बिल' के अन्तर्गत १७ जून १९५६ को पारित 'हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम' है। इस अधिनियम का उद्देश्य कन्याओं को उत्तराधिकार में सम्पत्ति प्राप्त करने का अधिकार देना तथा इस सम्बन्ध में स्त्री-पुरुष का भेदभाव हटा कर, प्रेम और स्नेह के आधार पर सम्पत्ति के उत्तराधिकारियों का क्रम तैयार करना है[1]। इस के अनुसार हिन्दू महिला द्वारा अधिकृत प्रत्येक प्रकार की सम्पति को दान में देने, बेचने अथवा उसे आगे उत्तराधिकार के रूप में देने का अधिकार केवल उसी का है। हां, पुत्र की विधवा पत्नी, पोते की विधवा पत्नी तथा भाई की विधवा पत्नी ने यदि उत्तराधिकारी की घोषणा के समय या उससे पूर्व पुनर्विवाह कर लिया हो तो वे उत्तराधिकार के अधिकारी नहीं रह जाते। इस अधिनियम के अन्तर्गत नारी को सम्पत्ति सम्बन्धी वे सभी अधिकार प्राप्त हैं जो कि पुरुष को। और इस प्रकार से इस अधिनियम द्वारा नारी वर्ग के सम्पत्ति अधिकार सम्बन्धी-दीर्घकाल से उपेक्षित इस पक्ष को प्रबल समर्थन प्रदान किया गया है।

(ई) वेश्यावृत्ति निवारण सम्बन्धी

वेश्यावृत्ति निवारण सम्बन्धी प्रयास जैसा कि द्वितीय अध्याय में कहा जा चुका है, १९वीं शती के सुधारकों द्वारा नहीं के बराबर किया गया। परन्तु २०वीं शती में इस वृत्ति के भयानक दुष्परिणामों की ओर सरकार का ध्यान आकृष्ट हुआ और महिलाओं को अनैतिक आचरण से मुक्ति दिलाने के उद्देश्य से भिन्न-भिन्न राज्यों में समय-समय पर इस वृत्ति से सम्बन्धित कानून लागू हुए। इस दिशा में सर्व-प्रथम प्रयास बम्बई सरकार द्वारा 'बम्बई वेश्यावृत्ति निरोधक कानून' (१९२३) लागू करके किया गया। इसके उपरान्त मद्रास (१९३०), उत्तर प्रदेश (१९३३), बंगाल (१९३३), जम्मू काश्मीर (१९३४), पंजाब (१९३५), मैसूर (१९३६), बिहार (१९३८), पटियाला (१९४८), त्रावणकोर-कोचीन (१९५२), सौराष्ट्र (१९५२), हैदराबाद (१९५२), मध्य-प्रदेश (१९५३) तथा अजमेर (१९५३) में भी अनैतिक व्यापार निरोध कानून लागू किए गए। इन कानूनों को प्रचलित करके वेश्यावृत्ति पर आयु सीमा का बन्धन लगा दिया गया। भिन्न-भिन्न राज्यों में यह आयु-सीमा अलग-अलग रखी गई। उपर्युक्त अधिनियमों के अतिरिक्त भी कुछ विशेष प्रकार के कानून लागू किए गये। जिनमें बम्बई का देवदासी कानून (१९३४) तथा मद्रास का देवदासी कानून (१९४७) प्रमुख हैं। इन अधिनियमों के अनुसार इन राज्यों में बालिकाओं के कौमार्य को देवार्पित करके देवदासी बनाने की प्रथा अवैधानिक घोषित की गई। मद्रास में १९५० में अनैतिक व्यापार निरोधक सम्बन्धी जो कानून लागू हुआ था वही नियम आन्ध्र में भी प्रचलित है, तथा इसी

१—क्षितीश कुमार विद्यालंकार : बसन्त लाल मुरारका स्मृति ग्रन्थ, पृष्ठ २१३।

आशय का बंगाल का १९३३ में पारित अधिनियम दिल्ली में। इससे पूर्व १९२९ में उत्तर-प्रदेश में 'यू० पी० नामक बालिका कानून' पारित हुआ था जिसके अनुसार १८ वर्ष की अवस्था से पूर्व कोई भी बालिका वेश्यावृत्ति नहीं अपना सकती है। इसी वर्ष 'उत्तर-प्रदेश अल्प-वयस्क बालिका रक्षा कानून' भी पारित किया गया, जिसमें अल्प वयस्क बालिका को वेश्यावृत्ति अपनाने के लिए विवश करने वाले व्यक्ति को कठोर रूप से दण्डित करने की व्यवस्था की गई है।

सम्बन्धित महिलाओं को वेश्यावृत्ति और अनैतिक व्यापार सम्बन्धी विभ्रष्ट चारित्रिक व्यवसायों से बचाने की दिशा में केन्द्रीय सरकार द्वारा निर्मित 'केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड' का प्रयास विशेष उल्लेखनीय है। इस बोर्ड द्वारा २४ दिसम्बर, १९५४ को श्रीमती धन्वन्ती रामा राव की अध्यक्षता में 'सामाजिक और नैतिक स्वास्थ्य परामर्श समिति' स्थापित की गई। इस समति द्वारा ३० सितम्बर १९५५ को प्रतिवेदन प्रस्तुत किया गया, जिसमें अन्य बातों के अतिरिक्त वेश्यावृत्ति तथा बालिकाओं के अनैतिक व्यापार का भी उल्लेख किया गया। इस समिति की सिफारिस के ही परिणाम स्वरूप १९५६ में भारतीय लोक सभा ने 'महिला तथा बालिकाओं का अनैतिक व्यापार निरोधक अधिनियम' पारित किया। इसके साथ ही वेश्यालयों को अवैधानिक घोपित करने सम्बन्धी कानून भी लागू किया गया। भारतीय दण्ड विधान (धारा ३६६, ३६६ अ, ३६६ ब, ३६२, ३७३, तथा ३७६) के अन्तर्गत बालिका से यौन-सम्बन्ध स्थापित करने, उसे वेश्यावृत्ति कराने तथा अपहरण करने या कराने सम्बन्धी आयु-सीमा तथा परिस्थितियों का स्पष्टीकरण भी किया गया है। इस प्रकार से १९वीं शताब्दी तक वेश्यावृत्ति सम्बन्धी जो उच्छृंखलता व्याप्त थी उसे व्यवस्थित, परिसीमित एवं विनष्ट करने के लिए २०वीं शती में उपर्युक्त सुधारों की प्रतिष्ठा की गई।

खण्ड—२

सर्वतोमुखी विकास

(अ) राष्ट्रीय जागृति

२०वीं शताब्दी में भारतीय नारी में राष्ट्रीय भावना का विकास उसको उच्चतर सामाजिक प्रतिष्ठा एवं उत्तरदायित्व देने में सहायक हुआ। इस शती के दूसरे दशक से ही उसमें राष्ट्रीय एवं राजनैतिक जागरण के परमाणु स्पष्ट दीखने लगे थे। उन्नीसवीं शती की नारी को २०वीं शती की नारी से इस भावना के विकास के परिणाम स्वरूप ही पृथक किया जा सकता है। जिस प्रकार से भारतीय समाज में राष्ट्रीय चेतना और राजनैतिक जागृति की पृष्ठभूमि में मिस्टर ह्यूम का योगदान महत्वपूर्ण है, उसी प्रकार भारतीय नारी समाज में भी विदेशी अंग्रेज महिला द्वारा ही राष्ट्रीय भावना प्रस्फुटित हुई। श्रीमती एनी बीसेंट ने १९१४ में भारतीय महिलाओं का ध्यान इस नवीन क्षेत्र की ओर आकर्षित किया, और फलस्वरूप वे भी स्वतन्त्रता प्राप्ति की दिशा में पुरुष समाज से सहकार कर, राष्ट्रीय कार्य-क्षेत्र में अग्रसर हुईं।

अपने राष्ट्रीय प्रेम तथा स्वतन्त्रता प्रियता के कारण ही श्रीमती एनी बीसेंट को १९१७ में भारतीय कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन की प्रथम महिला अध्यक्षा बनने का गौरव प्राप्त हुआ। इसी अधिवेशन में श्रीमती सरोजनी नायडू, बेगम अम्मन बीबी तथा श्रीमती शौकत अली को भी सामाजिक जीवन में आकर भारतीय महिलाओं का प्रतिनिधित्व करने का अवसर प्राप्त हुआ था। इसी वर्ष श्रीमती सरोजिनी नायडू तथा अन्य चौदह प्रमुख महिलाएँ शिक्षा, मातृ-सेवा तथा महिलाओं के मताधिकार के प्रश्न को लेकर श्री मान्टेग्यू से मद्रास में मिली थीं तथा उपर्युक्त विषयों पर वैधानिक रूप से नारी को अधिकार क्षेत्र प्रदान करने की बात पर विशेष बल दिया था। इसी मताधिकार के प्रश्न को लेकर सरोजिनी नायडू, एनी बीसेंट तथा हीरा बाई टाटा ने १९१९ में संयुक्त संसदीय समिति के सम्मुख महिलाओं के मताधिकार के प्रश्न को प्रस्तुत किया परन्तु १९१९ के अधिनियम में महिलाओं को उक्त अधिकार प्रदान नहीं किया गया। तब बम्बई में महिलाओं की

एक सभा आयोजित की गई तथा उनको मताधिकार न देने के निर्णय का विरोध किया गया। इस समय तक सरोजिनी नायडू भारतीय राजनीति में अपना विशिष्ठ स्थान बना चुकी थीं। १९२१-२२ में जब गाँधी जी ने असहयोग का शंखनाद किया, तब भारतीय महिला में पहली बार सम्मिलित रूप से राष्ट्रीय हित-कार्य में भाग लिया और कारावास की यातनाएँ सहीं। राष्ट्रीय जागृति में भाग लेने वाली इन राष्ट्र-सेवी महिलाओं ने मद्य-निषेध के लिए दूकानों पर धरना दिया, विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार किया एवं सहयोगी के प्रचार में विशेष सहयोग दिया। इस दिशा में गान्धी जी प्रथम व्यक्ति और सुधारक थे जिन्होंने नारी शक्ति का उचित उपयोग कर उन्हें राष्ट्रीय हितों एवं राष्ट्रीय सेवाओं के लिए उन्मुख किया। महिलाओं द्वारा १९१७ में मताधिकार प्राप्त करने के लिए किया गया प्रयत्न १९२१ में फलीभूत हुआ और बम्बई तथा मद्रास में नारी को मताधिकार की प्राप्ति हुई। इसके उपरान्त दूसरे देशों ने भी नारी को मताधिकार की मान्यता प्रदान की। फलतः १९२३ में उत्तर-प्रदेश तथा केन्द्रीय व्यवस्था में नारी को मताधिकार प्राप्त हुआ। १९२५ में बंगाल, १९२६ में पंजाब, १९२७ में मध्य-प्रदेश, तथा १९२८ में बिहार राज्य में भी महिलाओं को मताधिकार प्रदान किया गया।

१९२७ में एनी बीसेंट ने सर तेज़ बहादुर सप्रू के साथ नारी को सामाजिक मान्यता दिलाने के उद्देश्य से 'कामनवेल्थ आॅफ इन्डिया बिल' का स्वरूप निर्धारित किया, तथा इस पर चर्चा करने के लिए 'भारतीय महिला परिषद' ने अपना एक प्रतिनिधि भेजा जो पुरुष के समान नारी के अधिकारों एवं कर्तव्यों का पक्ष समर्थन कर सके[1]। इस प्रकार राष्ट्रीय जागृति के साथ-साथ वह सामाजिक मान्यता प्राप्त करने की दिशा में विशेष प्रयत्नशील रही। १९२८ में पहली बार भारतीय महिला श्रीमती सरोजिनी नायडू को भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशन में अध्यक्षा पद ग्रहण करने का गौरव प्राप्त हुआ। इस समय तक महिला-समाज में राजनीति के प्रति एक आकर्षण-भावना का विकास हो चला था और पूर्ण उत्साह से उसमें भाग लेने लगी थीं। १९२८ में अखिल भारतीय राजनैतिक स्वतन्त्रता में भाग लेने सम्बन्धी विषय पर विचार-विमर्श किया गया तथा १९२९ की प्रथम गोलमेज़ सभा में 'महिलाओं की भारतीय परिषद' की प्रतिनिधि बेगम शाहनवाज़ तथा श्रीमती सुब्बरमन ने निर्वाचनों में अधिक-से-अधिक महिलाओं को मताधिकार देने सम्बन्धी मन्तव्य का समर्थन किया तथा यह सुझाव दिया कि उन विधवाओं को जो अपने मृत पति की सम्पति की अधिकारणी हैं, मताधिकार प्रदान किया जाये[2]। इसी समय १९२९-३० में भारत में अवज्ञा-आन्दोलन के आरम्भ हो जाने पर भारतीय नारी

१—फ्रेंक मोरिस : वीमन आॅफ इन्डिया, पृष्ठ ९५।
२—वही, पृष्ठ ९६।

ने पुरुषों के साथ साथ इसमें भाग लेकर इसे बल प्रदान किया। १९३० में विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार सम्बन्धी आन्दोलन में अकेले महिला सत्याग्रहियों की संख्या १७००० थी। इसी वर्ष सरोजिनी नायडू ने नमक सत्याग्रह आन्दोलन का नेतृत्व कर महिलाओं में नेतृत्व भावना का विकास किया। नारी को राजनैतिक कार्यों सम्बन्धी प्रशिक्षण देने के लिए १९३१ में सेवा दल शिविर की स्थापना की गई। इसी वर्ष महिलाओं को केन्द्रीय सरकार के निर्वाचनों में खड़े होने का अधिकार भी प्राप्त हो गया। सत्याग्रह और असहयोग आन्दोलनों को शक्ति क्षीण करने तथा विकास शील राष्ट्रीय भावना को हतोत्साहित करने में विदेशी सरकार ने महिलाओं पर भी अमानुषिक अत्याचार किए। १९३२ में जवाहर लाल नेहरू की माता तथा पत्नी को सरकारी यन्त्रणा का भागी होना पड़ा, जिसके परिणाम स्वरूप महिला-समाज में विदेशी सरकार के प्रति एक प्रतिशोधात्मक भावना व्याप्त हो गई, और वे और भी अधिक सक्रियतापूर्वक आन्दोलनों में भाग लेकर राष्ट्रीय संगठन को दृढ़ से दृढ़तर बनाने लगीं। नारी के निरन्तर प्रयास एवं अविचलित उत्साह के परिणाम स्वरूप १९३५ में नए अधिनियम में उसके मताधिकार की व्याख्या की गई तथा उसको पुरुष के समान राजनैतिक अधिकार प्रदान किए जाने की दिशा में सफल प्रयत्न किए गये। इसी के परिणाम स्वरूप १९३६ के निर्वाचनों में श्रीमती अनुसूया बाई तथा श्रीमती सिवाई नानाजी क्रमशः नागपुर तथा छिन्दवाड़ा से निर्वाचित हुईं और इस प्रकार से उनको भी राष्ट्रीय स्तर पर महिला-समाज का प्रतिनिधि बनने का अवसर प्राप्त हुआ। इसी वर्ष श्रीमती रुक्मिणी लक्ष्मीपति मद्रास मंत्रि-मण्डल की सदस्या बनी तथा १९३७ में श्रीमती ज्योति वेंकटचलम को गवर्नमेण्टसरकार के मंत्रि-मण्डल में स्थान प्राप्त हुआ।

१९४२ में 'भारत छोड़ो' आन्दोलन में भारतीय महिला ने गाँधी जी के नेतृत्व में जिस अपूर्व पराक्रम का परिचय दिया, वह वास्तव में सराहनीय है। गाँधी जी का अहिंसा आन्दोलन बहुत अंशों में महिला-प्रवेश के कारण ही सफल हो गया। अरुणा आसफअली, विजय लक्ष्मी पंडित, सरोजिनी नायडू तथा कस्तूरबा आदि महान कर्म योगियों एवं राष्ट्रीय-सेविकाओं की निरन्तर कार्य-निष्ठा का ही परिणाम था कि यह आन्दोलन इतना सफल हो सका। इसी आन्दोलन के परिणाम स्वरूप बन्दिनी माँ कस्तूरबा का १९४४ में देहावसान हो गया, जिससे राष्ट्रीय आन्दोलन में और भी तीव्रता आ गई। इस वर्ष कमला देवी तथा विजय लक्ष्मी पंडित ने अमेरिका का भ्रमण किया, तथा वहाँ से लौटने पर भारतीय नारियों में राष्ट्रीय भावना का प्रचार किया। पुरुष वर्ग के साथ-साथ नारी समाज के अथक परिश्रम और त्यागों से १९४७ में भारत को स्वाधीनता प्राप्त हुई, और जब १९५०

१—'वीमन ऑफ इण्डिया,' पृष्ठ ७४।

में स्वतन्त्र भारत का संविधान कार्यान्वित किया गया तो उसमें पुरुष और स्त्री के बीच बिना किसी भेद-भाव के सभी को समान स्तर पर सामाजिक, राष्ट्रीय एवं राजनैतिक जीवन की स्वीकृति मिली। १९५२ और १९५७ में हुए निर्वाचनों में महिलाओं ने भी भाग लिया और विजयी हुईं। आज प्रान्तीय विधान सभाओं, लोक-सभा तथा राज्य-परिषद सभी स्थानों में महिलाओं को सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त हैं। १९५८ में इन्दिरा गाँधी द्वारा 'भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस' की अध्यक्षता प्राप्त कर लेने के परिणाम स्वरूप राजनैतिक क्षेत्र तथा राष्ट्रीय वातावरण में भारतीय महिला और भी गौरवान्वित हो गई हैं।

(आ) सामाजिक कुप्रथाओं का विनाश

२०वीं शती में महिला क्षेत्र में राष्ट्रीय भावना के विकास और उसके राज-नीति में पदार्पण के साथ-साथ १९वीं शती में आरम्भ हुई समाज-सुधार कार्यों की परम्परा भी बनी रही। १९०१ में 'भारतीय सामाजिक परिषद' के पन्द्रहवें अधि-वेशन में देश में बहु-विवाह प्रथा के कम होने तथा विवाह आयु बढ़ने पर संतोष प्रकट किया गया। अगले वर्ष १९०२ में उक्त परिषद द्वारा विवाह के अवसर पर होने वाले अपव्यय का विरोध किया गया। १९०९ में लाहौर में हुए २३वें अधिवेशन में उक्त परिषद ने पुनर्विवाह-आन्दोलन को पुनर्जीवित करने सम्बन्धी प्रस्ताव पारित किया जिसकी पुनरावृत्ति १९१९ में भी की गई[1]। १९२४ में बाल-विवाह तथा बहु-विवाह के विरुद्ध कार्यवाही करने सम्बन्धी बात केन्द्रीय विधान सभा के सम्मुख प्रस्तुत की गई। इसके उपरान्त १९३१ में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने करांची अधिवेशन में महिलाओं को सार्वजनिक जीवन के सभी क्षेत्रों में समान अधिकार देने के विचार की घोषणा की[2]। हिन्दू-जाति में प्रचलित पर्दा-प्रथा के विरोध में भी इस काल में प्रदर्शन किए गये। १९४१ में 'महिलाओं की पर्दा विरोधी परिषद' के वार्षिक अधिवेशन में लगभग ५,००० मारवाड़ी महिलाओं ने कलकत्ता की सड़कों पर पर्दा विरोधी नारे लगाते हुए एक बड़ा जुलूस निकाला। महिलाओं को उच्चत्तर समान सम्मानित जीवन प्रदान करने के उद्देश्य से १९५५ में 'केन्द्रीय समाज कल्याण केन्द्र' ने वेश्याओं के जीवन, उनकी परिस्थितियों एवं समस्याओं का अध्ययन करने के उद्देश्य से एक समिति का निर्माण किया तथा उसके द्वारा दिए गये सुझावों के अनुरूप इस दीर्घकालीन अस्वस्थ एवं कलंकित वर्ग को स्वस्थ दिशा देने का प्रयास किया।

(इ) शिक्षा-प्रचार

महिला समाज की उपलब्धियों के प्रसंग में बीसवीं शती में शिक्षा क्षेत्र में

१—चन्द्रकला हाटे : 'हिन्दू वीमन एण्ड हर फ्यूचर,' पृष्ठ २७१।
२—मारगेरेट इ० कजिन्स : 'इण्डियन वीमनहुड टु डे,' पृष्ठ १७६।

हुए विकास क्रम का अवलोकन भी महत्वपूर्ण है। इस शताब्दी में सबसे पूर्व १९०४ में लार्ड कर्जन ने नारी-शिक्षा की ओर सरकार का ध्यान आकर्षित किया तथा शिक्षा-प्रचार के लिए बहुत से सुझाव भी प्रस्तुत किए। १९०७ में नारी-शिक्षा के प्रबल समर्थक तथा महिला सुधार-क्षेत्र के अग्रगण्य नेता महर्षि कर्वे ने महिला-महाविद्यालय की स्थापना की। उन्हीं के द्वारा १९१७ में बम्बई में एस. एन. डी. टी. विश्वविद्यालय की स्थापना की गई। १९१९ में इस संस्था से प्रथम छात्रा को स्नातिका की उपाधि मिली। १९१९ तथा १९२३ के मध्य बहुत से अन्य विश्व-विद्यालयों एवं महाविद्यालयों की स्थापना की गई, जिनमें छात्रों के समान छात्राओं को भी विद्याध्ययन का समान अवसर प्राप्त हुआ। महिलाओं को गृह-विज्ञान की शिक्षा देने के उद्देश्य से १९३२ के नवम्बर माह में 'लेडी इरविन होम साइंस कालेज' की स्थापना हुई। महिला-शिक्षा क्षेत्र में अधिक उन्नति १९३७ में कांग्रेस के मंत्रि-मण्डल बनने के समय से हुई। बालिकाओं तथा महिलाओं को शिक्षा देने के साथ-साथ इस वर्ष प्रौढ़ महिला वर्ग में भी शिक्षा प्रचार की चर्चा की गई। १९५२ में उच्चतर शिक्षा आयोग की नियुक्ति हुई जिसमें नारी-शिक्षा के विषय में भिन्न-भिन्न मत प्रकट किए गए। एक वर्ग नारी को केवल ऐसी शिक्षा देने के पक्ष में था जो गृह-कार्य संचालन में योग दे सके जब कि दूसरा वर्ग सार्वजनिक जीवन में भी नारी की उपयोगिता तथा आवश्यकता अनुभव कर, उसे पुरुष के समान शिक्षा देने के पक्ष में था[१]। इसके उपरान्त १९५६ में 'केन्द्रीय उपदेष्टी समिति' के अभिस्ताव पर केन्द्रीय शिक्षा मन्त्रालय ने राजकीय सरकारों को ग्राम्य-क्षेत्रों में महिला-शिक्षा प्रचार के लिए प्रयत्न करने की प्रार्थना की तथा इस विषय पर भी सुझाव प्रकट किए गये कि किस प्रकार नारी समाज को शिक्षण-क्षेत्र की ओर अधिकाधिक आकर्षित किया जाये।

(ई) सार्वजनिक प्रगति

आधुनिक भारतीय महिला समाज ने उपर्युक्त उपलब्धियों के साथ-साथ आज के सार्वजनिक जीवन में भी अपना महत्वपूर्ण स्थान बना लिया है। रंगमंच, संगीत, नृत्य, चित्रकला, साहित्य, खेल, सामाजिक सेवाएँ, व्यापार तथा राजकीय सेवाओं आदि सभी क्षेत्रों में उसे अपनी प्रतिभा-प्रदर्शन का अवसर मिला है। जीवन का कोई भी अंग आज उसके स्पर्श से शून्य नहीं है। सभी क्षेत्रों में प्रवेश कर, तथा अपनी कुशलता का परिचय देकर उसने यह सिद्ध कर दिया है कि नारी किसी भी क्षेत्र में

१—Muriel Wasi—'They urge that women should be given precisely the same education as men, so that they may compete with men on equal terms at schools and colleges, as in the profesions and services of the country.' 'Women of India,' Page 158.

पुरुष समाज से हीन नहीं है। अपने युग-युगों से अभिशप्त व्यक्तित्व को अपने परिश्रम, प्रतिभा एवं योग्यता की आभा से उसने इतना देदीप्यमान कर लिया है कि जिसका आलोक भविष्य में सदैव ही उसका पथ प्रशस्त करता रहेगा। उसने कभी भी विशेषाधिकारों की माँग नहीं की। सदैव ही समान अवसर एवं अधिकार प्राप्त करने के लिए वह प्रयत्नशील रही। अब स्वतन्त्र भारत के संविधान में प्रत्येक स्त्री-पुरुष को अपनी जीविका उपार्जन की समान स्वतन्त्रता है एवं समान कार्य के लिए समान वेतन का विधान है। यह विधान मात्र सैद्धान्तिक नहीं है अपित इसको व्यावहारिक भावभूमि पर भी सफलता के साथ प्रयुक्त किया जा चुका है।

आदिम जातियों में नारी

नागरी वातावरण में जीवन व्यतीत करने वाले महिला समाज की भाँति आदिम जातियों का महिला समाज भी इस प्रसंग में उल्लेखनीय है। नागरिक महिला की भाँति आदिम महिला के मन में भी स्नेह, ममत्व, आकांक्षा, भय, और ईर्ष्या जैसी भावनाएँ होती हैं। उसके हृदय में भी पति के प्रति असीम निष्ठा तथा गृहस्थी संचालन के प्रति पूर्ण कर्तव्य परायणता पाई जाती है। किन्तु इतनी समानता होते हुए भी वह नागरी महिला से बहुत-सी बातों में भिन्न है।

आदिम पुरुषों की भाँति निपट अशिक्षिता होने के कारण उसका बौद्धिक विकास उन दिशाओं में नहीं हो पाता, जो उच्चतर सामाजिक जीवन की प्राप्ति के लिए पथ-प्रशस्त करती हैं। परन्तु घर की चहारदीवारी के भीतर उसका पूर्ण अधिकार होता है। वह सही अर्थों में गृह-स्वामिनी होती है। अपनी बौद्धिक योग्यताओं-अयोग्यताओं को लेकर वह गृहस्थी का संचालन करती है तथा अपनी परम्पराओं के अनुकूल अधिकाधिक सुखी पारिवारिक जीवन की कल्पना में कार्य-रत रहती है। उसका कार्य-क्षेत्र केवल घर तक ही सीमित नहीं होता वरन् जीविकोपार्जन के लिए वह खेतों में काम करती है, लकड़ी और घास काटती है तथा कभी-कभी अपने पति के साथ आखेट में भी भाग लेती है। उसे पुरुष समाज की ओर से सम्मान भावना तथा स्वतन्त्रा मिली होती है। वह पुरुषों से बात-चीत कर सकती है, हँस-बोल सकती है तथा परिहास भी कर सकती है। उन्मुक्त वातावरण में उसकी परम्पराओं और अपने समाज में उसे प्रतिष्ठा प्राप्त होती है।

असम प्रदेश की आदिमजातियों में नारी का जीवन बहुत कठोर होता है। वहाँ के पुरुषों के सदैव युद्ध रत रहने के कारण वाह्य तथा आन्तरिक सभी प्रकार के कार्य नारी को ही सम्पन्न करने पड़ते हैं। परन्तु इस कठोरता में भी उसे आनन्द की अनुभूति प्रसन्न बनाए रखती है। इसका जीवन किसी ताल के जल-सा स्थिर न होकर पर्वतीय उपत्यका के किनारे बहते निर्झर-सा गतिशील सौन्दर्यमय होता है। समाज में उसकी स्थिति को समान स्वीकृति मिली होती है। विवाह वयस्क होने

पर ही होता है। सम्बन्ध-विच्छेद का भी उसे अधिकार है। जीवन के सभी क्षेत्रों में कार्यशील होने के नाते इसमें साहस की मात्रा भी कम नहीं है।

असम प्रदेश की भाँति हिमाचल प्रदेश में भी गद्दी, गुज्जर, डाँगरंग, किन्नर, पंगवाल आदि आदिम जातियाँ हैं जिनकी महिलाओं की भी लगभग उपर्युक्त स्थिति ही है। गद्दी जाति की महिलाएँ निरक्षरा हैं परन्तु अब वहाँ शिक्षा का प्रचार होने लगा है[1]। घर का सारा कार्य स्त्री ही करती है जो अपने अधिकार क्षेत्र में पूर्ण स्वतन्त्र होती है। गुज्जर जाति में शत-प्रतिशत पुरुष निरक्षर होते हैं। वे अपने गोत्र में विवाह नहीं करते[2]। बाल-विवाह तथा सम्बन्ध-विच्छेद की प्रथा इनमें प्रचलित है। विवाह मुस्लिम शरियत के अनुसार होता है[3]। डाँगरंग जाति में बहु-पति प्रथा का प्रचलन है। इसका कारण यह है कि ये लोग संयुक्त कुटुम्ब प्रथा पर विश्वास करते हैं। यदि भाई पृथक-पृथक विवाह करें तो 'सब अपनी-अपनी पत्नियों को लेकर मैदान भाग जाएँगे और घर बरबाद हो जाएगा'[4]। बहु-पति प्रथा के विपरीत जौनसार बावर में बहु-पत्नी प्रथा प्रचलित है। डाँगरंग में १९५१ की जनगणना के अनुसार स्त्रियों की संख्या पुरुषों की संख्या से अधिक थी। उस पर बहु-पति प्रथा होने से यह एक विकट समस्या दिखाई पड़ती है, परन्तु इस प्रथा का सम्बन्ध आर्थिक, नैतिक और सामाजिक परम्पराओं के साथ सम्बद्ध है, अतः इस दिशा में शीघ्र ही कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन अपेक्षित नहीं है। इस जाति की स्त्रियाँ प्रायः सभी काम करती हैं तथा पुरुष निठुल्ले तथा कार्य-भीरु होते हैं। समस्त डाँगरंग में मानसिक दरिद्रता व्याप्त है। बहुधा लोग ५ से अधिक गिनती नहीं जानते। डाँगरंग प्रदेश की भाँति किन्नर जाति की स्त्रियाँ भी बहुत परिश्रमी तथा शक्तिवान् होती हैं। यहाँ भी बहु-पति तथा सम्बन्ध-विच्छेद की प्रथा प्रचलित है। स्त्री का विक्रय सामान्य-सी बात है। सम्बन्ध-विच्छेद के नाम पर धन लेना भी यहाँ पर सामान्य है। किन्नर-प्रदेश में नारी का स्थान आर्थिक साधन की दृष्टि से महत्वपूर्ण होते हुए भी सामाजिक दृष्टि से हीन है। "आदिम जाति सेवक संघ" ने १९५७ में यहाँ 'ठक्कर बापा किन्नर आश्रम' की स्थापना की है, जिसके द्वारा एक पाठशाला भी संचालित होती है, जिसमें छात्राओं के विद्याध्ययन की भी व्यवस्था है। पंगवाल जाति में पुरुष के लिए विवाह करना जीवन की प्रमुख साधना है। यहाँ विवाह सम्बन्धी तीन प्रकार प्रचलित हैं। बट्टा, सप्तवार्षिक श्रम-विवाह तथा बलात् हरण-विवाह। 'बट्टा' में पुरुष पत्नी के बदले में अपनी पुत्री या बहिन देता है। 'सप्तवार्षिक श्रम-विवाह' में विवाहोच्छुक

१—धर्मदेव शास्त्री : हिमाचल प्रदेश की आदिम जातियाँ, पृष्ठ ६।
२—वही, पृष्ठ १४-१५।
३—वही, पृष्ठ १५।
४—वही, पृष्ठ २१।

पुरुष भावी सास ससुर के घर पर सात वर्ष तक परिश्रम करता है, तब उसे पत्नी प्राप्त होती है। बलात् हरण विवाह बहुधा स्त्री-पुरुष के परस्पर प्रेम के परिणाम स्वरूप होता है। स्त्री-हरण के समय पुरुष के साथी उसका साथ देते हैं। हरणोपरान्त उसका साथी बकरा और शराब देकर पति सास-ससुर से क्षमा माँगता है, जो उसे मिल जाती है।

इस प्रकार आदिम जाति में बहु-पति, बहु-पत्नी, बाल-विवाह, स्त्री-विक्रय असमान एवं कठोर परिश्रम आदि विषमताएँ व्याप्त हैं परन्तु इस पर भी वहाँ की महिलाएँ प्रसन्न-वदना हैं, स्वस्थ हैं और जीवन के प्रति आशावान् हैं। 'वेरियर एलविन' ने उनके विषय में चर्चा करते हुए लिखा है—

'Generally speaking the tribal woman enjoys a high and honourable place in society and goes proudly free about the country side. She can speak her mind and often has considerable influence on village affairs...'

खण्ड—२

समाज-सुधारक

समाज-सुधारकों की यह परम्परा २०वीं शती में भी बनी रही। इन सुधारकों में से कतिपय सुधारक तो पिछली शताब्दी से ही सुधार-कार्य-क्षेत्र में प्रविष्ठ हो गये थे, परन्तु उनके द्वारा २०वीं शती में अधिक योग दिए जाने के कारण उनकी गणना इस युग के सुधारकों में कर ली गई है। श्री देवधर और महर्षि कर्वे इसी श्रेणी के सुधारकों में आते हैं। इस युग के सुधारकों का विशेष प्रयास नारी को सामाजिक स्वीकृति दिलाने के साथ-साथ उसे राजनैतिक वातावरण एवं स्वतन्त्रता प्रदान करने की दिशा में रहा है। राष्ट्रीय आन्दोलनों के इस युग में उन्होंने राष्ट्रीय क्षेत्र में भी नारी के सहयोग की आवश्यकता का अनुभव किया, और इसीलिए उनके द्वारा संकीर्ण परम्पराओं एवं अकल्याणकारी प्रथाओं का विरोध तो किया ही गया, साथ ही सार्वजनिक जीवन में भी नारी को महत्व दिए जाने की बात प्रतिष्ठित की गई और इस दिशा में उन्हें यथेष्ठ सफलता भी प्राप्त हुई।

जी. के. देवधर (१८७१-१९३५)

भारत सेवक समाज के संस्थापक सदस्यों में श्री देवधर का नाम अग्रगण्य है। इनका विश्वास था कि नारी-सुधार और नारी-जागृति के कार्य को सुधार-संस्थाओं की स्थापना करके ही आगे बढ़ाया जा सकता है क्योंकि व्यक्ति की अपेक्षा संस्था अधिक शक्ति-सम्पन्न एवं प्रभावशाली होती है। १९०७-१९०८ में उत्तर-प्रदेश में अकाल पीड़ितों के सहायतार्थ कार्य करते समय पहली बार उनके मस्तिष्क में प्रशिक्षित महिलाओं की आवश्यकता विषयक विचार आया था, और उन्होंने अनुभव किया था कि भारत को अपनी सर्वांगोन्मुखी उन्नति के लिए प्रशिक्षित पुरुषों की भाँति प्रशिक्षित महिलाओं की भी आवश्यकता है[1]। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए १९०९ में पूना में 'सेवा सदन' की स्थापना हुई जिसमें युवा और प्रौढ़ा दोनों प्रकार की महिलाओं को वैधानिक प्रशिक्षण दिया गया तथा उन्हें आर्थिक रूप से आत्म-निर्भर बनाने के लिए अन्य प्रकार के प्रयत्न किए गये। देवधर का विश्वास था कि नारी-जाति के ह्रास का प्रमुख कारण स्त्री-पुरुष के असमान अधिकारों का होना है इसी असमानता को समाप्त करने के लिए, उन्होंने समाज-सुधार क्षेत्र में पदार्पण किया था[2]। मद्रास में नारी-शिक्षा पर वक्तव्य देते हुए उन्होंने कहा था—

I have considerable amount of experience, and as a representative of several institutions intended for the amelioration of the condition of women, I must tell you that women are as intelligent as you are and as capable as you are."

और जब १९३२ में नारी को मताधिकार देने का प्रश्न उठा, तब श्री देवधर ने इसी समानता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया।

श्रीमती एनी बीसेंट (१८४७ से १९३३)

श्रीमती एनी बीसेंट ने भारतीय नारी की पतनोन्मुख दशा को सुधारने का तथा उसमें शिक्षा-प्रचार करने के क्षेत्र में जो योग दिया है, वह अविस्मरणीय है। वे रूस की हेलना पेट्रोवना ब्लेवास्की तथा कर्नल के आल्कट साहब द्वारा संस्थापित 'ब्रह्म विद्या समाज' से बहुत प्रभावित हुईं तथा इस संस्था की मान्यताओं के प्रचार के लिए १६ नवम्बर १८९३ को भारतवर्ष में आईं। विशुद्ध अंग्रेज महिला होते हुए भी वे भारतवर्ष में हिन्दू संस्कृति से अत्यधिक प्रभावित होकर कालान्तर में स्वयं को भी हिन्दू मानने लगीं। उस समय भारत में चल रहे राजनैतिक एवं सांस्कृति

१—एच. कुंजरू : जी. के. देवधर, पृष्ठ ६३।

२—वही, पृष्ठ १२३।

३—वही, पृष्ठ १२४।

आन्दोलन की ओर भी उनका ध्यान आकृष्ट हुआ और वे राजनीति के साथ-साथ समाज-सुधार क्षेत्र में भी कूद पड़ीं। तत्कालीन समाज में व्याप्त कुप्रथाओं में से उन्होंने सर्व प्रथम बाल-विवाह-प्रथा का विरोध किया। उनका कहना था कि भारत का भविष्य बाल-विवाह-प्रथा के विनाश पर भी निर्भर करता है। आज समाज में जो क्षीण-शक्ति, संक्रामक रोग तथा शीघ्र मृत्यु आदि विषमताएँ व्याप्त हैं, उनका एक मात्र कारण बाल-विवाह की प्रथा का प्रचलन है और यही प्रथा हमारे राष्ट्र को संसार के दूसरे शक्तिशाली राष्ट्रों के मध्य महत्व का स्थान ग्रहण करने की दिशा में बाधक बन रही है[1]। इस प्रथा को नष्ट करने के लिए उनका सुझाव था कि शिक्षा-क्षेत्र में विवाहित बच्चों का प्रवेश निषिद्ध होना चाहिए, तथा बालकों को इस बात की प्रतिज्ञा करनी चाहिए कि वे बाल्यावस्था में विवाह नहीं करेंगे। साथ-ही-साथ वैधानिक रीति से भी इस कुप्रथा के विनाश का प्रयत्न करना चाहिए। वे बाल-विधवाओं के पुनर्विवाह की समर्थक थी। पूर्ण वयस्क विधवाओं के विषय में उनका कहना था कि उन्हें पुनर्विवाह की अनुज्ञा प्रदान करने से वैवाहिक धर्म की वह पवित्रता नष्ट हो जाती है जो हिन्दू धर्म का महान् गौरव है।[2]

श्रीमती एनी बीसेंट ने नारी-शिक्षा पर महत्वपूर्ण विचार प्रकट किए हैं। वे राष्ट्रीय विचारधारा की भाव-भूमि पर महिला-शिक्षा पद्धति का बौद्धिक प्रासाद निर्माण करना चाहती थीं। उनकी पुस्तक 'For India's uplift' के पृष्ठ ६८ पर उन्होंने लिखा है—

'The National movement for girls education must be on national lines, it must accept the general Hindu conceptions of women's place in the national life, not the dwarfed modern view, but the ancient ideal. It must see in the women, the mother and the wife, or, as in some cases, the learned and poise ascetic, the Brahmavadini of older days.'

उन्होंने महिलाओं को धार्मिक तथा नैतिक शिक्षा देने का प्रबल समर्थन किया। साथ ही योग्य साहित्यिक, वैज्ञानिक, कलात्मक एवं शारीरिक शिक्षा भी उनके लिए आवश्यक बतलाई गई। उन्होंने इस बात पर भी बल दिया कि भारतीय नारी को अधिक विस्तृत अधिकार क्षेत्र की प्राप्ति होनी चाहिए। भारतवर्ष उस समय तक महानता के शीर्ष पर आसीन नहीं हो सकता जब तक इस देश की महिलाओं को विस्तृत स्वतंत्र एवं पूर्ण जीवन की प्राप्ति नहीं हो जाती, क्योंकि भारत की मुक्ति

१—एनी बीसेंट : 'वेक अप इन्डिया,' पृष्ठ ५०।
२—एनी बीसेंट, बिल्डर ऑफ न्यू इन्डिया, पृष्ठ ४२४।

महिलाओं के ही अधिकार में है[१]। नारी को सामाजिक स्वतन्त्रता प्रदान करने का पक्ष समर्थन करते हुए उन्होंने कहा है—

This shuttering up of women is unworthy of civilization. Indian men do not deserve to be free politically, until they give freedom specially to Indian women.[२]

धोंडू केशव कर्वे (१८५८)

महाराष्ट्र के समाज सुधार क्षेत्र में महर्षि कर्वे का योगदान विशिष्ठ है। आप २०वीं शताब्दी के विशुद्ध समाज सुधारक थे। यह प्रथम सुधारक थे जो स्वयं आयोजित सुधारकों को स्वयं भी मान कर चले। १८९२ में अपनी पत्नी के देहावसान के पश्चात् यह जानते हुए भी कि संकीर्ण मनोवृति से पूर्ण कट्टर वैष्णवों द्वारा इसका विरोध होगा, आपने विधवा से ही विवाह किया। उनके इस दुस्साहस पर कुपित सजातीय सम्बन्धियों ने उनको अपने समाज से बहिष्कृत कर दिया, परन्तु दृढ़ कर्वे इससे अप्रभावित ही रहे। इसी वर्ष उन्होंने विधवाओं को आश्रय देने तथा अनाथ बालक-बालिकाओं के भरण-पोषण के उद्देश्य से 'पुनर्विवाह परिषद' की पुनर्स्थापना की, जिसमें विधवा महिलाओं को औद्योगिक शिक्षा देकर आर्थिक रूप से आत्म-निर्भर बनाने का प्रयास किया गया। महर्षि कर्वे की यह मान्यता थी कि महिला क्षेत्र में शिक्षा का प्रचार किए बिना उनमें किसी भी प्रकार की जागृति या बौद्धिक विकास की आशा नहीं की जा सकती, अतः उन्होंने अपना समस्त जीवन महिला समाज के मध्य शिक्षा-प्रचार करने में लगा देने का निश्चय किया।

महर्षि कर्वे द्वारा सामाजिक जीवन एक ग्राम्य पाठशाला के अध्यापक के रूप में आरम्भ किया गया। उस समय वे अपनी आय का कुछ भाग ग्रामीण बालिकाओं की शिक्षा के लिए ग्रामकोष में दे दिया करते थे। तदुपरान्त 'न्यू इंग्लिश स्कूल' तथा 'दक्षिण शिक्षा संस्था' में क्रमशः वे प्राध्यापक नियुक्त हुए। वहाँ वे गोपाल कृष्ण गोखले के सहयोगी रहे। १८९६ में उनके द्वारा 'विधवा आश्रम' की स्थापना की गई। इस आश्रम की विधवाओं को अच्छी पत्नी, सुयोग्य माताएँ और शालीन पड़ोसिन[३] बनाने के उद्देश्य से एक महिला विद्यालय की स्थापना की गई। महर्षि कर्वे कालीन भारत में विधवाओं के साथ-साथ बालिकाओं को भी शिक्षित करने की समस्या बनी हुई थी। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए १९०७ में 'महिला विद्यालय' की स्थापना की गई। १९१५ में जब आप 'भारतीय सामाजिक परिषद' के वार्षिक

१—एनी बीसेंट : 'फार इन्डियाज अप लिफ्ट' पृष्ठ ७४।
२—वही, पृष्ठ २९९।
३—धोंडू केशव कर्वे : आल लुकिंग बैक, पृष्ठ ९७।

अधिवेशन में सभापति पद पर गौरवान्वित हुए तब आपने महिला-शिक्षा विकास सम्बन्धी अपने उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए उनमें शिक्षा के प्रचार का प्रबल समर्थन किया। उन्होंने इस बात पर विशेष बल दिया कि विद्यार्थी को मातृ-भाषा के माध्यम से ही शिक्षा देनी चाहिए तथा महिलाओं में उनके क्षेत्र-सम्बन्धी शिक्षा का ही प्रचार करना चाहिए। महर्षि कर्वे के इस महान् स्वप्न को विट्ठलदास ठाकरसी ने आर्थिक सहायता प्रदान करके पूर्ण किया और १९१६ में महिला विश्वविद्यालय की स्थापना हो गई। १९२० में इस विश्व-विद्यालय का प्रधान कार्यालय पूना से बम्बई स्थानान्तरित कर दिया गया।

महिला-क्षेत्र में शैणिक जागृति उत्पन्न करके उसका विकास करने के उद्देश्य से विवेकानन्द की ब्रह्मवादिनियों की भाँति उन्होंने भी १९०८ में 'निष्काम कर्म मठ' की स्थापना की, जिसमें आजन्म समाज सेवी सेविकाओं को प्रशिक्षित किये जाने की व्यवस्था की गई।

इस प्रकार महर्षि कर्वे द्वारा प्रतिपादित सुधार-कार्यों, विशेषतया शैक्षणिक विकास के रूप में उनके योगदान को ऐतिहासिक वैशिष्ठ्य प्राप्त है। महिला-जागृति के क्षेत्र में उन्होंने उस काल में ठोस सुधार-कार्यों की योजना की जब कि समाज का नैतिक स्तर परम्परागत मान्यताओं एवं विश्वासों की शृंखला से आबद्ध था। इस क्षेत्र में किए गये अपने प्रयत्नों को उन्होंने इस प्रकार उपस्थित किया है—

At twentyeight I took up the work of Murud Fund, which became a very important side activity of mine for several years......

Ten years latter Hindu widows Home Association was established......When I was 48 the ideas of Mahila Vidyalaya and Nishkam Karma Math took possession of me and I enthusiastically took up the corresponding services. It was at the age of 58 that I took a Leaf in the dark to found the 'women's university.'

मोहनदास करमचन्द गाँधी (१८६९-१९४८)

आधुनिक स्वतन्त्र भारतीय राष्ट्र के जनक महात्मा गाँधी २०वीं शती के महान् राजनैतिक, भविष्य-द्रष्टा, शान्तिदूत, महात्मा तथा प्रथम कोटि के विचारक एवं समाज सुधारक थे। विदेशी सत्ता से भारतीय जनता को मुक्ति दिलाने की दिशा में उनकी दूरदर्शी एवं स्पष्ट राजनीतिक विचारधारा समाज में शान्तिमय वातावरण निर्माण करने के क्षेत्र में उनके सामयिक उपदेश और विश्व-बन्धुत्व का पवित्र नारा तथा भारतीय लोक-जीवन को उच्चतर भावभूमि पर अधीष्ठित करने के उद्देश्य से

अस्पृश्यता-निवारण एवं महिला-जागृति को लेकर किए गए उनके सुधार कार्य, उन्हें विश्व के महानतम पुरुषों में विशिष्ट स्थान प्रदान करने के लिए यथेष्ट सामग्री प्रस्तुत करते हैं।

स्वाधीनता संघर्ष के उस काल में गांधी जी का प्रमुख कार्य-क्षेत्र राजनीति ही रहा है। अहिंसा, सत्याग्रह और बहिष्कार की नवीन भाव-भूमि पर लक्ष्य-प्राप्ति के महान् विश्वास का बीजारोपण कर उन्होंने राष्ट्रीय कांग्रेस में उस नैतिक बल की प्रतिष्ठा की थी, जिसकी सहायता से बड़ी सफलतापूर्वक, विदेशी शासकों से रक्त की एक बूंद गिराए बिना, अपना अधिकार छीना जा सका था। परन्तु स्वतन्त्रता के उस अधिकार की रक्षा के लिए देश की स्वस्थतर सामाजिक स्थिति भी अनिवार्य थी। महात्मा गांधी ने अपनी दूरदर्शिता से इस तथ्य को जान लिया था। इसीलिए वे आरम्भ से ही उन्नत सामाजिक जीवन की प्रतिष्ठा के लिए भी कटिबद्ध हो गये थे। तत्कालीन समाज के उपेक्षित अंग—अस्पृश्य जाति एवं नारी पर उनकी दृष्टि केन्द्रित हुई, और परिणामस्वरूप उनके द्वारा इन्हीं दो दिशाओं में विशेष सुधार कार्य किए गये।

महिला क्षेत्र में सुधार की प्रेरणा उन्हें १९०६ में अपने इंग्लैंड आवास काल में श्रीमती पंकहर्स्ट तथा श्रीमती डेस्पार्ड से मिली। उस समय वहाँ चल रहे नारी-आन्दोलन में उपर्युक्त महिलाएँ नेतृत्व कर रही थीं। गांधी जी अपने देश में भी नारी-जागृति के इस स्वप्न को साकार करना चाहते थे। परन्तु अपने देश में जागृति लाने से पूर्व पहली आवश्यकता इस बात की थी कि सामाजिक कुप्रथाओं को, जिन्होंने नारी की वैयक्तिकता को विकृत और निष्प्राण बना डाला था नष्ट किया जाये। इसीलिए गांधी जी ने भी पूर्व सुधारकों की भाँति ही सती-प्रथा, बाल-विवाह, विधवा-विवाह और पर्दा-प्रथा आदि समस्याओं पर व्याख्यान देकर तथा लेख लिखकर उनके उन्मूलन के लिए सामाजिक चेतना को प्रस्फुटित एवं विकसित करने की सफल चेष्टा की।

(अ) सती-प्रथा

गांधी जी का विश्वास था कि अपने शरीर की आहुति दे देने से पति के प्रति अपनी कर्तव्य-परायणता की पूर्ति नहीं हो जाती। इसके लिए जीवित रह कर अपने पति के आदर्शों और गुणों के स्थापन कार्य में अपने जीवन को उत्सर्ग करना होता है, जिससे उसकी (पति की) आत्मा को अमरता प्राप्त हो सके[1]। गांधी जी ने सती भाव की कभी भी उपेक्षा नहीं की। परन्तु सती भाव में निहित पवित्रता, उनका कहना था, कभी भी आत्महत्या करके प्राप्त नहीं की जा सकती। उसके लिए जीवित रहना है तथा जीवित रहकर निरन्तर संघर्ष करते हुए दिन प्रतिदिन आत्मा को

१—मो० क० गांधी : यंग इंडिया, दिनांक २१-५-१९३१।

पवित्र से पवित्रतर बनाने की चेष्ठा करनी होती है[1]। वास्तविक अर्थों में विवाह का का उद्देश्य शारीरिक एकता के माध्यम से आत्मिक एकता को प्राप्त करना होता है। प्रचलित सती-प्रथा की पृष्ठ-भूमि में युगीन अंधविश्वास तथा पुरुष का अहं भाव ही प्रमुख कारण थे। भले ही उस काल में सती-प्रथा का यह स्वरूप आत्म-रक्षा के विचार से नैतिकता सम्मत रहा हो, परन्तु आज के युग में इस प्रकार प्राणों की आहुति दे देने के लिए विवश करना सभ्य समाज की घोर बर्बरता का परिचायक है।

(आ) बाल-विवाह

गाँधी जी बाल-विवाह के विरोधी थे। उनके अनुसार यह प्रथा नैतिक तथा शारीरिक दोनों प्रकार से दूषित थी। क्योंकि इससे हमारी नैतिकता का पतन तथा शारीरिक शक्ति का ह्रास होता है। बालिका के लिए उन्होंने सामान्यतः विवाह योग्य आयु १८ वर्ष मानी है[2]। बालिका पत्नियों के विषय में एक बार खेद प्रकट करते हुए उन्होंने कहा था :—'मुझे दुःख है कि लाखों अल्प-वयस्क बालिकाओं के विवाह होते हैं और वे पत्नियों की भाँति रहती हैं'[3]। वे बाल-विवाह प्रथा को नष्ट करने के लिये युवकों से सहयोग की अपेक्षा करते थे। एक बार युवक समाज में उन्होंने बालिकाओं की विवाह योग्य आयु २० वर्ष निर्धारित की थी। उनका कहना था कि यदि अपनी जाति में २० वर्षीय अविवाहित कन्यायें नहीं मिलती हैं तो उन्हें किसी बाल-विधवा से विवाह कर लेना चाहिए और यदि वह भी नहीं मिलती हैं तो किसी भी मनपसन्द महिला से विवाह कर लेने का अधिकार उनको है[4]। इस कुप्रथा का अन्त करने के लिए उन्होंने शिक्षित महिलाओं को भी इस क्षेत्र में कार्य करने के लिए प्रोत्साहित किया था। उन्हें उस समय तक बाल-पत्नियों एवं बाल-विधवाओं के मध्य कार्य करते रहने को कहा गया जब तक इस प्रथा का प्रचलन असम्भव ही न हो जाये, और जब तक प्रत्येक बालिका में इतना साहस न आ जाए कि वे वयस्क होने से पूर्व स्पष्ट रूप के विवाह करने की अनिच्छा प्रकट कर सकें। गाँधी जी ने यह भी अनुभव किया था कि बाल-विवाह की यह प्रथा नगरों की अपेक्षा प्रान्तों में अधिक प्रचलित हैं। उन्होंने 'भारतीय महिला परिषद' की सदस्याओं को ग्रामीण महिलाओं के मध्य जाकर उनसे व्यक्तिगत सम्पर्क स्थापित करने तथा इस प्रथा को दूर करने का सुझाव दिया था[5]।

गाँधी जी ने नारी को सदैव ही पुरुष की सहयोगिनी के रूप में ग्रहण किया।

१—म० क० गाँधी : यंग इन्डिया, दिनांक २१-५-१९३१।
२— " " " दिनांक, २६-८-१९४६।
३— " " " दिनांक, ९-९-१९२६।
४— " " " दिनांक, १५-९-१९२७।
५— " " हरिजन, दिनांक, १६-११-१९३५।

(ई) पर्दा

गाँधी जी भारतीय समाज से पर्दा-प्रथा का भी अन्त कर देना चाहते थे। पवित्रता की जिस सुरक्षा के आशय से पर्दा-प्रथा का जन्म हुआ था, गाँधी जी उसे पर्दे के माध्यम से रक्षित होने के विश्वास पर शंका करते थे। उनका कहना था कि गृह-सीमाओं में बद्ध होकर पवित्रता की रक्षा नहीं की जा सकती। व्यक्ति को व्यक्ति के रूप में नारी-जाति पर विश्वास करना होगा, तभी पावित्र्य रक्षा की कल्पना की जा सकती है। उनका दृढ़ विश्वास था कि यदि पर्दा-प्रथा विरोधी आंदोलन को सुव्यवस्थित ढंग से योजनान्वित किया जाये तो यह हमारे देश के लिए मात्र अतीत की वस्तु रह जाएगी[1]।

(उ) देवदासी एवं वेश्यावृत्ति

गाँधी जी धार्मिक वेश्यावृत्ति को सामाजिक पतन का कारण मानते थे। पुरुष की वासनापूर्ति के लिए किसी भी बहिन का लज्जित एवं ग्लानिपूर्ण जीवन बिताना उनकी दृष्टि में अधर्म था[2]। पुरुष के समान नारी जीवन भी श्रेयस्कर और महत्वपूर्ण है, इसीलिए उसे दूषित कामनाओं की पूर्ति के उद्देश्य से साधन के रूप में देखना उसे उसके शीर्ष स्थान से नीचे खींच लाना है। वे पहिले समाज सुधारक थे जिसका घ्यान विशेष रूप से वेश्यावृत्ति की ओर आकृष्ट हुआ था। आन्ध्र-प्रदेश में प्रचलित देवदासी प्रथा के निवारण हेतु एक बार प्रार्थना करते हुए उन्होंने वहाँ के नवयुवकों से कहा था—

'I ask you brothers and sisters, to send me an assurance, as early as possible, that there is not a single dancing girl in this part (Andhra) of the land. I charge these sisters who are sitting behind me to go about from place to place, find out any dancing girl and shame the man in shunning the wrong they are doing'.

उन्होंने इन नृत्य-बालाओं को देवदासी कहे जाने की बात का भी विरोध किया।

'By calling them Devdasis we insult God himself in the name of religion, and we commit a double crime

---

१—म० क० गाँधी, : यंग इन्डिया, दिनाँक, २६-७-१९२८।
२— ,, ,, : ,, दिनाँक, ११-५-१९२१।
३— ,, ,, : ,, दिनाँक, ११-५-१९२१।

in that we use these listers of ours to serve our lust and take in the same breath the name of God[1].

गाँधी जी कहते थे कि इस दिशा में किए गये सुधार कार्यों को जन वाणी देकर ही समाज में प्रतिष्ठित किया जा सकता है। और इसके लिए उन्होंने देश के नवयुवकों को दिशा-निर्देश दिया।

(ऊ) राजनीति और सार्वजनिक कार्य क्षेत्र

गाँधी जी पहिले व्यक्ति थे, जिन्होंने नारी को राजनीति में भाग लेने के लिए प्रोत्साहित किया। राजपूत शासन काल के पश्चात् बीसवीं शताब्दी में पहली बार महिला राजनैतिक क्षेत्र में अवतीर्ण हुई। गाँधी जी द्वारा संचालित सत्याग्रह, बहिष्कार तथा असहयोग आन्दोलनों में देश को महिला-वर्ग का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ। यह सत्य है कि गाँधी जी पुरुष और नारी के भिन्न-भिन्न कार्य-क्षेत्रों की स्थिति में विश्वास करते थे और उनका कहना था कि यदि नारी के कंधे पर बन्दूक रख दी जाय, तो यह सभ्यता के अन्त का ही आरम्भ होगा। फिर भी महिला वर्ग में राष्ट्रीय चेतना का प्रादुर्भाव हो, उनमें सार्वजनिक जागृति की भावना को बल मिले, गाँधी जी ने सदैव ही इस बात का समर्थन किया। उनका विश्वास था कि किसी भी क्षेत्र में नारी का सहयोग प्राप्त करने से कार्य को पवित्र भावना का अधिक बल प्राप्त होता है। राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के महान् कार्य में संलग्न नारी-वर्ग के विषय में उन्होंने कहा था, 'हमारे संघर्ष के लक्ष्य की पवित्रता को प्रमाणित करने के लिए इसके अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है कि लाखों महिलाएँ सक्रिय रूप से इसमें अपनी सेवाएँ अर्पित कर रही हैं[2]। उनका कहना था कि स्वराज्य प्राप्ति के लिए स्त्री-पुरुष दोनों का सहयोग वांछनीय है तथा शान्तिमय संघर्ष में, सम्भव है, महिलाएँ पुरुषों की अपेक्षा अधिक सफलता प्राप्त कर सकें। गाँधी जी चाहते थे कि महिलाओं का कार्य-क्षेत्र जीवन का प्रत्येक पक्ष स्पर्श करता हुआ चले क्योंकि भारतीय बालिका केवल वधू बनने के लिए ही उत्पन्न नहीं हुई है, उससे एक पुरुष की अपेक्षा, सर्व-सेवा में अपना सर्वस्व समर्पित करने की अपेक्षा की जाती है। गाँधी जी का यह भी विश्वास था कि जब नारी किसी भी कार्य को पूर्ण निष्ठा के साथ सम्पादित करती है तो उसमें पर्वतों को भी हिला देने की शक्ति का आविर्भाव हो जाता है। वे कहते थे कि हमने अपने देश की महिलाओं का दुरुपयोग तथा उनकी अवहेलना की है[3]। उन्हें इस बात में कोई भी शंका नहीं थी कि पुरुषों द्वारा त्याज्य अपूर्ण कार्य को महिलाएं ही पूर्ण करेंगी[4]। नारी के सार्वजनिक कार्य-

---

१—म० क० गाँधी, : यंग इन्डिया, दिनांक, २२-२-१९२७।
२— ,, : ,, दिनांक, ११-८-१९२१।
३— ,, : ,, दिनांक, २२-१२-१९२१।
४— : दिनांक, [illegible]

क्षेत्र को इतनी विस्तृत भाव-भूमि प्रदान करते हुए भी गाँधी जी उसके गृह-स्वामिनी होने के स्वरूप को ही प्राथमिकता देते हैं। सर्व-प्रथम वह गृह-संचालिका है। पुरुष द्वारा अर्जित धन की व्यवस्थापिका तथा विभाजिका है। सुरक्षापूर्ण पारीवारिक जीवन की व्यवस्था उसी के हाथ में है। जाति या वंश उसी की देख-रेख में विकसित होते हैं। अतः सामान्य स्थिति में स्त्री-पुरुष के कार्य-क्षेत्रों का विभाजन होना ही चाहिए[१]।

(ए) शिक्षा

गाँधी जी मानते थे कि शिक्षा व्यक्ति के मानसिक विकास में सहायक होती है, तथा शिक्षित होकर ही उसमें सही कर्त्तव्य-परायणता की भावना जागृत होती है। स्त्री-पुरुष की शिक्षा इस प्रकार की होनी चाहिए जो उनके अपने-अपने क्षेत्रों की कर्त्तव्य पूर्ति में सहायक हों। स्त्री-शिक्षा की योजना बनाते समय, उनका कहना था, इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वह नारी-कार्य-क्षेत्र में उसे ज्ञान दे सकने में समर्थ हो। इसका यह अर्थ नहीं है कि स्त्री और पुरुष वर्ग में शिक्षा प्राप्त करने सम्बन्धी कोई सुस्पष्ट रेखा निर्धारित कर दी जाये, परन्तु शिक्षा क्षेत्र में सुनिश्चित योजना तो कार्यान्वित होनी ही चाहिए जो स्त्री-पुरुष को अपनी-अपनी दिशाओं में सहयोग प्रदान कर सके। शिक्षा के माध्यम को लेकर उन्होंने क्षेत्रीय भाषाओं को ही श्रेष्ठ माना है[२]।

(ऐ) नारी सम्बन्धी सामान्य भावना

गाँधी जी ने सदैव पुरुष और नारी की समानता पर विशेष बल दिया है। मानसिक धरातल पर सहयोगिनी के रूप में नारी पुरुष के समान ही पूर्ण समर्थ है। साथ ही अपने क्षेत्र में उसे वह वैशिष्ठ्य प्राप्त है, जो पुरुष को अपने क्षेत्र में। और इस प्रकार से नारी और पुरुष दोनों का स्तर समान है[३]। उन्होंने कहीं-कहीं पर पुरुष से नारी की श्रेष्ठता भी सिद्ध की है। वह त्यागमयी, सहनशील तथा मानवीय गुणों से पूर्ण है। विश्वास और ज्ञान का प्रतीक है[१] और इन शक्तियों के साथ उसे दुर्बल कहना उसके प्रति अन्याय है और यदि शक्ति का अर्थ पाशविक शक्ति है तब तो नारी सचमुच ही पुरुष से कम पाशविक है और यदि शक्ति का अर्थ नैतिक शक्ति है तब नारी पुरुष से कहीं अधिक श्रेष्ठ है[४]। नारी अपने स्वभाव में त्यागमयी और सहनशीला है, इसीलिए उसे अपने कार्य-कलापों से पवित्र-भावना का निरूपण करना

१— म० क० गाँधी, : हरिजन, दिनांक, २४-२-१९४०।

२—'बम्बई, भगिनी समाज' में दिनांक २०-२-१९१८ को दिए गए भाषण का भावांश।

३—भगिनी समाज, बम्बई के वार्षिकोत्सव पर दिए गये भाषण से उत्कथित दिनांक, २० फरवरी, १९१८। (म० क० गाँधी)

४—म० क० गाँधी, : यंग इन्डिया, दिनांक, १५-९-१९२१।

चाहिए और इसीलिए उसे सम्पत्ति अधिकार प्राप्त करने जैसे लौकिक सुख की आकांक्षाओं पर विजय प्राप्त करनी चाहिए। इस प्रकार गाँधी जी सम्पत्ति-अधिकार सम्बन्धी क्षेत्र में नारी को प्रविष्ठ नहीं कराना चाहते, क्योंकि ऐसा करने से उसकी महान् त्याग भावना पर आघात पहुँचता है।

आधुनिक नारी को सामाजिक स्वीकृति दिलाने में गाँधी जी का योगदान सराहनीय है। उन्होंने नारी के मातृत्व रूप की आराधना की है। माँ के रूप में ही भारतीय नारी देश की संतति को सदाचारी, धर्म-भीरु, शक्तिशाली एवं आत्म-विश्वासी बना सकती है। देश की बालिकाओं को मातृत्व की शिक्षा देना परम आवश्यक है। नारी में सम्मान भाव की प्रतिष्ठा के लिए उनका कहना था कि सबसे पूर्व सामान्य महिलाओं को उनकी वर्तमान अवःपतित स्थिति का ज्ञान कराना होगा। दयनीय सामाजिक जीवन की दुःखपूर्ण वास्तविकता उनके सम्मुख प्रस्तुत करनी होगी और उसके उपरान्त उन्हें सामाजिक प्रतिष्ठा एवं मान्यता प्राप्त करने की दिशा में प्रयत्न करने होंगे

महिला क्षेत्र में पुरुषों के कर्त्तव्यों का उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा था कि नारी-सम्मान की रक्षा प्रत्येक पुरुष का धर्म है। नारी को सम्मानपूर्ण स्वीकृति देने के उद्देश्य से हमें उच्चतर सामाजिक जीवन की प्रतिष्ठा करनी चाहिए क्योंकि जहाँ शान्ति का वातावरण है, जहाँ सदैव ही अहिंसा की शिक्षा दी जाती है, वहाँ नारी अपने को असहाय, आश्रित और निर्बल नहीं समझेगी। यदि वह पवित्र है, तो वह कभी भी दयनीय नहीं होगी। उसकी पवित्रता उसमें शक्ति का संचार करती है। नारी को उसकी इच्छा के विरुद्ध अपवित्र करना असम्भव है[२]। मृत्यु से निर्भीक नारी को कोई भी अपमानित नहीं कर सकता[३]। इन्हीं गुणों के कारण नारी पुरुष समाज के लिए श्रद्धेय है। हाँ, नारी उस दशा में उपेक्षनीय है जब वह स्वयं की इच्छा से अपवित्र और अपमानित होना चाहती हो[४]।

गाँधी जी ने राष्ट्रीय कल्याण की कल्पना, राजनीति समाज-सुधार एवं धर्म निष्ठा की समन्वित भावना में की थी। अतः उनके प्रयोगों में धार्मिक आस्था का भी विशिष्ठ स्थान था। पूर्ण रूप से नैतिक विश्वासों पर ही उनके सामाजिक सिद्धान्त आधारित होते थे। स्वभाव में निष्ठावान् और आदर्श-प्रिय होने के नाते वे अतिशय संयमित जीवन के पक्षपाती थे। संयम के द्वारा ही वे महान् लक्ष्यों की सफलता में विश्वास करते थे। परन्तु अर्ध-विकसित सामान्य जनता उनके इस सिद्धान्त को लेकर नहीं चल सकी। इच्छाओं का दमन कर शान्ति लाभ करने का

१—म० क० गाँधी, : यंग इन्डिया, दिनांक, १०-४-१९३०।
२— „ : हरिजन, दिनांक, १-९-१९४०।
३— „ : „ दिनांक, ३-११-१९४६।
४— „ : „ दिनांक, १-३-१९४२।

सिद्धांत समाज में प्रचलित न हो सका। फिर भी सामाजिक क्षेत्र में, विशेपतया महिला-वर्ग में उनके द्वारा प्रतिष्ठित सिद्धांत एवं मान्यताएँ आधुनिक नारी को दिशा-ज्ञान प्रदान करने में सहायक हुईं उन्होंने सामाजिक संकीर्ण मान्यताओं को दूर करने का प्रयत्न करके जन-जीवन में उस जागृति का अरुणोदय किया जिसके आलोक में नारी पहली बार अपने अधिकार क्षेत्र का विस्तार अनुभव कर सकी। गाँधी-जी की प्रेरणा एवं प्रयत्नों से ही उसे सार्वजनिक जीवन में स्वीकृति प्राप्त हुई। राष्ट्रीय आन्दोलनों में सक्रिय सहयोग देकर उसे अपनी योग्यता प्रदर्शित करने क अवसर मिला। उसके अधिकारों की विस्तृत व्याख्या की गई। और सबसे विशेप उसे पुरुप के समकक्ष मान कर उसे महान् पवित्र भावना की रक्षिका माना गया। उसी के द्वारा शान्ति और अहिंसा के भावों को स्वर मिला। गाँधी-युग में ही नारी बौद्धिक धरातल पर पुरुप के समान समझी गई और उसे विस्तृत कार्य-क्षेत्र के नवीन क्षितिज प्रदान किए गये। यह उनका ही प्रताप था कि नारी पहली बार यह अनुभव कर पाई कि पति की सेवा के अतिरिक्त भी, उसका, राष्ट्र तथा जाति के प्रति भी कोई धर्म है, उसे देशोन्नति तथा राष्ट्रीय भावना के विकास कार्य के लिए भी अग्रसर होना है तथा पारिवारिक सीमाओं में आबद्ध अपने व्यक्तित्व को स्वतन्त्र बना कर सार्वजनिक क्षेत्रों में राष्ट्रीय हित के निमित्त अपना समुचित सहयोग प्रदान करना है।

अन्य-सुधारक

राष्ट्रीय चेतना और सामाजिक स्थिति के विकास क्षेत्र में आधुनिक युग में बहुत से अन्य सुधारकों का योगदान भी उल्लेखनीय है, जिन्होंने पूर्व समाज-सेवियों के सुधार-कार्य को बढ़ाने तथा उसे परिपक्व रूप देने में सहायता प्रदान की। पंजाब में जन्मे महात्मा हंसराज (ज० १८६४, मृ० १९३८) इस परम्परा के विशिष्ट समाज सेवी हैं। अध्यापक के रूप में जीवनयापन करते हुए आपने बालिकाओं को शिक्षा की ओर विशेप ध्यान दिया। पंजाब क्षेत्र में आपके द्वारा निराश्रित विधवाओं के लिए कई विधवाश्रमों की स्थापना की गई, जिसमें फिरोजपुर में स्थापित 'अनाथालय' विशेप उल्लेखनीय है। प्रौढ़ावस्था में गाँधी-दर्शन से प्रभावित होकर आपका ध्यान अछूतोद्धार तथा विधवा-पुनर्विवाह की ओर आकृष्ट हुआ। आप विधवा-विवाह के समर्थक थे तथा पंजाब में उनकी प्रेरणा से इस दिशा में यथेष्ट प्रगति हुई। इन्हीं की समकालीन श्रीमती अबला बोस (ज० १८६४, मृ० १९५२) ने बंगाल में महिला वर्ग के बीच शिक्षा-प्रचार के कार्य में विशेप रुचि लीं। १९१९ में इनके द्वारा 'नारी-शिक्षा-समिति' की स्थापना की गई। नारी-शिक्षा के इस प्रचार कार्य में इन्हें बंगाल सरकार ने महत्वपूर्ण सहायता प्रदान की। इन्होंने विधवाओं को आत्म-निर्भर बनाने की दिशा में उन्हें कुटीर उद्योग, शिल्प, कला आदि विपयों की शिक्षा देने की व्यवस्था की। ग्रामीण नारी-स्थिति के उत्थान-कार्य को लेकर भी आपका प्रयास

सराहनीय है। श्रीमती बोस द्वारा स्थापित 'महिला शिल्प भवन' में सभी श्रेणी की महिलाएँ भिन्न-भिन्न विषयों में प्रशिक्षित की जाती है। पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से नारी-जीवन की विभीषिकाओं को जन-साधारण के सम्मुख रखने तथा उनका समाधान प्रस्तुत करने की दिशा में 'भारतीय समाज सुधारक' के सम्पादक श्री के० नटराजन (ज० १८६८, मृ० १९४८) का नाम दक्षिण भारतीय सुधारकों में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। इन्होंने उक्त पत्र में प्रकाशित लेखों, अपने व्याख्यानों तथा व्यक्तिगत सम्पर्क के माध्यम से महिला-वर्ग में शिक्षा प्रचार का कार्य किया। विधवा-विवाह के प्रश्न पर गम्भीरतापूर्वक विचार करके इसको मान्यता दिलाने के लिए ठोस प्रयत्न किए। स्पष्टवादी वृत्ति वाले होने के कारण आपको कई बार कट्टर धर्मावलम्बियों का कोप-भाजन भी बनना पड़ा। आयरलैंड में उत्पन्न 'मारगेरेट एलिज़ाबेथ कज़िन्स' (ज० १८७८, मृ० १९५४) का नाम भारतीय समाज सेविकाओं में बड़े आदर के साथ लिया जाता है। आप १९१६ में अपने पति के साथ मदनपल्लि में प्राध्यापिका होकर आई थीं। इस नगर में अन्य महिलाओं के साथ कार्य करते हुए इन्हें भारतीय नारी की दयनीय अवस्था का ज्ञान हुआ। १९३१-३२ के राष्ट्रीय आन्दोलनों में भाग लेने के फल-स्वरूप आप को भी कारावास हुआ। कारावास काल में आपने महिला साथियों के लिए एक पाठशाला की स्थापना की। श्रीमती कज़िन्स का नाम 'अखिल भारतीय महिला परिषद' के संस्थापक सदस्यों में भी प्रमुख है। समाज सेविकाओं में सभी मानवीय गुणों से पूर्ण, संवेदनशील कवि हृदय प्राप्त सरोजिनी नायडू (ज० १८७९, मृ० १९४९) का नाम साहित्य के साथ-साथ सुधार-क्षेत्र में भी अमर है। वे अन्तर्जातीय विवाह की प्रबल समर्थक थीं। उन्होंने स्वयं भी विजातीय विवाह किया। नारी अधिकारों के प्रति वे सदैव सचेष्ट रहीं। बाल-विवाह प्रथा का उनके द्वारा सदैव ही विरोध किया जाता रहा। महिला मताधिकार के प्रश्न को लेकर अन्य प्रमुख महिलाओं के साथ वे १९१९ में मि० मॉन्टेग्यू से मद्रास में मिलीं। १९२० में अन्तर्राष्ट्रीय परिषद के 'जनेवा अधिवेशन' में उन्होंने भारतीय महिलाओं का प्रतिनिधित्व किया। वे १९३० में अखिल भारतीय महिला परिषद की सभानेत्री बनीं तथा १९३१ में गोलमेज़ सभा में भारतीय नारी वर्ग की प्रतिनिधि बन कर भाग लिया।

बम्बई प्रदेश में समाज सुधार कार्य श्री एम० एन० जोशी (ज० १८७९, मृ० १९५५) द्वारा सम्पन्न किया गया। वे 'भारत सेवक समाज' तथा 'बम्बई प्रादेशिक समाज सुधार संस्था' के सक्रिय सदस्य रहे। जोशी जी की प्रेरणा से बम्बई प्रदेश में सहयोग संस्थाओं, बालिका विद्यालयों, औद्योगिक पाठशालाओं एवं महिला औषधालयों की स्थापना हुई। वे विधवा पुनर्विवाह, तथा नारी जाति में शिक्षा प्रचार के प्रबल समर्थक थे। इसी परम्परा में श्री निवास शास्त्री का नाम भी उल्लेखनीय है। बाल-विवाह प्रथा के विरोध तथा अन्तर्जातीय विवाह के समर्थन

इनका योगदान महत्वपूर्ण है। वे स्त्री-पुरुष की समान योग्यता पर विश्वास करते थे और उनका कहना था कि आज की सामाजिक स्थिति में इतने विशाल नारी वर्ग को सार्वजनिक कार्य-क्षेत्र में अलग रखना बौद्धिक जागृति के मर्म पर आघात करना है। वे सह-शिक्षा तथा महिलाओं को अपनी रुच्यानुसार शिक्षा प्राप्त करने का समर्थन करते थे। वे विवाह को जीवन की अनिवार्य आवश्यकता मानते थे तथा संतति-निरोध के पक्षपाती थे। महिला के सम्पति-अधिकारों के विषय में वे वैधानिक मान्यता पर विश्वास करते थे तथा उसके इस अधिकार का पक्ष समर्थन करते थे। प्रमुख रूप से राजनीतिज्ञ एवं शिक्षा शास्त्री होते हुए भी उन्होंने सामाजिक क्षेत्र में महिला उन्नति सम्बन्धी जो भी कार्य किया, उससे उनका नाम महाराष्ट्र के मान्य समाज सुधारकों में अपना सम्मानपूर्ण स्थान बना लेता है।

उपर्युक्त समाज सेवी व्यक्तियों के अतिरिक्त भी कुछ महिला सुधारिकाएँ हैं जो आज भी महिला समाज की उन्नति के लिए प्रयत्नशील हैं। समाज सेविकाओं के इस वर्ग में श्रीमती डा० मुतु लक्ष्मी रेड्डी (ज० १८८६) का नाम दक्षिण भारतीय समाज सेविकाओं में सबसे पुराना है। चिकित्सक के रूप में आपने दरिद्र महिलाओं की अपूर्व सेवा की है। आपका सम्बन्ध भारतीय महिला परिषद, मद्रास, शारदा गृह तथा अन्य कई मातृ तथा बाल-कल्याण संस्थाओं से है। १६३० में 'अखिल भारतीय महिला परिषद' के लाहौर अधिवेशन में आपको अध्यक्षा पद देकर सम्मानित किया गया था। आपने मद्रास विधान सभा के सम्मुख नारी अधिकारों के प्रश्न को उपस्थित किया। १६४६ से आप 'भारतीय महिला परिषद' की अध्यक्षा तथा 'मद्रास राज्य-कल्याण सलाहकार समिति' की सभानेत्री हैं। उत्तर-प्रदेश में महिला जागृति का कार्य श्रीमती रामेश्वरी नेहरू (ज० १८८६) द्वारा सम्पन्न किया गया है। आपका सार्वजनिक जीवन १६०६ से आरम्भ होता है, जब आपने पहिले पहल इलाहाबाद में 'महिला समिति' की स्थापना की और 'स्त्री दर्पण' की सम्पादिका के रूप में आज नारी की समस्याओं को जन-वाणी का रूप दिया। १६३१ से १६३७ के मध्य आपने विदेशों में भ्रमण करके वहाँ की जनता के बीच भारतीय आर्थिक सामाजिक एवं नैतिक स्थिति विषयक व्याख्यान दिए। 'वे दिल्ली महिला संघ' की संस्थापक सदस्या थीं तथा कई वर्षों तक इस संघ की अध्यक्षा रहीं। महिला सेवा के साथ-साथ 'बाल-सहायक संस्था' की स्थापना तथा गाँधी जी के साथ हरिजन सेवा क्षेत्र में भी उनका महत्वपूर्ण योगदान रहा है। 'अखिल भारतीय महिला परिषद' की सक्रिय सदस्या के रूप में श्रीमती रेणुका रे का नाम उल्लेखनीय है। ये महिलाओं को वैधानिक अधिकार दिलाने की प्रबल समर्थिका हैं। १६५३ में आपको 'अखिल भारतीय महिला परिषद' के वार्षिक अधिवेशन की सभानेत्री बनने का गौरव प्राप्त हुआ है। गाँधी जी के साथ-साथ और उनकी प्रेरणा से सुधार-कार्य की ओर आकृष्ट

और अग्रसर होने वाली महिलाओं में राजकुमारी अमृत कौर (ज० १८८९) का विशिष्ट स्थान है। 'अखिल भारतीय महिला परिषद' तथा 'लेडी इरविन कॉलेज' की संस्थापिका सदस्याओं के रूप में आपका विशेष योगदान रहा है। आपको उपचारिका का कार्य सदैव भाया है। वे संवैधानिक रूप से नारी को विस्तृत अधिकार क्षेत्र प्रदान करने की बात का विशेष समर्थन करती थीं। श्रीमती धनवन्ती रामाराव (ज० १८९३) एक अन्य दक्षिण भारतीय महिला हैं, जिन्होंने 'क्वीन्स मेरी कॉलेज' में अपना जीवन आरम्भ करके कुछ समय उपरान्त 'महिलाओं की भारतीय परिषद' में प्रवेश कर सार्वजनिक जीवन आरम्भ किया। नारी मताधिकार के संघर्ष में श्रीमती रामाराव का योगदान महत्वपूर्ण है। १९२७-२८ में आपको 'अखिल भारतीय महिला परिषद' की सक्रिय कार्य-कर्त्री रहीं। १९४६-१९४७ में आप उक्त परिषद की अध्यक्षा बनीं, तथा उसके उपरान्त महिला समाज के विभिन्न हित कार्य करने के लक्ष्य को लेकर आपने जापान और अमेरिका का भ्रमण किया, तथा वहाँ के महिला-समाज, उनके अधिकार एवं क्षेत्रों, तथा अधिकार प्राप्ति में सहायक सम्बन्ध स्रोतों का अध्ययन किया। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद आप कुटुम्ब सुधार कार्य में व्यस्त हैं। गुजरात-क्षेत्र की महिला सुधारकाओं में श्रीमती हंसा मेहता (ज० १८९७) का नाम बहुत-सी महिला-संस्थाओं के साथ सम्बद्ध है। कई वर्षों तक भगिनी समाज बम्बई, की सभानेत्री: तथा 'भगिनी समाज पत्रिका' की सम्पादिका के रूप में आपका योगदान विशेष सराहनीय रहा है। आप प्रौढ़ महिलाओं में शिक्षा-प्रचार करने तथा निर्धन महिलाओं को औद्योगिक शिक्षा देने के पक्ष में हैं। २० वर्ष तक 'गुजराती स्त्री सहकारी मण्डल' की सभानेत्री के रूप में आपने गुजरात प्रदेश में महिला सेवा कार्य को आगे बढ़ाकर १९४५-४६ के 'अखिल भारतीय महिला परिषद' के वार्षिक अधिवेशन में आपको सभानेत्री होने का गौरव प्राप्त हुआ। कुछ समय तक आप बड़ौदा विश्वविद्यालय के उप-कुलपति पद पर सुशोभित रही हैं। केन्द्रीय समाज कल्याण केन्द्र की सक्रिय सदस्या श्रीमती हन्ना सेन ने भी नारी-शिक्षा के क्षेत्र में विशेष रुचि ली है। आप 'लेडी इरविन कॉलेज' की पहली शिक्षा संचालिका रहीं, तथा अब उक्त कॉलेज संघ की उपसभापति हैं। भारत विभाजन के पश्चात् आपने शरणार्थियों के पुनर्वास संबंधी प्रश्न को हल करने में भी विशेष योग दिया है। श्रीमती विजय लक्ष्मी पंडित (ज० १९००) ने १९३२ में अपना राजनैतिक जीवन आरम्भ किया। समाज-सुधार कार्यों में आपकी विशेष रुचि रही है। 'अखिल भारतीय महिला परिषद' तथा 'अंतर्राष्ट्रीय महिला परिषद' से आपका निकट का सम्पर्क रहा है। श्रीमती पंडित नारी अधिकारों के लिए सदैव ही संघर्षरत रही हैं। १९०३ में मध्य वर्गीय परिवार में उत्पन्न श्रीमती कमला देवी चट्टोपाध्याय का नाम भी सुधार क्षेत्र में अग्रगण्य है। अपने इंग्लैंड आवासकाल में उन्होंने भारत में समाज कल्याण की आवश्यकता का अनुभव किया। 'अखिल भारतीय महिला परिषद' की

संगठन मंत्राणी के रूप में आपने यश अर्जित किया। आप पहली महिला हैं जो प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभा के चुनावों में खड़ी हुईं। 'सेवा दल' के महिला विभाग की अध्यक्षा के रूप में भी आपको यथेष्ठ सफलता प्राप्त हुई। इस दल के तत्वावधान में महिलाओं तथा बालिकाओं के लिए प्रशिक्षिण शिविर आयोजित करने का श्रेय भी आपको ही है। मुस्लिम महिला समाज में सुधार कार्य के विस्तार का श्रेय श्रीमती फातिमा इस्माइल (ज० १९०३) को है। आपने १९३४ में 'अंजुमन-ए-इशलाने निस्वान' नामक शिक्षा संस्था में बालिकाओं को शिक्षित करना आरम्भ करके सार्वजनिक जीवन में पदार्पण किया। १९३६ में आपको शिमला की 'अखिल भारतीय महिला परिषद' की मंत्राणी बनाया गया। नारी समाज के लिए किए गये शिक्षा-प्रचार क्षेत्र में आपका योगदान सराहनीय है। इसी प्रसंग में श्रीमती लीलावती मुंशी का नाम भी उल्लेखनीय है, आप 'अखिल भारतीय महिला परिषद,' 'बम्बई प्रादेशिक महिला परिषद,' 'महिलाओं की राष्ट्रीय परिषद' 'समाज सुधार समिति' तथा बम्बई महिला संस्था' आदि कितनी ही महिला संस्थाओं से सम्बन्धित हैं। उक्त संस्थाओं को समय-समय पर आपके मत, सहयोग तथा निदेश प्राप्त होते रहते हैं। आप सदैव ही नारी-कल्याण सम्बन्धी किसी भी आयोजन की प्रतिष्ठा करने के लिए सदैव तत्पर रहती हैं। समाज सुधारिकाओं की इस परम्परा में श्रीमती जरीना करीम भाई (ज० १९०९) का नाम मुस्लिम महिला-समाज में शिक्षा-प्रचार कार्य के साथ संलग्न है। साथ ही 'बम्बई प्रादेशिक महिला परिषद' की सक्रिय कार्यकर्त्री के रूप में आपने श्रमिक महिलाओं को मातृ-सेवा का लाभ प्रदान किया है। मिल तथा अन्य औद्योगिक कार्यों में व्यस्त महिलाओं के बच्चों को पारम्भिक पाठशालाओं में भेजने की व्यवस्था की तथा निम्न मध्य श्रेणी की महिलाओं की आर्थिक दशा सुधारने की दिशा में उनके लिए औद्योगिक प्रशिक्षण की व्यवस्था करने में आपका योगदान विशेष सहायक रहा है। आप 'बाप ना गर' तथा 'केन्द्रीय समाज कल्याण समिति' की सक्रिय सदस्या हैं तथा सरकार द्वारा समाज कल्याण-कार्यों के लिए 'पद्म श्री' की उपाधि देकर आपकी सेवाओं को स्वीकृति प्रदान की गई है।

खण्ड—४

सुधार संस्थाएँ

उन्नीसवीं शताब्दी की भाँति इस काल में भी बहुत-सी संस्थाओं की स्थापना हुई। प्रत्येक प्रदेश में सार्वजनिक जागृति के परिणाम स्वरूप नारी संस्थाओं की एक बाढ़-सी आ गई। इन विभिन्न संस्थाओं के बल, नारी-वर्ग में एक प्रकार के आत्म-विश्वास का प्रस्फुटन हुआ और वह स्वयं भी अधिकार प्राप्त करने की दिशा में प्रयत्नशील हुई। इस काल के सुधारकों द्वारा नारी के संरक्षण और उसको सम्मानपूर्ण स्थिति प्रदान करने के क्षेत्र में जो कार्य सम्पादित किए गये, उनको इन सुधार संस्थाओं द्वारा ही प्रौढ़ता प्राप्त हुई। सुधार-संस्थाओं के इस विकास काल में बहुत-सी संस्थाओं की स्थापना महिलाओं द्वारा भी की गई, तथा इनके माध्यम से उन्होंने अपने आर्थिक, राजनैतिक एवं सामाजिक अधिकारों को वैधानिक रूप से स्वीकृत दिलाने की चेष्टा की। इस युग में राष्ट्रीय जागरण और स्वाधीनता आन्दोलन ने भी 'युग प्राचीन मानसिक तथा शारीरिक संघर्षों की राख से चिर संतप्त' नारी हृदय में नव-चेतना की चिनगारी प्रज्वलित कर दी। फलस्वरूप वह अपना वैयक्तिक-वैशिष्ट्य प्राप्त करने की दिशा में अग्रसर हुई। २०वीं शती में स्थापित संस्थाओं में से कुछ ने राष्ट्रीय स्तर पर महिला-जागृति की भावना को विकसित किया तथा कुछ संस्थाएँ प्रादेशिक सीमाओं तक ही सीमित रहीं। राष्ट्रीय स्तर पर कार्य करने वाली सुधार संस्थाओं में 'अखिल भारतीय महिला परिषद' विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

अखिल भारतीय महिला परिषद (संस्थापित १९२७)

नारी-वर्ग में शिक्षा प्रचार करने के उद्देश्य से उक्त परिषद की स्थापना श्रीमती मारगेरेट कज़िन्स की प्रेरणा और प्रयत्नों का परिणाम थी। महिला परिषद के १९२७ में हुए प्रथम अधिवेशन में इसीलिए प्रायः सभी पारित प्रस्ताव नारी-शिक्षा से ही सम्बन्धित थे। अपने प्रारम्भिक शिक्षा प्रचार कार्य की अपूर्व सफलता से अनुप्राणित इस संस्था ने सार्वजनिक कार्यों में रुचि लेना तथा अपने कार्य-क्षेत्र का विस्तार करना प्रारम्भ कर दिया। 'किसी राजनैतिक संस्था से सम्बन्धित न होते

हुए भी इसने राष्ट्रीय स्वतन्त्रता आन्दोलन में सहयोग प्रदान किया" तथा अपने १३वें अधिवेशन में इस बात की घोषणा की कि उक्त संस्था समस्त भारतीय जनों, विशेषतया महिलाओं एवं बालकों के हितों की रक्षा करने के उद्देश्य से उनकी समस्याओं पर चर्चा करने तथा उनकी सहायता करने के लिए स्वतन्त्र हैं[2]। संक्षेप में, महिला कल्याण के लिए निष्ठापूर्वक कार्य करना, उनमें आदर्श नागरिक भावना का समावेश करना, शुद्ध शिक्षा-पद्धति का विकास तथा समाज सुधारों का योजना-निर्माण, महिलाओं के लिए समान अवसरों एवं अधिकारों की प्राप्ति का प्रयत्न, राष्ट्रीय एकता के लिए भरपूर चेष्टा तथा जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उच्चत्तर नैतिक भावना का समावेश तथा अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग एवं विश्व शान्ति के लिए सतत प्रयत्न, इस संस्था के उद्देश्य एवं लक्ष्य रहे।

इस परिषद द्वारा नारी समाज को शिक्षा-प्रचार के नए क्षितिज प्रदान किए गए। निराश्रित महिलाओं को आत्म-निर्भर बनाने के उद्देश्य से औद्योगिक प्रशिक्षण को प्रोत्साहित किया गया। सह-शिक्षा का समर्थन इसी संस्था के माध्यम से हुआ। अधिकाधिक महिलाओं को शिक्षा क्षेत्र में प्रविष्ट होने के लिए प्रेरणा प्रदान की गई। कुटुम्ब सुधार योजनाएँ कार्यान्वित हुईं। सहकारी समितियों की प्रतिष्ठा, नारी को अनैतिक जीवन से मुक्ति दिलाने का प्रयत्न, मातृ-भवनों की स्थापना तथा महिला संघों का संचालन इस परिषद के व्यावहारिक कार्य-क्रमों में विशेष रूप से उल्लेखनीय है। महिला-क्षेत्र में इस परिषद का योगदान 'द लेडी इरविन कॉलिज' की स्थापना के रूप में भी महत्वपूर्ण है।

शैक्षणिक जागृति के साथ-साथ बाल-विवाह आदि परम्परागत सामाजिक कुप्रथाओं के विरुद्ध भी परिषद का अभियान सराहनीय है। इसके द्वारा नारी को सम्बन्ध-विच्छेद का अधिकार देने का समर्थन किया गया, तथा वैधानिक रीति से उसके व्यक्तित्व को उन्नतिशील बनाने की चेष्टा की गई। नारी-स्वातन्त्र्य-क्षेत्र में अग्रणी इस परिषद द्वारा नारी के आर्थिक अधिकारों की व्याख्या भी की गई। भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में कार्य करने वाली महिलाओं की सुविधाओं के लिए प्रयत्न किये गये। महिलाओं के अनैतिक व्यापार का विरोध और राजनीतिक अधिकारों की माँग इस परिषद द्वारा ही आरम्भ की गई। इस परिषद का विशेष योगदान 'संतति निरोध' के समर्थन को लेकर है। यह इस काल की पहली सामाजिक परिषद है, जिसने देश की बढ़ती हुई जन संख्या से चिन्तित होकर 'कुटुम्ब सुधार' तथा

१—नीरा देसाई : वीमन इन माडर्न इन्डिया, पृष्ठ १४९।

२—'अखिल भारतीय साहित्य परिषद' के '१३वें वार्षिक अधिवेशन की रिपोर्ट, पृष्ठ ६४।

३—नीरा देसाई : वीमन इन माडर्न इन्डिया, पृष्ठ १५०।

संतति निग्रह का समर्थन एवं प्रचार किया। ग्रामीण-क्षेत्रों में आत्मोन्नति एवं आत्म-विकास का अवसर प्रदान करने की दिशा में परिषद का योगदान अविस्मरणीय है। इस समय समस्त भारतवर्ष में परिषद की लगभग ३० प्रमुख तथा २०० साधारण शाखाएँ भिन्न-भिन्न प्रदेशों में पुनर्वास-क्षेत्र में कार्यरत हैं जिससे महिला समाज की सर्वतोन्मुखी विकास-प्रवृत्ति को बल मिलता रहता है।

महिलाओं की भारतीय परिषद (संस्थापित १९२५)

भारतीय परिषद की स्थापना एनी बेसेंट की प्रेरणा से १९२५ में हुई थी। इस परिषद का प्रमुख नारी के अधिकार एवं कर्तव्यों की व्याख्या तथा समस्याओं के समाधान के लिए समुचित मार्ग-भूमि प्रदान करने को लेकर है। तत्कालीन सामाजिक कुरीतियों का अन्त करने, महिलाओं को नगर पालिकाओं एवं व्यवस्थापिका सभाओं में मताधिकार दिलाने, विधान सभाओं, स्थानीय शासन संस्थाओं में महिला-प्रतिनिधि भेजने तथा राज्य-परिषद में मताधिकार दिलाने की दिशा में प्रयत्न करने सम्बन्धी इस परिषद के कार्य प्रशंसनीय हैं। भारतीय परिषद पहली नारी संस्था थी जिसने महिलाओं को उनके उत्तरदायित्वों से परिचित कराया। अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा तथा धार्मिक शिक्षा को प्रत्येक बालिका के लिए इसी परिषद द्वारा आवश्यक समझा गया। इस परिषद द्वारा महिलाओं में यह विश्वास पैदा करने की चेष्टा की गई कि भारत का भविष्य उनके सहयोग पर ही निर्भर है। पत्नी और माता के रूप में देश के भावी नागरिकों के चरित्र-निर्माण का भार केवल उन्हीं पर है। इस प्रकार संस्था ने महिलाओं को संगठनात्मक रूप में कार्य करने की प्रेरणा दी तथा इस बात पर विशेष बल दिया कि उन्हें स्वयं भी पुरुष के समान अधिकार, अवसर एवं सुविधाएँ प्राप्त करने की दिशा में निष्ठापूर्वक प्रयत्न करने चाहिए।

अखिल भारतीय शिक्षा कोष संस्था (संस्थापित १९२९)

महिला-वर्ग में उन्नत शैक्षणिक स्तर निर्मित करने के उद्देश्य से 'अखिल भारतीय शिक्षा कोष संस्था' की स्थापना १९२९ में की गई। इस संस्था द्वारा राष्ट्रीय स्तर पर महिलाओं एवं बालिकाओं को शिक्षित करने की व्यवस्था है। भिन्न-भिन्न प्रदेशों में महिला-क्षेत्र में शिक्षा प्रचार को प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से यह आर्थिक व्यवस्था करती है तथा महिला शिक्षिकाओं को प्रशिक्षित करके उन्हें राष्ट्रीय-सेवा के लिए प्रस्तुत करने का भार भी इसी के ऊपर है। महिलाओं को औद्योगिक क्षेत्र में प्रशिक्षित कर उन्हें आत्म-निर्भर बनाने में भी इस संस्था का योगदान उल्लेखनीय है।

स्नातिका संघ (संस्थापित १९४९)

'स्नातिका संघ' विश्वविद्यालयीय स्तर पर शिक्षा प्राप्त महिलाओं को

१—इंडियन ईयर बुक ऑफ इण्डिया : पृष्ठ ३५५।
(भारत सरकार के प्रकाशन विभाग द्वारा प्रकाशित)
२—वीर : मासिक : १९३६, नवम्बर अंक, पृष्ठ ६।

शैक्षणिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक चेतना के विकसित करने एवं उदार आदर्शों की ओर उन्मुख होने के लिए उच्चत्तर भाव-भूमि प्रदान करता है। संसार की समस्त महिलाओं को एक्य की महान् भावना में आवद्ध कर, उनके सर्वतोन्मुखी विकास की उपलब्धि इस संघ का महान् लक्ष्य है। व्यावहारिक क्षेत्र में बालिकाओं तथा वृद्धाओं के लिए देश के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में इसके द्वारा रात्रि शालाएँ आयोजित की जाती हैं। इस संघ की सदस्यता केवल विश्वविद्यालयों की स्नातिकाओं तक ही सीमित है।

कस्तूरबा गाँधी मेमोरियल ट्रस्ट (संस्थापित १९४५)

कस्तूरबा गांधी जी की मृत्यु के उपरान्त उनके स्मृति-चिह्न स्वरूप उनके नाम पर एक कोष का निर्माण हुआ, जिसका उपयोग ग्रामीण क्षेत्रों में, विशेषतया ग्रामीण-महिलाओं की स्थिति सुधारने में किया गया। इस ट्रस्ट द्वारा सम्पादित विशेष कार्यों में महिलाओं में शिक्षा-प्रचार तथा चिकित्सा सम्बन्धी प्रशिक्षण विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उक्त ट्रस्ट द्वारा बच्चों तथा महिलाओं की आर्थिक सहायता के लिए भिन्न-भिन्न अवसरों पर मनोरंजक कार्य-क्रम आयोजित किए जाते हैं। समाज सुधार के हेतु संस्थाओं का संगठन तथा महिलाओं को ग्रामीण क्षेत्रों में कार्य करने के लिए प्रोत्साहन एवं प्रशिक्षण इस ट्रस्ट का प्रमुख उद्देश्य है।

समाज कल्याण संस्था (संस्थापित १९५३)

आधुनिक युग की समाज सुधार संस्थाओं में भारत सरकार द्वारा स्थापित समाज कल्याण संस्था का नाम विशेप रूप से उल्लेखनीय है। इस संस्था का उद्देश्य अन्य प्रकार के समाज सुधारकों के अतिरिक्त सार्वजनिक महिला क्षेत्र में जागृति उत्पन्न करना भी है। कुटुम्ब-सुधार तथा विभिन्न दिशाओं में महिला प्रशिक्षण इसके विशिष्ट पुरोगम हैं। ग्रामीण महिला वर्ग को उन्नतिशील करने के लिए सभी राज्यों में समाज सेविकाओं की नियुक्ति की गई है। ग्रामीण-क्षेत्रों में सुधार-विकास केन्द्रों की स्थापना इस दिशा में पहली महत्वपूर्ण चेष्टा है। बालवाड़ी में ग्राम्य बालक-बालिकाओं को शिक्षित करने की व्यवस्था है। महिलाओं के लिए भिन्न-भिन्न उद्योग-केन्द्रों की स्थापना हुई है, जिससे ग्राम्य-जीवन की आर्थिक स्थिति में सुधार किया जा सके। इस योजना के अन्तर्गत १९५७ तक १३०० ग्राम सेविकाएँ तथा ३९ दाइयाँ प्रशिक्षित हो चुकी थीं तथा १०४५ ग्राम सेविकाएँ तथा २५४ दाइयाँ प्रशिक्षण प्राप्त कर रहीं थीं[1]।

नगरों में महिला-कल्याण के उद्देश्य से नगर-कुटुम्ब-सुधार केन्द्रों की स्थापना की गई है। लघु उद्योग-धंधों का विकास किया गया है। जिससे महिला आत्म-निर्भर होकर प्रतिष्ठा का जीवन बिता सकें। दिल्ली, हैदराबाद, विजयवाड़ा तथा पूना में इस भावना को अधिक बल प्राप्त हुआ है। निराश्रित महिलाओं के लिए अनाथालय निर्माण करने की व्यवस्था भी इस संस्था के पुरोगमों में है। इसके अनुसार प्रत्येक

१—इन्डिया, ५८।

'संतति निग्रह' का समर्थन एवं प्रचार किया। ग्रामीण-क्षेत्रों में आत्मोन्नति एवं आत्म-विकास का अवसर प्रदान करने की दिशा में परिषद का योगदान अविस्मरणीय है। इस समय समस्त भारतवर्ष में परिषद की लगभग ३० प्रमुख तथा २०० साधारण शाखाएँ[1] भिन्न-भिन्न प्रदेशों में सुधार-क्षेत्र में कार्यरत हैं जिससे महिला समाज की सर्वतोन्मुखी विकास-शक्ति को बल मिलता रहता है।

महिलाओं की भारतीय परिषद (संस्थापित १९१७)

भारतीय परिषद की स्थापना एनी बेसेंट की प्रेरणा से १९१७ में हुई थी। इस परिषद का महत्व नारी के अधिकार एवं कर्त्तव्यों की व्याख्या तथा समस्याओं के समाधान के लिए समुचित भाव-भूमि प्रदान करने को लेकर है। तत्कालीन सामाजिक कुरीतियों का अन्त करने, महिलाओं को नगर पालिकाओं एवं व्यवस्थापिका सभाओं में मताधिकार दिलाने, विधान सभाओं, स्वायत शासन संस्थाओं में महिला-प्रतिनिधि भेजने तथा राज्य-परिषद में मताधिकार दिलाने की दिशा में प्रयत्न करने सम्बन्धी इस परिषद के कार्य सराहनीय हैं। भारतीय परिषद पहली नारी संस्था थी जिसने महिलाओं को उनके उत्तरदायित्वों से विज्ञ कराया। अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा तथा धार्मिक शिक्षा को प्रत्येक बालिका के लिए इसी परिषद द्वारा आवश्यक समझा गया। इस परिषद द्वारा महिलाओं में यह विश्वास पैदा करने की चेष्टा की गई कि भारत का भविष्य उनके सहयोग पर ही निर्भर है। पत्नी और माता के रूप में देश के भावी शासकों के चरित्र-निर्माण का भार केवल उन्हीं पर है[2]। इस सुधार संस्था ने महिलाओं को संगठनात्मक रूप में कार्य करने की प्रेरणा दी तथा इस बात पर विशेष बल दिया कि उन्हें स्वयं भी पुरुष के समान अधिकार, अवसर एवं सुविधाएँ प्राप्त करने की दिशा में निष्ठापूर्वक प्रयत्न करने चाहिए।

अखिल भारतीय शिक्षा कोष संस्था (संस्थापित १९२९)

महिला-वर्ग में उन्नत शैक्षणिक स्तर निर्माण करने के उद्देश्य से 'अखिल भारतीय शिक्षा कोष संस्था' की स्थापना १९२९ में की गई। इस संस्था द्वारा राष्ट्रीय स्तर पर महिलाओं एवं बालिकाओं को शिक्षित करने की व्यवस्था है। भिन्न-भिन्न प्रदेशों में महिला-क्षेत्र में शिक्षा प्रचार को प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से यह आर्थिक व्यवस्था करती है तथा महिला शिक्षिकाओं को प्रशिक्षित करके उन्हें राष्ट्रीय-सेवा के लिए, प्रस्तुत करने का भार भी इसी के ऊपर है। महिलाओं को औद्योगिक क्षेत्र में प्रशिक्षित कर उन्हें आत्म-निर्भर बनाने में भी इस संस्था का योगदान उल्लेखनीय है।

स्नातिका संघ (संस्थापित १९४९)

'स्नातिका संघ' विश्वविद्यालयीन स्तर पर शिक्षा प्राप्त महिलाओं को

१—सोशल वेल फेयर ऑफ इन्डिया : पृष्ट ६५५।
(भारत सरकार के प्रकाशन विभाग द्वारा प्रकाशित)

२—चाँद : मासिक : १९३४, नवम्बर अंक, पृष्ठ ६।

उपकारी कार्यों को सम्पादित करने के उद्देश्य से स्थापित दया भगिनी संस्था अपने सुदीर्घ एवं स्वस्थ प्रयत्नों के लिए प्रशंसनीय हैं।

इस प्रदेश में स्वतन्त्रता प्राप्ति के वाद महिला सुवार कार्यों में संलग्न श्रीमती कमला राय द्वारा स्थापित 'वेनी मन्दिर महिला शिक्षा संस्था'[1] (स० १९४८), श्रीमती सुजाता देवी द्वारा स्थापित 'वंगीय पाल्लि संगठन संस्था'[2] (स० १९४८) एवं 'वंगाल महिला संघ' तथा 'वाल-कल्याणी गृह'[3] (स० १९५०) आदि संस्थाएँ विशिष्ठ हैं। इनके द्वारा निराश्रित वालक-वालिकाओं का संरक्षण तथा पोपण होता है और उनको आत्म-निर्भर वनाने के उद्देश्य से औद्योगिक दिशा में प्रशिक्षित करने की व्यवस्था की जाती है। वंगीय पाल्लि संगठन संस्था का योगदान 'देश वन्धु वालिका भवन' के संचालन कार्य को लेकर विशेप रूप से उल्लेखनीय है।

वंगाल की ही भाँति उत्तर-प्रदेश में सुधार-संस्थाओं के माध्यम से सुधार कार्य को विकसित करने का श्रेय विशेप रूप से देहरादून, वाराणसी और लखनऊ की सुधार संस्थाओं को है। देहरादून में "श्रीमती श्रद्धानन्द अनाथ वनिताश्रम"[4] (स० १९२४) तथा 'अखिल भारतीय महिलाश्रम'[5] (स० १९४५) महिला सुधार क्षेत्र में अग्रगणी हैं। इन आश्रमों द्वारा अनाथ महिलाओं के लिए आश्रम शिक्षा तथा औद्योगिक प्रशिक्षण आदि की व्यवस्था की जाती है। 'श्रद्धानन्द अनाथ आश्रम' देहरादून के आर्य समाज से संलग्न संस्था है। वनारस में महिला-सुधार के क्षेत्र में वहुत-सी संस्थाओं के नाम लिए जा सकते हैं। 'श्री काशी अनाथाश्रम'[6] (स० १९१८), 'आर्य अनाथाश्रम'[7] (स० १९२१), 'मातृ मठ'[8] (स० १९२१) 'आर्य समाज अनाथालय'[9] (स० १९२२), 'नलिनी नारी शिक्षा समिति'[10] (स० १९२७), 'रानी राम कुमारी वनिताश्रम'[11] (स० १९२७), 'काशी अनाथालय'[12] (स० १९२८), 'मुस्लिम

१—सोशल वेल फेयर इन इन्डिया': भारत सरकार के प्रकाशन विभाग द्वारा प्रकाशित : पृष्ठ ७७० ।

२—वही, ,, पृष्ठ ७७४ ।

३— ,, ,, पृष्ठ ७७१ ।

४— ,, ,, पृष्ठ ७५७ ।

५— ,, ,, पृष्ठ ७५८ ।

६— ,, ,, पृष्ठ ७६२ ।

७— ,, ,, पृष्ठ ७६० ।

८—मुसाफिर सिंह 'वाराणसी में समाज कल्याण'

९—वही,

१०—'सोशल वेल फेयर इन इन्डिया' पृष्ठ ७६१ ।

११— ,, ,, पृष्ठ ७५९ ।

१२—मुसाफिर सिंह : 'वाराणसी में समाज कल्याण'

यतीमखाना" (सं० १९३३), 'महिला मण्डल" (सं० १९३४), 'काशी आदर्श अनाथालय" (सं० १९५१), 'आर्यावर्त अनाथ सेवाश्रम" (सं० १९५१, 'दीन महिला उद्योग केन्द्र" (सं० १९५१) तथा 'नारी दीक्षा विद्यालय" (सं० १९५४) आदि सुधार संस्थाओं ने निराश्रित महिलाओं की सहायता, उनके संरक्षण तथा उनके दृष्टिकोण को विकसित भाव-भूमि प्रदान करने में जो योग दिया है उसके लिए महिला समाज विशेष उपकृत है। लखनऊ में इसी आशय की संस्था 'मुस्लिम सेवा गृह" (सं० १९५१) है जो आपत्ति-ग्रस्त मुस्लिम महिलाओं के हितों की रक्षा करने तथा उनको आत्म-निर्भर बनाने की दिशा में प्रयत्नशील है।

इसी परम्परा में राजस्थान में हुए सुधार-कार्यों की योजना इस प्रदेश के सुधार-इतिहास में महत्वपूर्ण है। इस प्रदेश में अशिक्षा एवं सामाजिक एवं राष्ट्रीय जागृति के अभाव के परिणामस्वरूप समाज सुधार-कार्यों की ओर जनता का ध्यान बहुत बाद में आकृष्ट हुआ। १९वीं शताब्दी में यहाँ सुधारकों का भी अभाव रहा। इस अभाव की आंशिक पूर्ति २०वीं शती में पंडित हीरालाल द्वारा १९३५ में जयपुर से ४५ मील दूर, 'वनस्थली विद्यापीठ' को जन्म देकर हुई। इससे पूर्व इनके द्वारा वनस्थली ग्राम में, 'जीवन कुटीर' नामक संस्था का संचालन होता था। विद्यापीठ का का ध्येय 'भारतीय संस्कृति और राष्ट्रीयता के आधार पर कुशल गृहिणी तथा सफल नागरिक तैयार करना है"। इसमें सभी राज्यों की बालिकाएँ प्रवेश पा सकती हैं। पंचमुखी शिक्षा क्रम—शारीरिक व्यावहारिक...गृह कार्य सम्बन्धी तथा औद्योगिक शिक्षा......ललित कला विषयक, नैतिक तथा बौद्धिक—इस विद्यापीठ की अपनी विशेषता है। ग्रामीण प्रौढ़ाओं के लिए रात्रिशाला की व्यवस्था भी इसके कार्य-क्रमों में प्रमुख है। इन शालाओं में विद्यापीठ की छात्राएँ शिक्षण कार्य करती हैं। शैक्षणिक-विकास के साथ ही अन्य समाज सेवा के विभिन्न कार्य-क्रमों का आयोजन भी विद्यापीठ द्वारा किया जाता है। विद्यापीठ का वास्तविक उद्देश्य 'अपने शिक्षण कार्य के द्वारा पूर्व की आध्यात्मिक विरासत और पश्चिम की वैज्ञानिक उपलब्धियों के समन्वय के लिए प्रयत्न करना है"। इसी प्रसंग में १५ अगस्त १९४७ को श्री सिद्धराज जी ढड्ढा की प्रेरणा से जोधपुर क्षेत्र में रानी नामक स्थान पर 'मरुधर महिला

१—सोशल वेल फेयर इन इण्डिया : पृष्ठ ७६२।
२—मुसाफिर सिंह : वाराणसी में समाज कल्याण।
३—सोशल वेल फेयर इन इण्डिया पृष्ठ ७६१।
४— ,, ,, पृष्ठ ७६१।
५— ,, ,, पृष्ठ ७६२।
६—मुसाफिर सिंह : वाराणसी में समाज कल्याण।
७—सोशल वेल फेयर इन इण्डिया, पृष्ठ ७५८-७५९।
८—वनस्थली विद्यापीठ विवरण पत्रिका, पृष्ठ १।
९—वनस्थली विद्यापीठ : एक झाँकी, पृष्ठ १।

शिक्षण संघ' की स्थापना 'महिला समाज की आध्यात्मिक, बौद्धिक, शैक्षणिक, सांस्कृतिक एवं शारीरिक उन्नति के लिए जीवनोपयोगी आदर्श शिक्षा का प्रबन्ध करने'[1], के उद्देश्य को लेकर हुई है। साथ ही महिलाओं में सहयोग, आत्म-निर्भरता एव स्वावलम्बन की भावना का उद्रेक, समाज सुधार के लिए उनकी स्थिति तथा महिल एवं बाल-कल्याणी केन्द्रों की स्थापना इस संघ का लक्ष्य है। संघ द्वारा संचालित 'मरुधर बालिका विद्यापीठ' में छात्राओं को आध्यात्मिकता, त्याग तथा सुचरित्र जीवन यापन करने की प्रेरणा, सादगी प्रधान संस्कृति के आधार पर उनके चरित्र निर्माण की योजना तथा उन्हें सबला, सुगृहिणी, सुशिक्षिता तथा कलाकार बनाने का लक्ष्य विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

इस दिशा में बिहार में डा० गणेश दत्त सिंह द्वारा स्थापित 'श्री हिन्दू अनाथ और विधवा पाठशाला'[3],' पटना (स० १९२७), 'भारतीय विधवाश्रम'[4],' पटन (स० १९४३) तथा 'श्रीमती 'प्रभावती नारायण द्वारा संस्थापित, महिला चरख समिति'[5] का योगदान महत्त्वपूर्ण है। 'विधवा पाठशाला' में विधवा महिलाओं क आत्म-निर्भरतापूर्ण एवं सम्मानित जीवन व्यतीत करने का अवसर देने के उद्देश्य ं औद्योगिक क्षेत्र में प्रशिक्षित किया जाता है। नारी कल्याण और पुनर्विवाह को प्रोत्साह देने के क्षेत्र में दूसरी उल्लेखनीय संस्था 'भारतीय विधवाश्रम' है। इसमें औद्योगि प्रशिक्षण के लिए भी व्यवस्था है। 'महिला चरखा समिति' द्वारा महिला समाज ं सांस्कृतिक एवं सामाजिक जागृति, औद्योगिक प्रशिक्षण एवं सार्वजनिक हितकार्यों ं योगदान प्रमुख हैं। निराश्रित महिलाओं को आश्रय तथा उनके खान-पान की व्यवस्थ भी समिति द्वारा की जाती है।

बिहार की भाँति उड़ीसा में श्री उत्कल मणि गोपबन्धु दास तथा राय बहादु साखीचन्द के सम्मिलित प्रयत्नों से स्थापित 'अनाथाश्रम'[6] पुरी (स० १९२०) प्रांतीय सरकार द्वारा संचालित 'मधुसूदन मातृ तथा शिशु सदन'[7] (स० १९२३) तथ श्रीमती वसंत कुमारी द्वारा संस्थापित, 'वसंत कुमारी विधवाश्रम'[8] (स० १९३० महिला सुधार क्षेत्र में कार्य रत हैं। महिलाओं को आत्म-निर्भर तथा उन्न

१—मरुधर महिला शिक्षण संघ, का संविधान, पृष्ठ १।
२—मरुधर बालिका विद्यापीठ का संक्षिप्त परिचय : पृष्ठ ३-४।
३—सोशल वेल फेयर इन इन्डिया, पृष्ठ ६८७।
४— ,, ,, पृष्ठ ६८८।
५— ,, ,, पृष्ठ ६८८।
६— ,, ,, पृष्ठ ७४४।
७— ,, ,, पृष्ठ ७२३।
८—सोशल वेल फेयर इन इन्डिया, पृष्ठ ९४४।

सामाजिक जीवन की स्थिति प्रदान करना इन संस्थाओं का लक्ष्य है। 'वसंत कुमारी विद्याश्रम' में चिकित्सिक सहायता प्रदान करने की भी व्यवस्था है। यह आश्रम कलकत्ता की 'सरोज नलिनी दत्त मेमोरियल इन्स्टीट्यूट' से संलग्न है।

दिल्ली राज्य में इस आशय की प्रमुख संस्था 'नारी रक्षा समिति' (स० १९४३) है जिसके संस्थापक सदस्य श्रीमती रामेश्वरी नेहरू, राजकुमारी अमृतकौर, श्रीमती इन्दिरा गांधी, देश बन्धु गुप्ता, लाला योधराज, डॉ० कृष्णन् नैयर तथा सुशीमती मेहता हैं। इस समिति का प्रमुख उद्देश्य पतित महिला समाज को वैधानिक गति से उच्चतर स्तर एवं मान्यता दिलाने की दिशा में प्रयत्न करना तथा उनके प्रति सर्वसाधारण में सम्मानित दृष्टिकोण का निर्माण करना है। इस समिति द्वारा संचालित 'शरण भवन' में उद्धार की हुई महिलाओं को औद्योगिक क्षेत्र में प्रशिक्षित किया जाता है।

इस सुधार-प्रगति के युग में सौराष्ट्र प्रदेश में भी सुधार-संस्थाओं की स्थापना हुई है। 'श्री आनन्दबावा अनाथालय', जामनगर (स० १९०३), श्री कान्ता स्त्री विकास गृह' (स० १९४५) तथा 'विकास विद्यालय' (स० १९४५) इस दिशा में प्रमुख सुधार संस्थाएँ हैं। 'अनाथालय' में शिक्षा-दान के साथ-साथ निराश्रित कुमारी बालिकाओं के विवाह की व्यवस्था भी की जाती है। 'विकास-गृह' द्वारा असहाय महिलाओं को संरक्षण तथा औद्योगिक प्रशिक्षण प्रदान किया जाता है। 'विकास विद्यालय' में नारी-समाज की सामाजिक एवं आर्थिक विषमताओं के कारण जानने तथा उनके समाधान प्रस्तुत करने की दिशा में प्रयत्न होता है। 'विकास खादी उत्पादन केन्द्र' की व्यवस्था भी 'विद्यालय' की समिति द्वारा ही होती है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् जूनागढ़ में 'विकास गृह' (स० १९४८) की स्थापना हुई है जिसमें विस्था-पिता महिलाओं को आश्रय तथा उनके बच्चों को शिक्षित करने का प्रबन्ध है।

बम्बई प्रदेश में १९वीं शती की भाँति इस शताब्दी में भी प्रादेशिक स्तर पर बहुत-सी सुधार-संस्थाओं का संगठन एवं विकास हुआ। इस काल की प्रारम्भिक संस्थाओं में 'स्त्री जोरोस्ट्रियन मण्डल' (स० १९०३) तथा 'सर रतन टाटा इन्स्टीट्यूट' (स० १९२८) द्वारा पारसी महिलाओं की आवश्यकताओं की पूर्ति तथा

१—वीमन इन पावर इन इण्डिया : पृष्ठ ५१७ ।
२— ,, ,, पृष्ठ ५१७ ।
३— ,, ,, पृष्ठ ५४८ ।
४— ,, ,, पृष्ठ ५४८ ।
५— ,, ,, पृष्ठ ५५० ।
६— ,, ,, पृष्ठ ५५१ ।
७—नीरा देसाई वीमन इन माडर्न इण्डिया, पृष्ठ १५८ ।
८—वही, पृष्ठ १५८ ।

अधिकारों की रक्षा के क्षेत्र में दिया गया सहयोग प्रशंसनीय है। गृह विज्ञान तथा औद्योगिक शिक्षा का विकास निर्धन पारसी महिलाओं की आर्थिक तथा चेकित्सिक सहायता तथा महिलाओं के लिए विस्तृत सार्वजनिक सामाजिक स्थिति का निर्माण इन संस्थाओं का प्रमुख कार्य-क्रम है। दूसरी सुधार संस्थाओं में 'सेवा सदन सोसायटी[1]' बम्बई (स० १९०८), 'गुजरात हिन्दू स्त्री मण्डल[2]' (स० १९०८), 'पूना सेवा सोसायटी[3]' (स० १९०८), 'द चिमन नाई महिला औद्योगिक संस्था[4]' (स० १९१४), 'भगिनी समाज[5]' (स० १९१६), 'बीजापुर अनाथालय[6]' (स० १९१९), 'बम्बई राज्य महिला संघ[7]' (स० १९२०), 'संत केथेराइन होम[8]' (स० १९२२), 'हिन्दू महिला अनाथाश्रम[9]', पूना (स० १९२७), 'श्रद्धानन्द अनाथ महिलाश्रम[10],' बम्बई (स० १९२८), 'ज्योति संघ[11],' अहमदाबाद (स० १९३४), 'अनाथ महिलाश्रम[12],' कोल्हापुर (स० १९३७), 'विकास गृह[13],' (स० १९३७) तथा अब्दुल्ला दाऊद बावला मुस्लिम महिला अनाथालय[14]' के नाम प्रमुख हैं। इन संस्थाओं द्वारा उपर्युक्त प्रदेशों की अन्य महिला संस्थाओं की भाँति महिला जीवन के भिन्न-भिन्न पहलुओं पर विचार करके उनको उन्नति-शील सामाजिक स्थिति में सम्मानपूर्ण स्थान देने का प्रयास किया जाता है। सुधार संस्थाओं के विकास से इस प्रदेश के महिला वर्ग में सर्वतोन्मुखी जागृति का विस्तार हुआ है, जिसके आलोक में नारी ने अपने विस्तृत अधिकार क्षेत्र को पहिचाना है, तथा अपने व्यक्तित्व को स्वतन्त्र भारत के विभिन्न स्तरीय वातावरण में सफल बनाने का प्रयास किया है।

उपर्युक्त प्रदेशों की भाँति आन्ध्र, मद्रास, मैसूर तथा त्रावनकोर कोचीन आदि राज्यों में भी महिला-सुधार संस्थाओं का जन्म हुआ है, जिनके माध्यम से इन क्षेत्रों में नारी-जागृति की भावना का विकास होकर उनके हितों की रक्षा करने की दिशा

१—'सोशल वेल फेयर इन इन्डिया,' : पृष्ठ ७०४।
२—नीरा देसाई : 'वीमन इन माडर्न इन्डिया' : पष्ठ १६०।
३—सोशल वेल फेयर इन इन्डिया : पृष्ठ ७०४।
४— „ „ पृष्ठ ७०२।
५—नीरा देसाई : 'वीमन इन माडर्न इन्डिया : पृष्ठ १५८।
६—सोशल वेल फेयर इन इन्डिया : पृष्ठ ७०६।
७—नीरा देसाई : वीमन इन माडर्न इन्डिया : पृष्ठ १५७।
८—सोशल वेल फेयर इन इन्डिया : पृष्ठ ७१२।
९— „ „ पृष्ठ ७०२।
१०— „ „ पृष्ठ ७०५।
११—नीरा देसाई, वीमन इन माडर्न इन्डिया पष्ठ १६२।
१२—सोशल वेल फेयर इन इन्डिया : पृष्ठ ७१०।
१३—नीरा देसाई : वीमन इन माडर्न इन्डिया पृष्ठ १६३।
१४—'सोशल वेल फेयर इन इन्डिया,' पृष्ठ ७०१।

में प्रयत्न किए गये हैं। आन्ध्र प्रदेश में राय बहादुर कान्दुकुरी वीरेशलिंगम पान्तुलु द्वारा संस्थापित 'हितकारिणी समाज'[1] (स० १९०६), 'श्री बाला सरस्वती स्त्री-समाजम्[2],' 'आन्ध्र महिला सभा[3],' (स० १९४८) तथा 'बेगम मौलाना अबुलकलाम आजाद मेमोरियल गर्ल्स इन्स्टीट्यूट'[4] (स० १९५९) आदि सुधार संस्थाएँ सुधार-क्षेत्र में विशेष रूप से कार्य रत हैं। 'हितकारिणी समाज' द्वारा विधवाश्रमों का निर्माण एवं संचालन बालक-बालिकाओं के लिए शिक्षा प्रचार तथा औद्योगिक प्रशिक्षण आदि कार्य सम्पादित किए जाते हैं। 'श्री बाला सरस्वती स्त्री समाजम्' द्वारा नारी को आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक स्वीकृति दिलाने की दिशा में किए गये प्रयत्न प्रशंसनीय हैं। 'मेमोरियल गर्ल्स इन्स्टीट्यूट' द्वारा बालिकाओं की शिक्षा, नारी कल्याण के लिए आयोजना, अनाथालयों का संचालन तथा मातृ-मन्दिरों का संगठन एवं संचालन होता है। 'महिला सभा' द्वारा भी औद्योगिक प्रशिक्षण कार्य होता है। इस सभा द्वारा संचालित विद्यालय में छात्रावास की भी व्यवस्था है।

मद्रास प्रदेश में सुधार कार्य को श्रीमती वेंकट सुब्बा राव द्वारा स्थापित 'मद्रास सेवा सदन'[5] (स० १९२९) तथा श्रीमती मुत्तुलक्ष्मी रेड्डी द्वारा स्थापित 'अवाई गृह तथा आश्रम[6],' (स० १९३०) के सुधार प्रयत्नों द्वारा विशेष बल दिया है। इसी प्रकार मैसूर राज्य में 'मल्लिकर्जी रिफाहुल मुसलिमीन कन्या अनाथालय'[7] (स० १९०७), 'अबलाश्रम'[8] बंगलौर (स० १९१४), 'गुरुकुल सेवा संघ'[9] (स० १९२८), 'सेवा सदन'[10] 'बंगलौर (स० १९३०),' तथा राघवेन्द्र स्वामी द्वारा स्थापित 'अनाथ सेवाश्रम'[11] मल्लाडिहल्लि (स० १९४३) के द्वारा निराश्रित महिलाओं को आश्रय देने, उनमें शिक्षा प्रचार करने, औद्योगिक क्षेत्र में प्रशिक्षित करने, धार्मिक मनोवृत्ति का विकास करने, गृह-संचालन सम्बन्धी निर्देश देने तथा राष्ट्रीय सेवाओं के लिए उनका मार्ग प्रशस्त करने सम्बन्धी विषयों को लेकर विशेष

१—'सोशल वेल फेयर इन इण्डिया,' पृष्ठ ६७८।
२— ,, ,, पृष्ठ ६८१।
३— ,, ,, पृष्ठ ६८२।
४— ,, ,, पृष्ठ ६८०।
५— ,, ,, पृष्ठ ७३२।
६— ,, ,, पृष्ठ ७३३।
७— ,, ,, पृष्ठ ७४०।
८— ,, ,, पृष्ठ ७३९।
९— ,, ,, पृष्ठ ७४२।
१०—'सोशल वेल फेयर इन इण्डिया' पृष्ठ ७४०।
११— ,, ,, पृष्ठ ७४१।

कार्य किया गया है। त्रावनकोर कोचीन में भी श्रीमती राम वर्मा द्वारा स्थापित 'एर्नाकुलम् वीमन्स एसोशियेशन एण्ड क्लब'[1] (स० १९१९) नारी जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सुधारों की व्यवस्था करने में विशेष रूप से प्रयत्नशील है। क्लब में समय-समय पर महिला सम्बन्धी व्याख्यान आयोजित किए जाते हैं। दूसरी संस्था कोतयम स्थित 'महिला अनाथालय'[2] (१९२३) है, जिसमें अपहृत बालक-बालिकाओं का भरण-पोषण किया जाता है तथा आरम्भिक शिक्षा दी जाती है। श्रीमती माधई अम्मा द्वारा स्थापित 'वनिता समाजम् कथई मण्डल'[3] (स० १९४३) महिला विषयक गाँधी जी के विचारों को स्वरूप प्रदान करने हेतु सचेष्ट है। नारी वर्ग में स्वच्छता, स्वास्थ्य तथा औद्योगिक जीवन का विकास इस मण्डल का प्रमुख उद्देश्य है।

उपसंहार

महिला-जागृति में सहायक उपर्युक्त उपादानों की संक्षिप्त विवेचना कर लेने के पश्चात् निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि इस काल में महिला वर्ग को प्राप्त सामाजिक, राष्ट्रीय एवं आर्थिक स्वीकृति की पृष्ठ-भूमि में इस काल के समाज-सेवियों, राजनीतिज्ञों तथा शिक्षा-शास्त्रियों का योगदान विशेष रूप से सहायक रहा है, जिन्होंने परम्परागत नारी स्थिति में अभूतपूर्व परिवर्तन कर उसे नवीन मान्यता और महत्व प्रदान किया[4], तथा जिसका यह दृढ़ विश्वास था कि भारत की प्रगति भारतीय महिला के साथ सुसम्बद्ध है यदि भारत अपने अतीत गौरव की प्राप्ति करना चाहता है तो उसे नारी को राष्ट्रीय उत्थान के इस महान् कार्य में सहयोग देने के लिए पूर्व स्वीकृति देनी होगी[5]।

१—'सोशल वेल फेयर इन इण्डिया,' पृष्ठ ७५४।
२— „ „ पृष्ठ ७५२।
३— „ „ पृष्ठ ७५४।
४—'वीमन आफ इण्डिया' : पृष्ठ ३२। (भारत सरकार द्वारा प्रकाशित)
५— „ „ पृष्ठ ३२।

१६वीं शताब्दी में उदार-पन्थी सुधारकों द्वारा नारी के नवोत्थान की जिस प्रेरणा को कार्य-क्षेत्र प्रदान किया गया था, बीसवीं शताब्दी में गाँधी जी की राष्ट्रीय विचारधारा तथा उनके नारी-सम्बन्धी पुरोगमों से उस अतीत प्रेरणा में एक नवीन प्रकरण का आरम्भ हुआ, जिसके फलस्वरूप महिला वर्ग में राष्ट्रीय चेतना विकसित हुई। महिला-क्षेत्र में राष्ट्रीय चेतना की यह प्रेरणा कांग्रेस के संस्थापक सदस्यों में प्रमुख श्री ह्यूम द्वारा पहिले ही मुखरित हो चुकी थी।

'Political reformers of all shades of opinion should never forget that unless the elevation of the female element of the nation proceeds PARI PASSU with the work, all their labour for the political entranchment will prove vain[1].

इसी प्रेरणा को गाँधी जी और उनके सहयोगियों द्वारा निश्चित दिशा प्रदान की गई। यह सत्य है कि उन्होंने पुरुष और नारी के भिन्न-भिन्न कार्य-क्षेत्रों की स्थिति स्वीकृति की है, किन्तु दोनों वर्गों के अधिकारों की व्याख्या समान तथा प्रजातन्त्रात्मक भाव-भूमि पर ही हुई है[2]।

इस काल में जहाँ एक ओर राष्ट्रीय आन्दोलन विदेशी सत्ता के विरोध में बल प्राप्त कर रहा था, वहाँ दूसरी ओर देश में पूँजीवादी और जमींदारी व्यवस्था को विनष्ट करने के लिए निम्न वर्गीय समाज के प्रयत्न आरम्भ हो गये थे। फलस्वरूप आन्दोलनों के इस विस्तृत कार्य-क्षेत्र में नारी का कार्य-क्षेत्र और भी विशाल हो गया। यदि नगरों में वह राष्ट्रीय आन्दोलनों में भाग लेती थी, तो ग्रामों में जमींदारी व्यवस्था के विरुद्ध चल रहे अखिल भारतीय किसान आन्दोलनों में भी सहयोग वांछनीय समझा गया। मानसिक चेतना के युग में जैसे-जैसे नारी सार्वजनिक जीवन में प्रवेश करती गयी, वैसे-ही-वैसे उसमें अपनी स्थिति को उन्नत करने तथा अपने अधिकारों को प्राप्त करने की प्रेरणा भी बलवती होती गई। साथ-ही-साथ उसकी नागरिक भावना का भी विकास होता चला गया[3]। 'असहयोग तथा अवज्ञा 'आन्दोलन', 'दांडी यात्रा' तथा 'भारत छोड़ो' आदि राष्ट्रीय आन्दोलनों में उसका योगदान इसी नागरिक भावना के विकास का सूचक है। इस प्रकार इन राष्ट्रीय आन्दोलनों के विकास से भारतीय नारी आन्दोलन का विकास हुआ[4]।

१—मरडॉक जान द्वारा 'ट्वेल्व इयर्स ऑफ इन्डियन प्राग्रेस,' पृष्ठ ३६ पर उल्लिखित।
२—नीरा देसाई : 'वीमन इन माडर्न इन्डिया,' पृष्ठ १३७।
३—मौ मैले : 'माडर्न इन्डिया एण्ड द वेस्ट' पृष्ठ ४७६।
४—नीरा देसाई : वीमन इन माडर्न इन्डिया,' पृष्ठ १४६।

राष्ट्रीय आन्दोलनों में प्रोत्साहन पाने तथा सार्वजनिक क्षेत्र में अवतीर्ण होने के परिणाम स्वरूप भारतीय महिला में आत्म-विश्वास की भावना का प्रस्फुठन हुआ। फलतः परम्परागत कुरीतियों के मूलोच्छेदन के लिए वह कटिबद्ध हुई। उसमें शिक्षा का विकास हुआ। उसकी वैयक्तिकता शोषण के प्रति विरोध का स्वर उठा, तथा वैधानिक सहायता प्राप्त कर, समान स्थिति तथा अवसर की प्राप्ति का मार्ग खोजने लगी। इस युग की महिलाओं ने पुरुष की दया और सहानुभूति की पात्रा न बन कर स्वयं भी अपनी स्थिति को सुधारने का प्रयत्न किया, तथा सफल हुई। नारी आन्दोलन की बागडोर अपने हाथ में लेकर उन्होंने अपनी क्षमता, कार्य-शीलता एवं कर्त्तव्य परायणता तथा अधिकारों के प्रति जागरुकता का परिचय दिया तथा राजनीतिक एवं सामाजिक व्यवस्था, और राजकीय और समाज सेवाओं के सभी क्षेत्रों में प्रवेश कर दिया कि वे बौद्धिक बल में पुरुष समाज से किसी भी प्रकार से हीन नहीं हैं। 'उन्होंने अपने स्वतन्त्रता संघर्ष के आन्दोलन को स्वयं संचालित कर समस्त भारतवर्ष में राष्ट्रीय एवं प्रादेशिक स्तर पर अनेकानेक सुधार संस्थाओं की स्थापना की'। इस प्रकार इस नव-युगीन नारी ने राष्ट्रीय स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए सहयोग देने के साथ-साथ अपनी सामाजिक चेतना का भी विकास किया, तथा अपने प्रत्येक दुर्बल-पक्ष को सबल लनाने की दिशा के प्रयत्न किए। इसी काल में पहली बार मध्य वर्गीय महिलाओं को सामाजिक कार्य-क्षेत्र में प्रवेश करने का अवसर प्राप्त हुआ। तथा मुस्लिम महिलाओं द्वारा सुधार-कार्य का श्री गणेश किया गया। नारी ने अपनी स्थिति को सम्मानित पद पर आसीन करने के लिए वैधानिक अधिकारों की माँग की। अपने वर्ग की पतित बहिनों के उद्धार के लिए उनके द्वारा आश्रम एवं सुधार संस्थाओं की स्थापना हुई। नगर क्षेत्रों के अतिरिक्त ग्रामीण क्षेत्रों में भी ग्राम-सेविकाओं द्वारा सुधार-कार्य को प्रोत्साहित किया गया। सरकार की ओर से आदि-जातीय महिलाओं में भी उनको स्वस्थ दिशा देने के उद्देश्य से प्रयत्न किए जा रहे हैं। १९वीं शती में इस आन्दोलन का क्षेत्र अपेक्षाकृत सीमित था, अब इस काल में उसकी सीमा का विस्तार राष्ट्रीय स्वरूप में हुआ तथा सार्वजनिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अपेक्षाकृत स्वतन्त्रता प्राप्त है। स्वयं अर्जित धन की वह स्वामिनी है, और इसलिए अपने भरण-पोषण के लिए पुरुष पर अवलम्बित न रह कर उसने एक बार फिर से स्वाभिमान युक्त स्थिति को प्राप्त कर लिया है, और इसीलिए आज उसका कार्य-क्षेत्र खेत-खलिहान और पारिवारिक सीमाओं तक परिवद्ध न रह कर विस्तृत हो गया है। उसके लिए शैक्षणिक संस्थाओं, चिकित्सालयों, राजकीय सेवाओं, विभिन्न कार्यालयों तथा विज्ञान शालाओं आदि सभी दिशाओं में प्रवेश-द्वार खुले हैं और वह अपनी रुचि और योग्यतानुसार किसी भी क्षेत्र में कार्य करने के लिए स्वतन्त्र है।

२—नीरा देसाई : 'वीमन इन माडर्न इन्डिया,' पृष्ठ १४६।

नारी-समाज द्वारा अर्जित इतनी उपलब्धियों के साथ-साथ इस नव-जागरण के आलोक में नारी स्थिति के अन्य पक्ष की चर्चा भी अपेक्षित है। नारी-वर्ग को प्राप्त सैद्धान्तिक समानता उसे पूर्ण रूप से सामाजिक स्तर पर सम्मानित पद प्रदान नहीं कर पाई है। उसका सम्पूर्ण जीवन आज भी पुरुष पर पूर्णतया आश्रित है। अपनी रुच्यानुकूल वह विवाह कर सकने में असमर्थ है। विवाहोपरान्त उसकी स्थिति में कोई विकास नहीं होता[1]। वह आज भी पुरुष की इच्छानुसार अपना पथ निर्दिष्ट करती है। विधवा-विवाह समाज-मान्य होते हुए भी व्यावहारिक भाव-भूमि पर अव्यावहारिक है। बाल-विवाह की समाप्ति के उपरान्त अब काफी अवस्था तक विवाह न होने की दूसरी समस्या उत्पन्न हो गई है। अन्तर्जातीय विवाहों के प्रति आज भी स्वस्थ दृष्टिकोण का विकास नहीं हुआ है। नारी की आर्थिक स्थिति भी उन्नत नहीं हो पाई है। धनोपार्जन-क्षेत्र में वह पुरुष से बहुत पीछे है[2]। विवाहिता महिलाओं द्वारा अपनी आय को अपनी सुविधानुसार उपयोग करने का अधिकार नहीं है। उनकी भाँति उनके द्वारा अर्जित धन भी पुरुष की सम्पति है[3]। अविवाहित महिलाएँ अथवा विधवाएँ यदि घर से बाहर धनोपार्जन के लिए कोई कार्य करती हैं तो उन्हें बहुधा अपने पुरुष अधिकारियों की पाशविक वृत्ति का शिकार बनना पड़ता है : कई अवसरों पर वे आत्माभिमान की रक्षा नहीं कर पातीं। जन-संख्या की उत्तरोत्तर वृद्धि भी नारी का पुरुष की अपेक्षा दुर्बल होना ही सिद्ध करती है[4]।

सुधार संस्थाओं के इस विकास काल में इन संस्थाओं द्वारा एक विशिष्ठ वर्गीय महिलाओं को ही सम्मान की प्राप्ति हुई है। नारी के प्रति लोक-सम्मान की भावना अभी तक संकीर्ण धाराओं में आबद्ध है। इन संस्थाओं द्वारा अपहरित महिलाओं की रक्षा, निराश्रित महिलाओं का पालन-पोषण एवं आर्थिक सहायता, उनकी शिक्षा, प्रशिक्षण एवं विधवाओं तथा अवैधानिक शिशुओं का संरक्षण आदि जो भी सुधार-कार्य सम्पन्न किए जाते हैं, वे सब नारी की दयनीय, दुर्बल और हीनावस्था का ही रहस्योद्घाटन करते हैं। पाश्चात्य महिला संस्थाओं की भाँति भारतीय महिला संस्थाएँ उच्चत्तर मानसिक भाव-भूमि के लिए किसी प्रकार का अवसर प्रदान नहीं करतीं। राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर विचार विमर्श तथा कल्याण भावना का विकास करने की दिशा में बहुत कम संस्थाओं द्वारा प्रयत्न किया जाता है, और जो प्रयत्न होते भी है, उनमें

१—चन्द्रकला हाते : 'हिन्दू वीमन एण्ड हर फ्यूचर,' पृष्ठ २२२।
२—जाथर और वेरी : 'इन्डियन एकानामिक्स,' पहली पोथी, पृष्ठ ४६।
३—चन्द्रकला हाते : 'हिन्दू वीमन एण्ड हर फ्यूचर' पृष्ठ २२४।
४—थामस : 'वीमन एण्ड मेरिज इन इन्डिया,' पृष्ठ १९५।

सैद्धान्तिकता की मात्रा इतनी अधिक होती है, कि उनका व्यावहारिक पक्ष विनष्ट हो जाता है। एक प्रकार से ये भारतीय संस्थाएँ मात्र प्रस्ताव पास करने तथा कुछ निराश्रित महिलाओं के भरण-पोषण और शिक्षा की व्यवस्था करने तक ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ लेती हैं। इनका कार्य-क्षेत्र अभी तक नगरों तक ही सीमित रहा है। भारत ग्रामों का देश है अतः ग्रामीण महिलाओं को उन्नत करने तथा उनकी स्थिति में विकास करने की बात बहुत महत्वपूर्ण हो जाती है। समाज सेवियों तथा सुधार संस्थाओं द्वारा अभी इस दिशा में महत्वपूर्ण कार्य नहीं किया जा सका है। श्रीमती मारगेरेट कज़िन्स इन ग्रामीण महिलाओं को स्थानीय पंचायतों में स्थान देने का पक्ष समर्थन करती हैं—

Village women must rise to insisting on their inclusion on local Panchayats. If men seek the advice of women of the family, about money matters in personal affairs, they must take it about the village affairs and the public affairs which also effect women's interest[1].

राष्ट्रीय विकास योजनाओं के इस काल में भारतीय महिलाओं का भविष्य उन ९० प्रतिशत लोगों के साथ में संलग्न है जो खेतों तथा अंधेरी फैक्टरियों में कार्य करते हुए अपने अधिकारों की प्राप्ति के लिए निरन्तर प्रयत्नशील हैं।

'The future of women in India lies with those 90%, who toil and labour in the fields and dark factories and the amount of consciousness that can be roused in them to the rights of their class, for it is with them that the right of their sex are bound up and the measure of the power and influenee they weild will be determind by the strenth of the class they belong to,'[2]

परन्तु इतनी न्यूनताओं के होते हुए भी इस युग में प्राप्त स्वतन्त्र भारत के महिला-वर्ग को ब्रिटिश कालीन नारी समाज की अपेक्षा अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए कहीं अधिक विस्तृत क्षेत्र प्रदान किया है, जिसकी किसी भी प्रकार से उपेक्षा नहीं की जा सकती। शिक्षा के विकास ने उसकी आर्थिक स्थिति को प्रभावित किया है तथा आत्म-निर्भर जीवन विताने के क्षेत्र को स्वरूप किया है। वे अपने लक्ष्य प्राप्ति की दिशा में निरन्तर अग्रसर हैं।

१—मारगेरेट कज़िन्स : इन्डियन वीमनहुड टुडे, पृष्ठ १७५।
२—इक़बाल सिंह तथा राजा राव, : व्हीदर इन्डिया (स०) पृष्ठ १७४-१७५।

प्रकरण—४

आधुनिक हिन्दी-साहित्य में नारी

...१. उत्थान-काल
(१८५७-१९००)

...२. जागृति-काल
(१९०१-१९२०)

उत्थान-काल

(१८५७-१९००)

दूसरे अध्याय में हम कह आए हैं कि भारतीय समाज पाश्चात्य प्रभाव में आकर अपनी बोझिल, संकीर्ण एवं रूढ़िगत व्यवस्था के प्रति विद्रोही हो उठा था। पुरानी परिपाटी पर प्रस्थापित आदर्श नवीन आनीत संस्कृति के आलोक में धूमिल से पड़ने लगे थे। दूसरी ओर भारतीयता के पोषक महान् समाज-सुधारकों द्वारा सामाजिक पुनरुत्थान की भावना को बल प्राप्त हो रहा था और इस प्रकार इन दोनों वर्ग के विचारकों एवं सुधारकों द्वारा वर्तमान के प्रति खीझ उत्पन्न होकर सामाजिक उत्कर्ष की चेष्टा दृढ़ता के सोपान की ओर अग्रसर हो रही थी। सामाजिक क्षेत्र में सुधार और उन्नयन की यह भावना तत्कालीन हिन्दी साहित्यकारों की लेखनी से भी उद्भूत होकर जन-साधारण के मस्तिष्क में नवीन विचारों के प्रति आकर्षण उत्पन्न करने लगी। किसी भी देश और काल में साहित्य और समाज को परस्पर विच्छिन्न शिविरों में विभाजित करके उनका अवलोकन, अध्ययन और अनुशीलन नहीं किया जा सकता, क्योंकि कवि सबसे बड़ा समाज-शास्त्री होता है। एक सीमा तक कलात्मक श्रम की प्रयोगवादिता से सहमत होते हुए भी वह अपनी सृजन-शक्ति को आगे चल कर सामाजिक उपयोगिता के उन प्राकृतिक स्रोतों में प्रवाहित करता है जहाँ चल कर साहित्य के समस्त काव्यात्मक और सौन्दर्यात्मक प्रयत्नों की परिणति एक क्रियात्मक और श्रेणी संघर्ष की शक्तियों से प्रसूत क्रान्ति प्रदर्शन में होती है"।

'उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध तक हिन्दी की प्रधान और एक प्रकार से एक मात्र साहित्यिक सम्पत्ति, काव्य विषयों, भावों, विचारों, रूपों, भाषा तथा शैली की दृष्टि से ताजगी और नवीनता प्रदर्शित नहीं करती। उसकी दशा एक चिर नवीन स्वच्छ और शक्तिशाली जलधारा के किनारे कटकर बन जाने वाली उस क्षीण धारा के समान थी जो बन्द, मटमैली, शांत और दूषित जल से भरी रहती है। और जिसमें कभी-कभी प्रधान धारा की ओर से स्वच्छ जल की लहरें भी तरंगित हो उठती हैं"।

१—रामेश्वर शुक्ल अंचल : लाल चूनर की भूमिका, ये कविताएँ में।
२—लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय : आधुनिक साहित्य (तृ० स०) पृष्ठ २३।

इसीलिए नई चेतना और जागृति के इस नवीन युग से पूर्व हिन्दी कविता विलास भवनों की विलिप्त नायिका एवं शृंगार कुंजों के मध्य वैयक्तिक कुंठित भावनाओं की प्रेयसी बन कर शान्ति पूर्ण ऐश्वर्यमय समाज में वासना का अभूतपूर्व अभिनय कर रही थी। भक्ति-युगीन का वल्लभ कुल की पूज्य राधा, सेनापति, आलम, देव, घनानन्द, दास, तथा पद्माकर आदि रीतिकारों द्वारा लौकिक धरातल पर उतारी जाकर सामान्य प्रेयसी के रूप में ऐन्द्रिय आकर्षण के प्रचार कार्य में लगी थी, फलतः जीवन के संघर्ष, उसके सुख-दुख तथा समता-विषमता आदि वास्तविकताओं से साहित्य का कोई सम्बन्ध न रह गया था। और वैविध्य के अभाव में स्थिर हो कर वह जन-समाज के लिये अनिष्ट का कारण बन रही थी। ऐसी ही परिस्थितियों के बीच नवीन सामाजिक संस्कारों से हिन्दी कविता का सम्पर्क स्थापित हुआ। परिणामस्वरूप साहित्य की धारा, जो अब तक जन-जीवन की तलहटियों से विच्छिन्न, कृत्रिम नालियों में प्रवाहित हो रही थी फिर से सामाजिकता के कगारों को छूती हुई बहने लगी। विदेशी शक्ति द्वारा भारतीय जीवन के संचालन कार्य ने भारतीय भूमि में नए माप-दण्डों की आयोजना स्थापित कर लोक व्यवहार, सांस्कृतिक पुनरुत्थान एवं राजनीति के क्षेत्र में जिन नवीन आदर्शों को प्रस्थापित किया उनके प्रभाव से हिन्दी साहित्य भी अछूता नहीं रह सका। हिन्दी साहित्य में राजनीतिक चेतना एवं सामाजिक जागृति का प्रथम गुरु-मंत्र भारतेन्दु ने फूंका और अपने साथ साहित्यकारों के एक स्थूल को लेकर उन्होंने विषय-क्षेत्र में युगान्तर प्रस्थापित किया और इस प्रकार 'शताब्दियों से भक्ति या शृंगार, चुम्बन और आलिंगन, रति और विलास रोमांच और स्वेद, स्वकीया और परकीया की लड़ियों में जकड़ी हुई हिन्दी कविता को भारतेन्दु ने सर्व प्रथम विलास भवन और लाल कुंजों से बाहर लाकर लोक जीवन के राज पथ पर ला खड़ा कर दिया। हिन्दी कविता में भारतेन्दु ने सर्व प्रथम समाज के वक्षस्थल की धड़कन को सुना।.........सामाजिक क्षेत्र में जाति-पाँति के टंटे और खान-पान के पचड़े और बाल-विवाह और नैतिक पक्ष में पारस्परिक कलह और विरोध, उद्यम हीनता और आलस्य, भाषा, भेष-भूषा की विस्मृति तथा राजनीतिक क्षेत्र में पराधीनता और दासता...जीवन के ये भिन्न-भिन्न स्वर उनकी वेणु से प्रसूत होने लगे।'

(सुधीन्द्र) हिन्दी कविता में युगान्तर, प्रं. स, पृष्ठ २६

भारतेन्दु पितृ-अर्जित वैष्णव संस्कारों को लेकर साहित्य-क्षेत्र में अवतरित हुए थे। मध्य काल से चली आ रही रीति-कालीन कविता की उन पर छाया पड़ी थी और साथ ही नए युग की नव-चेतना की पुकार भी उसके कर्ण कुहरों में गूंज रही थी इसीलिए भारतेन्दु साहित्य इन त्रिविध धाराओं की संगम-स्थली बन पड़ा है, और इसीलिए अपनी सर्वतोन्मुखी प्रतिभा के बल से एक ओर तो वे पद्माकर और

द्विजदेव की परम्परा में दिखाई पड़ते थे, दूसरी ओर वंग देश के माइकेल और हेमचन्द्र की श्रेणी में। एक ओर तो राधाकृष्ण की भक्ति में झूमते हुए नई भक्त-माल गूंजते दिखाई देते, दूसरी ओर मंदिरों के अधिकारों और टीका-धारी भक्तों के चरित्र की हँसी उड़ाते और स्त्री-शिक्षा, समाज सुधार आदि पर व्याख्यान देते पाये जाते थे। प्राचीन और नवीन का यही सुन्दर सामंजस्य भारतेन्दु की कला का विशेष माधुर्य है[1]।

भारतेन्दु की समकालीन सभी साहित्यकार भारतेन्दु को अपना पथ-प्रदर्शक, नेता, तथा गुरु मान कर चले। इसी कारण उनके द्वारा भी रीति-कालीन परम्परा का निर्वाह तथा समाजोपकारी साहित्य की सृजना साथ-साथ हुई है। उपर्युक्त काल वास्तव में पूर्वी तथा पश्चिमी सभ्यताओं का संघात काल है, उस काल के समाज सुधारकों, विचारकों एवं साहित्य सेवियों के सम्मुख प्रमुख रूप से समाज सुधार की नवीन चिन्ताएँ विद्यमान थी। काव्य सृजन के क्षेत्र में भले ही भारतेन्दु ने 'धुंघरारे सटकारे कारे बिथुरे सुथरे केस, एड़ी लो लाम्बे अति सीमित नव जलधर के भेस[2] कहकर रीतिकालीन नखशिख वर्णन परम्परा का निर्वाह किया हो, चाहे 'छरी सी छकी सी जड़ भई सी जकी सी घर, हारी सी बिकी सी सो तो सब ही धरी रहे[3]' द्वारा नायिका के माँसल प्रेम की उष्णता एवं विरह दशाओं को प्रदर्शित किया हो और चाहे—

'सखि मेरे सैंया नहिं आए बीति गई सारी रात
दीपक-ज्योति मलिन भई सजनी होय भयो प्रभात[4]'

और

'एक साँझ मैं थी अकेली गलियों आती
लिए अंचल नीचे घर-हित दिआ बाती
आए इतने में सखि मेरे बाल संघाती
उन दीप बुझाय लगाय लई मोहिं छाती
मैं औचक रह गई, कियो जोई मनमानी
पिय प्यारे की मैं कहं लो कहों कहानी[5]'

१—रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, ग्यारहवाँ संस्करण पृष्ठ ४२३-४२४।

२—भारतेन्दु ग्रन्थावली (भाग १) पृष्ठ ८।

३— ,, ,, पृष्ठ ४५७।

४— ,, (भाग २) पृष्ठ ४७। (प्रेम मलिका)

५— ,, (भाग २) पृष्ठ १९६। (प्रेम तरंग)

भुलाकर लौकिक भाव-भूमि पर उतर आए हों, परन्तु फिर भी नवीन सामाजिक चेतना एवं जागृति से प्रभावित उनके स्वर वहाँ भी उच्चरित हुए हैं उनमें जागरण का शंखनाद है, आबद्ध व्यक्तित्व सामाजिकों के लिये प्रगति का नवीन संदेश है और नवीन मान्यताओं को ग्रहण करने का प्रभावशालिनी पुकार है 'रीति-कालीन कवियों की तरह वे साहित्य के कठघरे में बन्द नहीं रहे। उन्होंने साहित्य में जीवन की पूर्ण अभिव्यक्ति की चाल चलाई"। 'उन्होंने साहित्य और जीवन का सम्बन्ध स्थापित कर परस्पर विच्छेद की गहराई को पाट दिया'।'

प्राचीन और नवीन के इस संधि काल में सामाजिक-उद्बोधन के क्षेत्र में जिन नवीन विचार धाराओं को जन्म मिला उनमें नारी भावना भी प्रमुख थी। रीति-कारों ने जिस नारी में केवल मांसलता, उत्तेजना और हास-परिहास ही देखा, संधि युग के इन साहित्यकारों ने उसे प्रणय की उस लौकिकभाव-भूमि से ऊँचा उठा कर उसकी सामाजिक स्थिति, उसकी समस्याएँ, उसकी विवशता और अश्रु भी देखे उसके विभिन्न रूपों एवं वर्गों की ओर भी दृष्टिपात किया, आर्य-समाज तथा ब्रह्म-समाज के सुधार-प्रचार कार्यों तथा बंगाली भाषा के प्रगतिशील साहित्य से हिन्दी साहित्यकार भी प्रभावित हुए और उन्होंने वाणी के माध्यम से नारी स्थिति के उन्नयन में योग प्रदान किया। संधि काल में किए गये नारी-चित्रण को हम सामान्यतः निम्नलिखित वर्गों में विभाजित कर सकते हैं।

१. रीति-कालीन नायिका चित्रण।
२. नारी का सत् रूप।
३. असत् रूप में नारी।
४. नारी स्थिति सम्बन्धी सुधारवादी दृष्टिकोण।
५. विभिन्न सम्बन्धों में नारी।
६. विभिन्न वर्गों में नारी।

रीति-कालीन नायिका चित्रण

इस उत्थान युग में जिन साहित्यकारों द्वारा नारी में रीतिकालीन नायिका को देखा गया है उनमें भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा बदरीनारायण 'प्रेमघन' प्रमुख हैं। वैष्णव धर्म से प्रभावित हरिश्चन्द्र में राधाकृष्ण भक्ति की पूर्ण निष्ठा विद्यमान है। इस युगल के सम्मुख उनका मस्तक सदैव नत है। 'भक्त सर्वस्व' उनकी इस समर्पण भावना का उज्ज्वल प्रतीक है। अपनी इस रचना की प्रस्तावना में उन्होंने स्वयं इसकी पुष्टि की है।...'यद्यपि इसकी कविता काव्य के सब गुणों से (तुल्य ही) हीन है, तथापि इसका मुझे सोच नहीं है, क्योंकि यह ग्रन्थ मैंने अपनी कविता प्रगट करने

१—रामरतन भटनागर : 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र,' पृष्ठ २२।
२—किशोरी लाल गुप्त : 'भारतेन्दु तथा अन्य सहयोगी कवि,' उपक्रम, पृष्ठ २।

और कवियों को प्रसन्न करने को नहीं लिखा है केवल अपनी वाणी पवित्र करने और प्रेम रंग में रंगे हुए वैष्णवों के आनन्द हेतु लिखा है[१]।'

भक्ति भावना के इतने चरम उत्कर्ष के साथ-साथ उन्होंने 'प्रेम मलिका' में अपने आराध्य को रीतिकारों के नायक-नायिकाओं की कोटि में ला खड़ा किया है। 'प्रेम मलिका' की राधा अपने नेत्रों पर वश नहीं रख पाती। लोक लाज की सीमाओं में बंदिनी होते हुए भी कृष्ण की ओर खिंच ही जाती है[२]। इस लाज के वन्धन को तोड़कर जहाँ 'आलम' की नायिका यह कहती हुई दिखाई देती है—

'लाज तजि जिहि काजु सखि
इन लोगन में वसि आपु हंसाऊँ।
'आलम' आतुरता अति हीं
तिहि लालचु हौं तुम्हारे संग आऊँ।
कान्ह मिले तो मया करि चाहत
हौं न कछू जिय हू की सुनाऊँ।
देखनु को अखियान महा सुख
जो अंसुवानि सों देखन पाऊँ[३]।

वहाँ भारतेन्दु की नायिका उस लोक लाज पर अपशब्दों की वर्षा करती हुई दृष्टिगोचर होती है, जिसने उसे मदन मोहन के साहचर्य से वंचित कर दिया है—

'अरी सखी, गाज परो ऐसी लोक लाज पे मदन मोहन
संग जान न पाई
हों तो झरोखे ठाढ़ी देखत ही कछु, आए इते में कन्हाई
ओचक दीठ पड़ी मेरे तन, हंसि कछु वंसी वजाई
हरीचन्द मोहि विवस छोड़ि कै,
तन मन धन प्रान तीनों संग लाई[४]।

लोकिकता के इस वर्णन क्षेत्र में, 'प्रेमघन' सेनापति की भाँति भारतेन्दु से एक पग आगे है। होलिका उत्सव में यौवन की ड्योढ़ी पर नवागता किशोरी के रूप वर्णन में जहाँ सेनापति ने—

१—व्रज रत्न दास : भारतेन्दु ग्रन्थावली (सं०) (भाग २), पृष्ठ ४, (भक्त सर्वस्व)
२—भारतेन्दु ग्रन्थावली (भाग २), पृष्ठ ४६, (प्रेम मलिका)
३—नगेन्द्र : रीति शृंगार (सं०) पृष्ठ ८४।
४—भारतेन्दु ग्रन्थावली (भाग २) पृष्ठ ४७। (प्रेम मलिका)

'नवल किशोरी भोरी केसरि तें गोरी छैल
छोरी में रही है मद जोबन के छकि कै
अंग फैली ओज, अति उन्नत उरोज पीन
जाँघ थोभ, छीन कटि जाति है लचकि कै" ।

पद्माकर नायिका के अंग-प्रत्यंगों को आकांक्षित आँखों से देखा है वहाँ प्रेमघन—

'कुच कठिनाई की कहाँ लौं कौन समता है
करत कटाछन की काट किहि तौर है
मृदु मुसक्यानि की मजा और माधुरी अधर
पिय को सजोग सुख और किहि ठौर है" ।

द्वारा अनुभवात्मक भाव-भूमि पर रमते दिखाई पड़ते हैं। उनकी 'प्रेम पीयूष वर्षा' तथा 'लालित्य लहरी' में नायिका का सांगोपांग वर्णन, विरह, मिलन, आकांक्षा आदि सभी भावनाएँ रीति-कालीन काव्य परम्परा की प्रेरणा से उद्भूत प्रतीत होती हैं। प्रेमघन में भी वैष्णव मूलक भक्ति निष्ठा भारतेन्दु की ही भाँति विद्यमान थी, किन्तु लगता है कि भक्ति-निरूपण की अपेक्षा शृंगार चित्रकारी में उनका मन अपेक्षाकृत अधिक रमा है, और इसमें भी अधिक सफलता उन्हें नवीन भावनाओं का चित्रण करने में मिली है। प्राचीन रीति परम्परा के सफल कवि होते हुए भी उनके अधिकांश साहित्य में नवीन जागृति के प्रति आकर्षण,[3] सामाजिक समस्याओं के प्रति विक्षोभ[4] और अतीत के प्रति निर्मल पवित्र[5] कल्पना बिखरी पड़ी है। समाज द्रष्टा इन साहित्यकारों द्वारा रीति कालीन परम्परा के निर्वाह को लेकर डा० वार्ष्णेय के शब्दों में यह कहा जा सकता है कि समय की तीव्र गति से मानसिक प्रगति सदैव पिछड़ी हुई रही है। यह भी साहित्य रचना का एक कारण है। समाज के मध्यम वर्ग ने उसे बनाए रखने की चेष्टा की। प्राचीन गौरवशाली साहित्य की परम्परा में होने के कारण उसका महत्व अवश्य है परन्तु वह मृत प्रायः हो चुका था। उसका अन्त हिन्दी साहित्य की एक महान् घटना है[6]। फिर रीति परम्परा का

१—नगेन्द्र : रीति शृंगार (भू०), पृष्ठ ३६ ।
२—प्रेमघन सर्वस्व (भाग १), पृष्ठ २०२ ।
३—वही, (भाग १), पृष्ठ २०० । (जीर्ण जनपद)
४—(अ) वही, (जीर्ण जनपद ६१६-६२०),
(ब) वही, (हार्दिक हर्षादर्श) पृष्ठ २८१ ।
५—वही, (स्वदेश बिन्दु) पृष्ठ ६३१ ।
६—लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय (आधुनिक हि० सा०) पृष्ठ ३८२ ।

निर्वाह करते हुए भी इन साहित्यकारों द्वारा जान बूझ कर सीमा उल्लंघन करने की चेष्टा नहीं की गई है और यह नूतन परिस्थितियों का प्रभाव है। इस नवीनता से आकर्षित, इसके साथ-साथ अपने मनोविकारों का सामंजस्य, इस काल की अपनी विशेषता है।

नारी का सत्-रूप

इस काल में साहित्यकारों की दृष्टि नारी के सत् रूप की ओर भी उन्मुख हुई। नारी की हीनावस्था और विषाद युक्त परिस्थिति के इस प्रहर में उसकी स्थिति को सम्मानपूर्ण पद देने तथा सामाजिक क्षेत्र में उसके अस्तित्व की प्रतिष्ठा प्रस्थापित करने की दिशा में जो प्रयत्न किये गये, नई पीढ़ी उससे अत्यधिक प्रभावित हुई। भारतीय नारी के अतीत आदर्शों को इसी काल में प्रोत्साहित किया गया। 'स्त्री, समाज की अधिष्ठात्री देवी के रूप में पूज्य हुई। महिलाकुल में सतीत्व को उस जाज्वल्यमयी प्रभा का प्रकाश देखा गया जिसके कारण भारतवर्ष भूमण्डल का आदर्श गुरु रहा है"[1]। प्रेमघन ने 'स्वदेश विन्दु' के अन्तर्गत प्राचीन महिलाओं का गुणगान किया और उनमें निहित लज्जा, दया, धर्म, पति सेवा आदि वन्दनीय महान् गुणों के सम्मुख अपना मस्तक नत किया[2]। राधाकृष्ण दास ने नारी हृदय में अन्तर्निहित शक्ति-रूप का उद्घाटन किया। 'महारानी पद्मिनी' नाटक में पद्मिनी अलाउद्दीन द्वारा प्रणय आकांक्षा प्रदर्शित की जाने पर क्रोध पूर्ण स्वर में उसे फटकारती है...'दुख यही है कि तेरे हाथ में शस्त्र नहीं है, तो तुझ से इस पृथ्वी की रक्षा करती। तेरे पापों का फल तुझ को देती, यदि तुझ में कुछ भी सामर्थ हो तो आ शस्त्र ले और मुझ से लड़। देख क्षत्राणियों का सतीत्व भंग करना कैसा होता है प्यारी किस मुंह से कहना होता है '

(राधाकृष्ण दास—महारानी पद्मिनी नाटक पृष्ठ ४२, ४३)

शक्तिमयी होने के साथ-साथ नारी अपने हृदय में प्रेम की एक निष्ठा को भी धारण किए हुए है। किशोरीलाल गोस्वामी के 'राजकुमारी' उपन्यास की सुकुमारी मानिक की प्रेयसी बन कर, उसके उपरान्त किसी अन्य से विवाह करने की कल्पना भी नहीं करती। मानिक के मन की आशंका को वह एक स्थल पर 'तुम पागल हो. कुलवंती लड़कियों का कहीं दो बेर व्याह होता है।' कह कर निर्मूल तथा निराधार बना देती है[3]।

चेतना और दिशा-विकास के इस काल में नारी प्रेम को अपना अधिकार

१—किशोरीलाल गोस्वामी : आदर्श सती, (द्वि स०) पृष्ठ १२३।
२—प्रेमघन सर्वस्व (भाग १) पृष्ठ ६३१ (स्वदेश विन्दु)
३—किशोरील गोस्वामी : राजकुमारी, (द्वि० स०) पृष्ठ ४६।

समझती है। सत्यवान् पर आकर्षित सावित्री की सहेली जब उसे उसके इस मनोरथ से निवृत्त करने का प्रयत्न करती है तो वह उसे फटकार बताती हुई कहती है, 'निवृत्त करोगी' धर्म पथ से। सत्य प्रेम से और इसी शरीर में।'

(भारतेन्दु ग्रन्थावली : सती प्रताप)

भारतेन्दु ने उपर्युक्त नाटक में सावित्री के चरित्र में उस महान् नैतिक भावना का आरोपण किया है जिसके कारण वह मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेती है। सावित्री के चरित्र में नारी का सत् रूप स्पष्टतया मुखरित हुआ है। गोस्वामी जी के उपन्यास 'स्वर्गीय कुसुम' में तथाकथित पतिता कुसुम के मन में भी नारी चरित्र की निर्मल, कोमल कान्ति विद्यमान है अपनी दयनीय एवं घृणात्मक परिस्थिति के मध्य भी उसकी नारी का सत् स्वरूप अनेक अवसरों पर प्रकट होता है। वेश्या होते हुए भी स्नेह के धरातल पर नैतिक मूल्यों की भी एक निष्ठा उसमें विद्यमान है तभी तो वह कहती है—'अब चाहे जान जाय तो भले ही जाय, पर जीते जी रंडी के नापाक पेशे को तो मैं कभी न करूँगी, और या तो मैं यों ही मर जाऊँगी, या किसी ऐसे शख्स के साथ आस्नाई कर लूँगी, जिसके साथ सारी उमर कट जाय[1]।' वेश्या जीवन की भयावहता को जान चुकने के बाद वह अपने उस्ताद से भी पेशा करने के लिये मना कर देती है[2]।

नारी का असत् रूप

नारी के सत् रूप की अभिव्यंजना के साथ-साथ रीति परम्परा के प्रभाव से कहीं-कहीं नारी स्थूल शृंगारिकता के क्षेत्र में भी उतारी गई है, तथा उसके प्रति आदर्श भावना का पतन हुआ है और परिणाम स्वरूप वह केवल काम-क्रीड़ा-सुख प्राप्ति की साधन-मात्र बन कर रह गई है। 'प्रेम पीयूष वर्षा' में प्रेमघन द्वारा स्थूल शृंगार की जो चित्रपटी प्रस्तुत की गई है उसका एक उदाहरण अवलोकनीय है :—

फाग में सोहैं सुहाग भरी
सखियान के संग सों कैसहि छूटी
त्यों घनप्रेम लै गह्यो मोहन
खैंचत मोतिन की लर टूटी
लाल रंग्यो नव लाल गुलाल सों
गाल मल्यो रस सम्पति लूटी
नैननि सों अँसुवा बरसै
जिनके भृकुटी जनु बीर बहूटी[3]।

1—किशोरीलाल गोस्वामी (स्वर्गीय) कुसुम, (द्वि सं०) पृष्ठ २१।
2— ,, ,, पृष्ठ २८-३०।
3—प्रेमघन सर्वस्व (भाग १) पृष्ठ २२२।

भारतेन्दु भी 'विषस्य विषमौषधम्' के अन्तर्गत भंडाचार्य द्वारा नारी को पुरुष जाति को मोहित करने के साधन के रूप में ही देख पाये हैं।

'पुरुष जनन के मोहन को विधि यन्त्र विचित्र बनायो है
काम-अनल लावन्य सुजल बल जाको विरंचि चलाओ है
कमर-कमानी धार-तार सों सुन्दर ताहि सजायो है
धरम घड़ी अरु रेलहु सों बढ़ि यह सबके मन भायो है।'

परन्तु सामान्य रूप में यह द्रष्टव्य है कि नारी के असत् रूप का विकास इस विकासशील युग में अधिक प्रस्फुटित नहीं हो सका। साहित्यकारों का दृष्टि क्षेत्र एवं मानसिक अवस्थान नारी के पुरुत्थान की दिशा में केन्द्रित था। उसकी समाज गत स्थिति को सुधारने का प्रयास ही अधिक बल प्राप्त कर सका। सामाजिक सुधारों एवं सुधार संस्थाओं से प्रभावित और अनुप्राणित साहित्यिकों ने नारी स्थिति की दयनीय स्थिति का प्रचार कर, सामाजिक अरुणोदय के इस प्रहर में उसको जीवन, गति एवं सम्मान देने के क्षेत्र में सतत् प्रयत्न किये।

नारी स्थिति सम्बन्धी सुधार वादी दृष्टिकोण

इस काल के प्रायः सभी साहित्यकारों ने नारी की सामाजिक हीनावस्था का अनुभव किया था। वंग प्रदेश में उद्भूत एवं विकसित समाज सुधार की भावना ने वहाँ सामाजिक साहित्य-रचना की प्रेरणा दी थी। जिस प्रकार से हिन्दी प्रदेश सामाजिक उद्बोधन के लिये बंगाल का ऋणी है, उसी प्रकार साहित्यिक क्षेत्र में भी हिन्दी ने बंगला से ही दिशा-ज्ञान प्राप्त किया। जिस समय हिन्दी गद्य का प्रादुर्भाव हो रहा था, बंगला में कई उच्च कोटि के सामाजिक नाटक एवं उपन्यास प्रकाशित हो चुके थे। हिन्दी साहित्यकारों ने उनका अनुवाद कर हिन्दी साहित्य में नवीन भाव पीठिका प्रस्थापित की। यह काल सुधार काल होने के नाते साहित्यिक क्षेत्र में भी सुधार भावनाओं से आविभूत है। 'जीर्ण जनपद' (प्रेमधन) में नारी की दयनीय अवस्था का हृदयस्पर्शी चित्रण हुआ है—

'नहिं इनके तन रुधिर, मांस नहीं वसन समुज्ज्वल
नहिं इसकी नारिन तर भूषण हाय आज कल
सूखे वे मुख कमल, केश रूखे जिन केरे
वेश मलिन, छीन तन, कुवि हत, जात न हेरे'[1]।

प्रताप नारायण मिश्र ने 'भारत दुर्दशा' रूपक के अन्तर्गत नारी की उस महान् विवशता को उल्लिखित किया है जहाँ वह अपने पति का प्रेम अक्षुण्ण रखने की कामना से, प्रेम की निष्ठा और उनके आदर्श पर जीवित ही अग्निसात हो जाती है। इसी प्रकार किशोरी लाल गोस्वामी कृत 'सुख शर्वरी' की 'अनाथिनी' आत्म

१—प्रेमघन सर्वस्व : जीर्ण जनपद (अवनति कारण) पृष्ठ ६१९-६२०।

हत्या को प्रस्तुत गंगा से अपनी करुण दशा की कथा कहती हुई अपने हृदय की दुर्बलता-सरलता-पर दुख प्रकट करती है[1]। भारतेन्दु ने नारी जीवन को इस करुणा से उबारने का प्रयत्न किया है। 'नील देवी' की भूमिका में उन्होंने अपनी इस भावना को स्पष्ट रूप से प्रकट किया है :—

'इससे यह शंका किसी को न हो कि मैं स्वप्न में भी यह इच्छा करता हूँ कि इन गोरांगी युवती समूह की भाँति हमारी कुल लक्ष्मी गण भी लज्जा को तिलांजलि देकर अपने पति के साथ घूमें, किन्तु और बातों में जिस भाँति अंग्रेज़ युवतियाँ सावधान होती हैं, पढ़ी लिखी होती हैं, घर का काम काज सँभालती हैं, अपनी जाति और अपने देश की सम्पत्ति-विपत्ति को समझती है, उसमें सहायता देती हैं और इतने समुन्नत मनुष्य-जीवन को व्यर्थ गृह-दास्य और कलह में ही नहीं खोती, उसी भाँति हमारे गृह देवता भी वर्तमान हीनावस्था का उल्लंघन करके कुछ उन्नति प्राप्त करें, यही लालसा है।'

: भा० ग्र० (१) पृष्ठ ५.१६। 'नील देवी' :

समझदारी आने पर जिस नारी ने अपनी स्थिति को वासना और कामना की पंकिल परिस्थिति में घिरा हुआ पाया है, ऐसी नारी के प्रति किशोरीलाल गोस्वामी ने पूर्ण सहानुभूति प्रकट की है और उसे वह शक्ति प्रदान की है जिससे वह अपने आत्म-सम्मान की प्रतिकूलता के प्रति प्रतिशोध का स्वर ऊँचा कर सके। 'स्वर्गीय कुसुम' में इन्होंने वेश्यावृत्ति और देवदासी प्रथा का खुला विरोध किया है। ये दोनों परम्पराएँ पुरुष की वासना वृत्ति और उच्छृंखल प्रवृत्ति का परिणाम हैं[2]। 'कुसुम' एक स्थल पर कहती है :—

'देवदासी प्रथा व्यभिचार और वेश्यावृत्ति की जड़ है, और उसे किसी व्यभिचारी महात्मा ने चलाया है[3]" इसी प्रसंग में वह कर्ण सिंह से फिर कहती है— जिस प्रथा से व्यभिचार और वेश्यावृत्ति की दिन दूनी और रात चौगुनी बढ़वार हुई जा रही है, उस प्रथा को धर्म का अंग मानना—यह कैसा विचार है। जो देव मन्दिर धर्म के प्रधान स्थान है और जिन देव मन्दिरों की परिचर्या के लिये लोग अपनी कन्याओं को अधिष्ठाता देवताओं की दासी (देवदासी) की पदवी पाकर उन कन्याओं के साथ उन मन्दिरों मे पुजारी, महन्त, पंडे या ऐसे और भी बहुतेरे लोग जैसा घृणित, भयानक, और पैशाचिक पाशविक अत्याचार किया करते हैं, इन बातों पर कभी आपने या आप ही के समान और भी धर्म प्राण महानुभावों ने कुछ विचार किया है[4]" .

१—किशोरी लाल गोस्वामी : सुख शर्वरी, पृष्ठ ३२।
२— ,, ,, 'स्वर्गीय कुसुम,' पृष्ठ ११६।
३— ,, ,, ,, पृष्ठ १३७।
४— ,, ,, ,, पृष्ठ १३८।

इस स्थल पर यह विचारणीय है कि इस काल के समाज सुधारकों ने नारी समाज के इस पतित पक्ष के उद्धार के हेतु किसी प्रकार की सक्रिय चेष्टा नहीं की थी। उनका ध्यान दूसरे प्रकार के सुधारों पर ही विशेष रूप से केन्द्रित था। परन्तु हिन्दी साहित्यकार ने समाज द्वारा पतित, प्रताड़ित एवं प्रतिलांछित इस नारी के लिये न्याय की माँग की, और सामाजिकों का ध्यान समाज की इस असहनीय बुराई की ओर भी आकृष्ट किया।

इस काल के साहित्यकार ने वैधव्य की ओर भी दृष्टिपात किया। विधवाओं का आधारहीन जीवन, अन्न वस्त्र की समस्या, कुल मर्यादा के आडम्बर को बनाए रखने के लिये उनका तपस्विनी वेश और व्रत, तथा ज्ञान के प्रकाश के अभाव में उनका मृत्यु सा-जीवन— सभी कुछ उसने अपनी सजल आँखों से देखा[1]। और इसकी प्रतिक्रिया स्वरूप उसने विधवा विवाह का समर्थन किया। उसने घोषणा की कि, 'पुनर्विवाह के न होने से बड़ा लोकसात होता है, धर्म का नाश होता है, ललनागण पुंश्चली हो जाती हैं, जो विचार कर देखिए तो विधवागण का विवाह कर देना उनको नरक से निकाल लेना है'[2]। 'दुःखिनी वाला' का रचयिता भी इस विषय में सहमत है— इस भारतवर्ष में बहु-विवाह, बाल-विवाह के होने और विधवा विवाह के न होने से कैसी हानि है।......हम लोगों द्वारा यह कुरीति जितनी उठे, उतना ही हम अपने को धन्य समझें"[3]। श्रीधर पाठक ने बाल-विधवा के अवसादों को, उसकी दयनीय परिस्थितियों एवं उसके शून्य भविष्य को निहारा है[4]। इनकी रचनाओं में जिन बातों की अत्यधिक पुनरावृत्ति मिलती है उनमें कायस्थ निन्दा, बाल-विवाह का विरोध तथा पुनर्विवाह का समर्थन ही मुख्य हैं[5]। पाठक जी ने देश सुधार का विचार[6] नामक कविता 'पश्चिमोत्तर महात्म्य[7] नामक लेख में बाल-विवाह का विरोध तथा विधवा विवाह का समर्थन किया है। बालकृष्ण भट्ट ने 'हिन्दी प्रदीप' के माध्यम से विधवा विवाह के समर्थन में कई लेख लिखे हैं[8]। एक स्थल पर पुनर्विवाह का पक्ष समर्थन करते हुए उन्होंने लिखा है—क्या यह (विधावा विवाह) उस महान् कर्म की अपेक्षा

१—प्रेमघन सर्वस्व (भाग १) पृष्ठ २८१।

२—भारतेन्दु ग्रन्थावली (भाग १) पृष्ठ ७३।

३—राधाकृष्ण दास : दुःखिनी बाला, पृष्ठ ११

४—श्रीधर पाठक : हिन्दी प्रदीप, (जुलाई १८८५) पृष्ठ १९-२०।

५—राजेन्द्र प्रसाद शर्मा द्वारा (हिन्दी गद्य के निर्माता) बालकृष्ण भट्ट में पृष्ठ २०१ पर उत्कथित।

६—हिन्दी प्रदीप : : मई से जुलाई १९०१ में प्रकाशित।

७—वही, मई १८८४, पृष्ठ ८।

८—हिन्दी प्रदीप : मई १८८१, पृष्ठ २२, अगस्त १८८१, पृष्ठ ४।

हुआ है जो विधवा होकर गुप्त व्यभिचार करती, प्रति वर्ष सैकड़ों गर्भपात कराय दोनों कुलों को दूषित करती हैं[1]।

इतना होते हुए भी कुछ साहित्यकार पुनर्विवाह का स्पष्ट विरोध करने में असमर्थ रहे हैं। स्वयं भारतेन्दु ने 'जो विधवा विवाह करती है उसको पाप तो नहीं होता, पर जो नहीं करतीं, उनको पुण्य अवश्य होता है'[2]। कह कर बालकृष्ण भट्ट या श्रीधर पाठक जी की तरह से पुनर्विवाह का तीव्र समर्थन नहीं किया है। किशोरीलाल गोस्वामी ने वैधव्य की पवित्रता पर विशेष बल दिया है। 'श्रद्धेय बुआजी (जो बाल विधवा थीं) का मन बहुत ही पवित्र, उदार और प्रसन्न था। उनका चरित्र अत्यंत निर्मल, पुनीत और आदर्श था और उनका हृदय अति मनोहर, उन्नत और वात्सल्यरस-पूरित था।'

(आदर्श बाला, पृष्ठ १२)

उपर्युक्त कथनों की पृष्ठभूमि में भारतीय समाज की वह धार्मिक प्रवृत्ति विशेष रूप से दिखाई पड़ती है। पाश्चात्य आलोक की स्वीकृति प्रदान करते हुए भी नवीन साहित्यकारों में प्राचीन परम्पराओं का खुला विरोध करने का साहस नहीं था। एक ओर तो नवीन मान्यताओं से प्रभावित दिखाई पड़ते थे, एवं दूसरी ओर प्राचीनता का मोह भी उनकी प्रतिभा को अपने में बाँधे था। इस उलझन में वे प्रगतिशील मान्यताओं की ओर मन से आकर्षित हुए भी कथनी में उससे पिछड़े हुए ही रह जाते थे।

पुनर्विवाह-समर्थन के साथ-साथ भट्टजी ने अनमेल विवाह का भी विरोध किया। परिवार में कैसी अशान्ति के मूल में अनमेल विवाह भी प्रमुख कारणों में से एक है। इस विषय में एक स्थल पर उन्होंने लिखा है—'दम्पति कलहा का बीज तो इसी अनमेल चित्त के विवाह के कारण बीज का पेड़ा बनता है जहाँ चित्त चित्त का जोड़ा ठीक-ठीक नहीं हुआ करता'[3]।'

अवस्था में कम पति को पाकर पत्नी अपनी सारी जवानी नैहर में ही बिता देती है। उसे दुःख होता है कि विवाह के समय उसकी अनुमति क्यों नहीं ली गई और इस अनमेल विवाह के परिणाम स्वरूप उसका पूर्ण जीवन अपने पिता को कोसते और अपने भाग्य का रोना रोते ही बीतता है[4]। दूसरी ओर एक बालिका का विवाह वृद्ध से कर दिया गया है। वृद्ध से उसका व्यवहार उसके केवल इसीलिए अच्छा है कि उसके किशोर शरीर से वह, अपनी वृद्ध तन की पिपासा शान्त करने की आशा लगाए है। वह उसे 'जापानी' साड़ी, गहना और बालों का प्रलोभन देता है,

१—हिन्दी प्रदीप, मई १८८३, पृष्ठ १०-८।
२—भारतेन्दु ग्रन्थावली (भाग १) पृष्ठ ३४।
३—हिन्दी प्रदीप, सितम्बर १८८६, पृष्ठ १६-८।
४—भट्ट निबन्ध (भाग १) ४५, ४८, ४६।

लेकिन किशोरी की किसी किशोर को पाने की कामना इन भौतिक वस्तुओं से अधिक श्रेष्ठ है इसीलिए वह कहती है—

'आगि लगे तोहरी जर तारी-सारी लहंगा चोली रामा
हरि हरि तुहऊँ के धरि खाय नाग कहूँ काला रे हरी।

... ...

जब लग चढ़े जवानी हम पर तब तक तूं मरि जाव्य (रामा)
हरि हरि तब हमार फिर होय कवन हवाला रे हरी
फेरि कैसे मन मिले कह : तो मुरदा औ जिन्दा कै रामा'[1]।

अनमेल विवाह की भाँति बाल-विवाह के प्रति भी साहित्य सेवियों का आक्रोश प्रकट हुआ है। भारतेन्दु ने 'भारत दुर्दशा' में सत्यानाश फौजदार द्वारा 'बालपन में व्याही, प्रीति बलनास किये सब' कहला कर तत्कालीन प्रचलित इस प्रथा पर अच्छा कटाक्ष किया है। इन्हीं की भाँति प्रेमघन ने भी 'वर्षा विन्दु' अंतर्गत बाल-विवाह पर व्यंगात्मक उक्ति प्रस्तुत की है।

'नई दूल्ही बनाय, गोदी तोहके उठाय
मुंह चूमब खेलाय, मोरे बारे बारे बलमूं।
पावे पावों न उठाय छाती, बाल पिय पाय
गोरी कह तो सरमाय, मोरे बारे बलमूं।
प्रेमघन अकुलाय, रस बिना बिलखाय
कहे खिल्ली सी उड़ाय, मोरे बारे बलमूं'[2]।

'हिन्दी प्रदीप' की संचिकाओं में भट्टजी का बाल-विवाह प्रथा के प्रति तीव्र विरोध प्रतिलक्षित होता है। उनके मतानुसार बाल-विवाह के परिणाम स्वरूप असमान दम्पतियों की अभिवृद्धि समाज को नरकमय बना देती हैं। ये असमान दम्पति ही अनाचार और भ्रष्टाचार के प्राकृतिक जनक होते हैं। 'यदि बाल-विवाह बन्द कर दिए जायें तो पुरुषों की मृत्यु संख्या इतनी घट जाये कि शायद विधवा-विवाहों की आवश्यकता ही न पड़े'[3]। 'बाल-विवाह विषयक एक चीज़' में श्री प्रताप नारायण मिश्र ने भी इस सामाजिक कुप्रथा की भर्त्सना की है। उनका कहना है कि 'शीघ्र बोध के कारण जिन श्लोकों को प्रमाण मान कर हिन्दू भाई इस घोर कुरीति पर फिदा है, जिनके लिये नई रोशनी वाले बिचारे काशीनाथ पर फटकेबाजी करते हैं, उनका ठीक-ठीक अर्थ ही कोई नहीं विचारता, नहीं तो उनमें तो महा निषेध, वरंच भयानक रीति से बाल्य-विवाह का निषेध ही है'[4]। इसी प्रकार राधाकृष्ण दास

१—प्रेमघन सर्वस्व (भाग १) पृष्ठ ५४७-५४८।
२—वही, पृष्ठ ५४५।
३—हिन्दी प्रदीप : अक्टूबर से दिसम्बर १८९०, पृष्ठ १९।
४—प्रताप नाराण मिश्र ग्रन्थावली (प्रथम खण्ड) पृष्ठ ११४।

स्थान पर उन्होंने बाल्य-विवाह का विरोध किया है तो अन्य स्थल पर वे अपना मत परिवर्तन इस प्रकार कर लेते हैं......'यह तो बाल्य-विवाह के द्वेषी महाशय भी माने होंगे कि यदि शारीरिक, मानसिक व सामाजिक बाधा उत्पन्न होती है तो छोटी आयु के समागम से होती है न कि विवाह मात्र से। सो उस (स्वल्पायु सहवास) को शास्त्र में कहीं आज्ञा ही नहीं है, केवल कन्यादान के लिये अनुशासन है। उससे और सहवास से वर्षों का अन्तर पड़ जाता है[1]।' इसी प्रकार अपने 'स्त्री,' शीर्षक निबन्ध के अन्तर्गत उन्होंने विवाद में वर-वधू की इच्छा को स्वीकृति दी है। परन्तु बाल्य-विवाह' में वे ठीक इसके विपरीत कहते दिखाई पड़ते हैं—'जो लोग कहते हैं कि वर कन्या की इच्छा से होना चाहिए उन्हें यह भी उचित है कि पच्चीस वर्ष का पुरुष और सोलह वर्ष की स्त्री विद्या तथा बुद्धि चाहे जितनी रखती हो पर सांसारिक अनुभव से पूर्ण दक्षता प्राप्त नहीं कर सकती...अतः वर कन्या की अपेक्षा उनके जनक जननी की इच्छा अधिक श्रेष्ठ है[2]। स्त्री-शिक्षा की ओर भी उनका ध्यान आकृष्ट हुआ है। उनके मतानुसार उनके लिये व्याख्यान भी आयोजित करने चाहिए परन्तु स्त्री जाति को स्त्री धर्म की शिक्षा पर्दे के साथ ही देना उनकी दृष्टि में श्रेयस्कर है[3]। युग के सबसे प्रगतिवादी लेखक होने पर भी भारतेन्दु की लेखनी से सती होने का भाव व्यंजित हो पड़ा है। 'वैदिक हिंसा न भवति' में नील देवी अमीर को मार कर कहती है—'मेरी यही इच्छा थी कि मैं इस चांडाल को अपने हाथ से वध करूँ। इसी हेतु मैंने कुमार को लड़ने से रोका, सो इच्छा पूर्ण हुई। (और आघात) अब मैं सुखपूर्वक सती हूँगी[4]' परन्तु इस कथन को युग छाया ही समझना चाहिए। सती प्रथा के समर्थन में उपर्युक्त वक्तव्य नहीं दिया गया है, यह निश्चित है। इस प्रकार समाज सुधार की इस प्रबल धारा में जहाँ कहीं रूढ़िवादिता या प्राचीनता की क्षीणकाय रेखाएँ दीख पड़ती हैं वह सब आदि युग से चली आ रही उन परम्पराओं के प्रभाव का परिणाम है। उनको पूर्व संस्कारों से प्रभावित कुछ साहित्कार निर्दयतापूर्वक झटका देकर अपने बंधन मुक्त करा सकने में असमर्थ रहे हैं फिर भी उनकी रचनाओं में युग चेतना का प्रखर प्रकाश है जिसे कभी भी दृष्टि ओझल नहीं किया जा सकता।

विभिन्न स्वरूपों में नारी

इस काल के साहित्यकारों ने नारी को उसके विभिन्न स्वरूपों में भी देखा है।

१—प्रताप नाराण मिश्र ग्रन्थावली (भाग १) पृष्ठ ४८४।
२— ,, ,, ,, पृष्ठ ४८२।
३— ,, ,, ,, पृष्ठ १६०।
४—भारतेन्दु ग्रन्थावली (भाग १) पृष्ठ ५४५।

उपर्युक्त सामाजिक कुप्रथाओं की आलोचना करने के साथ-साथ समस्त साहित्यिकों ने समाज-सेवियों की ही भाँति एक स्वर से नारी शिक्षा के प्रचार पर बल दिया है। भारतेन्दु ने नारी के शिक्षित होने की अनिवार्यता को स्पष्ठ किया है—'नारी पढ़े बिन एक हू काज न चलत लखाइ।' फिर माता द्वारा बालक को खान-पान तथा खेलने के समय दी गई शिक्षा का महत्व गुरू द्वारा प्रदत्त शिक्षा से कहीं अधिक होता है। अतः शिक्षिका होने के लिये स्वयं शिक्षिता होना अनिवार्य है 'हमारी ललनाओं की हीन दशा' (हिन्दी प्रदीप, जनवरी १८९१ पृष्ठ १४-१७) के अन्तर्गत भट्ट जी ने स्त्रियों का पक्ष लेकर पुरुषों से अपना रूढ़ दृष्टिकोण परिवर्तित करने की माँग की है। उनका विश्वास है कि शिक्षित नारियाँ पुरुषों के लिये सहायक सिद्ध होंगी। उनके कथनानुसार 'स्त्री-शिक्षा खूब फैलनी चाहिए। उत्तम स्त्रियाँ सचमुच वह अमूल्य रत्न हैं कि पति सदा उनको अपने हृदय पर धारण किए रहें[1]।' वे निश्चयपूर्वक इस बात पर बल देते हैं कि, 'जिस दिन हमारी सीधी सादी ललना समाज में शिक्षा का असर पैदा हो गया, जैसा बंगाल में हो चला है उस दिन फिर ये मन्दिर और देवस्थान हिन्दुस्थान की एक पुरानी बात मात्र रह जाएगी[2]'। पाठकजी ने भी 'देश सुधार का विचार' के अन्तर्गत स्त्री-शिक्षा का समर्थन किया है[3]। प्रताप नारायण मिश्र ने 'पतिव्रता' के अन्तर्गत नारी के लिये भारतीय परम्परा की शिक्षा का समर्थन किया है। वे भारतीय नारी को पाश्चात्य शिक्षा प्रदान करने के पक्ष में नहीं हैं[4]। उन्होंने नारी के लिए उस शिक्षा की व्यवस्था करनी चाही है, जिससे वे पातिव्रत धर्म का निर्वाह कर सकें।

'स्त्रीगण को शिक्षा देवें कर पतिव्रता यश लेवें[5]।'

समुचित व्यवस्था न होने पर खेद भी प्रकट किया है[6]।

किशोरीलाल गोस्वामी कन्याओं को पाठशाला भेजने के स्थान पर घर पर ही हिन्दी और संस्कृत की शिक्षा देने के पक्ष में हैं[7]। पाश्चात्य और पौर्वात्य रचनाकारों की मनोवृत्ति में परस्पर मतभेद भी दिखाई पड़ता है। और विचारों के पारस्परिक मतभेद को यह प्रताप नारायण मिश्र में सर्वाधिक प्रतीत होती है। एक

१—हिन्दी प्रदीप : सितम्बर १८८४, पृष्ठ १७।
२—वही, अप्रैल से जून १८९१, पृष्ठ २९।
३—हिन्दी प्रदीप : मई से जुलाई १९०१।
४—प्रताप नारायण मिश्र ग्रन्थावली (भाग १) पृष्ठ १९०।
५—रामरतन भटनागर द्वारा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र में पृष्ठ ५० उत्कथित।
६—प्रताप नारायण मिश्र ग्रन्थावली (भाग १) पृष्ठ २०१।
७—मालती माधव, पृष्ठ ७५।

स्थान पर उन्होंने बाल्य-विवाह का विरोध किया है तो अन्य स्थल पर वे अपना मत परिवर्तन इस प्रकार कर लेते हैं......'यह तो बाल्य-विवाह के द्वेषी महाशय भी जाने होंगे कि यदि शारीरिक, मानसिक व सामाजिक बाधा उत्पन्न होती है तो छोटी आयु के समागम से होती है न कि विवाह मात्र से। सो उस (स्वल्पायु सहवास) की शास्त्र में कहीं आज्ञा ही नहीं है, केवल कन्यादान के लिये अनुशासन है। उससे और सहवास में वर्षों का अन्तर पड़ जाता है[1]।' इसी प्रकार अपने 'स्त्री,' शीर्षक निबन्ध के अन्तर्गत उन्होंने विवाह में वर-वधू की इच्छा को स्वीकृति दी है। परन्तु 'बाल्य-विवाह' में वे ठीक इसके विपरीत कहते दिखाई पड़ते हैं—'जो लोग कहते हैं कि वर कन्या की इच्छा से होना चाहिए उन्हें यह भी उचित है कि पच्चीस वर्ष का पुरुष और सोलह वर्ष की स्त्री विद्या तथा बुद्धि चाहे जितनी रखती हो पर सांसारिक अनुभव में पूर्ण दक्षता प्राप्त नहीं कर सकती...अतः वर कन्या की अपेक्षा उनके जनक जननी की इच्छा अधिक श्रेष्ठ है[2]। स्त्री-शिक्षा की ओर भी उनका ध्यान आकृष्ट हुआ है। उनके मतानुसार उनके लिये व्याख्यान भी आयोजित करने चाहिए परन्तु स्त्री जाति को स्त्री धर्म की शिक्षा धर्म के साथ ही देना उनकी दृष्टि में श्रेयस्कर है[3]। युग के सबसे प्रगतिवादी लेखक होने पर भी भारतेन्दु जी लेखनी से सती होने का भाव व्यंजित हो पड़ा है। 'वैदिकी हिंसा न भवति' में नील देवी अमीर को मार कर कहती है—"मेरी यही इच्छा थी कि मैं इस चांडाल को अपने हाथ से वध करूँ। इसी हेतु मैंने कुमार को लड़ने से रोका, सो इच्छा पूर्ण हुई। (और आघात) अब मैं सुखपूर्वक सती हूँगी[4]" परन्तु इस कथन को युग छाया ही समझना चाहिए। सती प्रथा के समर्थन में उपर्युक्त वक्तव्य नहीं दिया गया है, यह निश्चित है। इस प्रकार समाज सुधार की इस प्रबल धारा में जहाँ कहीं रूढ़िवादिता या प्राचीनता की क्षीणकाय रेखाएँ दीख पड़ती हैं वह सब आदि युग से चली आ रही उन परम्पराओं के प्रभाव का परिणाम है। उनको पूर्व संस्कारों से प्रभावित कुछ साहित्यकार निर्ममतापूर्वक झटका देकर अपने बंधन तुड़ा सकने में असमर्थ रहे हैं फिर भी उनकी रचनाओं में युग चेतना का प्रखर प्रवाह है जिसे कभी भी दृष्टि ओझल नहीं किया जा सकता।

विभिन्न स्वरूपों में नारी

इस काल के साहित्यकारों ने नारी को उसके विभिन्न स्वरूपों में भी देखा है।

१—प्रताप नारायण मिश्र ग्रन्थावली (भाग १) पृष्ठ ४८८।
२— ,, ,, ,, पृष्ठ ४८२।
३— ,, ,, ,, पृष्ठ १६०।
४—भारतेन्दु ग्रन्थावली (भाग १) पृष्ठ ५४५।

अपनी निष्ठा पर अटल रहने वाली 'चन्द्रावली' प्रेयसी के समुज्ज्वल आदर्श को प्रस्तुत करती है। उसे नेह का परिणाम विछोह के रूप में असहाय है। अपने प्रेमादर्श की दुहाई देती हुई वह अपने झूठे आश्वासन देने वाले प्रिय से इतना ही कह पाती है—

'हरिचन्द' भये निरमोही इते निज
नेह को यों परिनाम कियो
मन माहीं जो तोरन ही की हुती
अपनाइ कै क्यों बदनाम कियो।

(भा० ग्र० १ : चन्द्रावली नाटिका : पृष्ठ ४२८)

'चन्द्रावली' के समान ही विवाह से पूर्व भी सत्यवान के प्रति सावित्री का अटूट प्रेम लक्षित होता है। उसके लिये सत्य प्रेम का पथ ही धर्म पथ हो जाता है। गोस्वामी कृत 'राजकुमारी' में भी प्रेयसी की इस निष्ठा के दर्शन होते हैं। सुकुमारी अपने प्रिय मानिक की बिगड़ी हुई दशा से अधक विज्ञ होकर भी एक बार उससे प्रेम करने के पश्चात् केवल उसी से प्रेम करती चलती है। (राजकुमारी : पृष्ठ ५)

पत्नीत्व के आदर्श की भावना इस युग में अधिक प्रभावशाली ढंग से व्यक्त हुई है। 'पतिव्रत' धर्म से नारी सब प्रकार से समर्थ है। उसकी कीर्ति स्वर्ग से भी गाई जाने की कल्पना की गई है।

: भारतेन्दु ग्रन्थावली (१) पृष्ठ सं० ६७६ (सती प्रताप)

'पत्नी का सुख एक मात्र पति की सेवा है। जिस बात में प्रियतम की रुचि हो उसी में सहधर्मिणी की रुचि हो' (वही, पृष्ठ ६८८)

प्रतिव्रता नारी में संसार में सुखों का मूल निहित है[1]। नारी के लिये पति ही संसार में अनन्य देवता है[2]। उससे बिना वह आहार तक नहीं कर सकती, इससे उसका धर्म बिगड़ता है[3]। वह पतिपरायण सती साध्वी नारी के रूप में ही पूज्य है[4]।

इस प्रकार इस काल में नारी के पत्नीत्व स्वरूप की मर्यादा को पति पुरुष

१—नारी समजग में नहिं सुख मूल, पतिवरता नारी मिलवे सम दुख नहिंपायो मूल,
: भा० ग्र० (१) पृष्ठ ६६६ (सती प्रताप)

२—(अ) 'पति सम जग में नहिं कोउ देव'
: भा० ग्र० (१) पृष्ठ ६६६, (सती प्रताप)

(ब) 'निश्चय ही स्त्री के लिए पतिव्रत से बढ़कर कोई धर्म नहीं है, न पति से बढ़कर कोई देवता है :—प्रताप नारायण मिश्र ग्रन्थावली, (१) पृष्ठ १८६।

३—प्रताप नारायण मिश्र ग्रन्थावली (१) (कलि कौतुक रूपक)

४—बाल कृष्ण भट्ट : नल दमयन्ती।

की सेवा एवं आज्ञापालन से पृथक देखने की चेष्टा नहीं की गई। पति के व्यक्तित्व से विलग उसका अपना कोई व्यक्तित्व नहीं है। वह पुरुष की दासी है, पति का सुख उसका सुख है। नारी में पतिव्रत धर्म को प्रस्थापित करने के लिये कठोर चारित्रिक पवित्रता को प्रतिष्ठित किया गया। उसकी स्वतन्त्र वैयक्तिकता पति से अलग अपना कोई महत्व नहीं रखती और इस तरह पति की सेवाओं में सदैव तत्पर नारी ही पत्नीत्व की आदर्श समझी गई।

माता के रूप में नारी को भगवान के समान पूजा की अधिकारिणी समझा गया तथा सदैव ही उसके मंगल की कामना की गई। पुत्रवती माता को विशेष आदर दिया गया।

'धनि धनि भाग जसोदा तेरो। जायो जिन अविनाशी बाल'

: प्रेमघन सर्वस्व (१) (जन्माष्टमी की बधाई) पृष्ठ ४६० :

माता यदि अपने व्यक्तिगत जीवन में कैसी ही क्यों न रही हो, परन्तु अपनी सन्तान की आँखों में वह सदैव ही पवित्र, पूजनीय और श्रद्धेय है। गोस्वामी जी की 'आदर्श सती' में न्यायाधीश द्वारा पूछे जाने पर लाल्ली माँ बसन्ती के विषय में उपर्युक्त भाव का समर्थन करती हुई दिखाई पड़ती है।—वह कहती है...

'चाहे वे (माँ) कैसी ही रही हों, पर आखिर तो वे मेरी माँ ही थी। इसलिये मैं उनके चाल-चलन के बारे में अपनी जबान से कुछ नहीं कहा चाहती।'

(आदर्श सती पृष्ठ १२८।)

'महारानी पद्मिनी' में माँ शक्ति के रूप में प्रस्तुत की जाती है। देश की रक्षा के लिए वह प्रसन्नता से अपने पुत्रों को बलि दे देती है[1]। 'सौ अजान एक सुजान' की रमा का चरित्र माता की श्रद्धायुक्त भावना से पूरित है। नारीगत दुर्गुणों की छाया उसकी चारित्रिक उच्चता के सम्मुख नहीं ठहर पाती[2]।

जिस प्रकार पत्नी को अपने पति के कठोर अनुशासन में रहने की बात उपर्युक्त पंक्तियों में कही गई है। उसी प्रकार इस काल के साहित्यकारों ने कन्या के माता-पिता के नियन्त्रण में दिशा प्राप्त करने की भावना का समर्थन किया है। उसके जीवन को संचालित करने का, उसके लिये सभी प्रकार के निर्णय देने का अन्तिम अधिकार उसके अभिभावकों को ही है, इस विषय में कन्या का अपना व्यक्तित्व, अपनी आकांक्षा तथा अपनी वाणी कुछ भी अर्थ नहीं रखती[3]।

१—राधाकृष्ण दास : महारानी पद्मिनी (नाटक)।

२—बालकृष्ण भट्ट : सौ अजान एक सुजान (द्वि० सं०) पृष्ठ ४१।

३—सखि ! यही जगत की चाल जिति हैं पचारी
उनके सब ही विधि मात-पिता अधिकारी
जेहि चाहैं ताकहँ दान करें निज बारी
यामें कछु कहनो, तजनो लाज दुलारी

: भारतेन्दु ग्रन्थावली (भाग १) पृष्ठ ६८६

इस काल में पत्नी और कन्या को इतने कठोर अनुशासन में रखने का समर्थन शायद इसी कारण किया गया है कि ये साहित्यिक भारतीय नारी में पाश्चात्य संस्कृति और नवीन विचार धारा में निहित तथाकथित उच्छृंखलता की भावना का समावेश नहीं होने देना चाहते थे। सभी न्यूनताओं को जान कर भी भारतीय संस्कृति और भारतीय संस्कारों से उनका स्वाभाविक एवं अटूट सम्बन्ध था। नारी समाज के लिये आत्मोन्नति का पथ-निर्देश करते हुए भी यह नहीं भूलना चाहते थे कि नारी स्वभाव से कोमल, भावुक तथा संवेदनशील है और इसीलिये जीवन में संतुलन बनाए रखने के लिये उसे पुरुष समाज द्वारा निर्देशित पथ पर ही चलना श्रेयस्कर है। इसी कारण इस काल की रचनाओं में, सामाजिक क्षेत्र में पुरुष और नारी को समान भाव-भूमि पर प्रतिष्ठित नहीं किया गया। स्वभाव की भिन्नता में दोनों के लिये कार्य-क्षेत्र प्रदान किए। फिर भी सामान्य जीवन में दोनों के परस्पर सहकार की आवश्यकता समझी गई।

विभिन्न वर्गों में नारी

इस काल में सामाजिक व्यवस्था के अनुरूप विभिन्न वर्गीय नारियों के विषय में यद्यपि अधिक नहीं कहा गया है फिर भी प्रसंग वश कहीं-कहीं पर उनका विवरण प्राप्त होता है। कुलीन वर्गीय नारियों का जीवन ऐश्वर्य और विलास के मध्य शृंगारिक सृष्टि का परिचायक है। वे प्रेम करती हैं, उनका प्रिय से विछोह होता है, वे कलपती हैं, प्रिय को प्राप्त करती हैं और अन्त में दोनों का मिलन हो जाता है। लगता है कि जैसे वे प्रेम करने के लिये ही उत्पन्न हुई हैं। भारतेन्दु की चन्द्रावली, गोस्वामी की लवंगलता, आदर्श सती की लीलावती तथा 'राजकुमारी' की सुकुमारी आदि इसी कोटि की संभ्रान्त परिवार की महिलाएँ हैं। उन्हें सामाजिक स्वतन्त्रता की स्वीकृति नहीं मिली है। इसीलिए प्रिय को संदेशे दासियों द्वारा भेजे जाते हैं तथा एकान्त में लुक-छिप कर मिलन व्यापार की क्रीड़ा का महान् समारोह जुटाया जाता है। राज-परिवार कुलीन महिलाओं में साहित्यकारों ने शक्ति, शौर्य और तेज के दर्शन किए हैं। राधाकृष्ण दास की 'महारानी पद्मावती' इसका प्रमाण है। परन्तु यह अतीत गौरव की पुनरावृति की चेष्टा मात्र है वास्तव में इस कोटि की महिलाओं का चित्रण करते समय लेखों पर रीति-कालीन छाया के स्पष्ट दर्शन होते हैं।

मध्य परिवार में नारी की स्थिति सदैव से ही दयनीय रही है। अशिक्षा, कलह, विद्वेष के बीच मध्य-वर्गीय नारी का जीवन दिन-प्रति-दिन अवसान की ओर अग्रसर होता चलता है। 'निस्सहाय हिन्दू' में मदन मोहन की पत्नी द्वारा नारी-स्थिति विषयक सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया गया है।

'चारों ओर दुख ही दुख है, कहाँ तक वर्णन करूँ। देखिए चाचीजी तो ऐसी दुख देती है कि बड़ा ही कष्ट होता है। जो कहीं उन्होंने मेरे हाथ में कोई पुस्तक

व्यक्तित्व के विकास में नवीन विद्वत् समाज की उदार आधुनिक मान्यताओं से पूर्ण सहयोग और प्रेरणा प्राप्त हुई ।'

इस काल में पाश्चात्य संस्कृति की प्रेरणा से प्रस्फुटित बुद्धिवाद की नई चेतना ने प्राचीन अन्धविश्वासों का विनाश कर, प्रस्तुत उपकरणों से प्रयोगात्मक रीति पर चलते हुए नवीन सिद्धान्तों का प्रतिवादन किया। इस नवीन युग-चेतना और युग संस्कृति के आलोक में हिन्दी साहित्य रचना के आदर्शों में भी आमूल परिवर्तन करते हुए, 'देश की नवीन परिस्थितियों ने आधुनिक युग में स्वतन्त्रता, देश-प्रेम तथा समाज-सुधार की भावनाओं को जन्म दिया, जिससे साहित्यकारों को नवीन विषय उपलब्ध हुए और जिनकी उन्होंने अपने साहित्य का आधार बनाया[1] ।' इस काल के साहित्य में तत्कालीन परिस्थितियों से प्रभावित होकर, प्रचलित प्रवृत्तियों में सुधार एवं सहयोग, अधोगामी रूढ़ियों के प्रति विद्रोह तथा उज्ज्वल भविष्य की ओर संकेत आदि भावनाओं का प्रकाश भली भाँति देखने को मिलता है[2] ।'

पूर्व पृष्ठों में विवेचित उत्थान-काल के अन्तर्गत सुधार भावना एक विशिष्ठ वर्ग तक ही सीमित रही, रूढ़िगत समाज को परिपाटियों एवं धारणाओं से आक्रान्त दलित वर्ग की ओर उस काल के लेखकों का ध्यान अधिक आकृष्ठ न हो सका, इसके विपरीत जागृति-काल में साहित्यकार का दृष्टि-विस्तार हुआ तथा उसके द्वारा राष्ट्रीय जागृति के आलोक में सामाजिक सुधारों को एकाकार कर देखने का प्रयत्न किया गया। उसने भारतीय नारी की करुण-स्थिति की ओर दृष्टिपात किया और साथ ही नारी सम्बन्धी नवीन आदर्शों की कल्पना भी की। उत्थान काल तक चलते आए नारी के माँसल, उत्तेजक और असत् रूप के प्रति उपेक्षापूर्ण भावना का विकास इसी काल में हुआ। अब उसके व्यक्तित्व में साहस, शौर्य, सत-सौन्दर्य और इनसे महत्वपूर्ण नैतिकता आरोपित की गई। इस काल के साहित्यकार ने जीवन की यथार्थता को तो चित्रित किया ही, साथ ही अपनी कल्पना के नए आदर्श भी प्रस्तुत किए, जो समाज को तत्कालीन राजनैतिक चेतना के पार्श्व में नवीन दिशा निर्देश देने में सहायक सिद्ध हुए। इस क्षेत्र में इस युग का लेखक विशेष रूप से सजग और सतर्क रहा है तथा 'सामान्य मानवता के जीवन तथा अनुभूतियों का चित्रण[3]' उसकी अभूतपूर्व सफलता और विशेषता रही है।

परन्तु, इस प्रकार, यदि एक ओर देश-काल के अनुसार कार्य करने की प्रेरणा हिन्दी साहित्यकारों की अनुभूति से निःसृत हो सामाजिक क्षेत्र में अपना भाव-विस्तार कर

१—गंगा बख्श सिंह : द्विवेदी युगीन निबन्ध साहित्य, पृष्ठ ३७ ।

२—वही, पृष्ठ ३७ ।

३—डा० सुधीन्द्र : 'हिन्दी कविता में युगान्तर,' पृष्ठ २०० ।

जागृति-काल (१६०१-१६२०)

उपर्युक्त उत्थान-काल के अन्तर्गत सामाजिक पुनरुत्थान के आलोक में साहित्यिक नारी-स्थिति का विवेचन करने के पश्चात् जब हम अगले बीस वर्षों के भारतीय इतिहास एवं राजनैतिक गतिविधियों का अध्ययन करते हैं तो ज्ञात होता है कि इस काल में राष्ट्रीय और सामाजिक चेतना की विकास-भावना पिछली शताब्दी के उत्तरार्द्ध की अपेक्षा अधिक तीव्र-भाव-धाराओं में प्रवाहित हुई है। १६वीं शती के अन्त तक कॉंग्रेस का कार्य-क्षेत्र अपने वार्षिक अधिवेशनों में प्रस्ताव पारित करने तथा कुछ सामान्य विषयों के निमित अंग्रेज सरकार के सम्मुख याचिका प्रस्तुत करने तक ही सीमित था। परन्तु बीसवीं शताब्दी के आरम्भिक वर्षों से ही एक नवीन जागृति का अरुणोदय हुआ, जिसके परिणाम-स्वरूप कॉंग्रेस के अधिकारों की मांग अधिक विस्तृत होती गई और साथ ही उसमें क्रियाशीलता का प्रादुर्भाव भी हुआ। १६०४ में लोक सभा में प्रत्येक प्रान्त से दो सदस्यों के सीधे प्रतिनिधित्व की मांग हो गई[1]। १६०५-१६०६ में समय-समय पर अधिक अधिकारों एवं स्वायत शासन की मांग को दोहराया गया। १६०५ में बंग-भंग की घटना को लेकर सम्पूर्ण देश में एक प्रकार से विद्रोह और चेतना की लहर दौड़ गई। इसी चेतना के परिणामस्वरूप १६०६ के 'मिन्टो-मारले' सुधारों का आयोजन हुआ। १६१० से १६११ तक जिलों तथा नगरपालिकाओं की सदस्यता के लिए पृथक निर्वाचनों के विरोध ने राष्ट्रीय चेतना को बल प्रदान किया[2]। १६१५-१६ के बीच कांग्रेस द्वारा स्वायत शासन की मांग को बल देकर बार-बार दोहराया गया।। फलस्वरूप १६१७ में मांटेग्यू द्वारा उत्तरदायी सरकार की स्थापना करने के विचार की घोषणा की गई। १६१७ में कलकत्ता अधिवेशन में नारी को स्थानीय संस्थाओं के निर्वाचन सम्बन्धी अधिकार तथा

१—पी. पी. सीतारमैया: हिस्ट्री ऑफ द इन्डियन नेशनल कांग्रेस, पहली पोथी, पृष्ठ २५।

२—वही, पृष्ठ २७।

शैक्षणिक-क्षेत्र में समान अवसर देने सम्बन्धी विचार प्रकट किये गये[1]। इस प्रकार से राष्ट्रीय चेतना के क्षेत्र में नारी की पुनरुत्थान वादी भावना भी जागृति के एक नए स्तर पर अधिष्ठित हुई। उसके उपरान्त १९१९ के 'मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधार' की आयोजना से असन्तुष्ट राष्ट्रीय कांग्रेस ने गांधी जी के नेतृत्व में १९२० में सत्याग्रह आन्दोलनों का नवीन पथ ग्रहण किया, जिससे राष्ट्रीय चेतना विकसित हुई।

गांधी जी द्वारा आरम्भ किये गये इन आन्दोलनों में नारी को सामाजिक क्षेत्र के विस्तार में अपनी वैयक्तिकता के विकास का अवसर मिला और वह भी राष्ट्रीय उत्थान एवं स्वतन्त्रता प्राप्ति के आयोजनों में पुरुष के समान कार्य-क्षेत्र में अवतीर्ण होने लगी। नारी की राष्ट्रीय चेतना का पूर्ण विकास बीसवीं शती के दूसरे दशक के बाद ही होता है, परन्तु विकास के परमाणु इस जागृति-काल (१९०१-१९२०) में ही स्पष्ट दिखाई पड़ने लगते हैं।

राजनैतिक चेतना के इस प्रहर में १९वीं शताब्दी में स्थापित सुधार संस्थाओं द्वारा भी नारी स्थिति के विकास की दिशा में सफल प्रयत्न हुए। इस संदर्भ में आर्य-समाज का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। भारतीय आदर्शों पर आधारित मानदण्डों की योजना, नवीन जागृति का आग्रह, अन्धविश्वासों और रूढ़ियों के विनाश का प्रयत्न और सफलता तथा नारी समाज में शिक्षा, संस्कृति और सामाजिक स्वीकृति के विकास की चेष्टा इस 'समाज' की अपनी विशेषता है। आर्य-समाज की ही भांति ब्रह्म-समाज, ब्रह्म-विद्या समाज आदि संस्थाओं द्वारा भी नारी-स्थिति के विकास का प्रयत्न इस जागृति काल तथा आगे तक भी बना रहा। १९१७ में स्थापित 'महिलाओं की भारतीय परिषद्' ने नारी को अपने विकास की दिशा में नए क्षितिज प्रदान किए। पाश्चात्य आदर्शों की कल्पना और तत्पश्चात् व्यवहार द्वारा भारतीय समाज में जिस पुनर्निर्माण की भावना का विकास हो रहा था, उससे नारी जाति के प्रति भी सुधारकों का ध्यान अधिक से अधिकतर आकृष्ट हो रहा था। उसकी वैधानिक एवं सामाजिक अयोग्यता की परम्परागत धारणा को समूल विनष्ट करके उसे राजनैतिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक क्षेत्र में समान अवसर प्रदान करने के नवीन आदर्शों को प्रस्फुटित और विकसित किया गया। भारतीय राष्ट्रीयता ने प्रारम्भ से ही प्रजातन्त्रात्मक भावना को प्रसारित किया, जिसके क्षेत्र-विकास में लिंग, जाति एवं प्रदेश की भिन्नता को अस्वीकार करते हुए वैयक्तिक विकास के निमित्त समान भाव-भूमि की योजना की गई[2]। इसीलिए महिला समाज को भी अपने

१—बी. पी. सीतारमैया : हिस्ट्री ऑफ द इण्डियन नेशनल कांग्रेस, पहली पोथी, पृष्ठ ४२।

२—ए. आर. देसाई : सोशल बैकग्राउन्ड ऑफ इण्डियन नेशनलिज्म (द्वि० सं०) पृष्ठ २१२।

व्यक्तित्व के विकास में नवीन विद्वत् समाज की उदार आधुनिक मान्यताओं से पूर्ण सहयोग और प्रेरणा प्राप्त हुई।'

इस काल में पाश्चात्य संस्कृति की प्रेरणा से प्रस्फुटित बुद्धिवाद की नई चेतना ने प्राचीन अन्धविश्वासों का विनाश कर, प्रस्तुत उपकरणों से प्रयोगात्मक रीति पर चलते हुए नवीन सिद्धान्तों का प्रतिवादन किया। इस नवीन युग-चेतना और युग संस्कृति के आलोक में हिन्दी साहित्य रचना के आदर्शों में भी आमूल परिवर्तन करते हुए, 'देश की नवीन परिस्थितियों ने आधुनिक युग में स्वतन्त्रता, देश-प्रेम तथा समाज-सुधार की भावनाओं को जन्म दिया, जिससे साहित्यकारों को नवीन विषय उपलब्ध हुए और जिनको उन्होंने अपने साहित्य का आधार बनाया'।' इस काल के साहित्य में तत्कालीन परिस्थितियों से प्रभावित होकर, प्रचलित प्रवृतियों में सुधार एवं सहयोग, अधोगामी रूढ़ियों के प्रति विद्रोह तथा उज्ज्वल भविष्य की ओर संकेत आदि भावनाओं का प्रकाश भली भाँति देखने को मिलता है[2]।'

पूर्व पृष्ठों में विवेचित उत्थान-काल के अन्तर्गत सुधार भावना एक विशिष्ठ वर्ग तक ही सीमित रही, रूढ़िगत समाज को परिपाटियों एवं धारणाओं से आक्रान्त दलित वर्ग की ओर उस काल के लेखकों का ध्यान अधिक आकृष्ठ न हो सका, इसके विपरीत जागृति-काल में साहित्यकार का दृष्टि-विस्तार हुआ तथा उसके द्वारा राष्ट्रीय जागृति के आलोक में सामाजिक सुधारों को एकाकार कर देखने का प्रयत्न किया गया। उसने भारतीय नारी की करुण-स्थिति की ओर दृष्टिपात किया और साथ ही नारी सम्बन्धी नवीन आदर्शों की कल्पना भी की। उत्थान काल तक चलते आए नारी के मांसल, उत्तेजक और असत् रूप के प्रति उपेक्षापूर्ण भावना का विकास इसी काल में हुआ। अब उसके व्यक्तित्व में साहस, शौर्य, सत-सौन्दर्य और इनसे महत्वपूर्ण नैतिकता आरोपित की गई। इस काल के साहित्यकार ने जीवन की यथार्थता को तो चित्रित किया ही, साथ ही अपनी कल्पना के नए आदर्श भी प्रस्तुत किए, जो समाज को तत्कालीन राजनैतिक चेतना के पार्श्व में नवीन दिशा निर्देश देने में सहायक सिद्ध हुए। इस क्षेत्र में इस युग का लेखक विशेष रूप से सजग और सतर्क रहा है तथा 'सामान्य मानवता के जीवन तथा अनुभूतियों का चित्रण'[3] उसकी अभूतपूर्व सफलता और विशेषता रही है।

परन्तु, इस प्रकार, यदि एक ओर देश-काल के अनुसार कार्य करने की प्रेरणा हिन्दी साहित्यकारों की अनुभूति से निःसृत हो, सामाजिक क्षेत्र में अपना भाव-विस्तार कर

१—गंगा बख्श सिंह : द्विवेदी युगीन निबन्ध साहित्य, पृष्ठ ३७।
२—वही, पृष्ठ ३७।
३—डा० सुधीन्द्र : 'हिन्दी कविता में युगान्तर,' पृष्ठ २००।

रही थी—उसके माध्यम से राष्ट्रीय भावनाओं के समानान्तर सामाजिक क्षेत्र—विशेषकर नारी वर्ग—का यथार्थ चित्रण हो रहा था, और साथ ही पथ-निर्देश करने के उद्देश्य से नवीन आदर्शों की योजना भी अनुप्राणित हो रही थी, तो दूसरी ओर स्फुट रूप से नारी के भक्ति और रीतिकालीन स्वरूप को भी अंकित किया जा रहा था। इस प्रकार की रचना की पृष्ठ-भूमि में पुरातन परम्पराओं के निर्वाह और उनके प्रति साहचर्य जनीन मोह की भावना ही प्रमुख थी। अतः इस काल में भी महावीर प्रसाद द्विवेदी जैसे आदर्शवादी साहित्यकारों के मार्गदर्शन में साहित्यिक विकास का कार्य होते हुए भी यत्र-तत्र नारी के प्रति उपेक्षापूर्ण भावना अथवा स्थूल रीति शृंगार की परिपाटी अपने तिरोहित होते हुए रूप में कहीं न कहीं अभिव्यक्ति हो ही गई है।

हिन्दी साहित्य में नारी सम्बन्धी जिस नैतिकता का विकास इस काल में देखने को मिलता है, वह स्वयंभूत नहीं थी। वास्तव में नारी की सामाजिक स्थिति में इतना आमूल परिवर्तन नहीं हो गया था कि साहित्यिक क्षेत्र में वह अनायास ही इतने भाव-स्तर पर अधिष्ठित हो सकती। इन युग में भी नारी की सामाजिक स्थिति में किसी भी क्रान्तिकारी परिवर्तन की उद्भावना नहीं हो गई थी, उसकी स्थिति न्यूनाधिक रूप में पिछले काल की भाँति ही दयनीय, दुःखपूर्ण एवं करुण थी, परन्तु जागृति-काल में उसकी इस शोचनीय अवस्था के प्रति न्याय करने की भावना बलवती हुई, परिणामस्वरूप उसके सत् रूप को महान् आदर्श की प्रतिष्ठा में प्रति-वेष्ठित कर साहित्यिक भाव-भूमि पर प्रतिष्ठित किया गया। यह उक्ति अगले पृष्ठों में नारी की 'वस्तु स्थिति' तथा 'नवीन आदर्श' शीर्षकों में अन्तर्गत की गई नारी विवेचना को तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर स्पष्ठ हो जाता है। उधर राजनैतिक सक्रियता एवं राष्ट्रीय जागरण के फलस्वरूप स्वतन्त्रता प्राप्ति की दिशा में नारी के सहयोग की कल्पना भी आकार ग्रहण कर रही थी। इसीलिए इस काल की साहित्यिक नारी में शुद्ध नैतिकता एवं महान् आदर्शों की भावना के साथ-साथ राष्ट्रीय चेतना की भावना को भी अभिव्यक्त किया गया। जागृति-काल की नारी-भावना को इस रूप में चित्रित करने का एक और भी कारण है। इससे पूर्व साहित्य में नारी को अति स्थूल एवं लौकिक भाव-भूमि पर चित्रित करके उसके महान्तम गुणों एवं सत् रूप को दृष्टि ओझल किया जा रहा था। इसके विरोध-स्वरूप इस काल में राम नरेश त्रिपाठी, प० महावीर प्रसाद द्विवेदी, मैथिली शरण गुप्त, 'हरिऔध' तथा नाथूराम शंकर आदि प्रभृति साहित्यकारों ने नारी के उस उज्ज्वल पक्ष की कल्पना की जिसे रीति-कालीन शृंगारिक कवियों की नायिका के विरह-मिलन, काम-क्रीड़ा एवं गुल्म, द्रुम-कुंजों की अतिशयता में प्रकट होने का अवसर ही प्राप्त नहीं हुआ। इस तरह इस काल का साहित्य प्रतिक्रियात्मक साहित्य भी कहा जा सकता है। इस काल की नारी, इसीलिए, साहित्यकान की

नैतिक सहानुभूति से आविर्भूत होकर उच्चादर्श की दिशा में अग्रसर होती प्रतीत होती है। समाजगत नैतिकता के आलोक में नारी वर्ग का यह पर्यवेक्षण इस काल की नारी सम्बन्धी भावना को विशिष्ठता प्रदान करता है।

जागृति-कालीन साहित्यिक नारी चित्रण का अवलोकन निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत अधिक स्पष्ट रूप से किया गया है :

(१) वस्तु स्थिति
(२) नवीन आदर्श
(३) सुधार-भावना
(४) नारी—विभिन्न सम्बन्धों में
(५) विभिन्न वर्गों में नारी
(६) नारी के विविध रूप
(७) प्रतीकात्मक नारी-भावना
(८) राष्ट्रीय चेतना और नारी।

वस्तु-स्थिति

प्रगति काल के साहित्यकारों ने सामाजिक जागरुकता के आलोक में उपेक्षित विषयों की ओर अपनी रुचि दिखलाई अतः 'साहित्यिक जीवन की युग चेतना में पूर्ण नवीन अभिव्यक्तियां प्राप्त हुईं'। उन्होंने तत्कालीन परिस्थितियों के बीच सामाजिक जीवन की विषमताओं का विशेष अध्ययन एवं चित्रण करने में बड़ी सूक्ष्मता से काम लिया है। महिला-वर्ग की वस्तु-स्थिति को भी उद्‌घाटित करने में भी इस काल के साहित्यकार पूर्ण उत्साही रहे। इस काल का कवि महिला-समाज की असहाय अवस्था का ध्यान करके दुख से आविभूत होकर उसकी सुदशा के लिए भगवान से प्रार्थना करता है[1]। सामाजिक बन्धनों में नारी इतनी विवश है कि वह इच्छित वर की प्राप्ति नहीं कर सकती। विवाहोपरान्त वह पूर्ण परतन्त्र है। पुरुष-वर्ग अपने ऐश्वर्य की चकाचौंध में नारीत्व का क्रय करता है[2]। और इस प्रकार सामाजिक क्षेत्र में महिला सम्मानपूर्ण जीवन की मान्यताओं से रहित, अपनी कोमल ममता और अपनत्व के शव को ढोती फिर रही है।

जैसा कि नारी की सामाजिक स्थिति की विवेचना करते हुए देखा जा चुका है कि इस काल में सुधार संस्थाओं का यथेष्ट विकास हुआ इन सुधार संस्थाओं की स्थापना और विकास ही इस बात का प्रमाण है कि महिला वर्ग की स्थिति दयनीय

१—देखिए :—प्रिय प्रवास, (हरिऔध), मिलन (रामनरेश त्रिपाठी)
२—द्वारिका प्रसाद गुप्त : आत्म समर्पण, पांचवां सर्ग, पृष्ठ ५७।
३—अयोध्यासिंह उपाध्याय : 'अधखिला फूल'।

थी और इसी कारण उसमें सुधार की महत्ती आवश्यकता थी। महादेवी वर्मा के 'अतीत के चलचित्र' वास्तव में इस जागृति-काल के ही चित्र हैं। सामाजिक स्थिति अपने यथार्थ रूप में अभिव्यक्त हुई है। काव्य से गद्य की ओर उनकी उन्मुखता है। द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ चित्रों में क्रमशः बाल-विधवा की परिवारगत वस्तु-स्थिति, विमाता के दुर्व्यवहार की करुणतम झांकी एवं कर्त्तव्यपरायण परन्तु शापित एवं प्रताड़ित भारतीय नारी के चित्र प्रस्तुत किए गये हैं, जो सभी चारित्रिक गुणों से पूर्ण होते हुए भी पुरुष समाज के अन्याय, शोषण और उनके द्वारा की गई दुरावस्था को लम्बी, कभी समाप्त न होने वाली करुण कथा की छाया विस्तृत करते चलते हैं[1]। उनकी सामाजिक स्थिति का अध्ययन कर ऐसा लगता है कि जैसे 'भारतीय समाज उनकी अभिशप्त परवशता की पृष्ठभूमि में अन्तिम साँसें' गिन रहा हो। पुत्री का जन्म सम्पूर्ण परिवार में 'दरिद्र निराशा' व्याप्त करने के लिए पर्याप्त होता है—

'उस समय परिवार में कन्याओं की अभ्यर्थना नहीं होती थी। आंगन में गानेवालियाँ, द्वार पर नौबत वाले और परिवार में बूढ़े से लेकर बालक तक सब पुत्र की प्रतीक्षा में बैठे रहते थे। जैसे ही दबे स्वर से लक्ष्मी के आगमन का समाचार दिया गया, वैसे ही घर के एक कोने से लेकर दूसरे कोने तक दरिद्र निराशा व्याप्त हो गई[2]।

पुत्री के जन्म की ही भाँति विधवा का जीवन भी इस काल के इतिहास में अपनी करुणा के ही स्वरूप को लेकर चला है। विधवा मारवाड़िन की दशा का संवेदनशील वर्णन इस कथन की पुष्टि के लिए पर्याप्त है[3]—

'वृद्ध एक ही समय भोजन करते थे, और वह तो विधवा ठहरी। दूसरे समय भोजन करना ही यह प्रमाणित कर देने के लिए पर्याप्त था कि उसका मन विधवा के संयम प्रधान जीवन से ऊब कर किसी विपरीत दिशा में जा रहा है।'

O O O

'उस १९ वर्ष की युवती की दयनीयता आज समझ पाती हूँ, जिसके जीवन के सुनहरे स्वप्न गुड़ियों के घरोंदे के समान दुर्दिन की वर्षा में केवल बह ही नहीं गये, वरन् इसे इतना एकाकी छोड़ गये कि इन स्वप्नों की कथा कहना भी सम्भव नहीं हो सका'।

इस काल की नारी बहु-विवाह, अनमेल विवाह तथा वैधव्य की परम्परागत जटिलताओं में इतनी हतोत्साह प्रतीत होती है कि उसमें समुचित दिशा पा सकने की बात को सोच सकने का भी ज्ञान नहीं है। महादेवी वर्मा ने अपने पाँचवें चित्र में उस

१—महादेवी वर्मा : देखिए, 'अतीत के चलचित्र'।
२—वही, देखिए, पहला चित्र।
३—वही, देखिए, दूसरा चित्र, पृष्ठ २७-२८।

विधवा वहिन की करुण कहानी को प्रस्तुत किया है जिसका भाई अपनी विधवा बहिन को अपने घर में एक सामान्य आश्रय दे सकने में असमर्थ है। नारी जीवन के दुर्भाग्य की इससे अधिक दयनीयता शायद सम्भव नहीं है। निदान वह इन सबको सहते रहने की अभ्यस्त हो गई है कि उसके प्रति की गई किसी भी प्रकार की प्रवंचना उसे असामान्य नहीं लगती।

नारी-वर्ग की वस्तु-स्थिति का दिग्दर्शन हमें श्रीधर पाठक की 'हेमंत,' तथा 'महिला परिषद् के गीत"[1] आदि रचनाओं में तो होता ही है, परन्तु इस भावना को अधिक स्पष्ट अभिव्यक्ति द्विवेदी जी के 'कान्य कुब्ज अवला विलाप' (कान्य कुब्ज, अंक ८, १९०६) में मिली है—

> महा मलिन से मलिन काम हम करती हैं दिन रात।
> दुखी देख पति, पिता पुत्र को, व्याकुल हो कृश करतीं गात।
> हे भगवान हाय ! तिस पर भी उपमा कैसी पाती हैं।
> 'ढोल तुल्य ताड़न अधिकारी' हमीं बनाई जाती हैं।

द्विवेदी जी की ही भाँति नाथूराम शंकर शर्मा ने भी निराश्रय महिलाओं की दयनीय दशा को सजल नेत्रों से देखा है—

> विधवा रिस रोक रो रही हैं
> लाखों कुल कानि खो रही हैं
> जारों के गर्भ धारती हैं
> जानती हैं और मारती हैं

(सरस्वती, मई अंक, १९०६)

राष्ट्रीय कवि मैथिली शरण गुप्त ने 'भारत भारती' की कृषक पत्नियों के अथक परिश्रम को असफल होते देखा है, उनके प्रति पुरुष वर्ग की उपेक्षा देखी है। बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह तथा कन्या विक्रय होते देखा है। उनका विश्वास है कि नारी की वर्तमान उपेक्षा के परिणामस्वरूप ही आज हम अधःपतन की सीमा को लाँघ चले हैं। आज की हमारी दुरावस्था का कारण उस पवित्रतम, निष्ठावान श्रद्धेय नारी के अन्तर् से निकला अभिशाप ही है जिसके ____ हमने सदैव ही उपेक्षा और अन्याय की प्रवृत्ति वरती है—

> 'ऐसी उपेक्षा नारियों की जब स्वयं हम कर रहे।
> अपना किया अपराध उनके शीश पर धर रहे।
> भागे न क्यों हम से, भला फिर दूर सारी सिद्धियाँ।
> पाती स्त्रियाँ आदर जहाँ, रहती वहाँ सब ऋद्धियाँ।

१—सरस्वती मासिक : दिसम्बर १९०५।

उनकी दुर्दशा[1] का वर्णन कर सकना भी कवि के लिए कष्टकर है—

'नारी जनों की दुर्दशा हमसे कही जाती नहीं,
लज्जा बचाने को अहो ! जो वस्त्र भी पाती नहीं।

o o o

पाले हुए पशु पक्षियों का ध्यान तो रखते सभी।
पर नारियों की दुर्दशा क्या देखते हैं हम कभी॥

सामाजिक स्वीकृति के अभाव में नारी को गृह सीमाओं के भीतर आबद्ध कर उसके मन-बहलाव के लिए पुरुष ने आभूषणों के खिलौनों की आयोजना की। कालान्तर में साहचर्य और परम्परा के परिणामस्वरूप वही निर्जीव खिलौने उसे रुचिकर लगने लगे, और एक समय आया जब ये निर्जीव आभूषण ही उसके सर्वस्व हो गये। कवि ने इस व्यंग में भी उनकी भारी दयनीयता ही प्रकट की है—

है ध्यान पति से भी अधिक आभूषणों का अब उन्हें।
तब तुष्ट हों तो हों कि मढ़ दो मण्डनों से जब उन्हें॥

(भारत भारती, पृष्ठ १३६)

इस प्रकार जागृति काल की नारी अपने सामाजिक पद में अत्यन्त दयनीय और कुण्ठा-ग्रस्त रही है। फिर भी उसे समाज की कल्याणकारी शक्ति के रूप में प्रस्तुत किया गया है और उसके इस स्वरूप के प्रति साहित्यकार श्रद्धारत रहा है। उसके दयनीय व्यक्तित्व में नवीन आदर्शों की प्रतिष्ठा कर, उसे सामान्य भाव-भूमि से उच्चतर धरातल पर लाने का प्रयास इस काल के साहित्यिक की प्रमुख लालसा रही है।

नवीन आदर्श

इस काल के साहित्यकार महिला वर्ग की वस्तु स्थिति का चित्रण करके ही नहीं रह गये, साथ ही वे नारी के प्रति सामान्य निर्देश एवं नवीन आदर्शों की कल्पना करना भी नहीं भूले। नारी के सामान्य रूप का चित्रण जहाँ भी हुआ है, वहाँ वह विवेकशून्या, बुद्धिहीना एवं पुरुष की आश्रिता के रूप में ही वर्णित हुई है[2]। लेकिन रीति-कालीन साहित्य की प्रतिक्रिया, नवीन राष्ट्रीय एवं सामाजिक चेतना एवं युग के साथ चलने की प्रेरणा आदि नवीन उद्भूत भावनाओं के परिणामस्वरूप

१—मैथिली शरण गुप्त : भारत भारती, पृष्ठ ८६ तथा १३८।

२—'स्त्री जग में स्वच्छन्द चारिणी कभी न बन पाती है, तरुवर के आश्रित होकर के लतिका बढ़ पाती है।' (रामचरित उपाध्याय) रामचरित चिंतामणि, ११ वाँ सर्ग)

नारी को नैतिक आदर्शों से पूर्ण समाज की मुख्य शक्ति के रूप में उपस्थित करने का प्रयास भी इस काल के साहित्यिकों द्वारा पूर्ण निष्ठा और जागरूकता के साथ हुआ है। नैतिक आदर्शों का आरोपण 'प्रियप्रवास' की राधा तथा 'मिलन' की विजया में हुआ है, जो प्रिय के विरह में 'निसि दिन बरसत नैन हमारे' न कह कर समष्टि के सुख-दुख में अपने कर्त्तव्य की रूप-रेखा खोजती हैं। सूर की राधा की भाँति 'हरिऔध' की राधा भी प्रेमिका अवश्य है, किन्तु वह स्वार्थमय मोह की गली को छोड़कर, निःस्वार्थ प्रणय के प्रशस्त राजमार्ग पर बढ़ती है, उसके प्रणय में ही परहित भावना लक्षित होती है[1]। इस काल में भक्ति और रीतिकालीन उद्भूत एवं प्रचलित रति व्यंजना की धारा द्विवेदी जी के कठोर अनुशासन द्वारा सहसा ही रोक दी गई थी। 'उनके युग की प्रेम-प्रधान कविताओं में घोर शृंगारिकता असंयम व्यक्तित्व, वासना आदि के स्थान पर शिष्टता, संयम, व्यापकता, लोक-पावनत्व आदि का समावेश हुआ[2],' और इसी कारण नारी के उज्ज्वल स्वरूप की कल्पना को आधार मिला। प्रिय विरह में कातर नायिका 'सर्व भूत हिताय' के सिद्धान्त को लेकर स्व-दुख कारता का पर-दुःख कातरता में विकास कर लेती है जिसके फलस्वरूप उसके 'जीव' में अनुपम महा विश्व का प्रेम जाग उठता है, क्योंकि उसे ज्ञात है कि उसके प्रिय भी लोक-मंगल कार्य में लगे हैं, फिर वह ही पीछे कैसे रह सकती है।' इस प्रकार विश्व वेदना में ही उसकी आत्म-वेदना का पर्यावसान होता है[3]। वह एकान्त प्रेमिका नहीं है, उसका हृदय दुख से अधिक विचलित होकर संवेदनशील हो उठा है। इसीलिए तो उसमें पथ के श्रन्त पथिकों के, लज्जाशील पथिक महिला के, मधुप मधुपी के, क्लान्ता कृषक ललना के सुख-दुःख की भी अनुभूति है...कवि 'हरिऔध' का यह मानववाद है[4]।

आदर्श की स्थापना के इस प्रयत्न में नारी के अबला रूप को सबला स्वरूप में देखने के दृष्टिकोण का विकास 'मिलन' की विजया में हुआ है। वह विजया जो—

'शक्ति नहीं जो नाथ! तुम्हारा,
सुन भी सकूं प्रयाण।
रहते प्राण न जाने दूंगी,
मेरे जीवन प्राण।[5]

१—शैल कुमारी : आधुनिक हिन्दी काव्य में नारी भावना, पृष्ठ ६०-६१।
२—उदय भानु सिंह : महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग, पृष्ठ २०५।
३—'हरिऔध' : प्रिय-प्रवास : पंनदश सर्ग।
४—सुधीन्द्र : हिन्दी कविता में युगान्तर, पृष्ठ ५०४।
५— ,, ,, ,,

कहकर अपने प्रिय को अपने ही में बाँधे रखना चाहती थी, कालान्तर में—

चिर संगिनी तुम्हारी मैं हूँ
मेरे जीवन नाथ
जहाँ-जहाँ जाओगे मैं भी
सदा रहूँगी साथ। (मिलन, पृष्ठ १७)

और मृत्यु के क्षणों में भी—

'मैं संगिनी सदा हूँ प्यारे
बोली हँस कर बाल
कण्ठ समर्पित हुए उभय के
बाहु माल तत्काल,' (वही पृष्ठ २५)

सीरा चिर-सहयोगिनी रूप में आदर्श की प्रतिष्ठा करती है। आगे चल कर वह स्वयं ही देश सेवा का व्रत धारण ही नहीं करती, वरन् अन्य जनों के लिए भी प्रेरणा का स्रोत बनती है। वह सोचती है—

'सेवा धर्म मुख्य है जग में
लोक शान्ति-प्रद काज' (मिलन, पृष्ठ ७०)

और इसीलिए—

'लिए त्रिशूल हाथ में करने
चली देश-उद्धार
गाँव गाँव में लगी घूमने
सेवा व्रत उर धार' (वही, पृष्ठ ७२)

जिसके फलस्वरूप उसका स्वर नवयुवकों के लिए समुचित कर्त्तव्य-परायणता की वस्तु बन जाता है—

'उसके गान श्रवण कर
कायरपना बिसार
होते थे स्वदेश सेवा में
करने को तैयार।' (वही, पृष्ठ ७३)

विजया के नारीत्व के भाँति जागृति-कालीन नारी स्वयं ही अपने महत्व की प्रतिष्ठा नहीं करती, वरन् पुरुष भी उसकी प्रतिष्ठा को स्वीकृति प्रदान करता है—

'तू ही मेरी एक मात्र है सम्पदा
दीप शिखा सी मार्ग दिखलाती रह सदा।
(मैथिली शरण गुप्त, : किसान, पृष्ठ ३० ।)

सुधार भावना

जागृति कालीन साहित्यकारों ने नारी सम्बन्धी नवीन आदर्शों की स्थापना के साथ-साथ उनकी वस्तु स्थिति को सुधारने सम्बन्धी निर्देश भी दिए। महिला वर्ग की सामाजिक उपेक्षा तथा रूढ़िगत धारणाओं के कारण उसकी हीनावस्था इस काल के साहित्यिक विषय बने। सामाजिक संकीर्णताओं में दलित 'शोकार्त बाल-विधवाओं'[1] की ओर इस युग के साहित्यकार की दृष्टि पड़ी तथा उसने विधवा-विवाह को धर्म संगत बतलाया[2]। इतना ही नहीं, बल्कि इस युग का कवि पुनर्विवाह को नारी का अधिकार घोषित करता है—

हकदारों का यों बहरे खुदा हक़ न गँवाओ
मंझधार में है नाव जरा ज़ोर दिखाओ
बेवाओं की शादी में न अब देर लगाओ।
अमर नाथ मोहसिन (सरस्वती १९०६) जनवरी : में उत्कथित।

समाज में विधवाओं की अवस्था इस दयनीयता को प्राप्त है कि वे वैधव्य की अपेक्षा सती हो जाने को श्रेयस्कर समझती हैं। वैधव्य की प्रताड़ना को लेकर वह जीना नहीं चाहती—

फिर भला जीकर नरक के दुःख को सहना भला।
या विनश्वर देह तज कर स्वर्ग में रहना भला[3]।

विधवा समस्या पर प्रेमचन्द की पूर्णा[4] और विरजन[5] की वस्तु-स्थिति से अच्छा प्रकाश पड़ता है। 'विरजन' एक व्यक्तित्वहीन, कुचली हुई आत्मा है। वैधव्य का उपहासपूर्ण जीवन व्यतीत करती हैं 'पूर्णा' को समाज क्रीड़ा और मनोविनोद का साधन बनाने की चेष्टा करता है, क्योंकि पति की छाया के अभाव में वह निराश्रय और असहाय है। लेखक ने इस समस्या को उपस्थित कर, संकीर्ण मस्तिष्कों को न्याय की कौसटी पर बुद्धि प्रयोग के लिए दिशा निर्देश किया है। इसी

१—सुखि सुहागिन करे कंत संग केलियाँ,
जीवन की सुख-सुधा पिये अलबेलियाँ,
दुखी बाल-विधवाओं की है जो गती
कौन सके बतला, किसकी इतनी मती।
(श्रीधर पाठक : बालविधवा)

२—महावीर प्रसाद द्विवेदी : द्विवेदी काव्य माला, (विधवा विलाप), पृष्ठ २१०।

३—मैथिली शरण गुप्त : रंग में भंग, पृष्ठ १४।

४—प्रतिज्ञा की पात्रा।

५—वरदान की पात्रा।

प्रकार बहु-विवाह के प्रति भी विरोध का स्वर उच्च है। प्राचीन संस्कृति के एक नायक लक्ष्मण से इस प्रथा का विरोध कराया गया है—

बहु-विवाह विभ्राट, क्या कहूँ
भद्रे मुझ को क्षमा करो,
तुम कुशल हो, किसी कृति को
करो कहीं कृत्य-कृत्य, वरो।
(मैथिलीशरण गुप्त : पंचवटी, पृष्ठ ३३)

तत्कालीन समाज में प्रचलित अनमेल विवाह से नारी का जीवन किस प्रकार भयावह विडम्बना-मात्र बन कर रह जाता है, इसकी घनी छाया भी साहित्य में लक्षित हुई है[1]। कवि इस अनमेल विवाह की कुप्रथा पर सुन्दर व्यंग करता है—

बाल-विवाह रोक हम देते, यदि हमको मिलते अधिकार
वृद्ध-विवाह का किन्तु देश में कर देते हम खूब प्रचार।
(राम चरित्र उपध्याय)

इस अनमेल विवाह के कारण ही विधवाओं की वृद्धि होती है। कवि उनकी दशा से विचलित होकर अपनी कलुष सामाजिक परम्पराओं के प्रति एक उसाँस भर कर रह जाता है—

'प्रति वर्ष विधवा-वृन्द की संख्या निरन्तर बढ़ रही
रोता कभी आकाश है, फटती कभी हिल कर मही
फिर भी नहीं हम छोड़ते हैं बाल-वृद्ध विवाह को[2]।'

दहेज तथा परदा आदि कुप्रथाओं पर भी उसका आक्रोश प्रकट हुआ है—

यह दहेज की आग मुवंशों ने दहकाई
प्रलय वह्नि सी वही आज चारों दिशि आई
घर उजाड़ बन बना रही, कर रही सफाई
ताप रहे हम, मुदित समझते होली आई[3]।

और परदे के हास्यास्पद परिवेष्ठन में भी नारी कितनी दयनीय है—

नख शिखान्त ओढ़े जब नारी
निकले होकर पंथ संचारी
दिखती है तब वह बेचारी
मानो प्राणी द्विपाद चारी[4]।

१—मीर : बुड्ढे का ब्याह, श्रीकृष्ण लाल द्वारा 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास' पृष्ठ ६१ पर उल्लिखित।
२—भारत भारती : पृष्ठ १४०।
३—'गया प्रसाद शुक्ल' सनेही : सरस्वती, अगस्त १९१४।
४—केशव राम फड़से—परदा : मर्यादा, अक्टूबर, १९१४।

दूसरे पक्ष में, वह कन्या विक्रय की प्रथा से कवि क्षुब्ध हैं—

बिकता कहीं पर है जहाँ, विकती तथा कन्या कहीं
क्या अर्थ के आगे हमें, अब इष्ट आत्मा भी नहीं।

समाज में फैली हुई वेश्या-वृत्ति की ओर भी लेखक का ध्यान आकृष्ट हुआ है। वह कुप्रथा का उत्तरदायी पुरुष को ठहराया है। 'सेवा सदन' (प्रेमचन्द) के वकील साहब 'सुमन' के विषय में एक स्थान पर कहते हैं—

'यदि मैं उसे घर से न निकाल दिया होता तो इस भाँति उसका पतन न होता। मेरे यहाँ से निकल कर उसे और कोई ठिकाना न रहा और क्रोध और कुछ नैराश्य की अवस्था में वह यह भीषण अभिनय करने पर वाध्य हुई।' पृष्ठ ८७।

नारी की आर्थिक विवशता ही उसे इस भयानक पाप की राह पर चलने के लिए वाध्य करती है। वह परिस्थितियों से हार कर ही दुराचार का आश्रय लेती है—'स्त्री हारे दर्जे दुराचारिणी होती है। अपने सतीत्व से अधिक, उसे संसार में और किसी वस्तु पर गर्व नहीं होता, न वह किसी चीज को इतना मूल्यवान समझती है।' (प्रतिज्ञा, पृष्ठ ८७-८८)

अन्यथा, तथाकथित इस पतिता नारी में भी सम्मानित महिलाओं की भाँति धार्मिक श्रद्धा और जीविकोद्धार की उत्कट अभिलाषा होती है। 'उन्हें केवल एक सहारे की आवश्यकता होती हैं, जिसे पकड़ कर वे बाहर निकल सकें।'

(सेवा सदन, पृष्ठ ३११)

इसी प्रकार नारी की हीनावस्था को आर्थिक समस्या के साथ सम्बद्ध कर, देखने का प्रयास इस काल से आरम्भ हो जाता है और साहित्यकार इस विश्वास की प्रतिष्ठा करने लगता है कि जब तक नारी को आर्थिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति नहीं हो जाती तब तक उसके लिए सामाजिक क्षेत्र में समान स्वीकृति की कोई भी सम्भावना नहीं है। इसी आशय को लेकर कवि नारी के चरित्र में उन महान् गुणों के प्रस्थापन की मंगल कामना करता है, जिनके माध्यम से उसे समाज में सम्मानपूर्ण स्थिति की प्राप्ति हो।

विदुषी उपजें समता न तजें, व्रतधार भजें सुकृति वर को।
सधवा सुधरें, विधवा उबरें सकलंक करें न किसी घर को।
दुहिता न विकें, कुटनी न टिकें, कुल बौर छिंके तरसे दर को।
दिन फेर पिता, घर दे सविता, कर दे कविता कवि शंकर को[1]।

(नाथू राम शंकर)

इस काल की सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में भी नारी-वर्ग की सामाजिक स्थिति सुधार-विषयक अनेक लेख प्राप्त होते हैं। उनकी परधीनता, असहाय अवस्था,

१—सुधीन्द्र द्वारा 'हिन्दी कविता में युगान्तर' पृष्ठ २२२ पर उत्कथित।

पति परम्परा से चले आये अत्याचार तथा उनमें बौद्धिक चेतना की आवश्यकता आदि विषयों पर इस काल में प्रचुर सामग्री प्राप्त होती है[1]।

उपर्युक्त कुप्रथाओं के विनाश की चेष्टा के साथ-साथ स्त्री-शिक्षा की आवश्यकता पर भी इस युग में पर्याप्त लिखा गया है। कवि सामान्य नारी में गुणों की कमी को अपना ही (पुरुष का ही) दोष मानता है क्योंकि पुरुष-वर्ग ही उसे अंधकार में रखे हुए है—

'क्या दोष उनका किन्तु, जो उनमें गुणों की है कमी
हा, क्या करें वे जब कि उनको मूर्ख रखते हैं हमीं।'
(भारत-भारती, पृष्ठ १२६)

उनको अज्ञानता की इस अंधकारपूर्ण परिधि से केवल शिक्षा के आलोक में ही बाहर लाया जा सकता है—

'जब तक विद्या पुरुषों सम पावेंगी दुहिता न मम
तब तक मेरी उन्नति अलम है आकाश कुसुम सम।'
(मिश्र बन्धु : भारत विनय—स्त्री।)

बाबू छेदा लाल ने भी 'अवलोन्नति पद माला' में नारी-शिक्षा के प्रचार पर बल दिया है क्योंकि महिलाओं की दुर्गति का मूल कारण उनका अशिक्षित होना ही है—

'आज अविद्या की मूर्ति सी- हैं सब श्रीमतियां यहां
दृष्टि अभागी देख ले उनकी दुर्गतियां यहां।'
(गोपाल शरण सिंह)

इस काल के साहित्यकार का विश्वास है कि नारी वर्ग में शिक्षा के प्रचार से मनुष्य अपने इहलोक और परलोक के साधनों की प्राप्ति कर सकने में समर्थ हो सकता है—

'भाइयो! उन सम्पूर्ण साधनों को सिद्ध करने में प्रधान कारणों में से एक सबसे बड़ा कारण स्त्रियों को शिक्षित होना है। जो-जो साधन मनुष्य के लिए परलोक

१—(अ) सत्येन्द्र : स्त्रियों की पराधीनता, मर्यादा, मई १९१३।
(आ) गोपाल शरण सिंह : दहेज की कुप्रथा से हानियां, सरस्वती, जुलाई १९१४।
(इ) जनार्दन भट्ट (हिन्दुओं में बाल-विवाह), सरस्वती, फरवरी १९१६।
(ई) अध्यापक पूर्ण सिंह : 'कन्या दान' सरस्वती, अक्टूबर, १९०९।
(उ) पुरुषोत्तम प्रसाद : 'स्त्री-शिक्षा', भारतेन्दु, दिसम्बर, १९०५।

तथा इस लोक के लिए आवश्यक है, वे सम्पूर्ण साधन स्त्रियों के शिक्षित होने से ही प्राप्त हो सकते हैं[1]।

शिक्षित नारी के लिए सब कुछ सम्भाव्य है—

'क्या नहीं कर सकतीं भला यदि शिक्षिता हों नारियां
रण, रंग, राज्य सुधर्म-रक्षा कर चुकी सुकुमारियां।'

(भारत-भारती, पृष्ठ १३७)

साथ ही वह यह भी भविष्यवाणी करती है—

'विद्या हमारी भी न तब तक काम में कुछ आएगी।
अर्द्धांगिनियों को भी सुशिक्षा दी न जब तक जाएगी।'

(भारत-भारती, पृष्ठ १७५)

इस प्रकार से जागृति काल के साहित्यकाल में नारी-वर्ग को जागृत करने के प्रति बलवती भावना विद्यमान है और वह उसे सामाजिक क्षेत्र में उन्नत, स्वस्थ, सम्मानित एवं शिक्षित देखने का आकांक्षी है।

नारी-विभिन्न सम्बन्धों में

इस काल में नारी के चित्रण, जैसा कि पिछली पंक्तियों में कहा जा चुका है, सामान्यतः आदर्श और नैतिकता की ही भाव-भूमि पर हुआ है। विभिन्न सम्बन्धों के रूप में भी उसे इसी भाव की अभिव्यक्ति मिली है और लगभग सभी सम्बन्धों में (कन्या को छोड़ कर) उसे महत्ता का उत्कर्ष प्राप्त हुआ है। जागृति-युगीन नारी प्रेयसी बन कर प्रिय के पथ की बाधा नहीं, वरन् प्रेरणा बनती है। उसमें निष्क्रियता का अंश भी नहीं मिलता। अपने प्रिय की लक्ष्य-पूर्ति के लिए वह सदैव सहयोगिनी के रूप में सन्नद्ध है। इतना ही नहीं, अपने प्रिय की अनुपस्थिति में वह उसके अधूरे कार्य को पूर्ण करने में ही अपने जीवन की सार्थकता मानती है—

'अब कर्त्तव्य यही है। पूरा
करूँ वही उद्देश्य।
जिस की पूर्ति हेतु उद्यत थे
मेरे प्रिय प्राणेश।'

(राम नरेश त्रिपाठी, : मिलन, पृष्ठ २१)

उसमें संवेदनशीलता, वात्सल्य एवं व्यावहारिकता की भी कमी नहीं है। प्रिय प्रवास की करुणा धारा ने उसमें इन नवीन समाज-हितकारी वृतियों को अंकुरित एवं पल्लवित कर दिया है, और इसीलिए वह रीति-कालीन नायिका की भांति

१—बाबा भगवान दीन शुक्ल : 'स्त्री-शिक्षा का उपाय,' इन्दु, किरण ११ सम्वत् १९६६ पृष्ठ १९१।

उसाँस भरने, विरह कथा कहते रहने तथा 'निसि दिन' प्रिय का मग जोहते रहने की अपेक्षाकृत कार्यावली में निरत रहने की प्रतिज्ञा करती है—

'ऐसी हूँगी निरत अब मैं पूत कार्यावली में,
मेरे जी में प्रणय जिससे पूर्णतः प्राप्त होवे।'

(प्रिय प्रवास, पृष्ठ २५८)

इसके साथ-साथ वह प्रकृति के दूसरे उपकरणों से भी जन-उपकारी भावों एवं कार्य-कलापों की अपेक्षा करती है—

जीते जाते अगर पथ में क्लान्त कोई दिखावे
तो जा के सन्निकट उसकी क्लान्तियों को मिटाना।'

(प्रिय प्रवास, राधा-पवन से)

इस काल की प्रेयसी की सबसे बड़ी विशेषता विश्व-वेदना में आत्म-वेदना के पर्यवसान को लेकर है। वह कुसुम, जूही, चमेली तथा वन्य-जीवों में जैसे अपनी ही वेदना का साक्षात्कार करती है। उसी से अनुप्राणित, प्रिय के प्रति, उसकी असीम निष्ठा व्यक्त होती है—

'जैसे तू है परम प्रिय के रंग में पुष्प डूबा,
वैसे-वैसे जलद तन के रंग में रंगूंगी।' (प्रिय प्रवास)

प्रेयसी की भाँति पत्नी भी पुरुष के लिए शक्ति और प्रेरणा का स्रोत है। उसके लिए आसक्ति का कारण नहीं। क्षत्राणी पत्नी का तो जैसे यही गौरव है—

क्षत्राणियों के अर्थ भी सब से बड़ा गौरव यही
सज्जित करें पति पुत्र को, रण के लिए जो आप ही।

(मैथिली शरण गुप्त : जयद्रथ-वध, पृष्ठ ६)

पति को लेकर ही वह सनाथा हो सकती है। पति ही उसका सर्वस्व है—

माता पिता आदि भले ही और निज जन हों सभी।
पति के बिना पत्नी सनाथा हो नहीं सकती कभी।

(वही, पृष्ठ २५)

उसके सुखी जीवन की आकांक्षा करता वह मरते-मरते भी नहीं भूलती। जन्म-जन्मान्तरों तक वह उसी की होकर रहना चाहती है[१]। उसकी एकनिष्ठा भारतीय आदर्श से अनुप्राणित है—

"मैं आर्य बाला हूँ, मैंने गान्धारी और सावित्री के कुल में जन्म लिया है। जिसे एक बार मन से अपना पति मान चुकी, उसे नहीं त्याग सकती।"

(प्रेमचन्द : वरदान, माधवी का कथन, पृष्ठ १५८)

इतनी निष्ठा के साथ जिसे वह अपना पूज्य देवता मानती है, उसके द्वारा

१—मैथिली शरण गुप्त : किसान, पृष्ठ ४०।

यदि उसकी सेवाओं का उचित मूल्य न मिलकर तिरस्कार और प्रताड़ना मिलती है, तो वह विद्रोह करना भी नहीं चूकती। समय पड़ने पर वह भी अपने गौरव की रक्षा कर सकने में समर्थ है—

'स्त्री पुरुष के पैरों की जूती के सिवा और है ही क्या? पुरुष चाहे जैसा हो, चोर हो, ठग हो, व्यभिचारी हो, शराबी हो—स्त्री का धर्म है कि उसकी चरण रज धो-धो कर पिये। मैंने कौन-सा अपराध किया था, जो उन्हें मनाने जाती।'

(प्रेमचन्द : प्रतिज्ञा, पृष्ठ ५५)

वह अपने अधिकारों के प्रति भी निश्चेष्ट नहीं है—

'बाप का घर था जब था, अब यही घर है। मैं अदालत से लड़कर ५०० रु० महीना ले लूंगी, लाला, इस फेर में न रहना। पैर की जूती नहीं हूँ कि नई थी तो पहना, पुरानी हो गई तो उतार फेंका।' (प्रतिज्ञा : सुमित्रा का कथन, पृष्ठ ९६)

इस प्रकार पत्नी रूप में उसमें श्रद्धा, एकनिष्ठा एवं सहयोग का भाव तो है ही, अपने अधिकारों के प्रति जागरूकता भी कम नहीं है। वह साम्य के धरातल पर पुरुष के साथ उसके बराबर चलने की सामर्थ्य रखती है, और यह उसके स्वरूप-विकास की शृंखला में एक विशेष कड़ी है।

माता के रूप में नारी असीम ममतामयी है। पुत्र के लिए—उसकी सुरक्षा के लिए वह सर्वस्व न्योछावर कर सकती है। 'प्रिय-प्रवास' की यशोदा में मातृ-स्वरूप की अतुल ममता मुखरित हुई है—

जो चाहेगा नृपति मुझ से दण्ड दूंगी करोड़ों
लोटा थाली सहित तन के वस्त्र भी बेच दूंगी
जो मांगेगा हृदय वह तो काढ़ दूंगी उसे भी
बेटा, तेरा गमन मथुरा न मैं आंखों लखूंगी।

(पंचम सर्ग, पृष्ठ ५०)

o o o o

हा, ऐसे ही अब वदन को देखती कौन होगी
ऊधो, माता-सदृश ममता अन्य की है न होती।

(दशम सर्ग, पृष्ठ १२३)

साथ ही साथ वह पूज्या भी है, और समाज का समादर भी उसे प्राप्त है...।

परन्तु इस काल में जहाँ कहीं भी कन्या का स्वरूप वर्णन किया गया है, वहाँ उसके दुर्भाग्य पर करुणा का वर्षण ही हो सका है। उसकी दलित भावनाओं की

वर्गीय नारी की है जो दिन रात अथक परिश्रम करने पर भी भूख की समस्या को सुलझा लेने में असमर्थ है—

> 'गोबर उठाती, थापती हैं, भोगती आयास वे
> कृषि काटती, लेती परो है, खोदती है घास वे
> गृह कार्य जितने और हैं, करती वह सम्पन्न हैं
> तो भी कदाचित ही कभी भर पेट पाती अन्न हैं।'
>
> (भारत-भारती, पृष्ठ ९५)

महादेवी वर्मा ने 'अतीत के चलचित्र' में 'भक्तिन' 'दूवरी' 'विविया' तथा 'लक्ष्मा' आदि के चित्र प्रस्तुत किये हैं जो निम्न वर्गीय नारी की वस्तु-स्थिति को प्रकाश में लाते हैं। जिनके जीवन की एक-एक घटना में दुर्भाग्यपूर्ण अवस्था की एक लम्बी करुण कहानी छिपी है[१]। जहाँ के समाज में नारी को कहीं भी सम्मानपूर्ण स्थिति की उपलब्धि नहीं है[२]। ऐसा लगता है जैसे उसकी जीवन-छाया में दुख स्थाई रूप से घर कर गया है[३]। फिर भी वह मानवी गुणों से पूर्ण है। उसमें पत्नी के रूप में निष्ठा जीवित है। पति की मृत्यु के बाद वह दया का आश्रय नहीं, वरन् स्वावलम्बी जीवन जीना चाहती है[४]। उसमें कर्त्तव्यपरायणता, उत्सर्ग भावना तथा सेवा भाव की प्रमुखता है। वह रोते-रोते ही जीती है और इसी जीने में जैसे उसके सम्पूर्ण जीवन की सार्थकता सिमट कर उसकी अर्धनग्न क्षुब्ध एवं पीड़ित आत्मा के केन्द्रीभूत हो गई है। फिर भी नियामक के प्रति उसके मन में अपूर्व आस्था जीती है। वह उसी पर अपना सर्वस्व छोड़ कर संसार क्षेत्र में कार्य-निरत रहना चाहती है—

> कुलवन्ती ने कहा कि अब धीरज धरो
> जिसमें यह संसार चले, ऐसा करो
> और किसे अब यहाँ हमारा ध्यान है
> ऊपर नीचे वही एक भगवान है।
>
> (मैथिली शरण गुप्त : किसान, पृष्ठ २४।)

नारी के विभिन्न रूप

विभिन्न सम्बन्धों एवं वर्गों के नारी चित्रण के साथ-साथ इस काल की नारी को सत् और असत् रूपों में भी अभिव्यक्ति मिली है। पिछले पृष्ठों में कहा जा चुका है कि इस काल में साहित्यकारों का लक्ष्य आदर्श एवं नैतिकता की स्थापना था।

१—महादेवी वर्मा : अतीत के चल-चित्र का आठवां चित्र।

२—वही, दसवां चित्र।

३—वही, ग्यारहवां चित्र। (लक्ष्मा का जीवन)

४—वही, सातवां चित्र।

अतः नारी को उज्ज्वलतर चित्रित करने के प्रयत्न में साहित्यकार ने अपूर्व आदर्शवादिता के प्रदर्शन का अभिनय किया। 'हरिऔध' की राधा, रामनरेश त्रिपाठी की विजया आदि इस युग की अपूर्व नारी कृतियां हैं, जिनके माध्यम से आदर्शवादिता, राष्ट्रीयता एवं नारी के उज्ज्वलतर सत् स्वरूप की प्रतिष्ठा की गई है। सभी गुण जैसे उनके चरित्र में पुंजीभूत हो जाते हैं—

'सद्वस्त्रा सदलंकृता गुणयुता सर्वत्र सम्मानिता
रोगी वृद्ध जनोपकारनिरता सच्छास्त्र चिन्तापरा
सद्भावातिरता अनन्य हृदया सत्प्रेम संपोषिका
राधा थीं सुमना प्रसन्नवदना स्त्रीजाति रत्नोपमा।'

(प्रिय-प्रवास, पृष्ठ २३७।)

'मिलन' की विजया में भी इसी सत् स्वरूप का विकास हुआ है। जिसका वर्णन 'विभिन्न सम्बन्धों के अन्तर्गत नारी भावना' की विवेचना करते समय किया जा चुका है। 'रंग में भंग' (गुप्त) की नव-वधू अपने त्याग और वीरत्व के कारण ही श्रद्धेय हो जाती है।

नारी के इस सत् स्वरूप के साथ-साथ छुट-पुट रूप में उसके असत् रूप की भी अभिव्यक्ति हुई है। इस प्रकार के स्वरूप-दर्शन का कारण प्राचीन भक्ति एवं रीतिकालीन परिपाटी का निर्वाह या उसके प्रति मोह रहा है। इस रूप में उसके प्रति कटु उपेक्षापूर्ण भावना ही व्यक्त हुई है—

अनृत साहस, छद्म प्रगल्भता
अदयता, अविवेक, अशौचता
यदि न ये अबला उर में रहें
फिर उन्हें कवि निन्दित क्यों कहें।

(रामचरित उपाध्याय) राम चरित्र चिन्तामणि, पृष्ठ ६६।

... ...

निष्प्रयोजन ही प्रिय हैं उन्हें
पर प्रयोजन अप्रिय हैं उन्हें। (वही, पृष्ठ ८२)

साथ ही सभी सम्बन्धों में वह अविश्वसनीय भी है—

'स्वपति को, गुरु को निज तात को
तनय को अपने प्रिय भ्रात को
समय पा न हने कब कामिनी। (वही, पांचवां सर्ग)

इस काल में जहाँ रीतिकालीन शृंगारात्मक भावना को अभिव्यक्ति मिली है। वहाँ 'यथार्थता और व्यक्तित्व उपेक्षित हुए हैं।' देव, घनानन्द आदि रीतिकारों की

ही भाँति इस काल का कवि भी किशोरावस्था को यौवन के द्वार पर पदार्पण करते देख अत्यन्त आकर्षित हो, अस्थिर हो उठता है—

> चरनत छांड़ि चंचलाई अब नैनन में
> अपनो बनाय रही रुचिर श्रृंगार है
> राजहंस त्यों ही धीरताई मंजु नैनन की
> चरनन कीट रही अपनो श्रृंगार है
> जाय रही सघन जघन उर जन पर
> कटि को प्रदेश त्यागि गुरुता अपार है
> तापे दीठि डार, मन थिर रहि जांय कैसे
> थिर जब नाहीं, ताको तन सुकुमार है।
> (बलदेव प्रसाद मिश्र : : श्रृंगार शतक : वयसन्धि, पृष्ठ ३।)

मिश्र जी की ही भाँति 'हरिऔध' जी ने 'विनोद वयालिसा' में तथा द्विज बलदेव प्रसाद ने 'प्रेम तरंग' में नारी को इसी स्थूल, काम-प्रेरक एवं ऐन्द्रिक सुख की पीठिका के रूप में देखा है जिससे जीवन-क्षेत्र के सभी उपयोगी कर्त्तव्य आवृत हो गए है।

प्रतीकात्मक नारी-भावना

इस काल में नारी भावना के एक नवीन रूप का भी उदय था। और वह है नारी का प्रतीकात्मक रूप राष्ट्र को माता के रूप में उपस्थिति करना इस काल के कवि की अपनी विशेपता है—

> भारत माता, अपने इन पुत्रों को पहले का सा बल दे
> हे भारती ! दया कर क्षण में सब की दुर्बलता तू दल दे।
> (श्रीधर पाठक : भारती वीणा, पृष्ठ ५०।)

भारत 'धरनी' की वन्दना करते हुए कवि ने उसे माता के समान सभी सद्गुणों से युक्त माना है। इस काल में पहली बार प्रकृति पर भी नारी भाव को आरोपित किया गया है। यह प्रतीकात्मक भावना भी नारी को नारी रूप में अधिष्ठित कर उसका वन्दन किया गया है। यह प्रतीकात्मक भावना भी नारी को सम्मानित पद देने के उद्देश्य से ही व्यक्त हुई है। यह अंकुर विकास काल (१९२१-१९३७) में प्रस्फुटित एवं पल्लवित हुआ है।

राष्ट्रीय-चेतना और नारी

नारी स्थिति का यह जागृति काल वास्तव में भारत की राष्ट्रीय चेतना का काल है। इस काल के साहित्यकार में स्वजातीय प्रेम, दासता के प्रति विद्रोह, सर्वहारा वर्ग की ओर सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिपात, नैतिक पक्ष का प्रबल समर्थन, आर्थिक

जीवन की विषमता के प्रति विक्षोभ तथा सांस्कृतिक जीवन की यथार्थता एवं अकल्याणकारी रूढ़ियों का चित्रण करने की भावना बलवती है[1]। नारी को राष्ट्रीय भावनाओं के साथ आवद्ध करने का प्रयास भी इस चतुर्दिक चेतना का परिणाम है। नारी आर्य जाति की ज्योति, जीवन और संजीवनी बन विश्व की अजेय शक्ति के रूप में अवतरित हुई है[2]। वह भी पुरुष की भाँति अपने देश के सुख-दुखों की समान अधिकारिणी है, इसीलिए आज राष्ट्र-निर्माण के महान् पर्व में कवि उसका आवाहन करता है—

आर्य स्वदेश सुख दुख संगिनी, अखिल श्रेय संचारिणी
आर्य जगत में जननि पुनः निज जीवन ज्योति जगाओ।

... ...

करो सार्थ कमनीय नाम अहो आर्य कुल कामिनी
आर्य प्रेम की पुन्य पताका, आर्य गेह की स्वामिनी[3]।

साथ ही प्राचीन महिला रत्नो के चरित्र उपस्थित करके नारी समाज को स्वदेश भक्ति और सेवा की ओर उन्मुख करने की प्रेरणा देने का प्रयत्न भी किया गया है। इस काल का कवि नारी की शक्ति पर पूर्ण विश्वासी है। वह उसे अवला नहीं मानता—

'वस, नाम जो अवला इन्हें मुनियों ने दिया है।
महिलाओं के संग भारी सा अन्याय किया है।
जांचा नहीं, किस धातु का नारी का हिया है।
अमृत की मधुर धार है, या विष का विया है।
(वावा भगवान दीन : वीर पंच रत्न, वीर माता अलूपी)

उसकी दृढ़ आस्था है कि नारी ही पुरुष को कर्त्तव्य का वोध करा सकती है—

'हर घर में प्रकट कीजिए विदुला सी सुमाता
सिखला के वना दे, हमें कर्त्तव्य की माता।' (वीर पंच रत्न)

राष्ट्रीय चेतना के इस अरुणोदय में कवि नारी को स्वदेशीय प्रेम तथा विदेशी वहिष्कार का पाठ देना भी नहीं भूलता—

'हे भामिनियो! कुल कामिनियो
ये चूड़ियाँ हैं परदेशियों को

१—देखिये, 'हिन्दी कविता में युगान्तर' का अन्तरंग-दर्शन।
२—श्रीधर पाठक : भारत गीत—आर्य महिला, पृष्ठ ११३।
३—वही, पृष्ठ ११४।

कलंक भारी पहनो इन्हें जो
छोड़ो जरा तो मन में लजाओ।'
(गिरिधर शर्मा, सरस्वती १९०६, पृष्ठ ४२१।)

देश की रक्षा के लिए जाते हुए भाइयों को अपनी बहिनों से प्रेरणा प्राप्त होती है—

'बहनें कहती थीं हे भाई
वैरी का अभिमान चूर्ण कर
विजयी योद्धा के बानक में
इसी राह होकर जाना घर।'

इस प्रकार 'नारी में न केवल वीरता ही है, वरन् वीरत्व संचार करने की शक्ति भी है। पुरुष को देश की स्वतन्त्रता के लिए युद्धोतेजना और प्रेरणा देने का चातुर्य भी है। इस प्रकार वह केवल गृह की सीमाओं में बद्ध पुरुष की काम पूर्ति का साधन नहीं रह जाती[1]।'

उपसंहार

हिन्दी साहित्य में उत्थान तथा जागृति-युगीन नारी-स्थिति का चित्रण उस की स्थिति के विकास क्रम को स्पष्ट कर देता हैं। उत्थान-काल में जहाँ नारी के प्रति भक्ति तथा रीति-कालीन उपेक्षात्मक तथा शृंगारात्मक भावना की अभिव्यक्ति तथा सुधार प्रचुर मात्रा में हुई है, वहाँ जागृति काल में नारी को प्रेरणा और आदर्श मान कर उसे नैतिक भाव-भूमि पर देखने का प्रयत्न ही अधिक प्रतीत होता है। जागृति-कालीन नारी को साहित्यकार की नैतिक सहानुभूति की उपलब्धि उस कोटि तक हुई हैं, जहाँ वह अपने को आदर्श के शीर्ष पर स्थित हुई पाती है। उत्थान-काल में नारी के शृंगारिक स्वरूप का बाहुल्य है, जब कि जागृति-काल में, सामान्यतः सभी साहित्यकारों द्वारा शृंगार भावना तिरस्कृत हुई है। इस काल में स्थूल शृंगार के स्थान पर नारी के निर्मल, पवित्र एवं श्रद्धायुक्त सत् रूप की ही प्रतिष्ठा का आयोजन अधिक हुआ है। साथ ही नारी की सामाजिक वस्तु-स्थिति पर करुणा और सहानूभूति पूर्ण भावना प्रकट की गई है। इस प्रकार से नारी भावना विषयक इस काल का साहित्य करुणा की भाव-भूमि पर लिखा गया साहित्य है। नारी के प्रति प्रदर्शित करुणा और सहानुभूति का बाहुल्य उसे वास्तविक प्रतिष्ठा और सम्मान देने में असमर्थ रहा है।

अतः जहाँ भी नारी के आदर्श की स्थापना की गई है वहाँ आदर्शवादिता स्वाभाविक न होकर आरोपित एवं वास्तविकता से कुछ भिन्न कोटि की लगती है। इसीलिए वह व्यावहारिकता के अधिक निकट न होकर काल्पनिक ही अधिक है।

१—शैल कुमारी : 'आधुनिक हिन्दी कविता में नारी भावना' पृष्ठ ५७।

आधुनिक-काल के नारी चरित्रों में नैतिकता का आरोपण हिन्दी साहित्य की अपूर्व घटना है, यह हम कह आए हैं। परन्तु अपने संस्कारों से ऊपर उठ सकने में असमर्थ साहित्यकार नैतिकता के इस आदर्श का निर्वाह कर सकने में असफल, उसे अस्वाभाविकता की सीमा तक खींच ले गए हैं, अतः नारी का चित्रित आदर्श चरित्र एवं महान् नैतिकता तर्क और व्यवहार की कसौटी पर खरे नहीं उतर पाते। आधुनिक-काल में शृंगार की अवहेलना भी उत्थान-काल की प्रतिक्रिया का ही परिणाम है।

फिर भी नारी को नवीन, स्वस्थ और तथ्यपूर्ण दिशा देने का प्रयास इस काल की भारी विशेषता है। राष्ट्रीय जागृति ने इस काल में नारी को प्रभावित किया है, इसमें संदेह नहीं। अब पहली बार हिन्दी साहित्यकार ने नारी में प्रेरणा शक्ति और आदर्श की स्थापना की, तथा उसको रीति-कालीन घोर शृंगारिक वीथिकाओं से उबार कर सामाजिक आदर्शों और राष्ट्रीय मान्यताओं के उस धरातल पर ला खड़ा कर दिया, जहाँ से आगे चल कर वह साहित्य, समाज और संस्कृति में प्रतिष्ठापूर्ण पद की अभिव्यक्ति तथा समान भाव-भूमि एवं कार्य क्षेत्र पा सकने में समर्थ हो सकी।

प्रकरण—५

आधुनिक हिन्दी-साहित्य में नारी

(क्रमश:)

...३. विकास-काल
(१९२१-१९३७)

...४. नव्य-काल
(१९३८-१९५७)

प्रकरण—५

...३ विकास-काल

(१९२१-१९३७)

जागृति-काल में जिन सामाजिक आदर्शों एवं मान्यताओं की कल्पना की गई, उन्हें विकास-काल में समुचित विकास का अवसर मिला राजनीतिक क्षेत्र के अब गांधी जी का स्वर प्रतिष्ठित हो चुका था उन्हीं की प्रेरणा और आदेश से १९२० में असहयोग आन्दोलन का श्रीगणेश हुआ, जिसने १९२२ में सविनय अवज्ञा आन्दोलनद का स्वरूप धारण किया। अब भारतीयों द्वारा प्रान्तीय धारा-सभाओं तथा स्थानीय संस्थाओं में प्रवेश करने के लिए प्रयत्न होने आरम्भ हो गए थे। सरकारी शिक्षण-संस्थाओं का निषेध एवं विदेशी-वहिष्कार, राष्ट्रीय-भावना का स्वरूप दृढ़ कर रहा था। १९२४ तक आते-आते भारतीयों के मन में स्वराज्य प्राप्ति की भावना प्रवल हो उठी थी, राष्ट्रीय जागृति की इस लहर ने साहित्यिक क्षेत्र और महिला-वर्ग को भी प्रभावित किया, और इसी देश-प्रेम और देश-सेवा के प्रण के साथ-साथ नारी स्वयं भी अपनी खोई शक्ति पाने की दिशा में अग्रसर हुई—

> 'बहिनों; जग इतिहास प्रतिक्षण सिखलाता
> जो रखता है शक्ति, वही जग में सुख पाता।
> निर्बलता को त्याग वीर-रमणी व्रत धारो
> मानव जीवन पाय देवियो, हृदय न हारो।
>
> (यशोदा देवी) बहिनों से—चाँद, १९२५, पृष्ठ ४१२।

शक्ति प्राप्त करने के साथ-साथ वह नवयुग की ओर, जो युग-जर्जर प्रणय अन्त कर, कंचन विहान लिए आएगा, आशा की स्नेहिल आँखों से निहारती है—

> 'मैं नहीं चाहती संध्या के
> युग-युग की जर्जर गान
> हाँ, मधुर उषा आगमन सुना
> कैसा होगा कंचन विहान।'
>
> (तोरन देवी लली—जागृति : 'गायक' पृष्ठ ६९)

सन् १९२४ से १९२९ तक राष्ट्रीय आन्दोलनों में इस प्रकार की स्थिरता सी रही। परन्तु १९३० में जब 'सम्पूर्ण स्वराज्य' की घोषणा कर दी गई तब एक बार फिर राष्ट्रीय आन्दोलन में तीव्रता आई, और इस परिस्थिति में नारी ने समान सहयोग देकर अपनी समान शक्ति और योग्यता का प्रमाण दिया[1]। १९३१ में गाँधी-इरविन समझौते के कारण राष्ट्रीय आन्दोलन के इस वेग में जो थोड़ी-सी शिथिलता आई, वह सरकार के दमन चक्र, जनता की क्षुब्ध-प्रतिक्रिया एवं राष्ट्र सेवियों के अदम्य उत्साह के परिणाम स्वरूप नई शक्ति के रूप में परिवर्तित हो लक्ष्य-प्राप्ति के प्रांगण में प्रतिलक्षित हुई। इस बार महिला समाज का और भी अधिक विश्वास से आह्वान किया गया और स्वतंत्रता प्राप्ति के इस महान् प्रयत्न में उसे भी सहयोगिनी और सहचरी का स्वरूप प्रदान किया गया। चिर हतभागिनी नारी के इस नवीन यथार्थ जागृत-स्वरूप का साहित्यकार ने भी अनुमोदन किया—

री, आँसू के दिन बीते
अब भाग जगे फिर रीते
ओ मृदुल स्वप्न तुम जीते
अब सत्य सिंधु को चिर हतभागिनी
भरो रिक्त घर भरने।

(गिरीश चन्द्र पन्त: प्रस्थान, सरस्वती १९३४ पृष्ठ ५६४)

राष्ट्रीय प्रगति के साथ-साथ भारतीय औद्योगिक विकास की दृष्टि से भी यह काल विशेष रूप से महत्वपूर्ण है। इससे पूर्व (१९१४ तक) भारत में जूट और कपास के कारखाने ही प्रस्थापित हो सके थे। मशीन निर्माण अनभिज्ञ था। इस काल में लोहे और इस्पात के उद्योगों के साथ-साथ अन्य छोटे-छोटे उद्योग भी बड़ी तीव्रता से प्रगति करने लगे। दो विश्व-युद्धों के बीच भारत में औद्योगिक क्रान्ति का सूत्रपात हुआ, जिसके परिणामस्वरूप स्वदेशी के विदेशी-बहिष्कार की भावना को बल प्राप्त होकर राष्ट्रीयता के विकास में अभिवृद्धि हुई।

प्रथम विश्व-युद्ध के फल-स्वरूप भारतीय समाज में आर्थिक विषमता व्याप्त हो चली थी। भौतिक असफलताओं ने व्यक्ति की भावनाओं को अन्तर्मुखी बनाकर सामाजिक जीवन से विरक्त कर दिया। साहित्य में यह अन्तर्मुखी प्रवृत्ति स्थूल के विरुद्ध सूक्ष्म का आग्रह लेकर प्रकट हुई। परन्तु युग की उद्बुद्ध चेतना ने इस आर्थिक परिधि में भी जीवन और उन्नयन के प्रति आशावादी दृष्टिकोण का निर्माण किया। दूसरी ओर पश्चिम की स्वच्छन्द विचारधारा से प्रभावित साहित्यकार स्वतन्त्र एवं मुक्त प्रेम-भावना की उस आयोजना में प्रण रत थे, जो जागृति-काल में

१—'काँग्रेस का इतिहास' भाग ४, देखिए पृष्ठ ३५२।

द्विवेदी आदि आदर्शवादी साहित्यकारों की नैतिक मान्यताओं के बोझ में कुंठित हो गई थी। इस युग में भी जागृति-कालीन नैतिकता का अंकुश साहित्यकारों पर हावी था, परन्तु साथ ही मन की शाश्वत सौन्दर्य भावना स्वरूप प्राप्त करने के लिए आकुल थी। इस काल में प्रकृति और नारी के अतीन्द्रिय सौन्दर्य द्वारा अप्रत्यक्ष रूप में नारी सौन्दर्य को अभिव्यक्ति प्रदान की गई तथा जिसमें उपभोग की भावना को प्रश्रय न देकर कौतूहल और विस्मय की भावना को चित्रित किया गया। आत्म-बद्ध, अन्र्मुखी एवं अतीन्द्रिय अमांसल सौन्दर्य का यह चित्रण हिन्दी में छायावाद के नाम से अभिमत हुआ। इस सौन्दर्य-भावना के मूल में नारी ही है। अतः इस काल में नारी-भावना से सत् माधुर्यपूर्ण स्वरूप की प्राप्ति हुई जिसमें न तो रीतिकालीन स्थूल शृंगारिकता ही थी, और न जागृति कालीन कठोर नैतिक का बन्धन ही। इस भावना ने 'नवीन सौन्दर्य चेतना' जगा कर समाज की अभिरुचि का परिष्कार किया[१]।

पश्चिम के स्वच्छन्दतावाद से प्रभावित और अनुप्राणित इस वैयक्तिक एवं नितान्त एकान्तिक कविता धारा में जहाँ नारी के सत्, निर्मल और माधुर्यपूर्ण रूप को नवीन रंगों में चित्रित किया गया, वहाँ साथ ही तत्कालीन सामाजिक उद्बोधन एवं राष्ट्रीय चेतना की भी अवहेलना नहीं की गई। एक ओर यदि मानव मन की यह शाश्वत प्रणयन-नारी के अन्य-पक्ष—समाजगत स्थिति, उसकी समस्याओं, विषमताओं तथा उनके समाधान आदि की सम्भावनाओं को भी पूर्ण निष्ठा के साथ ग्रहण किया गया। इस प्रकार से इस काल में चित्रित नारी भावना यदि एक ओर कवि की कल्पना से उद्भूत होने के कारण, उसकी प्रतिमा का परिणाम और इसीलिए अपने मूल रूप में व्यक्तिगत है, तो दूसरी ओर सामाजिक जागृति और राष्ट्रीत क्षेत्र में सहकार के कारण उसे विस्तृत सामाजिक जीवन की भी स्वीकृति मिली है और उसका क्षेत्र पहिले युग की अपेक्षा अधिक विस्तृत हो गया है।

हिन्दी साहित्यकार द्वारा विकास कालीन नारी की निम्नलिखित विभिन्न रूपों में अभिव्यक्ति प्रदान की गई—

१—वस्तु-स्थिति।
२—नवीन आदर्श।
३—सुधार भावना।
४—विभिन्न रूपों में नारी।
५—प्रतीकात्मक नारी भावना।
६—विभिन्न सम्बन्धों में नारी।
७—विभिन्न वर्गों में नारी।
८—तथा सार्वजनिक प्रगति और नारी।

१—नगेन्द्र : 'आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृतियाँ,' छायावाद, पृष्ठ १६।

वस्तु-स्थिति

नवीन आदर्शों के इस उद्‌बोधन काल में नारी को उच्चतर, सम्मानित और श्रद्धायुक्त भाव-भूमि पर अधिष्ठित करना इस काल के साहित्यकारों का लक्ष्य रहा है। छायावादी रोमान्टिक प्रवृत्ति से प्रभावित कवियों ने उसमें माधुर्य, प्रेरणा और शक्ति की स्थिति मानी है, यह सत्य है। परन्तु इसके साथ-साथ यह भी सत्य है कि उसकी समाजगत वस्तु-स्थिति इस काल में भी पूर्वावस्था जैसी ही दयनीय और करुण बनी रही। वैधव्य से पीड़ित नारी को अपने ही घर में दासी का स्वरूप ग्रहण करना पड़ता है[1]। सहोदरा के जीवन की यह कितनी बड़ी करुणा है। नारी अपने त्याग और सेवा के कारण ही[2] इतनी निर्बल हो गई है कि उसे जीवन भर पुरुष वर्ग से अपमानित और प्रतिलांछित होना पड़ता है। देवताओं की अर्चना के योग्य नारी पतिता और हेय होकर दानवों के समाज में अपना दयनीय जीवन बिता रही है—

'आह, निर्दोष सौन्दर्य की यह कली
अर्चना योग्य जो देवताओं को रही
आज पांव तले दानवों के पड़ी
हेय होकर विवश ठोकरें खा रही।

(श्याम सुन्दर शर्मा : पतिता, माधुरी १६२७, पृष्ठ १२८)

इतना ही नहीं, अपने समस्त विश्वास को अपनी विशुद्धता आत्मा के साथ समर्पित करने के पश्चात् भी वह पुरुष की दृष्टि में अविश्वसनीय है—

अविश्वास, हा अविश्वास ही
नारी के प्रति नर का
नर के तो सौ दोष क्षमा हैं
स्वामी है वह घर का।

(मैथिली शरण गुप्त : द्वापर, पृष्ठ ३६)

इसी अस्वीकृति और अनादर की अवस्था में वह अविश्वास की भागी केवल बन ही सकती है[3]। क्योंकि इससे कुछ अधिक उसके वश में है ही नहीं। सामाजिक परम्पराओं की इस रूढ़िवादिता में विवाह का सुवर्ण अवसर भी उनके लिए विष भार बन कर आता है—

'अर्द्ध निशा थी, मेरे सिर में तभी गया सिन्दूर दिया।
या मम सिर पर विश्व-भार रख बाल-भाव था दूर किया।'

(ठाकुर गुरुभक्त सिंह—वनश्री : सिन्दूर, पृष्ठ ७६)

१—प्रेमचन्द। निर्मला, देखिए रुक्मणि का चरित्र।
२—वही, कायाकल्प, पृष्ठ ४८८।
३—मैथिली शरण गुप्त . द्वापर, पृष्ठ २७।

सामाजिक परम्पराओं के मध्य इस प्रकार के शापित व्यक्तित्व का भार लिए चलते रहना उसके लिए कितना कष्टकर है। वह वास्तव में शक्तिहीना है। इसीलिए उसका आक्रोश परास्त हो, करुणा में विगलित हो जाता है—

शत-शर विद्धा हरिणी हूँ, मदकल दलिता कदली हूँ
जड़ से उच्छिन्न लता हूँ, मैं कुचली हुई कली हूँ।

पुरुष-वर्ग द्वारा आरोपित दृढ़ मर्यादा में रहते-रहते नारी उसकी अभ्यस्त हो गई है और अब उस नियत संकीर्णता से निकलने की बात भी सोचने से उसका मस्तिष्क शून्य हो गया है—

'हमारे समाज ने अपनी अबला स्त्री के चारों ओर सूक्ष्म स्पष्ट रेखाएँ खींच कर उसके लिए जो स्थान नियत कर दिया है, जो दृढ़ मर्यादा चिर काल से बाँध दी है, उसे हम किस प्रकार दूर से देख सकते हैं। हमारी नारी उस तरह अपने को उससे अलग कर, नहीं देख सकती......वह शिक्षित हो, अथवा अशिक्षित। उस संकीर्ण कारा में रहते-रहते उसे अपनी संकीर्णता का अनुभव नहीं होता।'

(सुमित्रा नन्दन पन्त—पाँच कहानियाँ : अवगुण्ठन, पृष्ठ, १०२-१०३।)

सामाजिक अस्वीकृति के साथ-साथ उसे पुरुष की सम्पति के रूप में ग्रहण किया गया[1]। वैसी ही सामान्य सम्पति के रूप में, जिस प्रकार की सम्पति हम 'गुलाम को, कुत्तों को अथवा अन्य जानवरों को कह सकते हैं[2]। इसीलिए तो उसे नैराश्य और विवशता का जीवन बिताना पड़ता है[3]। अपनी स्थिति के प्रति कभी-कभी उसके मन में आक्रोश उत्पन्न होता है और वह उस पिंजरमय वातावरण से निकल कर नीले खुले हुए आकाश में पंख खोल कर स्वतन्त्र विहग सी उड़ना चाहती है—

'मैं नहीं युवा होना चाहती। बुआ! छी:! देख चिड़िया कितनी ऊँची उड़ जाती है। मैं चिड़िया होना चाहती हूँ...पंख खोल कर वह आस्मान में जिधर चाहे उड़ जाती है...मैं चिड़िया बनना चाहती हूँ।'

(जैनेन्द्र कुमार—'त्यागपत्र' में मृणाल का कथन)

महिलाओं की दयनीय स्थिति का कारण आर्थिक पराभव है। जीविका के लिए पुरुष पर आश्रित रहने की परम्परा उनके विकास के अवसर अवरुद्ध कर देती हैं। पेट की भूख को भरने के लिए उन्हें पुरुष को तुष्ट करना पड़ता है। अत: वे जीवन के प्रांगणा में घृणित व्यापार का समारोह रचाती हैं[4]। कवि ने उसकी इस

१—भगवती चरण वर्मा : तीन वर्ष, पृष्ठ ९७-९८।
२—वही, देखिए अजित का कथन, पृष्ठ ९९।
३—देखिए, जैनेन्द्र के 'त्याग पत्र' की मृणाल, तथा सियाराम शरण गुप्त के 'नारी' की जमुना।
४—शोभाराम जी धनुसेवक : वेश्याविनय, चाँद, १९२५, पृष्ठ ३६६।

परवशता को देखा है। उसने समाज के विस्तार में पीड़ित विधवाओं की दुर्दशा ग्रस्त[1] होते देखा है। देवदासियों के रूप में पूजकों का आनंद बढ़ाते[2] और उनके अधरों के हास को उनकी आँखों में रोते हुए देखा है[3]। अपनी अवस्था में नारी सभी दुखों का मूल समझी जाती है। वह पर्गों की धूल-सा उपेक्षित जीवन जीती है[4]। बस, अपनी मूक वेदना को मूर्त स्वरूप दिए वह साहित्यकार की सहानुभूति की पात्र बनती है—

> उपमे, कौन तुम नियति तूलिका-चित्रित जीवनमयी पुतली सी।
> अरी, कौन तुम मंजु मुकुली कोमल वदना कुन्दकली सी।
>
> (ज्वाला प्रसाद, माधुरी १९३५, पृष्ठ ६१५)

इस काल में नारी के असहाय रूप की दयनीयता पर लगभग सभी प्रमुख लेखनियाँ उठी हैं। उपेक्षा के अभिशाप से नारी शायद सबसे अधिक करुण है। सामान्य रूप में कहा जा सकता है कि सामान्य नारी की सामाजिक स्थिति पुरुष के कठोर अंकुश से आच्छादित है उसे कहीं भी अवकाश, अवसर तथा उन्नति के प्रकाश की प्राप्ति नहीं है। साहित्यकार ने उस अश्रुमयी की इस सामाजिक अवस्था पर अपनी पूर्ण सहानुभूति प्रकट की है[5]।

नवीन आदर्श

जागृति काल में पूर्व-काल की प्रतिक्रिया स्वरूप नारी सम्बन्धी जिन महान् आदर्शों की स्थापना हुई, विकास काल में उनका चरम उत्कर्ष देखने को मिलता है। इस काल की नारी में वासना से रिक्त पूर्ण सत् भाव के दर्शन होते हैं। रीतिकालीन शृंगारिकता एवं स्थूल मांसलता के जाल-पाश से स्वतन्त्र हो, अब वह काम को ललकार कर कहती है—

> 'नहीं भोगिनी यह मैं कोई, जो तुम जाल पसारो,
> बल हो तो सिन्दूर बिन्दु यह, यह हरनेत्र निहारो
> रूप दर्प कंदर्प तुम्हें तो मेरे पति पर वारो
> लो मेरी यह चरण धूलि, उस रति के सिर पर वारो।'
>
> (मैथिली शरण गुप्त : साकेत, पृष्ठ २६२)

१—पद्माकर अवस्थी : देव सेवा, चाँद १९२६, पृष्ठ ४२५।
२—सोमानाथ : देवताओं की दुर्दशा, चाँद, १९२६, पृष्ठ १४७।
३—वही, देखो, चाँद, १९२७, पृष्ठ ६४२।
४—कान्ती प्रसाद सिंह : वैधव्य वेदना, चाँद १९३४, पृष्ठ ६६७।
५—देखिए चाँद १९३२, पृष्ठ १०६, १९३३, पृष्ठ, ५१५, १९३४, पृष्ठ ३७६, तथा १९३७ पृष्ठ १३७।

पत्नीत्व की निष्ठा का इससे महान् आदर्श और क्या हो सकता है 'साकेत' की सुमित्रा जीवन के प्रति किए गये अन्याय को सहन नहीं किया चाहती—

...'राघव, शान्त रहोगे तुम
क्या अन्याय सहोगे तुम।'

इस काल का कवि नारी को पुरुष की प्रेरणा का स्वरूप प्रदान करना चाहता है। वह चाहता है कि युग चेतना के इस प्रहर में, नारी, अभिनव शृंगार एवं कलित कुंजों के लसित प्रदेश से निकल कर पति के हाथ में खड्ग दे, उसे राष्ट्र-सेवा में भेजने वाली कर्त्तव्य परायण प्रिया के रूप में उपस्थित हो[1]। वह उसमें उन्नति की पूर्ति, तथा जागृति की स्फूर्ति की प्रतिष्ठा करता है[2]। पति की पथ-निर्देशिका तथा वीरों की शिक्षिका भी नारी ही है। उसका महान् हृदय शील, सौजन्य, सहनशक्ति एवं सेवा व्रत के अपार अक्षय गुणों से पूर्ण है[3]। उसका वसुधा पर स्नेह सुधा वर्षण करने वाला मातृ-रूप पूजा की वस्तु है[4]। उसके नारीत्व में संसार के समस्त गुण, सुख के समस्त उपकरण एवं ज्ञान आदि पुंजीभूत हो गए हैं[5] आज का कवि उसे पथ का विघ्न बन कर चेतना के देश में चलने का दिशा-ज्ञान देता है—

'बनती क्यों पथ का विघ्न अटल
उठ, इठला, इतरा मचल-मचल
चेतनता की चंचल पुतली
इतनी जड़ क्यों, तू तो जंगम।'
(गोपाल सिंह नैपाली : गीत, सरस्वती १९३४, पृष्ठ ३०१)

इसी प्रकार हरिऔध ने 'वैदेही वनवास' की सीता में उन समस्त उदात्त गुणों का समावेश कर दिया है जिसे वे राष्ट्रीय एवं सामाजिक आन्दोलन युगीन नारी में आवश्यक समझते हैं साथ ही 'रसकलश' में किया गया अभूतपूर्व नायिक भेद[6] नारीत्व के आदर्श की स्थापना में सहज योगदान प्रदान करता है। नारी की आदर्श कर्त्तव्य भावना का उज्ज्वलतर उदाहरण गुप्त जी की उर्मिला के उन्माद की अवस्था में चित्रित हुआ है, जब उसे लक्ष्मण अपने सम्मुख खड़े सम्मुख जान पड़ते हैं। वह

१—शकुन्तला देवी गुप्त : प्रस्थान, चाँद १९२९, पृष्ठ ८४०।
२—रामचरित उपाध्याय : प्रबला, वही, चाँद, पृष्ठ ५६२।
३—बैजनाथ सिंह सारथी : अबला, सरस्वती १९३३, पृष्ठ ४०४।
४—प्रभातकुमार : रमणी, सरस्वती १९३३, पृष्ठ १५५।
५—निराला : गीत सरस्वती, १९३४, पृष्ठ ३४१।
६—देखिए, हरिऔध का रस कलश।

लक्ष्मण को अपनी दुर्बलता का कारण मान कर अनायास ही कह उठती है—

'प्रभु नहीं फिरे, क्या तुम्हीं फिरे।
हम गिरे, अहो! तो गिरे, गिरे।'

इस काल में नारी पर आरोपित यह आदर्शवादिता केवल कोरी आदर्शवादिता ही नहीं थी, सामाजिक और राष्ट्रीय क्षेत्र में कुछ महिलाओं द्वारा इसे व्यवहृत भी किया जा रहा था। 'पथ के साथी' में महादेवी जी का सुभद्राकुमारी चौहान के विषय में कहा गया निम्नलिखित उद्धरण इस तथ्य की पुष्टि करता है— 'पति की अनुगामिनी, अर्धांगिनी आदि विशेषताओं को अस्वीकार कर, उन्होंने भाई लक्ष्मण सिंह जी को पत्नी के रूप में ऐसा अभिन्न मित्र दिया, जिसकी बुद्धि और शक्ति पर निर्भर रहकर जिसका अनुगमन किया जा सके'।' और स्वयं सुभद्रा जी का मत था—

'मनुष्य की आत्मा स्वतन्त्र है, फिर चाहे वह स्त्री शरीर के अन्दर निवास करती हो चाहे पुरुष शरीर के अन्दर। इसी से पुरुष और स्त्री का अपना-अपना व्यक्तित्व अलग रहता है...बन्धन कितने ही अच्छे उद्देश्य से क्यों न नियत किए गये हों, हैं बन्धन ही, और जहाँ बन्धन हैं, वहाँ असन्तोष है तथा क्रान्ति है'।'

इसी भाँति 'स्वप्न' की सुमना के चरित्र का विकास भी हुआ है। देश-सेवा के निमित्त उसके हृदय की भावना किसी ठोस कर्त्तव्य के बहाने बाहर फूट निकलना चाहती है—

'पर उत्साहमयी सुमना का भावुक क्रान्ति-रसिक उन्नत मन।
एक गूढ़ पीड़ा से पीड़ित, रहता था उद्विग्न प्रतिक्षण।
औरों का आनन्द, हर्ष सुख उसके लिए पराया था धन।
निजी हर्ष के लिए सदा वह, व्याकुल रहती थी मन ही मन।'

(राम नरेश त्रिपाठी, स्वप्न, पृष्ठ ४३।)

नारी के आदर्शमयी के रूप में अपने कारण पति को कर्त्तव्य विमुख नहीं देख सकती। नारी की इस महान् भावना का आरोपण,' सुमना' में 'सुन्दर ढंग से हुआ है—

नारी के कारण से जग में
यदि हो पति अपयश का भाजन
तो सचमुच है घोर पाप का
फल स्वरूप यह नारी तन।' (स्वप्न, पृष्ठ ५०)

राजनैतिक संघर्ष और अधिकार प्राप्ति के इस अभ्युदय काल में साहित्यकार ने नारी के विशिष्ट वर्ग में बढ़ती हुई अधिकार भावना के परिणामों को भी दृष्टि

१—महादेवी वर्मा, पथ के साथी, पृष्ठ ४५।
२—वही, पृष्ठ ४४।

ओझल नहीं होने दिया है। उसने उनके अधिकार-क्षेत्रों की व्याख्या करते हुए उसकी महत्ता और आदर्श को सुरक्षित रखा है—

'देवियो ! मैं प्राणियों के विकास में स्त्री के पद को पुरुष के पद से श्रेष्ठ समझता हूँ। यदि हमारी देवियाँ सृष्टि और पालन के देव मन्दिर से हिंसा और दानव के कलश क्षेत्र में आना चाहती है तो उसमें समाज का कल्याण न होगा।'

(प्रेमचन्द : गोदान, डा० मेहत्ता का कथन)

राष्ट्रीय चेतना और समान भावना के इस बढ़ते हुए प्रहर में नारी की समझ में यह बात नहीं आ पाती कि एक प्राणी का दूसरे प्राणी पर क्यों कर अधिकार हो सकता हैं सृष्टि के सम्मुख सभी की तो स्वतन्त्र सत्ता है। 'चित्रलेखा' की चित्रलेखा' कुमारगिरि की ओर आकर्षित होने के उपरान्त बीजगुप्त से कहती है—

'अधिकारी हो इतना नहीं जानती थी। मनुष्य पर मनुष्य का क्या अधिकार है, यह मैं कभी नहीं जान सकी।' (भगवती चरण वर्मा) चित्रलेखा, पृष्ठ ७१।)

इसी परम्परा में राष्ट्रीय कवि ने नारी को जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में स्वावलम्बन का बल प्रदान किया। नारी 'आदिभौतिक पक्ष में रति का प्रतिरूप है, वह विश्व की मधुर कल्पना है और भारतीय परम्परा में पुरुष की अनिवार्य आवश्यकता के रूप में प्रगट हुई है। साथ ही बौद्धिक तथा आध्यात्मिक क्षेत्र में भी वह उच्च है'[1]। पुरुष पर उसका आभार सदैव से ही रहा है—

'दीन न हो गोपे, सुनो
हीन नहीं नारी कभी,
भूत दया मूर्ति वह मन से शरीर से
क्षीण हुआ वन में क्षुधा से मैं विशेध जब
मुझ को बचाया मातृ-जाति ने ही खीर से।'

(यशोधरा, पृष्ठ १०५)

साथ ही वह अपनी अधिकार सीमा एवं शक्ति से भी अनभिज्ञ नहीं है। स्वयं को समान भाव-भूमि पर अधिष्ठित करती हुई वह कह सकती है—

'तुच्छ न समझो मुझ को नाथ
अमृत तुम्हारी अंजलि में तो भाजन मेरे हाथ।
तुल्य दृष्टि यदि तुमने पाई
तो हम में ही सृष्टि समाई
स्वयं स्वजनता में वह आई
देकर हम स्वजनों का साथ।' (यशोधरा, पृष्ठ १२८)

१--त्रिलोचन पाण्डेय : गुप्त जी के नारी पात्र, साहित्य संदेश, १९५५-५६, पृष्ठ ३०५।

नारी को महत्ता के शीर्ष पर अवस्थित करने के उद्देश्य से आज का साहित्यकार नारी की, मात्र नारी के रूप में नहीं, वरन् अनेक सम्बन्धों के रूप में व्याख्या करना चाहता है। नारी में उसकी नग्न मूर्ति से आगे कुछ और भी है—

नर के बाँटे क्या नारी की
नग्न मूर्ति ही आई?
माँ, बेटी या बहिन हाय! क्या
संग नहीं वह लाई।' (द्वापर, पृष्ठ ३०)

o o o o

या,

'स्त्री को स्त्री संज्ञा देकर पुरुष को न छुटकारा है, न होगा। उसे कुछ न कुछ और भी कहना होगा। माता कहो, बहिन कहो, पत्नी कहो, उपपत्नी कहो, प्रेमिका कहो...कुछ न कुछ अपनापन जतलाए बिना मात्र स्त्री संज्ञा का प्रयोग करके बस स्त्री द्रव्य से छुट्टी तुम को नहीं मिलेगी। (जैनेन्द्र कुमार : 'सुनीता' पृष्ठ १०)

साथ ही उसे सामाजिक स्वीकृति प्रदान करने के बाद उसके अधिकार क्षेत्र में सामंजस्य स्थापित करना भी आवश्यक समझा गया है, ऐसा सामंजस्य, जिसमें उसका कर्त्तव्य क्षेत्र एकांगी न रह जाये—

'स्त्रियों के उज्ज्वल भविष्य को अपेक्षा रहेगी कि उसके घर और बाहर में ऐसा सामंजस्य स्थापित हो सके, जो उसके कर्त्तव्य को केवल घर या बाहर तक ही सीमित न कर दे।'

(महादेवी वर्मा—शृंखला की कड़ियां : घर और बाहर पृष्ठ ९५)

सुधार भावना

विकास कालीन साहित्य में नारी-सम्बन्धी सुधार-भावना को प्रेमचन्द और महादेवी वर्मा के रूप में विशेष व्याख्याता प्राप्त हुए हैं। 'निर्मला' की निर्मला और 'गबन' की रतन और 'गोद'[1] की किशोरी अनमेल विवाह के परिणाम स्वरूप जीवन की विभीषिकाओं का सामना करती हुई अन्त में टूट-टूट कर बिखर जाती हैं। इस प्रकार की विवाह-स्थिति में उसका व्यक्तित्व अपने आप में कितनी अपार करुणा को मुखर करने लगता है...'अब तक ऐसा ही एक आदमी उसका पिता था, जिसके सामने वह सर झुकाकर देह चुराकर निकलती थी, उसकी अवस्था का एक आदमी उसका पति था। उसे वह प्रेम की वस्तु नहीं, सम्मान की वस्तु समझती थी। उनसे भागती फिरती, उनको देखते ही उसकी प्रसन्नता पलायन कर जाती थी।'

(निर्मला पृष्ठ ३७)

१—लेखक—सियाराम शरण गुप्त।

इस प्रकार के अनमेल विवाहों की पृष्ठ भूमि में प्रेमचन्द प्रचलित दहेज प्रथा एवं माता पिता की असावधानी को ही विशेष कारण मानते हैं। नारी की सामाजिक महत्ता को बनाए रखने के लिए इन दुष्कर परम्पराओं का विनाश आवश्यक है। 'निर्मला' की चिता को आग देते समय उपन्यासकार जैसे विवाह परम्परा को भस्म कर देना चाहता है।'

पुरुष के परम्परागत अत्याचारों से नारी पीड़ित है इस काल में उसके अहं भाव को बल मिलता है, और वह पुरुष के अत्याचार के विरुद्ध सम्बन्ध विच्छेद की बात सोचने लगती है।

'तलाक़ की प्रथा यहाँ हो जाने दो, फिर मालूम होगा हमारा जीवन कितना सुखी है।' (प्रेमचन्द : कर्मभूमि की सुखदा का कथन, पृष्ठ २०५)

सुधार भावना से प्रेरित प्रेमचन्द का उद्देश्य 'रूढ़िजर्जर और शोषित पीड़ित समाज में नया बल भरते रहना है,' भले ही कोई पात्र जीवन की जटिलता का भार वहन करने में टूट जाय, इसकी, उन्हें चिन्ता नहीं है। समाज में स्वतः चेतना जागे, वह स्वयं आत्माभिमान के आवेश में नई दिशाओं को प्राप्त करने के लिएउठ खड़ा हो, यही उन्होंने अपेक्षा की है। नारी को सम्मान की प्रतिष्ठा मिलनी ही चाहिए, ऐसा उनका अनुरोध रहा है—

'स्वदेश की अभी तक किसी ने व्याख्या नहीं की, पर नारियों की मान रक्षा उसका प्रधान अंग है, और होना चाहिए। (रंगभूमि, पृष्ठ ४२४)

नारी का वैधव्य नारी के लिए उस अपराध के समान है 'जिसके कारण उसे मृत्यु दण्ड से भी भीषण दुःख भोगते हुए तिल-तिल घुल कर जीवन के शेष, युग बन जाने वाले क्षण व्यतीत करते होते हैं'। इस घुटन के मध्य साहित्यकार के मन में पुरुष वर्ग के प्रति एक आक्रोश भावना प्रश्न बन कर उपजती है—

'विधुर, विवाह पर विवाह क्यों करत जात
विधवा क्यों विधवा सदैव रहि हहरति
जन क्यों कजनता किए हूँ ना कुजात होत
जनि-जनि लाल है जननि, काहे थहरति।'[2]

इस रूढ़ि विरुद्ध मानवतावादी दृष्टिकोण की पृष्ठभूमि में साहित्यकार नारी को पौरुषी अत्याचारों से मुक्त करना चाहता है। समाज पर कटु व्यंग करते हुए वह संकीर्ण मान्यताओं के घेरे में बन्द धर्म संरक्षकों का उपहास करने से भी नहीं चूकता उन धर्म रक्षकों का उपहास करने से...जिनकी मान्वता है...

१—महादेवी वर्मा : शृंखला की कड़ियाँ, पृष्ठ ४२।
२—अयोध्या सिंह उपाध्याय : मर्म पीड़िता, चांद १९२६, पृष्ठ २४।

मरा करे वह क्या हुआ, हमको क्यों कुछ दाह है
अटल सनातन धर्म में पातक विधवा विवाह है।
(कुँअर जगत नारायण : पातक विधवा विवाह है, चांद १९२७, पृष्ठ ५८०)

साथ ही वह उनको सावधान करता हुआ कहता है—

'इस हिन्दू समाज में जब तक विधवाएँ दुख पायेंगी
हमसे वे अपमानित होंगी, जीवन घृणित बितायेंगी।'[1]

और इसीलिए यदि घृणा-विस्तार से समाज की रक्षा करनी है, तो हमें विधवाओं को सम्मानित दृष्टिकोण देना होगा। इसीलिए कवि में विधवाबाला को, उसकी वस्तु-स्थिति का सम्पूर्ण करुण चित्र एवं मानवता सजल मधुर सहानुभूति प्राप्त हुई है।

'वह इष्टदेव के मन्दिर की पूजा सी
वह दीप शिखा सी शान्त भाव में लीन
वह क्रूर काल तांडव की स्मृति रेखा सी
वह टूटे तरु की छुटी लता सी-दीन
दलित भारत की विधवा है।
(निराला : भारत की विधवा)

विधवा जीवन में सुधार के साथ-साथ सुधार-भावना से आकर्षित साहित्यकार का ध्यान पर्दा-प्रथा की हानियों की ओर भी आकृष्ट हुआ है। उसकी दृष्टि में पर्दा और यवन एक ही पक्षी के दो पंखों के समान हैं जो मनुष्य की पाशविक आकांक्षाओं के चिह्न स्वरूप हैं। साथ ही वह यह भी मानता है कि 'पर्दे के कारण महिलाओं के स्वास्थ्य तथा उनकी शिक्षा सम्बन्धी उन्नति में बड़ा आघात पड़ रहा है। इस प्रथा का मूलोच्छेद करने के लिए हमें अपनी समस्त शक्ति का उपयोग करना चाहिए'[2]। पर्दे के अवरुद्ध वातावरण से बाहर आकर जग-जागृति में अपने को खोजने का निमन्त्रण इस काल की नारी को वैशिष्ट्य प्रदान करता है—

'ओ बाले, जग जागृति में अस्तित्व खोज ले अपना।
प्राचीरों के आंगन में क्यों, देख रही है सपना।
(चांद १९३५, पृष्ठ ४२)

साहित्यकार समाज में कल्याण की दृष्टि रखना चाहता है। पवित्र और मधुर भावना का विस्तार उसके उस स्वप्न की भाँति है, जिसे वह साकार करने के

1—देवी प्रसाद गुप्त : हिन्दुओं, सावधान, चांद १९२९, पृष्ठ ८३७।
2—सुमित्रा नन्दन पन्त, : पांच कहानियां, अवगुण्ठन, पृष्ठ १०२।
3—देखिए, मातृमन्दन, सरस्वती १९३०, पृष्ठ ३०३।

लिए प्रयत्नशील है। उसकी इस कल्पना के रुचिर प्रदेश में आर्थिक विषमताओं से प्रताड़ित एवं सामाजिक रूढ़िवादिता से ग्रसित नारी किस प्रकार घृणा युक्त जीवन का निर्वाह करते हुए जीती रह सकती है[1]। वह वेश्यावृत्ति के मूल कारणों को खोजता है, तब उसे ज्ञात होता है कि वेश्यावृत्ति का कारण 'अर्थ पिशाचों स्वार्थ तथा बर्बरता में है जो जीवित रहने के लिए आदमी को अपना शरीर तक बेच देने के लिए विवश करते हैं।' (भगवती चरण वर्मा : तीन वर्ष, पृष्ठ २११)

नारी जननी है, लेकिन साथ ही वह रक्षिता भी है, और अपनी रक्षा के लिए आर्थिक मान्यता के अभाव में वह पुरुष पर अवलम्बित है, इसीलिए वह गुलाम है, और इसीलिए वह सामाजिक स्वीकृति-विहीना है।

इस काल के साहित्यकार ने उसके जीवन का गहन अध्ययन किया और उसने पाया कि 'उनके जीवन का विकास एकांगी होता है उनके हृदय की कल्याणमयी सुकोमल भावनाएँ प्रायः सुप्त सी रहती हैं और उनकी जीवन-शक्ति प्रकाश देने तथा जगत में उपयोग कार्य करने वाली विद्युत न होकर, ऐसी विद्युत होती है जिसका पतन वृक्षों के पतन का पूर्वगामी बन जाती है।'

(महादेवी वर्मा : शृंखला की कड़ियां, पृष्ठ ९४)

और स्त्री की विवशता का लाभ उठाने के लिए उसने उसे भिन्न-भिन्न रूप दिए—'उसने कहीं इस स्त्री को देवता की दासी बनाकर पवित्रता का स्वांग भरा, कहीं मन्दिर में नृत्य कराकर कला की दुहाई दी और कहीं केवल अपने मनोविनोद की वस्तु मात्र बनाकर अपने विचार में गुण ग्राहकता ही दिखाई।'

(महादेवी वर्मा : शृंखला की कड़ियां, पृष्ठ ९४)

सौन्दर्य के हाट में अपने सौन्दर्य का विक्रय करने वाली इन भावना कुचली नारी-विभूतियों के उद्धार हेतु कवि पुरुष को संयमी और विषयारिक्त बनने की दिशा देता है—

'...'विषय के दास न बनते, स्ववश में इन्द्रितां रखते
तो लक्षों भगिनियों को ये न गणिका रूप में लखते।

(शोभा राम : वेश्या विनय, चांद १९२५, पृष्ठ ३६६)

साथ ही नारी को भी अपनी आदरपूर्ण स्थिति के लिए प्रयत्न करना है। उन्हें सुशिक्षिता, सम्मानयुक्ता और सुमाता बनना है—

'सत् शिक्षा से पूर्ण सुशिक्षित हो पतियाएँ
नहीं निरादर सहे, मान मनुजोचित पाये।'

(वही, वनिता विनय, चांद १९२९, पृष्ठ ६८५)

१—प्रेमचन्द : गोदान, देखिए पृष्ठ ४४४।

पत्रिकाओं में शिक्षा प्रचार के साथ-साथ इस विकास काल में सह-शिक्षा का भी अनुमोदन किया गया—

'बालक बालिकाओं की सम्मिलित शिक्षा पर मुझे विश्वास है। विशेषतया कालेजों में तो इसका उपयोग होना ही चाहिए...... मैं विश्वास दिला सकती हूँ कि जहाँ कहीं भी इसका उचित रूप में प्रयोग किया गया है, इसके द्वारा अच्छा ही फल देखने में आया है। इससे हानि की बहुत कम सम्भावना है।'

(श्रीमती रतनबाई के भाषण का अंश—सरस्वती १९३० पृष्ठ ४२६)

इस युग में नारी की सामाजिक समस्याओं के अन्तराल में प्रवेश कर, उनके मूल कारणों एवं समाधानों को खोजने का प्रशंसनीय प्रयत्न किया गया तथा ऐसे तथ्य प्रस्तुत किए गए, जिनमें सभी समस्याओं के मूल में पुरुष वर्ग का विस्तृत अहंभाव, अत्याचार एवं पाशविक प्रवृत्ति ही विशेष रूप से लक्षित हुई। इस प्रकार इस काल में सुधार योजनाओं को सर्वथा नवीन मान्यताओं के साथ प्रतिष्ठित किया गया, जिसका प्रभाव पूर्व युगों की सुधार भावना की अपेक्षा अधिक विस्तृत और सशक्त रूप में पड़ा।

विभिन्न रूपों में नारी

विकास काल नारी को पूज्य भावना, पवित्र और मधुर कल्पना का स्वरूप प्रदान करने के क्षेत्र में उत्कर्ष का काल है। इस प्रसंग में इसे हिन्दी साहित्य का स्वर्ण काल कहना चाहिए। जैसा कि इस अध्याय के आरम्भिक पृष्ठों में कहा जा चुका है कि इस काल में पाश्चात्य साहित्य की रोमान्टिक प्रवृत्ति का प्रभाव छायावाद का नामकरण लेकर हिन्दी साहित्य में अभिव्यक्त किया गया। रोमान्टिक कवियों में विलियम वर्ड्सवर्थ की प्रकृति-प्रियता, कालरिज का जीवन की सम्पूर्ण इकाई के साथ सत्य एवं दार्शनिक भावना का निरूपण करने का प्रयास, बाइरन का रूढ़ि के प्रति विद्रोहात्मक स्वर, शैली की मानवता के प्रति मधुर प्रेम की भावना तथा कीट्स की अतुलन सौन्दर्य वादिता—इन सभी प्रवृत्तियों को नारीत्व में समाहित कर, जिस शृंगारमयी मधुर कल्पना को साहित्यिक स्वरूप प्रदान किया गया, उसके आलोक में नारी विषयक एक नवीन भावना उद्भासित हुई, जिसमें न तो रीतियुगीन स्थूल मांसलता ही थी और न भक्तियुगीन करुणा और दया का भाव ही, और न जागृति-कालीन अस्वाभाविक एवं अव्यवहारिक नैतिकादर्श का चरम उत्कर्ष ही। इसके विपरीत इस काल की नारी भावना प्रकृति के साथ सामंजस्य पाकर अपने स्वरूप में मधुर हो उठी है। उसकी प्रत्येक चेष्टा कवि के मन को एक अपूर्व और रहस्ययुक्त भावना के साथ उन्मना कर देती है। इस नवीन स्वरूप की पृष्ठभूमि में शायद उसके व्यक्तित्व का उस प्रकृति के साथ सामंजस्य हो जाने का रहस्य ही छिपा हो, जो अपने आप में

स्वयं सौन्दर्य और शक्ति स्वरूपा है और उसी में प्रतिबिम्बित हो, शायद नारी भी धन्य हो उठी हो—

'ओ जगत की स्वामिनी, भामास्विनी तुम धन्य
तुम प्रकृति के मुकुर का प्रतिबिम्ब रूप अनन्य।'
(बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' : नारी विशाल भारत १९३० । पृष्ठ ५०५)

इसीलिए कवि को नारी में स्नेह सुन्दरता और सुकुमारता के दर्शन होते हैं, जो उसके लिए स्वर्गागार है—

'स्नेहमयि, सुन्दरतामयि
तुम्हारे रोम-रोम से नारि
मुझे है स्नेह अपार
तुम्हारा मृदु उर ही सुकुमारि
मुझे है स्वर्गागार।'
(पन्त : पल्लव, पृष्ठ ८१)

नारी के सब से कुछ उसे अपार स्नेह है—

'तुम्हारे गुण है मेरे गान
मृदुल दुर्बलता ध्यान
तुम्हारी पावनता अभिमान
शक्ति, पूजन सम्मान।'
(वही, पृष्ठ ८१)

और इस स्नेह के मध्य प्रकृति का सौन्दर्य भी उसे नारी में दीखने लगता है—

'देखता हूँ जब पतला
इन्द्रधनुषी हल्का
रेशमी घूंघट बादल का
खोलती है कुमुद कला
तुम्हारे ही मुख का ध्यान
मुझको करता तब अन्तर्धान।'
(पल्लव, पृष्ठ २१)

इस सौन्दर्य भावना की वृद्धि कवि ने उसे रहस्यमयी बना कर दी है—

'सजनि, तुम किस मधुवन की
कोमल कुसुम सकली हो
मंजु मरालों के किस कुल में
हंसिनी, कहो पली हो
(रत्नाम्बरदत्त चन्दोला : सुकुमारी, सरस्वती १९२८, पृष्ठ ६७४)

'सुकुमारी' के लिए 'हंसिनी' का सम्बोधन नारी में कितनी पवित्रता भर देता है, और इस स्वरूप में किसी को अपने हृदय का दान देना भी किसी के लिए अवलम्ब प्रस्तुत करना हो जाता है, किसी की कुत्सित इच्छाओं की पूर्ति करना नहीं—

'लता लजीली किस तरुवर को
हृदय दान तुम दोगी
किस के जीवन सागर की तुम
तरणि, सुमुखि, बनोगी।'
(रत्नाम्बरदत चन्दोला : सुकुमारी, सरस्वती १९२८, पृष्ठ ६७४)

परन्तु, माधुर्य की इन लहरियों में वह इतनी मृदुल नहीं हो गई है कि उसका गौरव युक्त प्रेरक एवं शक्तिमय रूप विच्छिन्न अथवा अदृष्ट ही गया हो। 'वह अनुरागमयी पत्नी और त्यागमयी माता के रूप में' सदैव ही गौरवशालिनी है। 'वह पुरुष की प्रेरणा और जीवन का प्रकाश भी है'—

'आओगी, अपने प्रकाश से हिय का दीप जलाने
वर्षों की अंधियाली में पूनो की रात खिलाने।'
(वीरात्मा : छायापथ, माधुरी संवत् १९९०, पृष्ठ ६८९)

चारित्रिक गुणों में उसका धर्म-गीत सा स्वरूप पुरुष के लिए अपूर्व शान्ति की प्रेरणा सा प्रतीत होता है—

'करुणा सी मृदु, धर्मगीत सी
शुद्ध, कल्पना सी सुख संकुल,
शुभ्र उषा सी, दिव्य हास सी,
रूप सिन्धु सी, मणी सी मंजुल।'

१—महादेवी वर्मा : शृंखला की कड़ियां, पृष्ठ ११६।

मंजुलमयी होने के साथ-साथ वह भी शक्तिमयी है—

'जगती का समस्त प्रतिबन्धन
सागर की लीला लोड़न।
नारि! तुम्हारी एक-एक
चितवन में शत-शत भू-कम्पन।'

(आरसी प्रसाद सिंह : नारी, विशाल भारत १९३६, पृष्ठ २७०)

...जो पुरुष के जीवन का आधार और पथ की सहचरी बनती है—

'इस उद्भ्रान्त पथिक के तुम हो
एक मात्र, प्रियवर आधार
सूना पथ, तुम बिन जीवन भी
सूने स्वर्ग, सौख्य संसार।'

(रमाशंकर मिश्र : अवलम्ब, चाँद, १९२९, पृष्ठ ८०१)

जीवन के वैषम्य में लम्बे युग से पिस कर नारी के अतुल शान्तिमय हृदय में भी अत्याचारों के विरुद्ध विरोध की ज्वाला धधक उठी है। अपना नवीन रूप लेकर अब वह अपने भाग्य की प्रतिकूलता के विरुद्ध युद्ध किया चाहती है[1]। यह उसके शक्ति रूप की सार्थकता है। साथ ही पुरुष को दिशा देने के अर्थ में वह अपनी प्रयोजनशीलता से भी अनविज्ञ नहीं है—

'क्योंकि दुनिया को रेगिस्तान नहीं बनना है, क्योंकि उसको लहलहा कर हरियाली हो उठना है, इसीलिए क्या पुरुषों के इस जगत में विधाता ने हम स्त्रियों को नहीं रचा है।' (जैनेन्द्र कुमार : सुनीता में सुनीता का कथन, पृष्ठ ६७)

इसीलिए आज का युग-लेखक उसका स्नेहमयी, देवी चण्डी और माया के रूप में आह्वान करता है—

'युवकों में कहाँ से स्फूर्ति भरनी होगी? वे कहाँ से मद पाएँगे, जीवन की स्पृहा उनमें कैसे जागेगी? उसके लिए एक नारी की आवश्लकता है। वह देवी हो, वह चण्डी हो, वह माया है।'

(जैनेन्द्र कुमार : सुनीता' में सुनीता का कथन, पृष्ठ १३६)

o o o

'भाभी, मैं देखता हूँ, उन्हें एक प्रतिमा चाहिए। एक नारी, चिरन्तन माता एक माया मूर्ति जहाँ से वे स्फूर्ति लें और जिसके सम्मुख वे शपथ लेकर आगे बढ़ें।'

(वही, पृष्ठ १३८)

नारी के उपर्युक्त सत् रूप के अन्तर्गत उसे प्रेरणा और शक्ति का स्वरूप

१—हरिकृष्ण प्रेमी : रक्षा बन्धन, देखिए, श्यामा का चरित्र।

प्रदान करने के साथ-साथ कहीं-कहीं पर इस युग का साहित्यकार लौकिक भाव-भूमि पर भी उतर आया है और परिणाम स्वरूप नारी अपने सम्मान में अपेक्षा कृत गौण हो गई है। नारी को इस रूप में चित्रित करने की पृष्ठ-भूमि में कवि की, पलायनवादी प्रवृत्ति एवं जीवन की विषमताओं का सामना कर सकने में असमर्थ, उनसे दूर भाग कर एकान्तवास की भावना ही अधिक प्रबल है। अपने सामाजिक जीवन की असफलता में वह जन-रव से दूर, मधुबन के कुंज में परी सी प्रेयसी का आह्वान करता है—

'दूर जनपद रौर अविदित
लता निर्मित कुंज मधुवन,
में बहकती यावना हो
मुखर नर योनस्विनी हो
नव, परी सी उतर धीरे
सहज सुषमा में छिपी सी
मानिनी, नव कामिनी आना
प्रिये, चिर स्वामिनी हो।'
(रामदुलारे गुप्त : तब, सरस्वती, १९३६, पृष्ठ ११६)

आज कवि के स्वर में दुःखवाद का स्वर उच्च है। अपनी अतृप्त अभिलाषाओं पूर्ण कर सकने की विवशता में, वह प्रेयसी को साथ लिए मनखोल कर रो भर लेना चाहता है—

'इच्छा का इधर रजत पथ, उधर हमारा कंटक मय पथ,
जीवन की विस्मृति विस्मृति पर, दो आंसू हम रो चलें।'
(अमेय : 'चलो चलें,' विशाल भारत १९३४, पृष्ठ ३२८)

वह नारी के आलिंगन में जीवन के अन्य सिरे को पा लेने का प्रत्याशी है, क्योंकि यथार्थ का यह पक्ष उसके लिए अंधकार का दुर्भेद्य आगार है[1]। इसीलिए जन-कोलाहल से पीड़ित एवं अशान्त वह सब से अलग कल्पना के लोक को पा लेने की अपेक्षा करता है[2]। और तब उस एकान्तिकता में वह प्रेयसी को लेकर विलास की सृष्टि करना चाहता है—

'कवि की दुलारी आओ, झीने पीत पट ओढ़
फूल सेज ऊपर पड़ा सुकवि काव्य लीन
हाथ में सुराही मदिरा की भर लाओ, और
जयमाल लाओ, फूल लाओ काम के नवीन।'
(गुलाब : बसन्त समागम, माधुरी १९२६, पृष्ठ ३३६)

१—नरेन्द्र : उस पार, चांद १९३३, पृष्ठ २५९।
२—प्रसाद : स्वर्ण संसार, चांद १९३३, पृष्ठ १।

और अपनी असफलताओं की बेहोशी में नारी उसके लिए मात्र मदिरामय ही रह जाती है—

'तेरा मेरा सम्बन्ध यही
तू मदिरामय, मैं तृषित हृदय

(बच्चन : प्यास, माधुरी १६३६, पृष्ठ ५५)

पुरुष के साथ-साथ नारी भी हृदय का मकरन्द पान करने वाली तथा प्रेम की तृषा का ही स्वरूप बनती है—

'चूस-चूस मकरन्द, हृदय की संगिनी ! तू मधु वस्त्र सजा
और किसे इतिहास कहेंगे, ये लोचन गीले-गीले।'

(दिनकर : भ्रमरी, सरस्वती १६३५ पृष्ठ ३१३।)

o o o o

दिल के घोरे आ बैठो, तुम बनो प्रेम की प्यास
आँखों पर छा जाओ, जैसे अवनी का आकाश।

(उपेन्द्र : अभिलाषा, सरस्वती १६३५, पृष्ठ ४४७)

उसकी चितवन सदैव ही पुरुष को लालायित बनाए रखती है[1]। केलिसदन उसका ठिकाना है[2]। उसके मदिर-मधुर अधरों की स्थिति केवल चुम्बित होने के ही लिए है[3]। उसकी इस मधुमय सुषमा को भूल जाना आज के निरीह पुरुष के लिए जैसे असम्भव बन गया है[4]।

नारी में इतनी मधुरता भर कर उपभोग की प्रवृति इतनी प्रबल शायद इसीलिए हो उठी है कि कवि जीवन से निराश है और जीवन की इस विषमता में वह स्नेहपूर्ण दो क्षणों को हँस-बोल कर काट लेने का आकांक्षी है—

'आओ, दो दिन के जीवन में
प्रेम भरे दो बोल बोल लो
जीवन के विषमय प्याले में
स्नेह सुरस दो बूंद घोल लो।'
दो दिन का नश्वर संसार'

(नरेन्द्र : मेरी समाधि पर, चांद १६३४, पृष्ठ ३७६)

o o o

१—रामकुमार वर्मा : मधुबन, चांद १६३१, पृष्ठ १६१।
२—कैलाशपति त्रिपाठी, उपेक्षित, चांद १६२७, पृष्ठ ६६।
३—नरेन्द्र : गीत, चांद १६३३, ष्ठ ५२३।
१—नरेन्द्र : असम्भव है असम्भव, चांद १६३६, पृष्ठ ५३।

अपनी वाणी में रख लो
मेरे उर का स्वाद।
आओ, लो जाओ, भूलो
इस जागरण की याद।'

(रामकुमार वर्मा : रूपराशि)

वह रूप शृंगारमयी नारी जहाँ कुछ और नीचे उतर आई है, वहाँ शृंगारिकता के स्थान में उसका असत् रूप प्रतिलक्षित होने लगता है। प्रसाद की 'इड़ा' अपनी बौद्धिकता एवं व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की भावनाओं से पूर्ण, संघर्ष और हिंसात्मक कर्म की प्रेरणा बनती है, जो मनु के पुरुष को अतृप्त तथा उद्दप्त बनाती है, जहाँ केवल ज्वाला ही है, शान्ति तथा शीतलता नहीं। इसी प्रकार 'पंचवटी' (मैथिलीशरण गुप्त) की शूर्पणखा तथा 'साकेत' की कैकयी भी अपने स्वरूप में असत् रूप ही प्रकट करती हैं। गुरुभक्त सिंह की 'नूरजहाँ' की जमीला का चरित्र नारी के इस असत् रूप को निखार देता है। उसके चरित्र में हिंसा, ईर्ष्या और षड्यन्त्र विकास पाते हैं। वहाँ प्रेम सात्विकता की प्रतिमूर्ति नहीं, एक उन्मादमय खिलवाड़ है, जहाँ मर्यादा और आदर्श के स्थान पर मांसल-वासना का साम्राज्य है, साथ ही कुण्ठा भी—

'कितनी बरसातें देखी हैं, है हार नहीं कच्ची लकड़ी,
मैं गा कर सेंध लगाती हूँ, फिर भी न गई अब तक पकड़ी।'

(पृष्ठ ५३)

चारित्रिक पतन की ओर उन्मुख 'प्रसाद' रचित 'प्रलय की छाया' की कमला भी अपने चरित्र में इसी असत् रूप की व्याख्याता है। लेकिन सन्तोष का विषय है कि आरम्भ की असत् कमला अपने स्वभाव में द्वन्द्वमयी, अधिकार वासना से पूर्ण और विध्वंस के लिए तत्पर होती हुई भी अन्त में इन शब्दों के साथ प्रायश्चित कर लेती है—

'आज सोचती हूँ जैसे पद्मिनी थी कहती
अनुकरण कर मेरा, समझ सकी न मैं।"

यह प्रसाद का आदर्शवाद है जो नारी को स्वभाव से असत् तथा जीवन-पर्यन्त असत् ही बने रहने में कभी विश्वास नहीं करता।

इस विकास काल में असत् रूप की इस भूमिका के साथ-साथ कहीं-कहीं मध्य-युगीन नारी भावना भी दीख पड़ जाती है। जहाँ रमणी का रूप अपनी रमणीयता में मात्र कामुकता का आधार है—

'रूप रमणी का रमणीय, लोक मोहकता का है सार
है प्रकृति भाल रुचिर सिन्दूर, काम-कामुकता का आधार।'

(हरिऔध : कल्पलता, सौन्दर्य, पृष्ठ ६२)

इस प्रकार की भावना का प्रस्फुटन 'हरिऔध' के 'रस-कलश', रामकुमार वर्मा की 'रूप-राशि' तथा गोपाल शरण सिंह की 'माधवी' में यत्र-तत्र हुआ है। परन्तु यह रोमान्सवादी रुग्ण-भावना अधिक प्रश्रय प्राप्त नहीं कर सकी है। इस विकास काल में भी इस प्रकार की रचना का कारण पूर्व धारणाओं एवं मान्यताओं के प्रति क्षीण मोह की भावना ही है, जो किसी न किसी प्रकार पुराने खेमे के साहित्यकारों में अब तक अवशिष्ठ रही।

प्रतीकात्मक नारी भावना

विकास-काल में नारी भावना का प्रकृति के साथ सामंजस्य हुआ। अतः प्रतीकात्मक भावनाओं में परोक्ष रूप से नारी भावना ही व्यक्त हुई। साथ ही कहीं-कही रहस्यात्मक अनुभूति और दर्शन के समावेश से एक अपूर्व जिज्ञासा की सृष्टि की गई, जिसमें नारी और भी अधिक महत्वमयी बन गई। 'छाया का प्रतीक' लेकर कवि नारी विषयक अपनी उत्सुकता शान्त करना चाहता है—

कौन-कौन तुम परिहृत वसना
क्लान्त मना भू पतिता सी
घातहता विच्छिन्न लता सी
रतिश्रान्ता-व्रज वनिता सी।'

(पन्त : छाया, सरस्वती १९२५, पृष्ठ ५९)

और प्रकृति के सौन्दर्य से अपनी प्रेयसी को पूर्ण सौन्दर्यमयी देखने की लालसा भी उसमें है—

'तारिका सी तुम दिव्याकार
चन्द्रिका की झंकार
प्रेम पंखों में उड़ अनिवार
अप्सरा सी लघु भार
स्वर्ग से उतरी क्या सुकुमार
प्रणय हंसिनी क्या सुकुमार।'

(पंत, तार के प्रति, सरस्वती, पृष्ठ ५१)

प्रतीकात्मक भावना के अन्तर्गत नारी के मधुर रूप को ही वाणी मिल पाई है। उसमें सभी कुछ छविमय, स्वर्गिक और प्रकाशमय है—

'आशीर्वाद सी झुकी स्वर्ग की, भू पर
पुलकित खग जग, अणु-अणु तृण-तृण छविधारी
हम सूक्ष्म शिराओं सी छाई दिशि-दिशि में
बहती जिनमें जीवन आभा उजियारी।,

(पन्त : ज्योत्सना, पृष्ठ २८)

प्रकृति के उपकरणों का योग पंत की 'नौका-विहार' तथा 'भावी पत्नी के प्रति' तथा निराला की 'जूही की कली' आदि कविताओं में तीव्र हो उठा है। जीवन के इस वैषम्य युक्त यथार्थ वातावरण से दूर, प्रकृति की क्रोड़ में जैसे सभी कुछ सुख, शान्ति, स्नेह और शीतलता के उपादान प्रस्तुत करते हैं। प्रकृति का यह रुचिर वातावरण जैसे स्थूलता में भी पवित्रता और माधुर्य भर देता है—

> ...घेर अंग-अंग की
> लहरी तरंग वह प्रथम तारुण्य की
> ज्योतिर्मयी लता सी हुई मैं तत्काल
> घेर निज वरु तन।'

(निराला, प्रेयसी, माधुरी, १९३५, पृष्ठ ५२२)

यही सौन्दर्य-भावना जब रहस्य के आँचल में विरचित होती है, तब माधुर्य के स्थान पर एक दार्शनिक गम्भीरता का समावेश हो जाता है। प्रथम चरण में जिज्ञासा की भावना उदित होती है—

> 'परी! तुम कौन सुकोमल गात
> खेलती जीवन-वन में प्रात।'

(केदार नाथ मिश्र : फूल वाला, चांद १९३३, पृष्ठ ६७७)

...और द्वितीय चरण में अलौकिक प्रिय की भावना मधुर रहस्य का रूप धारण कर लेती है—

> 'विरह का युग आज दीखा, मिलन के लघु पल सरीखा।
> दुःख सुख में कौन तीखा, मैं न जानी और न सीखा।
> मधुर मुझको हो गए सब, मधुर प्रिय की भावना ले।'

(महादेवी वर्मा : सांध्य गीत, पृष्ठ ३१)

विभिन्न सम्बन्धों में नारी

विभिन्न रूपों में नारी भावना की चर्चा करते समय हम कह आये हैं कि विकास-काल के साहित्यकार ने नारी में स्नेह, सहयोग, प्रेरणा और शक्ति के दर्शन किए हैं। उसके इस गुणों को प्रेयसी, पत्नी, माता, कन्या तथा भाभी के रूप में भी अभिव्यक्ति मिली है। दुःखवाद की मानसिक उत्पीर के इस काल में नारी का प्रेयसी रूप कवि के लिए लालसा की वस्तु बना रहा है। उसको पा जाने की ललक जैसे थमने का नाम नहीं लेती—

> 'मेरी आँखों पर सुकुमारी की आँखों की चितवन हो
> मेरी सांसों में उसकी सांसों का सुरभित स्पन्दन हो।'

(रामकुमार वर्मा : रूपराशि, पृष्ठ ७)

अभावों के बीच में पराजित उसके व्यक्तित्व के लिए नारी ही मुक्ति कथा है—

'मेरी करुणा, करुण बना दे
प्राण तुम्हारे गानों को
मधुर बना दे मेरी ममता
मधुरे! तव मुस्कानों को
निज परिणय बन्धन में लिख दो
मेरी मुक्ति कथा सुन्दर।
(प्रभात : गीत, चाँद १९३५, पृष्ठ ३३७)

इस काल की प्रेयसी अपनी आत्मा के पूर्ण समर्पण में विश्वासिनी है[१]। वह अपने प्रिय का प्रिय के नाते ही अभिसार किया चाहती है[२], तथा पुरुष के जीवन को झंकृत तथा सजग बनाने के प्रयास में उसके प्राणों से एक्य स्थापित करती है[३]। उसके प्रेम में एक निष्ठा विद्यमान है[४]। इस निष्ठा के संदर्भ में उसमें निरपेक्ष और निष्काम प्रेम की उत्कर्षमयी भावना भी उदित हुई है।

'मैं उन्मत प्रेम की लोभिन, हृदय दिखाने आई हूँ।
जो कुछ हैं बस यही पास है, इसे चढ़ाने आई हूँ।
चरणों पर अर्पित है इसको, चाहो तो स्वीकार करो।
यह तो वस्तु तुम्हारी ही है, ठुकरा दो या प्यार करो।
(सुभद्राकुमारी चौहान : मुकुल)

उसे अपने इस निष्काम प्रेम की सार्थकता पर अतुल विश्वास भी है—

'चरणों में न पड़े तो कहना
मुकुट रत्न मालाएँ
एक यही आशा लेकर हैं
बैठी व्रज-वनिताएँ।' (द्वापर, पृष्ठ १९३)

अपने प्रिय के लिए आत्म-बलिदान भी वह सामान्य-सी बात समझती है—

'तुम पर कुछ आंच न आए प्रिय जीओ मैं मर जाऊँ
दुर्दैव अनिष्ट करो क्यों? मैं बलि हो उसे मनाऊँ।'

१—गिरीश चन्द्र पन्त : निवेदिता, चांद १९३५, पृष्ठ २३१।
२—अरविन्द : आह्वान, चांद १९३५, पृष्ठ २९७।
३—रामनाथ सुमन : मेरे प्राणों में तुम बोलो, सरस्वती १९३५, पृष्ठ १०७।
४—सरला के पिता अच्छे बुरे का गणित जानते हैं, सरला प्रेम का गणित। वह इकाई के आगे कुछ देख ही नहीं सकती, उसकी वह इकाई सुबोध है। पन्त, उस पार, पाँच कहानियाँ, पृष्ठ ४४।

प्रिय के सम्मुख जीवन के समस्त ऐश्वर्य, सुख साधन एवं गरिमा तुच्छ हैं। वह प्रेमी के व्यक्तित्व में ही विलीन हो जाना चाहती है—

'मेरे तुम शृंगार अतुल हो अलंकार आभूषण
हृदय पद्म कब खिला है, बिना प्रेममय पूषण
बिना तुम्हारे महल अटारी, केवल बन्दीखाना
उसमें रहने से अच्छा है वन-वन अलख जगाना
संग तुम्हारे पर्णकुटी यह होगी आनन्दकारी
करूँ निछावर एक चितवन पर विश्व-सम्पदा सारी।'

नारी के पत्नी रूप की सात्विकता, पवित्रता एवं उच्च आदर्शवादिता को सर्वकाल एवं सर्वदेशीय साहित्यकारों द्वारा समान मान्यता प्राप्त हुई है। इस काल में पत्नी का स्वरूप उज्ज्वलतर एवं आदर्श युक्त है। अब वह अपने स्थूल रूप सौन्दर्य में अपने पति को बांधे रह कर उसे कर्त्तव्य विमुख नहीं करना चाहती। वह स्वयं चाहती है कि वह भी पति के पथ की सहयोगिनी और जीवन की प्रेरणा बने वह जिनको भी पति के रूप में एक बार स्वीकार कर लेती है, उसी पर अपना अगाध विश्वास, असीम सेवा और अतुल निष्ठा न्योछावर कर देती है[1]। पति द्वारा साथ न ले चलने की उपेक्षा से विदग्ध अशान्त निर्झरी के से प्रवाह में वह केवल इतना ही कह पाती है—

'जायं, सिद्धि पावें वे सुख से
दुखी न हों इस जन के दुख से
उपालम्भ दूं मैं किस मुख से
आज अधिक वे भाते,
सखि, वे मुझ से कह कर जाते। (यशोधरा)

इस आरोपित उपेक्षा के बाद भी उसमें इतना बल शेष है कि वह संतोष और आशा के स्वर में अपने प्रिय की मंगल कामना कर सकती है—

'जाओ नाथ, अमृत लाओ तुम मुझ में मेरा पानी
चेरी ही मैं बहुत तुम्हारी, मुक्ति तुम्हारी रानी।' (यशोधरा)

पत्नी में पुरुष ने पूर्ण सात्विकता को साकार किया है, और यह वास्तव में उसके गौरवान्वित पद का विशेष माधुर्य है[2]। वह पति के लिए प्रेरणामयी है, जिसके

१—सुमित्रा नन्दन पन्त : दम्पति, पांच कहानियां, पृष्ठ ६५, देखिए पार्वती की चरित्र, साथ में, 'अवगुंठन' का सरला का चरित्र भी।
२—रामनरेश त्रिपाठी, : स्वप्न, देखिए सुमना का चरित्र।

माध्यम से पुरुज भव-सागर पार कर गया है—

'है रुमना, तेरा प्रियतम पति
तेरी शुभ इच्छा का अनुचर
तेरा पुण्य प्रभाव प्राप्त कर
पार कर गया है भव-सागर।'

(रामनरेश त्रिपाठी : स्वप्न, पृष्ठ ६४)

नारी सुलभ स्वाभाव के अनुसार वह भी अपने पति का साहचर्य चाहती है। तब वह अपने पुत्र का अवलम्ब लेकर एक संयमित मर्यादापूर्ण भावना लिए अपने प्रिय का आह्वान करती है, जो इस युग के पत्नीत्व का उत्कृष्टतम उदाहरण है—

'आओ, हे वनवासी
अब गृह-भार नहीं सह सकती।
देव, तुम्हारी दासी।
राहुल पल कर जैसे तैसे
करने लगा प्रश्न कुछ ऐसे
मैं अबोध उत्तर दूं कैसे
यह मेरा विश्वासी।'

(यशोधरा, पृष्ठ ११८)

पत्नी का शालीन, पुण्य पति परायण एवं सक्रिय रूप 'वैदेही वनवास' की सीता में लक्षित होता है। साथ ही पत्नीत्व के आदर्श को 'परिवर्तन' (ले० राधेश्याम कथावाचक),' पाप परिणाम' (ले० जमुनादास मेहरा), 'मधुर मिलन' (ले० जगन्नाथ चतुर्वेदी) आदि नाटकों में प्रस्थापित कर सामाजिक जीवन में पूर्ण नैतिकता की प्रतिष्ठा की गई है। नारी का पत्नीत्व रूप कहीं-कहीं पर उसके मातृ-स्वरूप से भी उच्चतर भाव-भूमि पर प्रतिष्ठित हो गया है—

'पहले पहल पयोधर देकर जिसके कोमल मुख में,
मग्न हुई अति नव्य अनिर्वचनीय अलौकिक सुख में,
उसी सुमन संग्रह से शिशु के कसे बाहु-बन्धन को
खोल निठुरता से धाई थी मैं विरहाकुल वन को।'

(रामनरेश त्रिपाठी, : पथिक, पृष्ठ २२

परन्तु इतने से नारी के मातृत्व स्वरूप की प्रतिष्ठा कम नहीं हो जाती उसके हृदय में अपनी सन्तान के प्रति अतुल स्नेह विद्यमान है—

'भिगा दिया नन्हें बच्चे ने बिस्तर को जाड़े में जो
सूखी जगह सुलाकर उसको, गई स्वयं गीले में सो

जागी सोई उसकी सुध में जननी उसी के ऊपर वार
कौन उऋण होगा माता से, धन्य-धन्य जननी का प्यार।'
(ठाकुर गुरुभक्त सिंह (वन श्री) जाड़ा, पृष्ठ २६)

o o o o

'मेरी मलिन गूदड़ी में भी है राहुल सा लाल
क्या है अंजन अंग राग, अब मिली विभूति विशाल।'
(यशोधरा, पृष्ठ ३४)

अपनी स्नेह-भावना के इस उत्कर्ष पर वह स्वर्गिक सौख्य भी सुशोभित है—
है वह अतुल विश्वास हृदय गम्भीर है।'

o o o

'कोमल है वह कमल-कान्ति से भी अधिक,
है वह करुणा-धाय, धरा पर स्वर्ग है।'
(श्रीधर वात्सल्य : माता का हृदय, चांद १६२६ पृष्ठ ६१७)

माँ का मंजुल हृदय अपनी सन्तान के प्रति सदैव ही सरलता का सुन्दरस्रोत है[1]। वह 'दयामयी, क्षमामयी, शुचि शान्तिमयी है,' आनन्द की सुर सरिता है, दुखों की विमला स्वरूप निवारिणी है—

'वह सरित सुलभ आनन्द की
उसका यश अवदात है
मधुर-मधुर मृदुल ममतामयी
मंजुल मूरति भाल है।'
(आनन्द विहारी लाल : माता, चांद १६३३, पृष्ठ ५५४)

इतनी अपूर्व ममता के मध्य वह अपनी सन्तान से इस बात की भी अपेक्षा करती है कि वह जीवन क्षेत्र में कर्त्तव्य-परायणता का पाठ सीखे, और इस तरह वह पुरुष के लिए मातृ-स्वरूपा प्रेरणा सी बनती हैं—

'माँ ने कहा है...दूध की मेरे
लज्जा रखना रण में है सुत।' (स्वप्न : पृष्ठ ११)

o o o

अपनी कोख पवित्र मान कर
वह कहती होकर आनन्दित
वीर कर्म का मेरे सुत के
तन पर है स्मृति चिह्न अलंकृत।' (वही, पृष्ठ ४३)

१—शान्ति देवी कुसुम : माँ का मन, चांद १६२६, पृष्ठ ६२।

मैथिली शरण की 'मौनल दे' और 'कुन्ती' में माता का रूप अपनी ममता, स्नेह, उदारता और असीम सक्रियशीलता को लेकर उदित हुआ है। 'वैदेही वनवास' की सीता माता के रूप में लव-कुश का स्नेह और संयम के साथ लालन-पालन करती है। वह विश्व-प्रेम-भावना की अधिष्ठात्री है। माता के सभी कर्त्तव्यों से विज्ञ है, और इस प्रकार मातृत्व का उच्च आदर्श प्रस्तुत करती है। इस प्रकार की आदर्श-वादिता के साथ-साथ 'यशोदा'[1] के रूप में माँ की करुणा और श्रद्धा के संगम पर एकाकार होती हुई उस अपरिमित ममत्व भावना के दर्शन होते हैं, जो भारतीय माता की अपनी सम्पति है। बस पुत्र की मंगलकामना में उसे पूर्ण तोष प्राप्त हो जाता है—'

'प्यारे जीवें, पुलकित रहें, और बने भी उन्हीं के'[2]

विकास-काल के इस आलोक काल में भी कन्या का स्वरूप पूर्व युगों की भाँति ही दयनीय और करुण रहा। इतना करुण कि दुःख दैन्य के प्रतीक आंसू की उपमा भी कन्या से ही दी गई—

'कन्ता जन्म के समान मेरा जन्म होता 'मधु'
जन्म जहाँ लेता, तहाँ दुख भर देता हूँ।'

(मधुसुदन चतुर्वेदी : आँसू, सरस्वती १९३१, पृष्ठ ४१७)

उसकी शोचनीय दशा पर उसे अश्रुपात करना पड़ा है—

'शोचनीय हालत हमारी पुत्रियों की सदा,
उर में हमारे और शोक उपजाती है।'

(गोपाल शरण सिंह : भारत नारद सम्मिलन, सरस्वती १९२८, पृष्ठ ७१)

परन्तु इस असहाय और संकीर्ण सीमाओं में बद्ध कन्या-वर्ग को इस काल का कवि निर्देश देना नहीं भूला है—

'यदि हों साहसमन कन्याएँ
तो क्यों वे जीवन खोयें
क्यों व्याही जावें वृद्धों से
और जन्म भर क्यों रोवें।'

(आनन्द प्रकाश श्रीवास्तव : नारी जीवन)

साथ ही इस युग में पहली बार उसकी स्थिति को आदर्शयुक्त भाव-भूमि प्रदान की गई—

१—हरिऔध : प्रिय प्रवास, (देखिए षष्ठम सर्ग)।
२—वही, पृष्ठ १३०।

हिन्दू माता चिरकाल से ही अपनी कन्या को गौरी और दुर्गा के रूप में प्रनव करती आई है।' (सियाराम शरण गुप्त : गोद, पृष्ठ २५)

इस युग में साहित्यकार ने भाभी के रूप में भी नारी को सम्मान आदर और पूज्य भावना से अभिसिक्त किया है। जैनेन्द्र कुमार का आदर्शवाद इस दिशा में प्रगति करता है—

'भाभी' (वातायन में संग्रहीत एक कहानी) में भाभी का उज्ज्वल चरित्र विनय के लिए अन्नपूर्णा के रूप में प्रस्तुत होता है—

'यह भाभी का प्यार था, जो माँ का प्यार नहीं होता। क्योंकि उसमें स्निग्ध होता है, स्त्री का प्यार नहीं होता क्योंकि उससे निरपेक्ष होता है, बहिन का प्यार नहीं होता जो क्रमशः पुष्ट और परिपक्व होता है, वह जैसे सोता फूट निकला, हृदय में से स्वतः स्फुटित होता है। फिर भी यह सब कुछ होता है।' (पृष्ठ १८३)

इस प्रकार नारी के इस स्नेह सम्बन्ध में पावित्र्यपूर्ण अपनत्व भावना की गुनगुनाहट अनुभव की गई तथा एक नवीन आदर्श के परिवेष्ठन में उसे अभिव्यक्ति मिली।

विभिन्न वर्गों में नारी

विकास-काल तक आते-आते समाज के एक विशिष्ठ वर्ग की महिलाओं में आत्म-सम्मान के प्रति जागरूकता आ गई थी। यह महिलाएँ विशेष रूप से सुशिक्षित एवं कुलीन वर्ग की महिलाएँ थीं, जिनमें सामाजिक चेतना का प्रादुर्भाव हो चला था और उस चेतना के आलोक में बिखरी हुई सामाजिक चेतना के मध्य में अपने अधिकार खोजने के लिए उत्सुक हो उठी थीं। उनका सम्पर्क सामाजिक कार्य-क्रमों से लेकर राजनीतिक क्षेत्र तक विस्तार पा रहा था, तथा उनकी स्थिति को स्वीकृति प्राप्त हो रही थी। हिन्दी साहित्य में भी इस विशिष्ठ नारी वर्ग की स्थिति को स्वीकार किया गया, और वह सम्मान तथा अधिकार रक्षा के निमित्त, पुरुष से प्रताड़ित होने पर, आत्म-निर्भर होने की बात सोचने लगी' राष्ट्रीय एवं सामाजिक नवीन योजनाओं के आलोक में वह उस सम्मिलित परिवार परम्परा का कड़ा विरोध करने लगती है, जिसने उसकी स्थिति को करुणा और वैषम्य की इस दिशा पर ला दिया है। 'गबन' की रतन ऐसा ही सोचती है—

'परिवार तुम्हारे लिए फूलों की सेज नहीं, कांटों की शैया है। तुम्हारी पार लगाने वाली नौका नहीं, तुम्हें निगल जाने वाला जन्तु है।'

(प्रेमचन्द : संक्षिप्त गबन, पृष्ठ १८३)

१—प्रेमचन्द : गबन में रतन का चरित्र।

गुरुभक्त सिंह की 'नूरजहाँ' में ग़यास की पत्नी कुलीन वंशीया नारी का प्रतिनिधित्व करती है। वह अपनों में रह कर अपना सम्मान नहीं चाहती। वह उसके प्रति जागरूक है, इसीलिए ग़यास से प्रार्थना करती है—

'अपनों में पानी मत खोओ, चुपके से अब चलो निकल
रोजगार कुछ यहाँ नहीं है, और प्रतीक्षा है निष्फल।
छोड़ें आस, विदेश चलें हम, यहाँ नहीं कोई आधार
कहीं नौकरी कर लेंगे, या कर लेंगे कोई व्यापार।'

इस काल की कुलीन सम्मानित नारी में बौद्धिक विकास के परिणाम स्वरूप अंतर्संघर्ष की भावना भी प्रतिलक्षित होती है (नव्य काल में इस भावना का अधिक विकास हुआ है।) वह निष्ठा और विश्वास की भावना से परे जीवन की ग्रुत्थियों को सुलझाने में तर्क शक्ति का आश्रय लेती है। 'मुक्ति का रहस्य' (लक्ष्मी नारायण मिश्र) की आशा देवी, 'सुनीता' (जैनेन्द्र कुमार) की सुनीता आदि इसके प्रमाण हैं। अपने प्रिय को प्राप्त करने के लिए भी वे अपेक्षाकृत स्वतन्त्र हैं। 'व्याह' ('वातायन' में संग्रहीत) की ललिता अपने अभिभावक की इच्छा के विरुद्ध गरीब सिख-पुत्र का वरण करती है। मीरा के प्रेम का पक्ष लेकर विवाहिता को पर-पुरुष से प्रेम करने का अधिकार भी नारी देती है[1]। वैयक्तिक बातों के अतिरिक्त राष्ट्रीय क्षेत्र में भी वे कार्यरत हैं[2]। उच्च शिक्षिका एवं आधुनिकता के रूप में वह साहित्यिक बाद-विवादों से लेकर सिगरेट पीने तक पुरुष का साथ दे सकती है[3]। इस काल में उच्च वर्गीय शिक्षित महिला-वर्ग में अधिकारजन्य जो भावना दुर्वह गर्व का रूप धारण कर रही थी, तथा प्रेम की भावना जिस प्रकार आर्थिक पृष्ठ-भूमि में उसके लिए मन बहलाव का साधन-मात्र बन रही थी, उस ओर से भी साहित्यकार उदासीन नहीं रहा है। सात्विक प्रेम की उत्कृष्टता को अक्षुण्ण बनाए रखने तथा अधिकार मद में भूली नारी को निर्देश देने के लिए उसे कहना ही पड़ा—

'इन सब से मैं केवल एक ही नतीजे पर पहुँचता हूँ, तुम पुरुष का धन लेती हो, पुरुष को अपना शरीर देने के बदले में। है न ऐसी बात, और यह वेश्या वृत्ति है।'
(तीन वर्ष, पृष्ठ २२५)

पश्चिम की ओर लालायित आँखों से देखती हुई भारतीय नारी पर भी वह

१—सुनीता में, देखिए सुनीता का कथन, पृष्ठ ५६।
२—देखिये, महादेवी वर्मा की 'शृंखला की कड़ियाँ,' पृष्ठ ५६।
३—भगवती चरण वर्मा : तीन वर्ष, देखिए प्रभा का चरित्र।

व्यंग करने से नहीं चूका है—

'सीता सावित्री सी नारी
न हों यहाँ, यह साध हमारी
ग्रेजुएट होवें अवलाएँ
योरुप, अमरीका जाएँ
होवें वहाँ पहुंच कर पास
भारत का भग जावे त्रास।'

(रामचरित्र उपाध्याय : वेड़ा पार, सरस्वती १९२८, पृष्ठ६४८-४९)

इस प्रकार शिक्षित एवं उच्च-वर्गीय महिला समाज में बढ़ती हुई दम्भ भावना के प्रति, उसे समुचित निर्देश देने के उद्देश्य से साहित्यकार को अपना कर्त्तव्य निर्वाह करना पड़ता है। वह उसे अधिकारों की सुविधा देना चाहता है। उसे समाज में स्वीकृति और सम्मान मिलना चाहिए, राष्ट्रीय योजनाओं एवं सामाजिक कार्य-क्षेत्र में भी उसकी अपेक्षा है। परन्तु इन सब के साथ-साथ उसके अधिकारों एवं कर्त्तव्यों का सामंजस्य भी आवश्यक है।

सामाजिक रूढ़िवादिता एवं परम्परा का सबसे बड़ा अभिशाप मध्य वर्गीय नारी के पल्ले पड़ा है। इस युग में भी उसकी अवस्था पूर्व-काल जैसी ही रही है। समाज की नैतिक स्थिति जैसे उसके कंधों पर टिकी है। घर की प्रतिष्ठा की वह संरक्षिका है। धर्म उसी के बल पर जीवित है। वह घर की लक्ष्मी है, बस इसीलिए अपनी स्थिति में वह सब से अधिक निर्धन और निरीह है 'निर्मला' की निर्मला इस मध्य वर्ग की चक्की में अपने व्यक्तित्व को पीस कर रूढ़ समाज की बुभुक्षा शान्त करती है। उसके लिए कहीं भी स्वीकृति नहीं है। जीवन को घुला-घुला कर ही जीवित रहना जैसे उसके भाग्य में लिख दिया गया है। इस वर्ग की नारी को हर अवस्था में पति-परायण आज्ञाकारी और सेविका के रूप में रहना है[1]।' उसे अपनी इच्छाएँ, अभिलाषाएँ कुचलकर जीवित रहना पड़ता है, और इसके साथ ही शारीरिक क्लेशों को अन्त न होने से उसका सम्पूर्ण जीवन अज्ञान पशु के जीवन की स्मृति दिलाता रहता है[2]।

मध्य वर्गीय नारी की सामाजिक स्थिति के विपरीत निम्न वर्गीय नारी अधिक स्वतन्त्र एवं प्रसन्न है। जीवन की विभीपिकाओं को सहते हुए जैसे वह मुस्कराते रहना सीख गई है, और मधुर हास के वे कण उसके जीवन की अपनी निधि बन गए हैं। अभिशप्त भाग्य को लेकर भी जैसे उसके अधरों का हास रीत नहीं गया है। वह प्रफुल्ल-वदना कृपक बालिका के रूप में अपनी सौम्यता से अपने

१—देखिए, सियाराम शरण गुप्त कृत 'गोद' में पार्वती का चरित्र।
२—महादेवी वर्मा : शृंखला की कड़ियाँ, पृष्ठ २४-२५।

पास के वातावरण में सौन्दर्य की कलकल बिखेरती रहती है—

> 'कृषक वधूटी खेत काटती, हंस-हंस कर लेकर हंसिया
> गाती गीत 'सुना दो मोहन प्रेम भरी अपनी बंसिया'[1]।'

O O O

> मैली ओढ़नी संभाल, सुघर
> गाँव की वधू, कुछ हल्के कर
> काटती खेत, हंसिया सर.सर
> चुड़ियाँ रन-रन, तिरती मिठास
> लोटता हास।

(कुअरचन्द्र प्रकाश सिंह : गीत, सरस्वती, पृष्ठ ३७।)

इसके साथ-साथ उन्हें सामाजिक स्वीकृति भी मिली है, तथा पुरुष वर्ग के साथ सम्पर्क स्थापना और स्वस्थ आमोद-प्रमोद का अधिकार भी—

> 'इनकी घर वालियां काम में
> नित्य योग हैं देतीं
> नाच और गाने में भी वे
> सदा भाग हैं लेती,'

बौद्धिक विकास के अभाव में उसमें विचार शक्ति की अपेक्षा कोमल, मृदुल एवं निष्ठावान् भावनाओं की प्रबलता है, वह एकनिष्ठ प्रेयसी बन सकती है, प्रेम को व्यापार नहीं बना सकती[2]।

इतना सब होते हुए भी वह अपनी वस्तु स्थिति में कितनी दयनीय है. इसका सहज अनुमान 'गोदान' की धनिया के चरित्र से लगाया जा सकता हैं, जिसमें साहस, स्नेह, शौर्य एवं निष्ठा होने हुए भी अभिशप्त वातावरण को विजित करने की शक्ति नहीं होती, और जिसके जीवन की लम्बी-दुःखपूर्ण गाथा आदि से अन्त तक करुणा और वैषम्य की घनी कुहासे के मध्य आवृत रहती है।

सार्वजनिक जागृति और नारी

राष्ट्रीय और सामाजिक चेतना के इस सुवर्ण प्रहर में जैसा कि पिछले पृष्ठों में कह आए हैं, नारी की दयनीय अवस्था की ओर समाज सेवियों के अतिरिक्त साहित्य-सेवियों का ध्यान भी आकृष्ट हुआ। जीवन में शान्ति और उत्कर्ष की प्राप्ति के लिए नारी का सहयोग आवश्यक समझा गया। उसका अपमान करके, और इस अपने अर्ध-भाग को निष्क्रिय बना कर पुरुष सुखी नहीं हो सकता, इस सत्य

१—गुरुभक्त सिंह : कुसुम कुंज, पृष्ठ ३४।
२—जैनेन्द्रकुमार : परख, में कट्टो का चरित्र।

की प्रतिष्ठा की गई—

'नारी कुल का मान मिटाता
गुण गौरव की धूलि उड़ाता।
क्या सुख पा सकता?
जब तेरा अर्ध-भाग बेकार।'
(कर्ण : हिन्दू संसार, माधुरी १९२८, पृष्ठ ८१४)

कवि का विश्वास है कि नारी को महिमा मंडित करके ही युग-प्रभात को ज्योतित किया जा सकता है—

'प्रेम स्वर्ग हो धरा मधुर
नारी महिमा से मंडित
नारी मुख की नव-किरणों से
युग प्रभात हो ज्योति।' (पन्त : युगवाणी)

इसीलिए युग-प्रभात के इस नवीन प्रहर में नारी सोते हुए राष्ट्र को जगाने के निमित्त प्रहरी का स्वरूप लिए है—

'सोते हुए देश को जगाती प्रहरी सी बनी,
जीवन संजीवन की शक्ति सी प्रदानी है।'

o o o

'तुम्हीं हो ज्वालामुखी विनाश
क्रान्ति की हलचल युग निर्माण
तुम्हीं हो महा प्रलय की रात
तुम्हीं हो शक्ति विजय वरदान।'

नारी को उसके विशाल स्वरूप का ज्ञान दे, कवि उसमें आत्म-सम्मान और महत्ता का भाव भर देता है। तब अपनी शक्ति पर विश्वास करती हुई वह अपने विभिन्न स्वरूपों में जागरण का नवीन गीत गुंजरित करती है—

'हम नवल वधू, हम जगमाता,
हम मुग्ध सुन्दरी, सुकुमारी।'
हम महाशक्ति, हम महाक्रान्ति
रणचण्डी की तलवार हमीं
निज देश मान पर मिटती हैं बन
दुर्गा का अवतार हमीं।'
(शकुन्तला देवी खरे : नारी गान, चाँद १९३५, पृष्ठ २७)

इसी विश्वास ने उन्हें राष्ट्रीय योजना में सैनानी स्वरूप भी प्रदान किया है—

'आश्विनी के ऊपर सुभव्य भाव भारिणी
कृत्तिका सी वामियों के ऊपर चढ़ी हुई
वामाएँ अनेक, दीघ शूल लिए, दाहिने
हाथ में लगाम धरे, बाएँ हाथ में कसे
क्षीण कटि, जटित विचित्र कटि-बंधों से
पीठ पर बाल छोड़े, ढाल के से ढंग के।'

(मैथिली शरण गुप्त : सिद्धराज)

...और राष्ट्रीयता के क्षेत्र में उसके योगदान की भी महत्ता स्वीकार की गई हैं—

...परन्तु यह होते हुए भी विशालहृदया नारियां पापी मनुष्य के सब अपराधों को क्षमा कर उसे स्वाधीनता दिलाने के लिए इस प्रकार आगे बढ़ी और वीरता के ऐसे उदाहरण दिखाए कि संसार के इतिहास में भारतीय नारियों की कीर्ति सुवर्ण अक्षरों में लिखी जाएगी।'

(सत्यदेव परिव्राजक : नारी का अनादर, विशाल भारत १९३१ : पृष्ठ ७३९)

इस मांगलिक महान् समारोह में नारी पुरुष के साथ-साथ चलती हुई नवीन स्नेह का सरस सूत्र स्थापित करती है—

'चल पड़ी बहन, चल पड़े बन्धु, चल पड़ी जननि, चल पड़े पुत्र,
पति चले, चली पत्नी उनकी, जुड़ गया स्नेह का सरस सूत्र।'

(सोहनलाल द्विवेदी : भैरवी, दांडी यात्रा, पृष्ठ ७३)

इस काल में पुरुष ही नारी को जागृति और दिशा-परिवर्तन की प्रेरणा नहीं देता नारी भी पुरुष की भावना के क्षेत्र से ठोस पृथ्वी पर उतार लाने के लिए प्रेरक होती है—

'तुम्हारी कविता उच्च कोटि की है। मैं इसे सर्वांग सुन्दर कहने को तैयार हूँ। लेकिन तुम्हारा कर्त्तव्य है कि अपनी इस अलौकिक शक्ति को स्वदेश के हित में लगाओ। अवनति की दशा में शृंगार और प्रेम का राग अलापने की जरूरत नहीं होती, इसे तुम स्वीकार करोगे।' (प्रेमचन्द : रंगभूमि, भाग १, पृष्ठ १५५)

राष्ट्रीय चेतना के साथ-साथ उसमें अब अपने अधिकारों के प्रति भी जागरुकता प्रतिलक्षित होती है। अन्याय तथा अत्याचार चाहे उसके पति द्वारा ही क्यों न किए गये हों, वह उनका प्रचण्ड विरोध करती है। वह हिन्दू महिला के

कर्तव्य को पशुओं की तरह मूक बने रह कर,[1] पूर्ण करते रहना अपना धर्म नहीं मानती। वह पति की कुत्सित भावनाओं पर अंकुश लगाने के लिए कटिबद्ध होती है—वह आज पुरुष के हाथ की कठपुतली बनी रह कर उसके अत्याचारों को सहन करने के लिए प्रस्तुत नहीं है—

'हृदय नहीं क्या ललनाओं में, पुरुषों की हैं वे कठपुतली
जो नाचा वे करें इशारे पर, जब खींचें वे उंगली।

o o o

हां कर्त्तव्य नारियों का कुछ तो, उतना ही है अधिकार
बहुत हो गया हृदयहीन पति का पत्नी पर अत्याचार।'

(गुरुभक्त सिंह : 'नूरजहाँ,' में मेहर का कथन)

आज के दिन अपने अधिकारों की माँग भी वह अधिकार पूर्ण शब्दों में कर सकती है...'अब से कभी यह बात मुँह से न निकालना। अगर मैं आश्रिता हूँ तो तुम भी मेरे आश्रित हो। मैं तुम्हारे घर का जितना काम करती हूँ, उतना ही काम दूसरे घर में करूँ तो अपना निर्वाह कर सकती हूँ या नहीं, बोलो ?'

(प्रेमचन्द : 'मंगलसूत्र' में पुष्पा का कथन, पृष्ठ १२)

इस प्रकार से विकास काल में नारी को सत्, माधुर्य और गौरवान्वित पद की प्राप्ति के साथ-साथ राष्ट्रीय योजनाओं में पुरुष की सहचरी और स्वयं अपनी जागृति और उन्नति के लिए प्रयत्नशील होने का गौरव प्राप्त हुआ है। विकास काल में छायावादी प्रवृत्ति के कारण उसका यह मानसिक स्वरूप चेतन होते हुए भी अधिक विकसित नहीं हुआ, परन्तु नव्य काल में समाजवाद तथा मार्क्सवाद के बढ़ते हुए प्रभाव-क्षेत्र में नारी को इस आत्म-निर्भर एवं स्वतन्त्र वैयक्तिकता विषयक भावना को विकास का समुचित क्षेत्र मिला, और इसीलिए वह जीवन के सभी क्षेत्रों में पुरुष की सहचरी सहभागिनी के रूप में प्रकट हुई। विकास काल के अन्तिम प्रहर में हम नवीन चेतना और प्रगति के चिह्न स्पष्ट देखने लगते हैं, जब साहित्यकार मानव-जीवन को नई दिशा की ओर प्रेरित करता है—

'मधुकर, छोड़ अब मधुगान
ढल गए सुख स्वप्न के पल, अस्त के दिनमान।'

(रामविलास शर्मा : गीत, सरस्वती १९३५, पृष्ठ २०८)

आर्थिक विषमताओं के नवीन वातावरण में जब वह मधु के गीतों का मधुपान छोड़कर दुखियों की ओर उन्मुख है[2] तब वह स्वर्गिक कल्पना की मृगतृष्णा

१—विश्वम्भर नाथ शर्मा कौशिक : पत्नी (कहानी), माधुरी १९२३, पृष्ठ २३४।
२—त्रिशूल : कवि या दुखियों की आह, सरस्वती १९३७, पृष्ठ ४५३।

में न खोकर ठोस धरती की बात करना चाहता है—

'मुझ से न स्वर्ग की बात करो, प्रिय लगता है संसार मुझे
मैं इसी भूमि पर बलिहारी, यह भी करती है प्यार मुझे।'
(गिरीश : स्वर्ग और संसार, सरस्वती १६३८, पृष्ठ ३१)

साहित्यकार के इस परिवर्तित दृष्टिकोण में नारी को भी नवीन अभिव्यक्ति मिली, और नव्य-काल में वह सभी बन्धनों से मुक्त जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पुरुष के समान अधिकारमयी होकर प्रतिष्ठित हुई।

उपसंहार

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से हम सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि विकास-काल में नारी को भिन्न-भिन्न सम्बन्धों एवं रूपों में सम्मान स्थिति प्रदान की गई। उसके सत् रूप में जागृति-युगीन पवित्रता एवं आदर्श के साथ-साथ माधुर्य-भाव की प्रतिष्ठा हुई, और उसे शान्ति प्रदायिनी स्वर्गिक सुख ही विधायित्री के रूप में देखा गया। प्रकृति के साथ नारीत्व के सामंजस्य का विकास इस विकास-काल की अपनी विशेषता है। भौतिक सुखों की अप्राप्यता ने निराश सामाजिक जीवन में जिस पलायनवादी प्रवृति को जन्म दिया, उसमें नारी का सत् रूप हुआ, और उसकी स्थिति-विषयक परम्परागत मान्यताओं में एक अपूर्व क्रान्ति प्रदर्शित हुई। अब वह न तो मध्य-कालीन नारी की भाँति केवल वासना की उत्तेजक मदिरा और पुरुष को विलासिता के पंक में डुबाए रखने वाली प्रेयसी ही रही और न जागृति-कालीन आरोपित आदर्शों की रुक्षता का भार संभाल कर पुरुष का दिशा निर्देश करने वाली अस्वाभाविक प्रेरक शक्ति ही, वरन् अब उसकी पवित्रता में मधुर सौन्दर्य का विनिमय करते हुए, उसे वैषम्यों एवं असफलताओं के भार से जो पुरुष की पवित्रतम सहयोगिनी के रूप में एक नवीन स्वरूप देकर अधिष्ठित किया गया। परन्तु इस नवीन स्वरूप में भी उसे जागृति काल में स्थापित भारतीय संस्कृति के आलोक में देखने का प्रयास ही विशेष रूप से रहा, और जहाँ भी उसने पौर्वात्य आदर्शों की इस सीमा का अतिक्रमण किया, वहीं वह आलोचना की वस्तु बन गई।

इस काल में रीतिकालीन स्थूल शृंगारिक भावना का अन्त होकर नारी-सौंदर्य में निर्मल मधुर भाव की स्थापना हुई, यह हम कह आए हैं। इस कोमल अवयवा नारी को दार्शनिक रूप में भी देखने की चेष्टा की गई, जहाँ वह भोग्य न रह कर चिन्तन और जिज्ञासा की वस्तु बन जाती है, और इस प्रकार अपनी स्थिति के गौरव भार से उसमें गाम्भीर्य भावना अधिष्ठित होकर उसके भाव विस्तार को क्षेत्र प्राप्त होता है।

साहित्यिक क्षेत्र में कविता के नवीन स्वरूप-विकास के साथ-साथ यह काल गद्य के विकास का काल भी है। गद्य में सामाजिक समस्याओं, तथा उसके जीवन की विषमताओं को विस्तार के साथ उद्घाटन का अवसर इसी काल में मिल सका है। इस काल के साहित्यकार ने उसकी वस्तु-स्थिति के प्रति तीव्र आक्रोश प्रकट किया है तथा परिवार, जाति और राष्ट्र के मध्य उसकी समान स्थिति एवं समानाधिकारों की जोरदार वकालत की है। उसकी दयनीय अवस्था की पृष्ठ-भूमि में पुरुष को दोषी ठहराया है, तथा उसे आत्म-निर्भर, आत्म-सम्मानित एवं स्वतन्त्र होने का निर्देश दिया है। (इस भावना का समुचित विकास आगामी अध्याय में विवेचित 'मध्य-काल' में हुआ।) सामाजिक-क्षेत्र में इस काल के साहित्यकार नारी के बाह्य संघर्षों का ही उद्घाटन कर सके, शायद शिक्षा के समुचित विकास एवं विस्तार के अभाव में अभी नारी में उस बौद्धिक जागरूकता एवं तर्कशक्ति का विकास न हुआ हो जो अन्तर्द्वन्द्वों की भावना को जन्म देती है। अतः इस काल में चित्रित नारी-जीवन के संदर्भ में बाह्य विषमताएँ ही चित्रित की जा सकी हैं, उसकी अन्तर्भावनाओं का संघर्ष और चित्रण जो मध्य-काल की विशेषता है, अभी केवल अंकुरित ही हो सका है विकसित नहीं। आधुनिक-काल की भाँति इस काल में भी नारी विषयक जिस सुधार भावना को स्वर प्रदान किया गया, उसमें सहानुभूति की भावना ही अधिक प्रतिलक्षित होती है। बहुत कम अवसरों पर नारी, स्वयं कटिबद्ध हो, अपनी स्थिति की रक्षा के लिए अग्रसर हुई है। फिर भी, उसके प्रति उपेक्षापूर्ण भावना के विनाश, आदर्शों की कठोर शृंखला में शृंखलित व्यक्तित्व की स्वतन्त्रता एवं नवीन माधुर्यपूर्ण स्वरूप की स्थापना तथा सामाजिक स्वीकृति प्रदान करने की दिशा में साहित्यकार का प्रबल समर्थन, इस काल की नारी-भावना को लेकर अपनी अपूर्व विशेषताएँ हैं।

———

४...नव्य-काल
(१९३८-१९५७)

नव्य-काल
(१९३८-१९५७)

इस प्रकार विकास काल के अन्तर्गत 'नारी-भावना' का विकास द्रुत-गति से हुआ और नारी के क्रमागत स्वरूप में आमूल परिवर्तन हो गया। कल्पना-प्रधान कवियों ने समाज के इस तिरस्कृत अंग के प्रति समस्त सहानुभूति बखेर दी और नारीत्व को पुरुषत्व से भी ऊँचा उठा दिया[1]। परन्तु नव्य-काल में नारीत्व को अलौकिकता के छायावादी आदर्श वातावरण से उतार कर लोकिक, यथार्थ एवं बौद्धिक भाव-भूमि पर समत्व की आदर्श-स्थापना करते हुए चित्रित किया गया और नारी सम्बन्धी गत युग की मान्यताओं को यथार्थवादी दृष्टिकोण प्रदान करने की चेष्टा की गई।

नव्य-काल राष्ट्रीयता का उत्कर्ष काल है, जागृति का जो शंखनाद पिछले वर्षों में हुआ था, उसके परिणामस्वरूप, प्रत्युत्तर में सक्रियता की महान् भीर इस काल में उमड़ी। विकास-काल में सामाजिक विषमताओं से भयभीत होकर जिस पलायनवादी प्रवृति को प्रोत्साहन प्राप्त हुआ था, इस काल में उसकी निस्सारता सिद्ध हो गई और कवि फिर से विश्व-मंच पर खेलती हुई मानव-की क्रुर-सम्यता के विनाश के लिए देश का आवाहन करने लगा—

'प्रेम के गीत, गा मत भारत
बीत चुकी दुनियां इन की
विश्व मंच पर खेल रही है
क्रूर सम्यता मानव की।
(शिव रानी विश्नोई—'उद्गार,' चांद १९४३, पृष्ठ २८६)

अब कवि का ध्यान प्रकृति प्रेयसी से हट कर जीवन की यथार्थता पर, उसके बीच में कसमसाती और कराहती हुई मानवता पर केन्द्रित होने लगा। उसे जगत से प्राप्त व्यथा से मधुर सहानुभूति होने लगती है, क्योंकि यह व्यथा उसके अपने जीवन की है,

---

१—पं० नन्द दुलारे वाजपेयी—नवीन काव्य शैली, हंस, पृष्ठ २९६।

अपने बहुत पास की है—

दुनिया की हलचल में खोजा,
जग तेरा, तू जग की होजा,
इससे तुझको व्यथा मिली है
पर तू इसको गले लगा ले।
(रूपकुमारी वाजपेयी, 'चार कविताएँ,' सरस्वती, १९४०, पृष्ठ २५२)

भारत में नवीन भावना के इस विकास का कारण जहाँ एक ओर राष्ट्रीय भावना का चरम उत्कर्ष था, वहाँ दूसरी ओर योरुपीय समाजवाद तथा मनोविश्लेषण विज्ञान के सिद्धान्तों से प्रभावित होना भी था। इसमें कोई अत्युक्ति नहीं होगी, यदि यह कहा जाये कि राष्ट्रीय भावनाओं की अपेक्षा इस काल के भारतीय साहित्यिक जीवन पर उपर्युक्त दो विचार धाराओं का ही प्रभाव विशेष रूप से रहा है। इस काल में बढ़ती हुई समाजवाद की लहर ने समाज में अर्थ की महत्ता प्रस्थापित की। उसने इस तथ्य की प्रतिष्ठा की कि गरीब अपने स्वरूप में गरीब इसलिए है कि वह आर्थिक दुरावस्था के मध्य घिस रहा है। नारी इसलिए नारी है कि वह आर्थिक रूप से पुरुष पर आश्रित है। इन दोनों वर्गों की दशा इसलिए दयनीय है कि दोनों का जीवन आर्थिक विषमताओं से ग्रसित है। समाज के विशिष्ठ शोषक वर्ग द्वारा दोनों शोषित हैं। मार्क्स का समाजवाद इस शोषण का अन्त करने पर विश्वास करता है। वह पूर्ण व्यावहारिकता एवं भौतिकवाद पर विश्वास करते हुए उस समाजवादी व्यवस्था की कल्पना करता है जहाँ स्त्री और पुरुष दोनों को अपनी योग्यतानुसार स्वतन्त्र आर्थिक जीवन की प्राप्ति हो, जहाँ पर समान भाव की स्थिति हो, और जहाँ आर्थिक कारणों से किसी को एक दूसरे का दास न बनना पड़े। भारत में—समाजवाद की इस दिन प्रतिदिन प्रगति करती हुई भावना ने शिक्षित भारतीय महिला-समाज में एक नवीन चेतना को जन्म दिया, परिणामस्वरूप नारी की कोमल अनुभूतियों को आर्थिक भाव-भूमि पर अधिष्ठित किया गया और इस प्रकार से उसकी स्थिति में यह दिशा-परिवर्तन हुआ।

समाजवादी आदर्श की प्रतिष्ठा के इस युग में सिगमन फ्रायड ने मनोविश्लेषण की नवीन मान्यता को जन्म दिया। योरुप के इस विचार को २०वीं शती के आरम्भिक दशकों में ही ख्याति प्राप्त हो चुकी थी। इस विज्ञान का विकास व्यक्ति की 'निज' सम्बन्धी उत्सुकता को लेकर हुआ। इसके अनुसार मानसिक विकास की पृष्ठ-भूमि में काम-शक्ति अनिवार्य-रूप से कार्य-रत रहती है मनोविश्लेषण मनोविज्ञान के अन्तर्गत नारी-स्थिति गौरव पूर्ण नहीं समझी गई, उसका रुचि केन्द्र केवल काम-वासना को ही माना गया। हाँ, इसी विज्ञान के दूसरे विचारक, लुडविग ने नारी की रुचि काम-वासना के साथ-साथ गृहस्थी में भी मानी है और इस तरह उसकी

गिरती हुई स्थिति को थोड़ा सा संभाल लिया है। उसने नारी में एक मूल-प्रेरणा के साथ-साथ 'जीवन की पोषिका' भी हो जाती है। किन्तु इसी काल के इस तीसरे विचारक बर्नार्ड शा ने नारी को काम-वासना के क्षेत्र में अन्य मनोविज्ञान-शास्त्रियों के विपरीत 'सक्रिय' माना है। उनकी धारणा है कि प्रेम (वासना के उद्भव) के क्षेत्र में नारी ही पहले प्रवृत होती है। 'स्त्री को पुरुष की आवश्यकता प्रकृति की प्रेरणाओं की पूर्ति के लिए है, यदि पुरुष विद्रोह करता है तो वह अपने परम्परागत-प्रेम और आज्ञाकारिता के अभिनय को त्याग कर प्राकृतिक रीति से, व्यक्तिगत आवश्यकताओं से बहुत दूर किसी लक्ष्य की पूर्ति के लिए, इस पर अधिकार स्थापित करती है'।[1]

इस काल में यथार्थवाद की भावना को प्रकृतिवाद या नग्नवाद की कोटि तक खींच लाया गया। पश्चिम में एमिल जोला, इब्सन थियोडोर ड्रेसर इस वाद के प्रमुख प्रचार कर्त्ता रहे। हिन्दी में उपर्युक्त भावनाओं ने बच्चन, नरेन्द्र, अंचल, रांगेय राघव, अज्ञेय तथा यशपाल आदि प्रभृति साहित्यकारों को प्रभावित किया।

इस प्रकार से इस काल में नारी भावना को विभिन्न सिद्धान्तों की पृष्ठ-भूमि में देखा जा कर एक नवीन अभिव्यक्ति मिली। उसके हृदय की स्नेह-भावनाओं के परस्पर आदान-प्रदान पर आधारित न होकर, अर्थ व्यवस्था के मध्य, उससे अनुप्राणित होकर मुखरित हुई। इस नए मोड़ को भारत भूषण की 'सब से छोटी कविता' पूर्ण अभिव्यक्ति प्रदान करती है—

> तुम अमीर थीं
> इसीलिए हमारी शादी न हो सकी
> पर, मान लो तुम गरीब होती
> तो भी क्या फ़र्क पड़ता!
> क्योंकि तब...
> मैं अमीर होता! (ओ अप्रस्तुत मन, पृष्ठ १०३)

जिस प्रकार राष्ट्रीय-भावना के उत्कर्ष ने नारी को समान स्वीकृति प्रदान की, उसी प्रकार मनोविश्लेषण विज्ञान की विचार प्रबुद्धता में नारी-मन के अन्त-संघर्ष को विकसित होने का अवसर मिला, और वह अधिकार भावनाओं से पूर्ण समान स्वीकृत और आर्थिक रूप से स्वतन्त्र होकर भी एक प्रकार की घुटन अनुभव करती रही। वह यह सोचने पर बाध्य हो गई कि क्या वास्तव में नारी का पुरुष से स्वतन्त्र कोई अस्तित्व नहीं हो सकता, यदि हाँ, तो फिर आज सब कुछ पाकर भी, पूर्णतया स्वाश्रित होकर भी वह अनमयस्क क्यों है। इसी अन्तर्द्वन्द्व का अभी तक न

१—बर्नार्ड शा—प्रिफेसेज ७, पृष्ठ १५६। शैल कुमारी द्वारा 'आधुनिक हिन्दी काव्य में नारी भावना' के पृष्ठ १९९ पर उत्कथित।

तो वह कोई उपचार ही खोज पाई है और न कोई निश्चित सार्थक समाधान ही। इस अन्तर्संघर्ष की भावना को हम विभिन्न वर्गों में नारी स्थिति की विवेचना करते समय भली-भाँति समझ सकेंगे।

उपर्युक्त-काल की नारी-भावना पर हम निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत विचार करेंगे—

१—वस्तु-स्थिति
२—समाजवादी तथा क्रान्तिवादी भावना
३—नवीन आदर्श
४—सुधार भावना
५—विभिन्न रूपों में नारी
६—प्रतीकात्मक भावना
७—विभिन्न सम्बन्धों में नारी, एवं
८—विभिन्न वर्गों में नारी।

वस्तु-स्थिति

यद्यपि नव्य-काल में समता और समाजवाद के सिद्धान्तों की जोरदार वकालत की गई, और नारी की स्वतन्त्र सम्मानपूर्ण वैयक्तिकता को सभी क्षेत्रों में स्वीकार कर लिया गया, तो भी इसका लाभ एक बहुत ही विशिष्ट वर्ग के अतिरिक्त सामान्य नारी-वर्ग को न हो सका। व्यावहारिक क्षेत्र में नारी की समाजगत वस्तु-स्थिति में पिछले काल की भाँति वैषम्य, करुणा, दयनीयता की मात्रा ही अधिक रही। उसके व्यक्तित्व में समाज का इकाई होने का महत्व प्रदान नहीं किया गया। नर के इंगितों से संचालित पुत्तलिका के समान ही उसकी स्थिति रही[१]। जीवन की विवशता के बीच वह पर-कटे पक्षी के समान निस्सहाय है[२]। वह पति की आकांक्षाओं के सम्मुख नत-शिर है तथा उसकी मौन्य और सम्मति मात्र है[३]। जीवन की विषमता के दलित वातावरण में उसका 'स्व' शव में परिवर्तित हो जाता है[४]। इस उपेक्षिता

१—अंग-अंग उसका नर के वासना चिह्न से मुद्रित।
वह नर की छाया, इंगित संचालित, चिर पद लुंठित,
० ० ० ०
वह समाज की नहीं इकाई, शून्य समान अनिश्चित
उसका जीवन मान-मान पर, नर के है अवलम्बित।
(पंत, ग्राम्या, नारी, पृष्ठ ८५)

२—मेरे पर कटे हुए हैं, मेरे पैरों में जंजीरें कसी हुई हैं।
(हरिकृष्ण प्रेमी : छाया, ज्योत्सना का कथन, पृष्ठ २२)

३—वही, पृष्ठ २४,

४—वही, पृष्ठ ४५, देखिए, माया का कथन।

को अपने भविष्य से अनिश्चित, अपने दुर्भाग्य[1] की अमर कहानी के भार को अपने वर्तमान में ढोये चलना है, बस इतना ही वह जानती है—

मैं अभाग्य की अमर कहानी
आदि जानती, किन्तु न अन्त,
उस उपवन की कली, उपेक्षित...
हो जिसका प्रत्येक वसन्त।
(उर्मिला श्रीवास्तव, पूजन, सरस्वती १९४२, पृष्ठ १६)

राष्ट्रीय स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए पुरुष ने स्वार्थवश भले ही नारी का आह्वान समान भाव-भूमि पर किया हो लेकिन सामाजिक धरातल पर वह नारी को मात्र रूढ़ि पोषित दृष्टिकोण से ही देख पाया है—

'स्त्री इस नीचे बहते हुए गंदे नाली के पानी से ज्यादा नहीं है। उसका मन, उसका शरीर गुलामी की सांस्कारिक जंजीर से कस कर फंस गये हैं और वह जी कर भी नहीं जीती। सेवा, शृंगार, सब झूठे दम्भ हैं, जिनकी छाया में तह घुल-घुल कर मर रही है।' (मार्कण्डेय—पान-फूल (क० स०) वासवी की मां, पृष्ठ २४)

अथवा,

'स्त्री जीवन की पूर्ति नहीं, जीवन की पूर्ति का एक उपकरण और साधन मात्र है।'

o o o o

नारी है क्या। माताल वृक ठीक कहता है। वीर रुद्रधीर, कोमल पुष्पसेन, अभद्र मारिश और माताल वृक नारी के लिए सब समान हैं। जो योग्य बनने के लिए उत्पन्न हुई है। उसके लिए अन्यत्र शरण कहाँ ?'
(यशपाल : दिव्या, पृष्ठ ८७ तथा १०३)

पिछले युग में नारी बाल-विवाह की रूढ़ि से ग्रसित थी, अब वह पूर्ण वयस्का हो जाने पर भी अविवाहित ही रह जाती है। तब उसे समाज के तिरस्कारों एवं व्यंगों का शिकार होना पड़ता है[1]। इस काल में सिद्धान्त-रूप से पुनर्विवाह के आदर्श की स्थापना हो चुकी है, परन्तु पुनर्विवाहिता पर गौरव नहीं किया जा सकता[2]। ससुराल में उसकी दशा सासादि के कटु व्यवहारों से और भी दयनीय है—

'*नये ब्याहे जवान यक्ष्मा में उतने क्यों नहीं मरते, जितनी नई ब्याही* लड़कियां ? यह सासों की क्षुद्रता और निर्दयता है, जिसके कारण आज इतनी बहुएँ

१—अज्ञेय : शेखर—एक जीवनी (भाग २) देखिए शशि का कथन, पृष्ठ ७०।
२—यशपाल : देश द्रोही, देखिए, पृष्ठ १६५।

इस रोग के हाथों मौत के मुंह में जा रही हैं।'

(उपेन्द्रनाथ 'अश्क' : पापी (एकांकी) में शान्ति लाल का कथन, पृष्ठ ७६)

इतना जान कर भी आज की नारी परम्परागत विवाह पद्धति की लीक पर चलने के लिए विवश है, विवाह के विषय में उसकी इच्छा कुछ भी महत्व और अर्थ नहीं रखती[1]।

उपर्युक्त पंक्तियों में नारी की वस्तु-स्थिति का सामान्य विवरण प्रस्तुत किया गया है। परन्तु भिन्न-भिन्न वर्गों में नारी की वस्तु-स्थिति न्यूनाधिक रूप से भिन्न है। अभिजातीय वर्ग की नारी में लौकिक सुखों के प्रति आसक्ति की भावना विद्यमान है। आधुनिक सभ्यता की लहर में वह बहुत आगे तक बह गई है[2]। शिक्षा के विकास ने उसकी स्वच्छन्द प्रवृति को प्रोत्साहन दिया है। उसकी बौद्धिक जागृति 'प्यार' की शाश्वत भावना में विश्वास नहीं किया चाहती उसके शब्दों में...

'प्यार की जिन्दगी चन्द क्षणों की होती है पार्क उसका आदि है और पलंग अन्त[3]। विवाह की व्याख्या भी वह इसी प्रकार करती है—

'शादी का आदि पलंग और अन्त पालना है[4]।'

वास्तव में उक्त भावना नारी की कुंठित आकांक्षाओं का परिणाम है। उच्चतर समाज में उसके व्यक्तित्व को, उसकी सहज स्वाभाविक स्नेह भावना को आर्थिक माप-दण्ड पर तोला गया है। उसने जब-जब पुरुष पर अपनी निष्ठा समर्पित करनी चाही, उसे बदले में सोना दिया गया, स्नेह नहीं, और जीवन की इसी विडम्बना के फलस्वरूप उसका दृष्टिकोण बदल गया और वह अपने व्यवहार में स्थूल से स्थूलतर होती चली गई। इस मत की पुष्टि के लिए एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

'प्रत्येक व्यक्ति जो मेरे जीवन में आया भविष्य के सुख स्वप्न पैदा करता आया। प्रत्येक व्यक्ति को मैंने भावी पति के रूप में देखा। पर क्या हुआ ? वह व्यक्ति मुझे 'प्रेजेन्ट्स' दे सकता था, पर अपनी न बना सकता था। धीरे-धीरे मैं इसकी अभ्यस्त हो गई।'

(भगवती चरण वर्मा—'इन्स्टालमेंट' में संग्रहीत 'प्रेजेन्ट्स' कहानी में शशिबाला का कथन, पृष्ठ ११)

अभिजातीय वर्ग की नारी का इस कुण्ठा जन्य भाव के अतिरिक्त एक दूसरा पक्ष भी है, जहाँ वह अतिशय दयनीय है। धन की मार ने उसके कण्ठ को अवरुद्ध

१—उपेन्द्रनाथ अश्क : अलग-अलग रास्ते, देखिए राज और रानी की विवाह विषयक विवशता।

२—लक्ष्मीनारायण मिश्र : मुक्ति का रहस्य, आशादेवी का चरित्र, पृष्ठ ३।

३—विनोद रस्तोगी : रुपया, रूप और रोटी, लिली का कथन, पृष्ठ १८६।

४— " " " पृष्ठ १८६।

कर दिया है। यशपाल की 'सुमति'[१] इसी प्रकार की प्रतीक है, जो भाग्य की अपार परवशता के मध्य जीवन जी रही है।

मध्य-वर्गीय नारी की वस्तु-स्थिति सदैव से ही दयनीय रही है। विवाह के पश्चात् उसकी शिक्षा का कोई महत्त्व नहीं रह जाता[२]। विवाह के विषय में उसकी अपनी इच्छा कोई अर्थ नहीं रखती[३]। परिस्थितियों के मध्य उसकी बुद्धि भले-बुरे के के ज्ञान से भी वंचित हो गई है। पति के घर सास का अहं-पोषण ही जैसे उसका धर्म रह गया है[४] इस वर्ग की नारी के लिए पति ही जैसे मोक्ष का साधन है। वह किसी भी दशा में प्रतिकार नहीं कर सकती। सिद्धान्त रूप में नारी को आधुनिक हवा से बचने को निर्देश दिया जाता है। उस पर पाश्चात्य प्रभाव एवं गर्विता होने का आक्षेप लगाया जाता है परन्तु अपने घर की सीमाओं के भीतर क्या वह ऐसी ही दर्पमयी एवं अधिकार पूर्ण है। वह वास्तव में अपने पति को पूर्ण समर्पित है इस सीमा तक—यह जानते हुए भी, कि उसका पति वेश्यागामी है, उन्से घर में लाता है—वह पति के साथ-साथ वेश्या की भी सेवा करती है, क्योंकि वह धर्म-परायण मध्य-वर्गीय हिन्दू नारी है, जिसके लिए केवल पति सेवा का ही द्वार खुला है, और यह उसके करुण जीवन की पराकाष्ठा है[५]। इन्हीं अवरुद्ध कारणों से उसके जीवन में एक गहरी नैराश्यपूर्ण भावना शून्य का मूर्त रूप लेकर भीतर तक पैठ गई है। मध्य-वर्गीय नारी का सजीव चित्रण 'मेंग्रीन'[६] की मालती में हुआ है, जिसके जीवन में एक महान् विरक्ति, निष्क्रियता और उमस व्याप्त हो गई है, जो जीवित होकर भी जीवित नहीं है। इस वर्ग की नारी अपनी सामाजिक स्थिति में पूर्णतया पुरुष पर निर्भर है—

'स्त्रियों का मरना जीना ही क्या, जब तक पुरुष प्रसन्न है, वे जीती हैं। पुरुष अप्रसन्न हो गये, मरना हो गया।'

(यशपाल : 'दादा कामरेड' में यशोदा का कथन, पृष्ठ ११६)

मध्य वर्गीय नारी की भाँति ही सामान्य वर्गीय नारी अपनी स्थिति में अत्यधिक दयनीय और करुण है। परन्तु उसमें मूकता न होकर वाचालता है, साथ ही पुरुष के प्रति आक्रोश की भावना भी विद्यमान है। वह पेट की भूख को भरने के लिए 'व्यभिचार' का आश्रय लेती है, आठ-आठ पति करती है, फिर भी अपने को

१—यशपाल : उत्तमी की मां (क० स०) में पतिव्रता की सुमति।
२—राजेन्द्र यादव : खेल खिलौने (क० स०) की नलिनी।
३—धर्मवीर भारती : 'सूरज का सातवां घोड़ा' की जमुना।
४—अमृतराय : कस्बे का एक दिन (क० स०) 'आह्वान' में ललिता की स्थिति पृष्ठ ३१।
५—उपेन्द्र नाथ अश्क : काले साहब (क० स०) की 'बगूले' में वासन्ती।
६—अज्ञेय : 'जयदोल' (क० स०) में संग्रहीत।

दोषी नहीं ठहराती, स्वयं की आंखों में नहीं गिरती। वह स्वर में अपने निर्दोष होने की घोषणा करती हुई कहती है—

'मैंने कुछ नहीं किया है रे निरबंस! क्यों नहीं पूछता उन सारे लोगों से जिन्होंने मुझे ऐसा बनाया। देखता नहीं वह पंडित, वह जमींदार का छोकरा और वह महाजन का छोटा भाई, सभी मेरे साथ सो चुके हैं, पर अब मुझे गाली देते हैं, और जब-जब मेरे पेट में बच्चा आता, इन्होंने पंचायत करके उसे नाजायज करार दिया और मुझे गांव से बाहर निकाल दिया।'

(मार्कण्डेय : पान-फूल (क० सं०) में 'कहानी के लिए नारी-पात्र चाहिए' की जमुना का कथन।)

उसके लिए पर-पुरुष से शारीरिक सम्बन्ध भी इतना महत्व नहीं रखता[1] जितना मध्यवर्गीय नारी के लिए। 'मिस्स'[2] सम्बन्धी सामान्य वर्गीय नारी की वस्तुस्थिति अभिजातीय वर्ग जैसी ही है। हां, शरीर को विक्रय कर सकने में असमर्थ वह दूसरों को डरा-धमका कर भी धन अर्जित कर सकती है। इस दृष्टिकोण से वह साहसमयी भी है। सदैव ही साहस, श्रम और निष्ठा सामान्य वर्गीय नारी की सम्पत्ति रहे हैं। उसे पुरुष का सच्चा स्नेह मिल जाये, वह सब कुछ करने को तैयार है। 'आखिरी दांव'[3] की चमेली बम्बई में जाकर 'प्रथा' के विरुद्ध जीविका उपार्जन के लिए पान की दुकान करती है, जो अन्य वर्गीय महिलाओं के लिए शायद असम्भव कार्य होता। मध्य वर्गीय पत्नी के विपरीत वह भाग्य के नाते एक अनिश्चित सीमा तक सुनने की अभ्यस्त नहीं है। सहन-शक्ति का अंत होते ही वह अपनी सास से कह सकती है—"और अब जो तुमने ज्यादा कुछ कहा तो तुम्हारा गला घोंट दूंगी—यह याद रखना! सब की भी हद होती है।"

परन्तु इतना सब होते हुए भी वह अपनी आंखों में असीम करुणा का इतिहास छिपाये है। अपनी व्यथा में मौन धैर्य की प्रतिमा-सी सदैव परिश्रम रत रह कर, जीवन में सुखों की ओर से उदासीन वह निर्लिप्त भाव से समाज के वक्ष पर अपनी दयनीय अश्रुधार को बहाती हुई चलती है[4]। वहां उसका समस्त प्रतिशोध, प्रतिहिंसा की भावना और वाचालता विगलित हो जाती है।

१—यशपाल : 'तुमने क्यों कहा था, मैं सुन्दर हूं' (क० सं०) में 'चित्रा के आंसू' की नायिका।

२—वही, 'कोकिला डकैत' की नायिका।

३—भगवती चरण वर्मा लिखित।

४—अमृता प्रीतम : 'पिंजर' (उपन्यास) की पूरो।

समाजवादी तथा क्रान्तिवादी सम्बन्धी भावना

समाजवादी आदर्शों की प्रतिष्ठा के इस युग में हिन्दी साहित्यकार का ध्यान समाज के बुभुक्षित एवं मानसिक कुंठाओं की पृष्ठ-भूमि में अर्ध-विक्षिप्त और शोषित वर्ग की ओर अधिक आकृष्ट हुआ है। जिस छायावादी रोमान्स प्रवृति ने उसे जीवन की यथार्थता से विमुख कर कल्पना के स्वर्गिक सुखों के प्रदेश में भुला रखा था, अब वह उसे, वितृष्णा के रूप में दीखने लगी। जागरण के इस नवीन प्रहर में उसका रुचि-क्षेत्र परिवर्तित हो गया। वह गाने लगा—

"मेरी छोटी दुनियां कंगालों की
उनके डर की पीर बहा लाता हूँ।
'रुन झुन' में विश्वास नहीं करता हूँ
मधुर मिलन की आश नहीं करता हूँ।"
(मित्तल : कवि की अन्तर्वेदना, सरस्वती, ४०, पृष्ठ २६०)

सामाजिक जीवन का यह दलित वर्ग जब अपने यथार्थ स्वरूप में उसके सम्मुख आता है, तो वह इसकी उपेक्षा नहीं कर सकता। विलास के बन्धनों को ढीला कर उसकी सहायता के लिए सन्नद्ध होता है—

'तनिक ढीले तो करो तुम आज अपने प्रणय-बन्धन
सुन सकूं नीरव क्षणों में, विश्व-उर का करुण स्पन्दन
विश्व-उर की वेदना की, हृदय में झंकार भर लूं।
(विद्याभास्कर शास्त्री : गीत, चांद १९४१, पृष्ठ १५०)

इस वर्ग की निरीह वाणी में इतना दर्द भर गया है कि चाह कर भी कि वह क्षण भर अपनी प्रिया के पार्श्व में रुका रहे, नहीं रुक पा रहा है—

'चाहता भी था कि रुक लूं पार्श्व में क्षण भर तुम्हारे,
किन्तु अगणित स्वर बुलाते हैं मुझे बांह पसारे
अनसुनी करना उन्हें भारी प्रवंचन, कापुरुषता
मुंह दिखाने योग्य रखेगी न मुझ को स्वार्थ-परता
(शिव मंगल सिंह 'सुमन') 'पर तुम्हें भूला नहीं हूँ।'

और इसीलिए वैषम्य से भरे इस वातावरण में वह मधु की बात बन्द कर देने का संदेश देता है—

'बन्द करो मधु की रस जतियां, जाग उठा अब विष जीवन का'
(नीरज : विभावरी, पृष्ठ ६०)

आज की जागृति के क्षण में लेखक जीवन की समस्याओं के उद्घाटन के हित ही लेखनी का उपयोग करने का संदेश देता है—

...न आज स्वप्न कल्पना मुग्ध छको।
न आज गान आत्मगान की बको,
स्वदेश पर मुसीबतें, मुसीबतें।
इसे बखान आज लेखनी करो।
(बच्चन : धार के इधर-उधर, पृष्ठ ३९)

और इस प्रकार, इस अरुणोदय में वह जीवन की प्राचीन रूढ़ि-ग्रस्त अकल्याणकारी मान्यताओं को समूल नष्ट कर समाज में प्रजातन्त्रात्मक भावना एवं स्वस्थ मानवता की स्थापना करना चाहता है—

नव चेतन आज मनुज करें धरणि पर विचरण
मुक्त गगन में समूह शोभन ज्यों तारा गण,
मानव हों मानव—हो मानव में मानवपन
अन्न वस्त्र में प्रसन्न, शिक्षित हों सर्व जन
खोलो परम्परा के कुत्स वसन नारी नर।
(पन्त : ग्राम्या, उद्बोधन, पृष्ठ १००)

समाजवादी सन्दर्भ के इस दर्शन-काल में नारी को भी नवीन भाव-भूमि पर परीक्षित किया गया। अब वह केवल प्रेम और लालसा के मन्दिर की छायावादी पूज्य प्रतिमा ही न रह कर पुरुष के साथ समान भाव-क्षेत्र की—अधिकारिणी हो, दूसरे प्रकार के व्यावहारिक आदर्शों की भित्ति पर पुरुष-वर्ग द्वारा अभिनन्दित हुई। नारी-भावना विषयक यह क्रान्ति समाजवाद की अपूर्व देन है। अब वह जीवन की सम्पूर्ण विषमताओं में सामंजस्य की स्थापना करते हुए यथार्थ की भाव-भूमि पर जीवित रहने के लिए स्वस्थ समाधान की खोज में रत है। 'उड़ान' अपने प्रेमियों की अतिवादी जीवन दृष्टियों से सहमी हुई नारी अपना मत यों प्रकट करती है—

१—तुम नहीं मांग की ही वस्तु पुरुष की, अस्तु तुम से
भीख मधु की भी मांगता मन भी नहीं, अलि ज्यों कुसुम से।

o o o o

आज तक तुम पुरुष, जिसकी नीति थी—वह छोड़ता हूँ
प्रीति, कवि कृत प्रेयसी की प्रीति थी, वह छोड़ता हूँ
चिर मधु का कुण्ड था, मन तरी, ये पतवार भुज द्वय
भूलो नारी! निरादर की रीति थी, वह छोड़ता हूँ।
(नरेन्द्र शर्मा : मिट्टी और फूल, पृष्ठ १३४)

'एक आकाश में बसता है...दूसरा अंधियारे गहरे गड्ढे का वासी है। मैं दोनों से डरती हूँ, ऊँचाई या गहराई मेरा आदर्श नहीं। गहरे खड्डों या ऊँचे शिखरों से मैं ऊब गई हूँ। मैं समतल चाहती हूँ। (अश्क : कैद और उड़ान, पृष्ठ १५२)

इस माया के रूप में नारी का विद्रोह मुखर हुआ है। वह स्त्री और पुरुष के पारस्परिक संबन्धों में एक नया आधार ढूंढना चाहती है। जिस से जीवन को सरल, प्रवाहयुक्त भावधारा के साथ एक दूसरे को समझते हुए बिताया जा सके।

समाजवादी चेतना की दूसरी देन समता का भाव है। अब नारी पुरुष के अत्याचारों के प्रति अपने विरोध का स्वर ऊंचा कर सकती हैं। इस युग की नारी स्वतन्त्र वैयक्तिकता की स्थापना में कटिबद्ध है। पुरुष के अत्याचारों और संकीर्ण विचारधाराओं में वह इतनी घुटन और उमस महसूस करती है, कि आत्म-निर्भरता का प्रण लेकर वह पुरुष को छोड़ कर भी जीने के लिए तैयार है[1] वह आज पुरुष-वर्ग के कुरूप पहलू से भली-भाँति परिचित हो गई है, वह पुरुष को विजित करने के लिए स्वयं पुरुष जैसी कठोर नृशंस और अत्याचारी बनने को भी बुरा नहीं मानती—

'जननी होते हुए भी स्त्री कितनी निरीह है, कितनी निराश्रय है। जिस पुरुष के लिए स्त्री सर्वस्व न्योछावर कर देती है, यातनाएँ सहती है, वही पुरुष पशु के समान हृदय-हीन प्राणी है। जब तक स्त्री अपना अधिकार न समझ लेगी, जब-तक स्त्री पुरुष के सर पर पैर न रख सकेगी, तब तक वह गुलाम रहेगी इतना मुझे विश्वास है।' (भगवती चरण वर्मा—दो बांके (क० स०) में 'पराजय अथवा मृत्यु' की भुवनेश्वरी, अपने पत्र में, पृष्ठ १०२)

इतनी सामाजिक चेतना के साथ-साथ नारी को राष्ट्रीय-क्रान्ति के क्षेत्र में भी उपस्थित कर, उसका स्वरूप-विकास किया गया है। राष्ट्रीय-उद्बोधन के इस प्रहर में कवि नारी से मधु की अपेक्षा आग की अपेक्षा करता है—

'चाहता मैं आज जलती आग, केवल आग तुम से।
चाहता मैं अब न प्याली में सुरा सा झाग तुम से।'
(अंचल, लाल चूनर, पृष्ठ २६)

क्योंकि—

'आज नव-युग का तरुण
त्यौहार द्रोही पर्व आया
क्या करेगी प्यार—केवल
प्यार मेरी क्षुब्ध काया

१—अश्क : 'अलग-अलग रास्ते' में देखिए रानी का चरित्र।

आज जीवन औ' मरण के
बीच में तुम सेतु बन कर,
दो मुझे तूफान अगले,
झेलने का शौर्य जयकर। (वही, पृष्ठ ३८)

और इसीलिए आज नारी के पायलों की झंकार तलवारों की झंकारों में परिवर्तित हो गई है'। क्योंकि समता की भावना से देखी जाने वाली नारी का भी तो देश के प्रति कुछ कर्तव्य है। इस नवीन आलोक में उसके जीर्ण बन्धनों की शृंखला टूट पड़ेगी, और वह भी उन्मुक्त विहंगी-सी स्वतन्त्र हो जाएगी, इसीलिए राष्ट्रीय जागृति के प्रति वह भी उत्सुक है—

'देश प्राची में उदय की
अरुणिमा कुछ छा रही है
मुक्त होने का संदेशा
नवल उषा ला रही है
फिर विहंगिनी सी विचरना
अब मिटेगा क्लेश तेरा।'

(सत्यवती शर्मा 'भारत बाला से,' सरस्वती, १९४१ : पृष्ठ १०४)

नारी में राष्ट्रीय भावना के विकास के प्रतीक स्वरूप इस काल में कुछ ऐतिहासिक महिलाओं के चरित्र भी उपस्थित किए गये। 'रजत-रश्मि'[2] में दुर्गावती की राजनीति को उपस्थित किया गया, और एक आदर्श की, कि भारतीय राजनीति को नारी की अपरिमित शक्ति की अनिवार्य आवश्यकता है, स्थापना की गई। राजनीति में नारी प्रवेश को, जैसा कि तीसरे अध्याय में देख आए हैं, अधिक विकास का अवसर गांधी जी की ही प्रेरणा से मिला। 'डंडी प्रयाण' के समय कवि ने भी उनका आह्वान किया[3]। परन्तु इतनी जागरूकता के बाद भी राष्ट्रीय चेतना के इस प्रबुद्ध आन्दोलन में भाग लेने विषयक नारी की कठिनाई एवं विवशता को भी दृष्टि-ओझल नहीं किया जा सकता—

१—सोहन लाल द्विवेदी (हुंकार) विषपथगाथा, पृष्ठ ७२।

२—राजकुमार वर्मा लिखित।

३—आश्रम निवासिनी सकल ललनाएँ आगे
बहनें, हमें है पशुता से युद्ध ठानना
लड़ना तुम्हें भी सत्याग्रह की लड़ाई घोर
अवसर आते निज धर्म पहचानना
(अनूप शर्मा : दण्डी प्रयाण, सरस्वती १९३९, पृष्ठ ५९)

'एकान्त वाटिका में जाकर मैं देश जाति की अवनति का
कारण हल करने को बैठी, माँ की इस भीषण दुर्गति का,
'वे' आकर बोले – गाँधी के जलसों में आने-जाने से
छिन गई नौकरी भी मेरी, मुहताज हुए हम दाने को
मैं यह देखूं, या वह देखूं।
(रत्न कुमारी, : 'मैं यह देखूं या वह देखूं' सरस्वती १९४२, पृष्ठ १०७)

फिर भी नारी का यह नवीन स्वरूप, जिसमें राष्ट्रीय चेतना और सामाजिक विषमताओं के प्रति एक जागरूक भावना विद्यमान है, जो उसके मानस में प्रगतिशील विचारों का उद्वेलन आरम्भ कर सकती है, इस नव्य-काल के इतिहास में अपना विशेष स्थान रखती है, इसमें कोई संदेह नहीं।

नवीन-आदर्श

नव्य-काल में समता के जिस आदर्श की स्थापना के प्रयत्न की हम उपर्युक्त पंक्तियों में विवेचना कर आए हैं, उसी के संदर्भ में नारी सम्बन्धी नवीन आदर्शों को भी प्रस्थापित किया गया। उसके प्रति विकास-काल में जिस काल्पनिक आदर्श की स्थापना हुई थीं, उसे समाजगत व्यावहारिक रूप देकर, अब उसके प्रति 'जीवन संगिनी' के रूप में सम की भावना प्रतिष्ठित हुई—

'जीवन संगिनी है, जीवन धन
उसका भी सम ही है जीवन
हृदय-द्वय के सत्य मिलन में
मानव नित विचरो हे !
अबला मुक्त करो हे।
(महावीर सिंह : मुक्ति गीत, चांद १९४३, पृष्ठ ७८)

इस जीवन संगिनी को वह युग की प्रतिहिंसा के रूप में देखना चाह कर, अपने साथ पथ की बाधाओं के मध्य से निकाल ले चलने का आकांक्षी है। आज की नारी प्रासादों के विलास वैभव से निकल कर संघर्षमय जीवन के राजमार्ग में प्रवेश करती है—

'महलों के वैभव में अब तक तुम छवि की छाया सी भूली,
रागों में स्वर बन लहराईं, निशि में शेफाली सी फूली,
कितनी अतृप्त परवशता थी, तुम चीर जिसे बाहर आईं,
कितनी ऊँची दीवारें थीं, तुम छोड़ जिन्हें पीछे आईं,
आओ, युग की प्रतिहिंसा बन कर, मेरे साथ चली आओ।
तुम मेरे साथ चली आओ।'
(अंचल : वर्षान्त के बादल, पृष्ठ ६५)

संघर्ष के इस प्रहर में कवि को उस संगिनी की अपेक्षा है, जिसके पग दृढ़ता से धरातल पर जमे हों। आकाश-विचरणी प्रेयसी आज उसके लिए कोई महत्व की वस्तु नहीं रह जाती—

चन्द्र लोक निवासिनी ! नभ की परी।
गहन अन्तर से तुम्हारा योग ही क्या ?

... ...

तुम्हारा दान बिल्कुल व्यर्थ है
लौट जाओ—
मुझे तरु की शीतल छांह में शान्ति पाने दो।'

(भारत भूषण अग्रवाल : ओ अप्रस्तुत मन, लौट जाओ चांदनी की रात, पृष्ठ ४५)

इस काल के साहित्यकार का ध्यान उन रूढ़िगत परम्पराओं की ओर भी आकृष्ट हुआ है जो इस समता और विकास की भावना को सामाजिक जीवन के क्षेत्र में पनपने का अवसर नहीं दे रही हैं। नारी की वस्तु स्थिति को,

कि—'योनि मात्र रह गई नारी
निज आत्मा कर अर्पण।' (पन्त : युगवाणी)

वह अधिकार दिलाने के निमित्त चिल्ला-चिल्ला कर कहता है—

'योनि नहीं है रे नारी, वह भी मानवी प्रतिष्ठित,'
उसे पूर्ण स्वाधीन करो, वह रहे न नर पर अवसित।'

(पन्त : ग्राम्या, पृष्ठ ८५)

समता के इस भाव के साथ-साथ नारी के छायावादी पूज्य, प्रेरक एवं मुक्ति रूप आदर्श की परम्परा भी इस काल में बनी रही—

नारी, तुम हो अयस्तुल बन्धन
नारी, तुम हो मुक्ति चिरंतन

(शिव विलास सिंह : नारी, सरस्वती ४७ पृष्ठ २५५)

वह पुरुष को मौन ममता का अभय दान दिए है, और उसकी स्मृति का मंगल कवच पुरुष के लिए कल्याण का स्वरूप लेकर आता है—

है तुम्हारी याद का मंगल कवच कल्याण मेरा
दूर कर देता विषमता से, थके मन का अंधेरा।

इतना ही नहीं, नारी के रूप सौन्दर्य में उसके गुणों की सूक्ष्म सत् भावना का विस्तार भी हुआ है—

...'केवल लखते हो, केशों का कालापन घुंघरालापन
जिस में छिपी सती की ज्वाला, कभी करेगी जग पावन
नग्न भाल में मत देखो, तुम बस चौड़ापन, चिकनापन
जिस में लिखे रखे हैं, विधि ने पावनता के मंत्र गहन।
(ग्रानन्दि प्रसाद श्री वास्तव : नारी, सरस्वती ३९ ; पृष्ठ ४७०)

इस छायावादी भावना के साथ-साथ राष्ट्रीय भावना की पृष्ठ-भूमि में उसे एक नया स्वरूप भी प्राप्त हुआ है। वह सम्मानीय एवं श्रद्धेय ही नहीं, किसलय सी कोमल ही नहीं, ज्वालामयी शक्ति-रूप भी है—

'यदि विजयी होकर लौटूं मैं तो तुम मेरी जयमाला हो,
यदि कुछ अनर्थ हो, तो न सजल होना, नारी हो, ज्वाला हो।'
(चन्द्र प्रकाश शर्मा : सैनिक का पत्र, सरस्वती, १९४०, पृष्ठ ५०१)

इस काल की नारी भावना को विशद क्षेत्र प्राप्त हुआ है। नारी के प्रेयसी, मुग्धकारी रूप पर ही कवि नहीं ठहर जाता, वह इससे आगे भी कुछ देखना चाहता है—

'विशद स्त्रीत्व का ही मैं मन में करता हूँ नित पूजन
जब आभा देही नारी आल्हाद प्रेम कर अर्पण
मधुर मानवी की महिमा से भू को करती पावन।
(पन्त : ग्राम्या, पृष्ठ ८१)

इसी विशद स्त्रीत्व के आदर्श स्थापन के लिए वह उसे विभिन्न रूपों में देखता है—

'मां, भगिनी है, बन्धु मित्र है
सबसे सुन्दर बड़ा फूल है, हृदय हार के लिए।'
(चन्द्र प्रकाश वर्मा : नारी, चाद १९४४, पृष्ठ १६९)

नव्य-काल की नारी विषयक नवीन-आदर्श-भावना को लेकर सबसे अधिक महत्व पूर्ण वस्तु है—नारी के स्नेह की आर्थिक भाव-भूमि पर प्रतिष्ठा तथा उसकी भावनाओं का मनोविश्लेपण विज्ञान के साथ सामंजस्य। इस युग में इस मान्यता को विचार-क्षेत्र प्रदान किया गया कि यदि 'स्त्री भी वास्तविक समानता का दावा करती

हैं, तो उसे मानसिक स्वतन्त्रता पहले अर्जित करनी होगी[1],' और मानसिक स्वतन्त्रता का सम्बन्ध आर्थिक स्वतन्त्रता के साथ स्वाभाविक रूप से संलग्न है। इस विचार धारा के अनुसार नारियां सोचती हैं—

'पति तो सभी को मिल जाते हैं, पर धन वैभव, ड्राइंग रूम और मोटर का क्या होगा[2]।

आज का लेखक स्त्री पुरुष के सम्बन्ध को शाश्वत नैसर्गिक और स्वाभाविक न मान कर, उसे आर्थिक व्यवस्था और परिस्थितियों की पीठिका में ही देखता और प्रस्तुत करता है—

'यदि यह लड़की अत्यन्त कष्ट में न होती और धन सिंह की सहायता इसकी असहाय अवस्था में एकमात्र अवलम्बन न होती, तो क्या यह उससे प्रेम करती ? धनसिंह इसके जीवन का भौतिक अवलम्ब हैं।'

(यशपाल : मनुष्य के रूप, पृष्ठ ६७)

आर्थिक संघर्ष के इस युग के साहित्यकार रूप और रोटी को अलग-अलग देख पाने में असमर्थ है। नारी का स्नेह और सौन्दर्य अर्थाभाव में शून्य एवं निस्सार स्थिति की सृष्टि करता है—

'तू सुधा का स्रोत सखि ! पर आज तेरा चांद मुखड़ा
ललचता है देख रोटी का घिनौना एक टुकड़ा।'

(केसरी : भिखारिन, विशाल भारत, ३६, पृष्ठ ५४७)

उपर्युक्त आर्थिक आदर्श के साथ-साथ यौन सम्बन्धी आदर्शों में भी आमूल परिवर्तन हुआ है। अभिजातीय शिक्षित वर्ग की प्रबुद्ध नारी इससे अधिक प्रभावित दिखाई पड़ती है। अब पुरुष के साथ यौन-सम्बन्ध में उतना अनौचित्य नहीं समझा गया, जितना पिछले युगों में समझा जाता था। पिछले युगों की यह मान्यता कि सारा धर्म संस्कृति, सम्मान और पवित्रता नारी के 'सैक्स' में स्थित है, अब परिवर्तित होकर मानव स्वभाव की एक सामान्य, शाश्वत इच्छा के रूप में प्रकट हुई। जैनेन्द्र की सुखदा[3], अज्ञेय की रेखा[4], यशपाल की उत्तमी[5] तथा भगवती चरण वर्मा की शशिकला[6] सभी न्यूनाधिक रूप से एक से अधिक पुरुषों से सम्बन्धित हैं। फिर

१—मार्कण्डेय : पान-फूल—'कहानी के लिए नारी पात्र चाहिए,' पृष्ठ १३४।
२—मार्कण्डेय : लक्ष्मी के विचार, पृष्ठ १४१।
३—'सुखदा' (उपन्यास) में सुखदा का चरित्र।
४—'नदी के द्वीप' (उपन्यास) की नायिका।
५—उत्तमी की मां (कहानी) की पात्रा।
६—प्रेजेन्ट्स (कहानी) की नायिका।

भी लेखक की दृष्टि में उनमें से कोई भी—दुराचारिणी नहीं हैं। किन्तु इतना आगे बढ़ते हुए भी भारतीय संस्कृति की रक्षा की गई है। नारी को अपने इस कर्म पर कभी भी गर्व नहीं होता। उसकी यौन सम्बन्धी कुंठाएँ एक अजीब सी परिस्थिति में फंस कर, अन्तर्संघर्ष करती हुई जैसे थक कर टूट जाती हैं। धर्म वीर भारती की सुधी[1] की विवशता, उसके आंसू और बारम्बार चन्दर के चरणों का चुम्बन, उसकी कुंठाओं के आवेग और घुटन के मध्य उसकी पराजय ही लक्षित करते हैं[2]।

सुधार-भावना

नव्य-काल तक आते-आते महिला वर्ग में शिक्षा का प्रचुर प्रचार हो चुका है। नागरी जीवन में बाल-विवाह भी पहले की अपेक्षा कम हो गए हैं। विधवा-विवाह एवं अंतर्जातीय विवाह भी होने लगे हैं। परन्तु फिर भी रूढ़ियों के प्रति मोह पूर्णतया नष्ट नहीं हुआ है। नारी द्वारा रूढ़ियों के विनाश का प्रयत्न सामाजिक स्थिति में अब भी व्यवधान उत्पन्न करता है। उसका इस प्रकार प्रगति के पथ पर अग्रसर होना परम्पराओं के दास समाज को चौंका देता है।

'इस अपने देश में कोई भी स्त्री यदि अंधविश्वासों और बेहूदी रूढ़ियों को छोड़ कर आगे बढ़ेगी, तो लोग उस पर संदेह करेंगे। हम लोगों का नैतिक जीवन बहुत नीचे पहुँच गया है।' (लक्ष्मीनारायण मिश्र : मुक्ति का रहस्य, पृष्ठ ६६)

इस काल में अप्रत्यक्ष रूप से सुधार योजनाओं के लिए विचार-क्षेत्र प्रदान किया गया है। उपेन्द्रनाथ अश्क ने 'अलग-अलग रास्ते' में ताराचन्द के रूप में उस कट्टरपन्थी पुरुष-वर्ग को उपस्थित किया है जो अब भी नारी को शिक्षित करने में विश्वास नहीं करता। मदन और राज अनमेल विवाह के अभिशापों को जीवन भर ढोते फिरते हैं। दोनों की भावनाओं में कोई सामंजस्य नहीं हो पाता।

विधवा को भले ही पुनर्विवाह की स्वीकृति मिल गई हो लेकिन सम्मानित जीवन की स्थिति तो कोसों दूर है। समाज द्वारा अपमान और प्रताड़ना के बीच, वह उसके व्यवहार के लिए उसे सचेत करती है—

'मुझ को क्या ? दिन काट चलूंगी ओ मेरे निष्ठुर समाज,
किन्तु किसी दिन टूट पड़ेगी तेर सिर पर प्रलय गाज।'
(राम दुलारे शुक्ल : विधवा की आह, चांद १९४१, पृष्ठ १८)

पुनर्विवाह को आज साहित्यकार नारी का सम्मान कहता है—

'यह नारी का सम्मान हुआ, मत कहो इसे विधवा विवाह।'
(गोवर्धनदास त्रिपाठी : विधवा-विवाह के प्रति, चांद १९४१ पृष्ठ १००)

१—'गुनाहों के देवता' की नायिका।

२—(अर्थ-संघर्ष और अन्तर्संघर्ष की इस भावना को 'विभिन्न वर्गों में नारी' शीर्षक के अन्तर्गत अधिक विस्तार से देखा गया है।)

बाधित वैधव्य की प्रतिष्ठा करने वाले पुरातन पन्थी वर्ग पर वह व्यंग्य करने से भी नहीं चूकता—

'......स्त्री और चीज है, उसको यह स्वतन्त्रता मिल ही कैसे सकती है, क्योंकि उसका जीवन दो कौड़ी का होता है। पुरुष उसको खरीद जो लेता है। एक पति का सुख प्राप्त कर लेने के बाद वह दाम्पत्य सुख को पुनः प्राप्त करने की अधिकारिणी रह ही कहाँ जाती है। ऐसा होने पर वह दूषित न हो जाएगी ?'

(भगवती प्रसाद वाजपेयी : दो बहनें, पृष्ठ २५)

वेश्याओं की स्थिति आज भी दयनीय है लेकिन उन्हें इस स्थिति में पहुँचाने का श्रेय पुरुष को ही है।

(अ) 'नर काम-काँटों से घिरी
नर पशु पिपासा से सिरी
ये रूप की फुलवारियाँ
ये नारियाँ, ये नारियाँ ॥

(कन्हैयालाल दीक्षित : वेश्याएँ, माधुरी १६४०, पृष्ठ ३१८)

(ब) 'इस व्यवसाय की जिम्मेदारी हम पर नहीं, तुम्हारे समाज पर है। समाज और धर्म के उन ठेकेदारों पर है, जो पुरुष के पाप पर तो उंगली तक नहीं उठाने पर नारी की छोटी भी भूल को क्षमा नहीं कर सकते।'

(विनोद रस्तोगी : रुपया, रूप और रोटी, पृष्ठ १६१, निर्मला का कथन)

वेश्या जीवन की इस विषमता को कवि ने असीम करुणा के भाव से देखा है—

'एक ही दिन में जहाँ रूप की अपरूप कली
ब्याह भी करती है, और बेवा भी हो जाती है।'

(नीरज, : नीरज की पाती, (४) पृष्ठ १०)

जन संख्या की उत्तरोत्तर वृद्धि से चिन्तित होकर इस काल में गर्भ निवारण एवं परिवार नियोजन का भी समर्थन किया गया है—

'गर्भ निवारण प्राकृतिक आवश्यकता है। प्रकृति में यह काम दूसरे तरीके से चलता है। साँपिनी एक हजार अण्डे देती है। परन्तु फिर एक हजार बच्चे निकलते हैं तो स्वयं ही उन्हें पूछ से घेर, खाने लगती है...यही हाल मछलियों और दूसरे जीवों का है...गर्भ निवारण भी, मनुष्यों को उचित संख्या में रख कर, उनके जीवन को सुखी बनाने का उपाय है।' (यशपाल : दादा कामरेड, पृष्ठ १३१)

इस प्रकार से सुधार भावनाओं को अभिव्यक्ति प्रदान करके उन्हें समाज में संस्थापित करने की चेष्टा (भले ही उसका स्वरूप-परिवर्तन हो गया हो) की गई।

परन्तु इस काल के भारतीय जीवन में राष्ट्रीय भावनाओं और राजनैतिक विचारों का ही अधिक प्रावल्य रहा है। अतः समाज सुधार की भावना कुछ मध्यम सी दिखाई पड़ती है। दूसरे, अब पहिले की अपेक्षा नारी की सामाजिक स्थिति में, चाहे वह सिद्धान्त रूप में ही क्यों न हो, काफी विकास हो गया था। अतः सुधारों के प्रत्यक्ष प्रचार के लिए प्रत्यक्ष रूप से अपेक्षाकृत कम कहा गया।

विभिन्न रूपों में नारी

नव्य-काल में नारी भावना को जिन विभिन्न रूपों के अन्तर्गत अभिव्यक्ति मिली उनमें उनके सत् स्वरूप का माधुर्यपूर्ण, प्रेरक एवं शक्ति रूप तथा असत् स्वरूप के अन्तर्गत मोहमयी, असंयमी तथा वासना-जन्य-भावना ही अधिक अभिव्यक्त हो पाई है। साथ ही कवि-जीवन की पूर्व—युगीन असफलता की पीड़ा ने उसके सौन्दर्य में जहाँ अपने को भूलने की चेष्टा की है वहाँ वह केवल पुरुष की वासना का क्रीड़ा-क्षेत्र बन जाती है, और उपभोग्य के स्तर से अधिक ऊँची नहीं उठ पाती। इस काल में इन्हीं तीन विशिष्ठ धाराओं में नारी भावना को स्वरूप प्रदान किया गया है।

नारी में छायावादी भाव धारा से अनुप्राणित अनुभूतियों में कवि किरण के नूपुरों सी मधुरता देखता है।

तुम तो दिया की जोत सी
तुम तो झमकते झूमरों सी
अप्सरा के रूप सी
तुम तो किरण के नूपुरों सी

(अंचल : लाल चूनर, पृष्ठ २३)

विषमता के विक्षुब्ध वातावरण में वह जननी और देवी के स्वरूप में सौख्य और अपनत्व का महिमा-मण्डन करती है[1]। उसके सत् रूप से प्रभावित मन की भावनाएँ उसके चरणों की दिव्य गंगाधार में मज्जित हो जाना चाहती है—

मुड़ चली हैं चरण वन्दन में, हृदय की साधनाएँ

o o o

शरण दो अपने चरण की, दिव्य गंगाधार में प्रिय[2]

१—सोहन लाल द्विवेदी : चित्रा, पृष्ठ १०-११, (ग्राम-वधू)।

२—वही, पृष्ठ २५, (आगमन)।

मधुरता के इस वन्दनीय रूप सौन्दर्य में कवि निर्मल तेज का भी वर्णन करता है—

'प्राण, यह नव रूप,
पावक सा अखण्ड, सतेज यह निर्मल तुम्हारा रूप
नमित मैं—
जैसे कि मेरे शीश पर छाई प्रकाशित पलों में
नभ की सलोनी धूप ।'

(भारत भूषण अग्रवाल : ओ अप्रस्तुत मन, पृष्ठ ५)

उसके मन की पवित्रता 'गंगा की मुक्त धारा से कम नहीं है'[1]।' उसमें एक निष्ठा[2] है जो उसके उज्ज्वल पथ को और भी उज्ज्वल बना देती है। वह वस्तु-वादिता के इस नैतिक क्षेत्र से दूर प्रेम और दया की देवी है—

'वस्तु वादिता की दुनिया क्या मूल्य तुम्हारा आंक सकेगी ।
तुम हो प्रेम दया की देवी ! तुम न बाधा आंक सकोगी ।'

(चन्द्रप्रकाश वर्मा : सैनिक का पत्र, सरस्वती १९४०, पृष्ठ ५०१)

इस देवत्व भाव के साथ-साथ वह पुरुष के जीवन में 'पावन अर्चना के लिये अलौकिक जाज्वल्यमान आरती थाल'[3] की रश्मि-मालाओं को साथ लिये आती है, जिनमें उसके समर्पण की भावना केन्द्रीभूत हो गई है। पुरुष के अंधियाले जीवन के लिये वह प्रेरणा का स्रोत भी है।

'रात के कज्जल तिमिर में झिलमिलाती
प्रातः की कंचन किरन सी कौन तुम हो ?'

(नीरज : प्राण-गीत पृष्ठ २५)

इसी प्रेरणा के रूप में कवि उसको देखना और सम्मान देना चाहता है—

'अंधियारा जिससे शरमाए,
उजियारा जिसको ललचाए,
ऐसा दे दो दर्द मुझे तुम
मेरा गीत दिया बन जाये ।

(नीरज : दर्द दिया है, पृष्ठ ४)

१—मार्कण्डेय : पान-फूल (क० स०) की 'वासवी की माँ' में सीता का कथन, पृष्ठ २४।
२—वही, पृष्ठ ३२।
३—भगवती प्रसाद वाजपेयी : दो बहनें (उपन्यास) में आशा का चरित्र।

नारी की पवित्रता और उसका माधुर्य' प्रातः का तीर्थ और अंधेरे देश में पूनम का दर्पन[1] बन जाता है जहाँ से वह सौंदर्य के साथ-साथ प्रेरणा का दान भी करने लगती है। उसकी मृदुलता में शक्ति का सशक्त स्रोत भी प्रभावित होता है—

'तुम मंजुल होकर जग में, ले शक्ति अनोखी आई
बन कर दुर्गा काली सी, तूने है छटा दिखाई[2]।'

उसमें जीवन की विषम परिस्थितियों में आपत्तियों से डटकर सामना करने की सामर्थ है[3]। नारी के इस शक्ति रूप का विकास 'पार्वती' में भली भाँति हुआ है जहाँ आरम्भ से अन्त तक नारी शक्ति-स्वरूपा दुर्गा के रूप में ही वंदित की गई है। 'उसकी शक्ति को शिव के शीश पर सदा आसीन माना गया है। इतना ही नहीं, बिना शक्ति के 'शिव' रक्षा में स्वयं शिव भी असमर्थ है। वह मानव संस्कृति की निकप, निर्मला तथा मंगल माता के साथ-साथ संस्कृति की शोभा-शक्ति भी है।' इस प्रकार इस सांस्कृतिक महाकाव्य में—

'युग-युग की आतंकित और लांछित नारी
महिमा मंडित हुई, प्राप्त कर गरिमा सारी[4]।'

नारी में वह असीम शक्ति एवं आस्था विद्यमान है जिसके बल पर वह पुरुष को पतन के पाताल से ऊपर उठा लेने की सामर्थ रखती है—

'मैं उन्हें पतन के पाताल से ऊपर उठा लाऊँगी। उन्हें संसार का पुण्य और पाप दोनों देखने दो। आग में जल कर उनके खोट समाप्त हो जाने दो।'

(हरिकृष्ण प्रेमी : 'छाया' में 'छाया का कथन, पृष्ठ ६०)

इस काल में नारी के इस महान् स्वरूप की उद्भावना के साथ-साथ असत् अकल्याणकारी रूप को भी कहीं-कहीं व्यंजित किया गया है। नारी में यदि सत् वृतियों का असीमित भण्डार है तो नारकीय वासनाओं की स्थिति भी कम नहीं है।

'यदि कहीं नरक है इस भू पर, तो वह भी नारी के अन्दर,
वासना वर्त में डाल प्रखर
वह अंध गर्त में चिर दुस्तार
नर को ढकेल देती सत्वर।' (पन्त : ग्राम्या, पृष्ठ ८२)

१—नीरज : 'दर्द दिया है', गीत क्रमांक ३, पृष्ठ ७।
२—गोवर्द्धन दास त्रिपाठी : 'नारी' चांद १९४१, पृष्ठ २३१।
३—वृन्दावन लाल वर्मा : देखिए 'मृगनयनी' में निन्नी का चरित्र।
४—डा० रामानन्द तिवारी (पार्वती) महाकाव्य)।

वह वास्तव में पुरुष की दुर्बलता है। एक तत्त्व-हीन मृगतृष्णा है—

'बहुत लिख चुका कामिनी के कटाक्ष सैनों पर
बहुत चुका हूँ रीझ किसी के मृग सम नैनों पर
पर इस मृग तृष्णा में कुछ भी तत्त्व नहीं मिल पाया
बहुत उड़ चुका, कोमल कल्पित कल्पना के डैनों पर।'

(सुरेन्द्र मोहन मिश्र : कवि जो युग का निर्माता है, सरस्वती १९५८, पृष्ठ ३२८)

इतना ही नहीं वह उसे स्थूल प्रणय की खिलाड़िन के रूप में देखना भी नहीं भूलता—

'किन्तु नारी, सिर्फ नारी
हो, तुम्हें मैं जानता हूँ,
तुम प्रणय की हो खिलाड़िन
मैं तुम्हें पहचानता हूँ।'

(अंचल : लाल चूनर, पृष्ठ २४)

वह प्रणय के इस खेल में इतनी भावुक और मांसल सुख में इतनी रुचिवान् है कि उसकी प्रकृति उस जालिम सी भी हो जाती है कि जो पुरुष के सामीप्य की आंच पाते ही पिघलने से नहीं बचाई जा सकती'[1]। बर्नार्ड शा ने नारी की उस मकड़ी से तुलना की है जो प्रारम्भिक अवस्था में अपने खाद्य (मक्खी) की प्रतीक्षा करती है किन्तु एक बार पकड़ में आ जाने पर यदि मक्खी भागने का प्रयत्न करती है तो अपनी निष्क्रियता को त्याग कर उसे जाले में लपेट कर अपहृत कर देती है[2]। इसी भावना से अनुप्राणित साहित्यकार ने नारी को एक खूबसूरत बिल्ली माना है— 'एक खूबसूरत बिल्ली जो आदमी को चूहे की तरह पकड़ लेती है। दुनियां को देखो शंकर देव।'[3]

परन्तु इतना होते हुए भी साहित्यकार ने नारी भावना के असत् रूप को उभाड़ कर ही नहीं छोड़ दिया है। सांस्कृतिक आदर्शों की भी उसे रक्षा करनी है। अतः नारी के असत् रूप का पर्यवसान सद्रूप में हुआ है और वह भारतीय नारी की स्वाभाविक महानता है। वैसे नारी अपने उत्थान और पतन दोनों की पराकाष्ठा का स्पर्श करती है, जब वह ऊँची उठती है तो बहुत ऊँची, कि सारा विश्व उससे बहुत नीचे रह जाता है, और जब गिरती है, तो बहुत नीचे, इतना कि कोई थाह भी न ले सके—

१—यशपाल : 'उतमी की माँ', में उतमी का प्रारम्भिक चरित्र।
२—बर्नार्ड शा—प्रिफेसिज़, ३, पृष्ठ १५६।
३—हरिकृष्ण प्रेमी : छाया (नाटक) में रजनी कान्त का कथन, पृष्ठ ४३।

'गिरी, तो आ गिरी पाताल के अंधेरों में
उठी तो छोर सितारों के छू लिये तूने।'

(अश्क : कैद और उड़ान के आरम्भ में)

छायावादी जीवन की अतृप्त अभिलाषाओं ने जिस निराशा और ललक की उद्भावना की, उसमें कवि की अनुभूतियां प्रेयसी के स्थूल सौन्दर्य में ही सब कुछ प्राप्त करने की आशा लेकर केन्द्रित हो गईं। पलायनवादी भावना नव्य-काल में नरेन्द्र, अंचल, बच्चन और आरसी प्रसाद सिंह के काव्य में तेजी के साथ मुखर हुई हैं। अपनी अतृप्त वासनाओं का पूर्ति-क्षेत्र रमणी को मान, जैसे उसे पा लेने, समेट लेने और उसमें खो जाने की चाह बलवती होकर इनके काव्य में मुखरित हुई तो नारी का एक दूसरा रूप—रीतिकाल जैसा स्थूल रूप—प्रकारान्तर से फिर काव्य रचना का विषय बना। परन्तु नव्य-काल की स्थूलता को रीति-कालीन स्थूलता से माधुर्य एवं सम्मान भाव को लेकर पृथक किया जा सकता है। इस काल के कवि में अपनी प्रेयसी के प्रति पूर्ण सम्मान भावना, उसके प्रति समर्पित हो जाने की भावना विद्यमान है, जब कि रीति-कालीन में जैसे नायिका का जन्म ही प्रणय का खेल खेलने के लिये हुआ है। वह स्वयं आत्म-समर्पिता है। नायक की भोग्या है। नायक उस पर कभी समर्पित नहीं होता।

कवि चांदनी की निर्मल शून्यता के वातावरण में अपनी प्रेयसी की स्मृति करता हुआ खिली हुई निशा का जैसे कोई अर्थ ही नहीं मानता। चांद उसका उपहास करता हुआ उसकी वेदना को उभार देता है—

'आज ऐसी चांदनी में, प्राण यदि तुम साथ होतीं
जड़ धरा पर शशि कलाएँ, खिल सहज साकार होतीं।
आह, होती साथ यदि तुम, चांद यों सर पर न चढ़ता
शून्य की सोलहों कलाएँ, दासियां बन पास होतीं।'

(नरेन्द्र : चांदनी में, सरस्वती १९३८, पृष्ठ १९३)

वह नारी के उभार पाकर विकसते हुए रूप को असमर्थ आसक्ति ने देखता जान पड़ता है—

'षोडषी तुम हो गई अब पूर्ण हे सुकुमारि।
हो चला परिपूर्ण जीवन-वाहिनी का वारि
उमड़ श्रावण की नदी सा निकल, बह, निर्बन्ध
सखि ! तुम्हारे विकल यौवन का समागम अन्ध
लालसा रस से मदालस आज भूतल नारि।'

(आरसी प्रसाद सिंह : षोडषी, माधुरी १९३६ पृष्ठ ७०५)

रूप के इस अल्हड़पन को अपनी बाहुओं में समेट लेने की आकांक्षा भी इस निराश, आसक्तिपूर्ण, कुण्ठित कवि में कम नहीं है—

'तुम दुबली पतली, दीपक की लौ सी सुन्दर
मैं अन्धकार
मैं दुर्निवार
मैं तुम्हें समेटे हूँ सौ-सौ बाहों में, मेरी ज्योति प्रखर।'

(नरेन्द्र : रूप शिखा, सरस्वती १९३९, पृष्ठ ५०५)

रूप की इस आसक्ति के साथ-साथ अनुकूल शान्त वातावरण उसकी इस वासना को उभार देता है और निशि के शान्त प्रहरों में जैसे नारी ही उसकी मात्र भोग्य वस्तु बन जाती है—

'आई प्रिये रात
अब तो तजो मान
बहती मलय वात
पहले बुलाया निकट, अब किया दूर
कोमल हृदय पर अदय यह पदाघात
आई प्रिये रात।'

(नर्मदानन्द वर्मा : आई प्रिये रात, सरस्वती १९४०, पृष्ठ १२३)

या,

भय न कर मुझ से, तनिक तू और आजा पास मेरे
तू झिझकती जा रही है
दूर हटती आ रही है
आग सी जो लपलपाती
तू दहकती जा रही है
आज आया चाहता, क्या बाग में मधुमास मेरे।'

(आरसी प्रसाद सिंह : सम्बोधन, सरस्वती १९४५, पृष्ठ ४०)

और उन्माद के प्रहरों में वह सौन्दर्य के उपभोग मात्र को पाप मानने के लिये तैयार नहीं है— (धर्मवीर भारती : गुनाह का गीत)

रूप की यह ललक और प्रणयाकांक्षा अतीत की स्मृतियों के संग्रहीकरण का उपकरण बनती है—

'आज पिपासा के तारों पर छेड़ रही तृष्णा के गीत
आज निराशा की मीड़ों पर जाग उठे बरबाद अतीत
अपनी बेसुध मादकता में कह दे सब जी की बातें
फिर से घूम उठें आँखों में सपने बन रीती रातें।'

(अंचल : वर्षान्त के बादल, पृष्ठ २७)

विदा के क्षणों की भी रूपासक्ति उसमें ललक का उत्तेजन भरती है। संगीत की लहरी में वह विदा का दुख भूल जाना चाहता है।

'आज विदा की बेला में, जी भर आंखों को भाए जा
कौन कहेगा बार-बार, तू गाती चल, गाए जा (वही पृष्ठ २८)

अंचल की ही भाँति बच्चन के कवि में भी निराशा, पलायनवाद और आसक्ति के विभिन्न चित्र देखने को मिलते हैं। देह के स्पर्श सुख पर उसकी लालायित दृष्टि जैसे टिकी रह कर सहन-शक्ति से शून्य हो गई है। और हार कर उसे अपने मन की वासना को प्रकट करना ही पड़ता है—

'पास आओ, चन्द्रमां के होठ चूंमूं
कुंतलों के बादलों के साथ घूंमू
आज तुम पाताल को आकाश कर दो।'
(मिलन यामिनी, पृष्ठ २८)

अथवा,

अब तुम्हें डर लाज किस से लग रही है।
आंख केवल प्यार की अब जग रही है
मैं मनाना जानता हूँ मान कर लो।'
(मिलन यामिनी, पृष्ठ ३३)

उसके लिए समर्पण का क्षण ही जैसे चरम सुखानुभूति का क्षण है, वहाँ सभी कुछ है—

...तृप्ति क्या होगी अधर के रसकणों से
खींच लो तुम प्राण ही इन चुम्बनों से
प्यार के क्षण में मरण भी तो मधुर है (वही, पृष्ठ ४३)

उपर्युक्त रोमान्सवादी भावना, वास्तव में कवि के दैन्य, उसकी कारुणिक अवस्था एवं उसके अभाव ग्रस्त जीवन का ही रहस्योद्घाटन करती है। उसकी उच्छृंखलता में भी एक निरीह भावना विद्यमान है। उसके अपने आपको भूलने के प्रयत्न में भी अपनी स्थिति के प्रति एक भीत चेतना उपस्थित है, जिसको वह यौवन, सौंदर्य एवं वासना के झीने आंचलों में छिपा सकने में असमर्थ है। वह नारी को ठोस स्थूल शृंगार की भाव-भूमि पर उतार लाया है, लेकिन वहाँ भी वह उसकी मनुहार करना, प्रणय के लिये उसकी सम्मति प्राप्त करना एवं उसे सम्मान देना नहीं भूलता। यही कवि की दयनीयता और भौतिक मांसल भाव-भूमि पर भी नारी भावना की महत्ता का—प्रतिष्ठा का—पुष्ट प्रमाण है और इसी के आलोक में नव्य-काल की प्रेयसी को रीति-कालीन नायिका से पृथक भी किया जा सकता है।

प्रतीकात्मक नारी-भावना

नव्य-काल की प्रतीकात्मक नारी-भावना सामान्य रूप से गत युग की अवशिष्ट पूंजी ही है। प्रतीकों के माध्यम से अभावग्रस्त एवं वासना कुंठित कवि ने अपनी शृंगार भावना को ही अधिक प्रकट किया है—

'गूंथी है जुगनुओं से मोरपंखी किशमिशी चोली
दिए गुलनार माथे पर शफ़क़ की रेशमी रोली।'

(अंचल : वर्षान्त के बादल, पृष्ठ ६)

अथवा,

'सृष्टि के प्रारम्भ में मैंने
उषा के गाल चूमे।' (बच्चन : सतरंगिनी)

उसकी वासना का उद्रेक इतना प्रबल है कि वह कालिदास की कला के लिये भी कुमारी बालिका के आलिंगन का रूपक प्रस्तुत करता है—

'किसी कुमारी के आलिंगन सी कवि कला तुम्हारी
कर देती संचार तड़िता का ओ' सुरलोक विहारी।'

(वर्षान्त के बादल, पृष्ठ ४४)

अपनी शृंगारमयता को मुखरित करने के साथ-साथ कवि ने प्रतीकों के माध्यम से नारी का सत्-रूप भी देखा है। पंत की 'भारतमाता' का रूप द्रष्टव्य है—

'भारत माता,
ग्राम वासिनी।
चिंतित, भृकुटी, क्षितिज तिमिरांकित
नमित नयन नभ, वाष्पाच्छादित्
आनन श्री छाया शशि उपमित
ज्ञान मूढ़
गीता प्रकाशिनी।'

नव्य-काल का साहित्य यथार्थ के बहुत निकट है, अतः छायावादी प्रवृतियों को इस युग में अधिक प्रोत्साहन प्राप्त नहीं हो सका। इस काल में तिरोहित होती हुई प्रतीकात्मक नारी-भावना भी छायावाद की ही देन थी, यह हम पिछले अध्याय में देख आए हैं।

विभिन्न सम्बन्धों में नारी

विभिन्न सम्बन्धों के अन्तर्गत नारी-भावना प्रेयसी, पत्नी और माता के रूपमें अभिव्यक्त हुई है। नव्य-काल में प्रेयसी के दो स्वरूप मिलते हैं। एक तो भाव जगत का,

जिसकी कल्पना कवियों द्वारा हुई है और दूसरा समाजगत, जिसे उपन्यासों और कहानियों में चित्रित किया गया है। कुंठाओं का मारा कवि प्रेयसी को अपरिहार्य प्रेम का आलम्बन बनाता है[1]। प्रेयसी वह आकर्षण है कि उसके धागे में बंधा हुआ कवि उसके पास आसक्ति की पूर्णता का स्वप्न संजोये चला आता है—

'खींचती तुम कौन ऐसे बन्धनों से
जो कि रुक सकता नहीं मैं।'

(बच्चन : मिलन यामिनी)

वह गीत की मधुरता को लिए उस पर समर्पित हो जाना चाहता है—

'एक यही अरमान गीत बन, प्रिय, तुम को अर्पित हो जाऊं।'

(मिलन यामिनी, प्रथम भाग, गीत क्रमांक ६)

भाव जगत में ही नारी का एक दूसरा प्रेयसी रूप भी है, जहाँ वह प्रिय की प्राप्ति के लिये कठोर साधना कर सकती है। उसकी सुकोमल अवयवता में अपरिमित शक्ति निहित है। साधना शक्तिमयी का यह रूप 'पार्वती' में उज्ज्वलतम आभा को लिये आता है—

'ग्रीष्म में प्रज्वलित करके अग्नि ज्वाला धार
बैठ उनके मध्य, मुख पर अनमिल स्थित धार
विजित कर आदित्य की उज्जवल प्रभा उद्दाम
देखती अग्निमेष दृग से सूर्य को अविराम।'

समाजगत परिस्थितियों में प्रेयसी का जो रूप मुखरित हुआ है उसका सम्बन्ध विशेष रूप से अभिजातीय वर्ग की सुशिक्षित प्रबुद्ध मस्तिष्क महिलाओं से है जो सहचरी है, अनुचरी नहीं ; जिस पर पाश्चात्य प्रभाव पूर्णतया लक्षित है, जिसका स्नेह आर्थिक भाव-भूमि पर अंकुरित, पल्लवित एवं प्रफुल्लित होता है तथा जिसके लिये प्रिय की अपेक्षा धन ही अधिक महत्वपूर्ण है[2]। और इसीलिये उसके लिये यौन-सम्बन्धी पवित्रता अधिक महत्व नहीं रखती।

पत्नीत्व का आदर्श इस काल में भी उच्च रहा है। वह मनुष्य की शारीरिक क्षुधा पूर्ति का ही साधन नहीं, वरन् उससे अधिक ऊँची उठी हुई है—

'वेश्या देती है अपने आप को, और पाती है द्रव्य। पर पराश्रित कुलवधू अपने समर्पण के मूल्य पर दूसरे पुरुष को पाती है, किसी दूसरे पर भी अधिकार

१—देखिए, मिलन यामिनी (बच्चन) के मध्य भाग के गीत क्रमांक, ७, १०, १४, १६, २४, २५, और ३०।

२—देखिए (अ) अपने खिलौने, (भ० च० वर्मा) की सीमा।
(ब) मनुष्य के रूप (यशपाल) की मनोरमा।

पाती है। वेश्या का जीवन मोटी बत्ती और गाढ़ मिले तेल से पूर्ण दीपक की, प्रतिकूल परिस्थितियों में, फुलझड़ी की भाँति, क्षणिक तीव्र प्रकाश कर शीघ्र ही समाप्त हो जाता है, कुलवधू का जीवन मध्यम प्रकाश से टिमटिमाते दीपक की भाँति है।

(यशपाल : दिव्या, पृष्ठ १४०)

पति के लिये पत्नी अपना सर्वस्व न्योछावर कर देने की क्षमता रखती है[1]। उसकी एक निष्ठा के सम्मुख समस्त सृष्टि का शिर नत है। पति के लिये वह अपने अभिभावकों को छोड़ने का दुःख भी बाहर से रो कर ही प्रकट करती है, परन्तु अन्तर्मन में वह प्रसन्न हो रही होती है। पन्त के ग्राम्य में वधू बनती हुई इस बालिका का चित्र देखिए—

'भीग रहा मीठे उमंग से
दिल का कोना-कोना
भीतर-भीतर हंसी देख लो
बाहर-बाहर रोना।'

परन्तु नारी का मातृ स्वरूप सर्वोत्कृष्ट है। उसके हृदय में ममता का वह अगाध समुद्र आलोड़ित है, जो शैल शिलाओं को भी विगलित कर देता है, उनमें जीवन डाल देता है—

'मां ने बढ़ कर जैसे ही कण्ठ लगाया
हो उठी कंटकित पुलक कर्ण की काया
संजीवन सी छू गई बीच कुछ तन में
बह चला स्निग्ध प्रस्रवण कहीं से मन में।'

(दिनकर : रश्मिरथी, पृष्ठ ६७)

स्नेह से सिक्त पूत धारा सदैव ही उसके आंचल से बहती रहती है—

'भीगा-सा उसका अन्तस्तल
पग उसके कुछ चंचल-चंचल
आंखों में कोमल स्नेह, ज्योति, चेहरे पर मृदु उल्लास विमल
वह नारी है, वह मां है,

(विशाल भारत : १९४५, पृष्ठ २०६)

१—(अ) यशपाल : उत्तमी की माँ (क० सं०) में 'करवा का व्रत' की लाजो।
(ब) अश्क : 'पापी' (एकांकी) में छाया।
(स) अमृता प्रीतम : 'पिंजर' (उपन्यास) की पूरो।

माँ की ममता और स्नेह से ऊपर उसकी त्याग भावना है। माँ बनने से पूर्व उसे अपने सजाव शृंगार की चिन्ता रहती है परन्तु पुत्रमयी होने पर वह उसकी 'कमीज और सलवार' की ही चिन्ता करती है, अपने शृंगार के उपकरणों की नहीं"। पुत्र वत्सला का समस्त शृंगार, धन ऐश्वर्य केवल उसकी कोख का लाल ही रह जाता है। जिस पर वह अपना सर्वस्व न्योछावर करके जैसे सब कुछ पाती चलती है।

पूर्वयुगीन असहाय कन्या को इस काल में जैसे एक क्षीणकाय विरोध करने का अवसर मिला है। अपने अभिभावकों से वह अपने विवाह करने विषयक निर्णय पर प्रश्न करती है—

'मेरा ही विवाह होने वाला है इतना ज्ञात मुझे
किन्तु नहीं कुछ कहने का है स्वत्व कहो क्यों तात मुझे
झेल सकूँगी मैं यह पीड़ामय जीवन अब अधिक नहीं।
लेने को ये प्राण तुम्हें क्या मिला न कोई वधिक नहीं।'

(बलभद्र प्रसाद गुप्त : वृद्ध-विवाह, चांद १६४१, पृष्ठ ३७४)

शिक्षा के विकास ने निश्चय ही कन्या रूप का विकास किया है। आज वह उतनी निरीह, निःसहाय और अशक्त नहीं है, जितनी विकास-काल तक हम देख आए हैं। आज के प्रबुद्ध युग में उसे भी अपनी स्थिति का ज्ञान हो चला है और वह अब दूसरों के निर्णय को मूक पशु की भाँति मानने को तैयार नहीं है।

विभिन्न वर्गों में नारी

नव्य-काल में विभिन्न वर्गों के अन्तर्गत नारी-भावना का अध्ययन करने में एक विशेष प्रकार की कठिनाई होती है और वह है विभिन्न वर्गों की नारी को पृथक्-पृथक उपवर्गों में विभाजित करने की समस्या। बौद्धिक जागृति के इस काल में जब नारी ने शिक्षित होकर अपने 'स्व' की प्रतिष्ठा करनी चाही, और जब वह इस दिशा में अग्रसर हुई तो, कुछ दूर आगे बढ़कर उसे जैसे शंका हुई कि उसके द्वारा गृहीत पथ कहीं गलत तो नहीं है। उसके मस्तिष्क में परस्पर विरोधी विचारों में संघर्ष हुआ है। उस में वह जितनी अधिक गहरी पैठती गई, उसे लगा कि वह उतनी ही अधिक उलझती जा रही है। उलझन विशेषतया कुलीन और मध्य-वर्गीय महिलाओं को लेकर ही है। निम्न वर्ग की महिलाएँ क्योंकि अशिक्षिता है, अतः वे इस संघर्षमय भावना से स्वतन्त्र है, इस अन्तर्संघर्ष की भावना के मूल कारण हैं, पुरुष के समान सामाजिक जीवन एवं प्रतिष्ठा प्राप्त करने की लालसा, आत्म-निर्भर जीवन के आदर्श का स्वप्न और यौन-सम्बन्धी परवशता। कुलीन-वर्ग की नारी इन भावनाओं से अधिक प्रभावित और इसीलिए अधिक पीड़ित है।

१—उपेन्द्र नाथ अश्क : 'काले साहब' में संग्रहीत 'बगूले' की नज्जो।

आधुनिक पाश्चात्य सिद्धान्तों पर आधारित शिक्षा ने भारतीय महिला-वर्ग को पाश्चात्य महिला-वर्ग की स्वतन्त्र वैयक्तिकता एवं आत्म-निर्भर जीवन व्यवस्था की दिशा में अधिक आकर्षित और प्रेरित किया है। इस भावना ने उसे अपने 'स्व' की प्रतिष्ठा के प्रति जागरूक किया है, और इसीलिए वह व्यक्ति की सम्पति बनने में विश्वास नहीं करती। एक स्त्री का एक आदमी से बंध जाना उसकी गुलामी ही है[1]। और गुलामी किसी भी दशा में श्रद्धेय या अनुकरणीय नहीं हो सकती। पुरुष यदि नारी के जीवन-विस्तार को अपने प्रेम और अधिकार की सीमित परिधि में बांध लेना चाहे तो आज की प्रबुद्ध नारी उसे स्वीकार नहीं करती, वह उसका विरोध करती है। क्योंकि उसे अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व की रक्षा करनी है। पुरुषों की संकुचित मनोवृत्ति पर आघात करती हुई वह कह सकती हैं—'पुरुषों को सहने का अभ्यस्त होना चाहिए कि स्त्रियां भी अपना व्यक्तित्व रखती है। जो कोई उन्हें देख लेगा या छू लेगा, वे उसी की नहीं हो जाएंगी। जरा घर से बाहर भी निकलो। जरा और तरफ ध्यान दो। फिर केवल पुरुष के संदेह पर ही प्राण दे देने की इच्छा न रहेगी।' (यशपाल : दादा कामरेड, शैल का कथन, पृष्ठ १२०)

यह शिक्षिता नारी पति-पत्नी के अलग-अलग अस्तित्व पर विश्वास करती है[2]। उसके लिये सबसे विशेष वह स्वयं है और उसके पश्चात् कुछ और। वह पुरुष के साथ-साथ चलने में विश्वास करती है। उसका बौद्धिक ज्ञान राष्ट्रीय एवं सामाजिक भावनाओं के विकास में भी उपयोगी होता है। दृष्टि-विस्तार के साथ-साथ उसका क्षेत्र भी विस्तीर्ण होता चलता है[3]।

अधिकार-भावनाओं के साथ-साथ सौन्दर्य प्रसाधन के लिए भी शिक्षित कुलीन-वर्गीय नारी पाश्चात्य महिला-वर्ग से ही प्रेरणा लेती है[4]। उसमें आत्म-प्रदर्शन की भावना भी विकसित होती है। एक बाह्य आडम्बर और प्रदर्शन-भाव उनकी प्रकृति में जैसे पाश्चात्य प्रबुद्धता के साथ-साथ प्रवेश कर जाता है[5]। झूठी प्रतिष्ठा की भूख उन्हें अकुलाए रखती है[6]। गृहणी के सम्मानित रूप को वे धीरे-धीरे विस्मृत कर रही हैं[7]। और कोरी शिक्षा का अहम् भाव जैसे उनके उस भारतीय मर्यादित स्वरूप पर धूल उड़ा रहा है, जो शताब्दियों से भारतीय संस्कृति की अमूल्य निधि रहा है।

१—यशपाल : 'दादा कामरेड' में देखिए शैल के विचार, पृष्ठ ३१, ३६, ४०।
२—उपेन्द्र नाथ अश्क : 'स्वर्ग की झलक' में उमा।
३—यशपाल : दादा कामरेड की शैल, साथ ही देखिए 'देशद्रोही' की राज।
४—भगवती चरण वर्मा : (अ) 'अपने खिलौने' की मीना।
(ब) मनुष्य के रूप (यशपाल) की मनोरमा।
५—अमृतराय : (कठघरे, क० स०) में सावनी समां, पृष्ठ ९२-१०३।
६—यशपाल : 'कम्बल दान' कहानी की मिसेज़ वलूरिया।
७—'स्वर्ग की झलक' की श्रीमती अशोक।

इस नवीन सामाजिक प्रतिष्ठा के अतिरिक्त इसी वर्ग की नारी का एक अन्य रूप भी है जो करुणास्पद है। जहाँ नारी अधिकार गर्विता न होकर अपने स्थिति-क्षेत्र में निरीह, मूक एवं विवश है जहाँ उच्चता का दम्भ निर्वाह करने में उसे किसी सामान्य मानव से मिलने भी नहीं दिया जाता क्योंकि इससे उसकी सामाजिक कुलीनता एवं प्रतिष्ठा की मान हानि होती है। 'पिजंरा' ('स्वर्ग की झलक' में संग्रहीत एक कहानी) की शान्ति तथा 'पतिव्रता' ('उत्तमी की मां' में संग्रहीत) की सुमति इसी प्रकार की महिलाएँ हैं जो चांदी के वातावरण में या तो अपनी स्वतन्त्रता खो बैठी हैं या एक अपमान जनक शैथिल्य सर पर लादे जीवन निर्वाह कर रही हैं। इस घुटन में नारी की अपार परवशता प्रतिलक्षित होती है। उसे पुरुष की वासना का खिलौना मात्र बनना है, जहाँ उसकी बौद्धिक जागरूकता, उसकी स्वच्छन्द कल्पना सब शमित हो, एक उदासीनता की अवतारणा करती दिखाई पड़ती हैं। उसकी स्थिति एक व्यापारिक नारी से भी गई बीती है।

'इतने पर भी सुमति सेठ का बड़ा ध्यान रखती। मुंह की नाग़वार बदबू, जिसे फिल्मी अभिनेत्री १५ मिनट के लिये ५० हजार रु० में बर्दास्त नहीं कर सकती, उसे सुमति जीवन भर के लिये बर्दास्त कर रही थी।' (पतिव्रता)

अभिजातीय व्यवस्था में नारी का दूसरा स्वरूप है प्रेम के विषय को लेकर। उसके लिये प्रेम कोई पूत, स्वर्गिक एवं हृदय की उच्चतम भावना नहीं है वरन् एक शारीरिक आकर्षण मात्र है। अभी तक पुरुषों ने अपनी वासना की तृप्ति के लिये उसे खिलौना समझा था, अब वह पुरुष को अपने मनोविनोद का साधन समझने लगती है और इसीलिए उसका संग्रह करती है।

'बस, आई कलेक्ट मैन'। कैसे-कैसे अजीब नमूने होते हैं।—चमड़ी के नीचे सब एक से। असभ्य, असंस्कृत, लोलुप, पशु।'

(शेखर—एक जीवनी (भाग २) मणिका का कथन)

वह प्रेम का सुदृढ़ आधार अर्थ को मानती है। प्रेम का पौधा वहीं प्लावित हो सकता है जहाँ उसे धन की खाद मिले[1]। साथ ही वह आत्मा की वस्तु न होकर पूर्ण रूप से भौतिक और स्थूल जगत की शाश्वत आवश्यकता है।

प्रेम प्रेम कुछ नहीं है, शरीर है और बुद्धि है; एक शरीर को पकड़ता है, एक पैसे को। बस यही प्रेम है'। और जब इस प्रकार प्रेम को आर्थिक महत्त्व प्रदान

१— (अ) भगवती चरण वर्मा : दो बांके, (क० स०) में संग्रहीत, विवशता की लाला।
(ब) वही, : अपने खिलौने (उपन्यास) की मीना।
(स) वही, : राख और चिनगारी, की गीता।

किया गया तो, उसकी पवित्रता एवं विशालता के साथ-साथ नैतिक मापदण्डों में भी परिवर्तन हो गया। अब प्रेम की एकनिष्ठा का सिद्धान्त झूठा ठहराया गया। स्त्री को वह पुरुष प्यार कर सकता है, उसे मांग सकता है जो उसे प्रसन्न कर सके, उसे सुख दे सके चाहे वह कोई भी क्यों न हो। पर-पुरुष सम्बन्ध से भले ही वह थोड़ी डरती हो, : क्योंकि उसमें भारतीय संस्कारों के चिन्ह अवशेष हैं। परन्तु वह उसे बहुत बड़ा पाप नहीं मानती। पत्नी होने के बाद भी वह दूसरे पुरुष की भोग्या बन सकती है। इसे वह अपराध भी नहीं समझती[1]। वह क्षुद्र व्यभिचार को फैशनेबल रूप में देखने की अभ्यस्त हो गई है। इस प्रकार नारी भावना के विभिन्न विकृत रूप इस वर्ग में अन्तर्संघर्ष करते चल रहे हैं। अधिक स्पष्टता के लिये प्रस्तुत अवतरण पर्याप्त होगा।

'एक ओर कौल बहिनों के रूप में नारी क्षुद्र व्यभिचार के फैशनेबल रूप, दूसरी ओर गणिका के रूप में शक्ति का विकृत और भ्रष्ट रूप, जो ग्लानि-जनक था, पर तिरस्कार्य नहीं—उसकी उपेक्षा नहीं होती थी।—गणिका की—उसकी श्रेणी की आत्मा रोग ग्रस्त थी, किन्तु थी आत्मा, और वह रोग भी एक उसका अकेला नहीं था, वह आधुनिक आत्मा का रुझान ही था।'

: शेखर एक जीवनी, भाग २, पृष्ठ २० :

इस वर्ग की नारी का तीसरा पहलू है अन्तर्द्वन्द्व। उसने पुरुषों को चुनौती दी। पुरुषों से अपने अधिकार प्राप्त किए। अपनी स्वतन्त्र वैयक्तिकता की प्रतिष्ठा की। वह आत्म निर्भर बनी, उसे आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त हो गई। परन्तु क्या इतना सब होकर वह सुखी हो सकी? इसका अधिक सही उत्तर शायद 'नहीं' ही है। 'बाहर-भीतर'[2] की सुशीला, भाग्यवती और कमलादेवी इसी प्रकार का संघर्ष करती हुई महिलाएं हैं। अपनी स्वतन्त्र वैयक्तिकता के दम्भ में उन्होंने अपने पतियों अथवा प्रेमियों को खो दिया है, लेकिन सब कुछ पाकर भी क्या वे कुछ भी पा सकीं हैं। इस अन्तर्संघर्ष का कारण है उनका भारतीय होना। भारतीय होकर वे भले ही पाश्चात्य संस्कृति और पाश्चात्य महिलाओं के समान अधिकारमयी बन जाएं, परन्तु उनकी सी रुचि वे शायद कभी भी न अपना सकेंगी। अन्तर्संघर्ष के इस अंश में 'शेखर' की रेखा को लीजिए—

'मुक्ति आज नारी चाहती है—मुक्ति के लिये नौकरी, नौकरी के लिये मुक्ति, दोहरा धोखा है।'

रेखा पुरुष की दासी न होना चाह कर विवाह होने के पश्चात् भी स्वतन्त्र जीविका की खोज में निकलती है। लेकिन जीविका खोजने के लिए उसे चन्द्रमाधव

१—नागिनें और बुलबुलें :: किशोर साहू : में 'धुएँ की लकीरें' की गीता।
२—भगवती चरण वर्मा : 'इन्सटॉलमेन्ट' में संग्रहीत कहानी।

की सहायता की अपेक्षा होती है। अपनी 'कुंठित बुझी हुई आत्मा को 'स्नेह से भरवाने' के लिये उसे भुवन को अपनाना पडता है। परन्तु भुवन उसे सदैव की निश्चिन्तता नहीं दे सकता, अतः उसे डा० रमेश से विवाह करना पड़ता है। इस प्रकार अन्तर्द्वन्द्व, मन की पीड़ा और अर्ध-तृप्त 'सैक्स' की पिपासा को लेकर वह एक चक्र बनाती हुई फिर वहीं आ जाती है जहाँ से उसने आरम्भ किया था। शिक्षिता होते हुए भी वह भारतीय संस्कारों से पोषित नारी नैतिक उच्छृंखलता को बहुत आगे तक नहीं खींच ले जा सकती और अन्त में उसे इस मानसिक भ्रष्टाचार से ग्लानि हो उठती है। उसमें एक अपूर्व समर्पण भावना के निर्मल स्रोत का उदय होता है जिसकी शीतल लहरों में उसकी अहंकार अग्नि बुझ जाती है—

'नहीं सुही, मैं खिलौने नहीं चाहती। खिलौनों से बहुत खेल चुकी। मैं तो अब स्वयं एक खिलौना बनना चाहती हूँ (अंगड़ाई लेती है) कोई खेलाए, घुमाए, इधर से उधर पटक दे, फिरा दे (अचानक सुहास की ओर मुड़कर) सच।'

: अश्क : पक्का गाना : क० स०: में संग्रहीत 'बहनें' की रमा, पृष्ठ ५४ :

और यह भारतीय नारी का आदर्शवाद है, जो गिरकर भी उठने की क्षमता रखता है। नारी का जीवन समान भूमि पर पुरुष का, दूसरे का सहकार लेकर ही पनप सकता है, उसके बिना वह अधूरी है—

'अर्ध सत्य तुम, अर्ध स्वप्न तुम, अर्ध निराशा आशा
अर्ध अजित जित, अर्ध तृप्ति, तुम, अर्ध अतृप्त पिपासा
आधी काया आग तुम्हारी, आधी काया पानी
अर्धाङ्गिनी नारी! तुम जीवन की आधी परिभाषा।'

: नीरज : विभावरी, पृष्ठ ४६ :

भारतीय समाज में मध्यवर्गीय नारी की स्थिति सदैव ही अनिश्चित, अपमानित तथा अभिशप्त रही है। उसका सार्वजनिक क्षेत्र से बहुत कम सम्पर्क रहा है। राष्ट्रीय जागरण के इस काल में उसे कुछ स्वीकृति अवश्य मिली है। राजनैतिक वातवरण में भी वह यदा-कदा दिखलाई पड़ जाती है और इस तरह घर की चाहर दीवारी के बाहर के संसार से भी वह धीरे-धीरे अपना परिचय बढ़ाने के लिये अग्रसर होती है[1]। जीवन की आर्थिक विषमताओं ने उसे जीविका उपार्जन के लिये विवश कर दिया है।[2] बड़े नगरों में इस वर्ग की महिलाएं सार्वजनिक कार्यकर्त्री भी हैं; उनमें शिक्षा का भी समुचित विकास हुआ है। परन्तु इस क्षेत्र में आने के लिये उन्हें पुरुष से विद्रोह करना पड़ता है। यह एक अजीब सी बात लगती है कि सिद्धान्त रूप में पुरुष नारी की सामाजिक समानता पर जोर

१—यशपाल : दादा कामरेड, की यशोदा।
२—यशपाल : मनुष्य के रूप, की पारो।

देता है, भाषण देता है, लेख लिखता है, परन्तु व्यावहारिक क्षेत्र में बहुत कम, नगण्य अभिभावक अपनी महिलाओं को सार्वजनिक कार्यों के लिये भेजना चाहते हैं या उन्हें समान स्वीकृति देते हैं। 'दादा कामरेड' की यशोदा को सामाजिक क्षेत्र में कार्य करने की ललक है और इसके लिये उसे अपने पति अमरनाथ से विद्रोह करना पड़ता है।

मध्यवर्गीय नारी के हृदय में समाज का भय बुरी तरह बैठा हुआ है। इस का कारण शायद यह रहा हो कि इस वर्ग की व्यवस्था में सारे पुन्य, शक्ति, देवत्व एवं नैतिकता की सैद्धान्तिक प्रतिष्ठा नारी में कर दी गई है। यदि वह अपनी स्थिति से थोड़ा सा भी इधर उधर हिलती डुलती है तो लगता है जैसे सारा धर्म, सारी संस्कृति लड़खड़ा कर गिर पड़ेगी और इसलिए वह अपनी स्थिति के प्रति इतनी अधिक सजग है कि उस सजगता के मध्य उसके अपने व्यक्तित्व के विकास के अवसर भी नष्ट हो गए हैं। उसके प्रत्येक कर्म में नैतिकता प्रतिष्ठित होती है। पर पुरुष के यहां एक रात रहने मात्र से उसे मृत्यु का आलिंगन करना पड़ता है।[1] निर्दोष होते हुए भी समाज-भय से अपमान सह लेना पड़ता है[2]।

पारिवारिक जीवन में भी वह असमर्थताओं का भार लिए है। जहाँ जीवन के प्रति आकर्षण एवं लालसा नष्ट प्रायः हो गई है[3]। एक निरीह विवशता और उदासीन वायु मंडल के बीच में जैसे उसका जीवन घिसट-घिसट कर जी रहा है। विकास के समुचित अवसरों से हीन उसका दृष्टिकोण पहले जैसा ही सीमित है, साथ ही उसमें कलह प्रियता, शंकालु प्रवृति तथा कर्कशता आदि दुर्गुणों का विस्तार है[4]। पुरानी गलित रूढ़ियों पर उसे विश्वास है[5] और इस तरह पूर्व युगों की अपेक्षा किसी प्रकार से उसकी दशा अधिक सुधरी हुई नहीं कही जा सकती। आर्थिक दुर्व्यवस्था से पीड़ित समाज में नारी ही सबसे बड़ा मनोविनोद है। इस भावना ने नारी स्थिति के पतन को थोड़ा और आगे बढ़ाया है[6]।

इस प्रकार नव्य युग की मध्य वर्गीय नारी अपनी असमर्थताओं के बोझ से झुकी जा कर प्रबुद्ध चेतना के समाज को लालायित आँखों से देखती हुई, और अपनी विवशताओं तथा सीमाओं से परिसीमित, उस क्षितिज पर दृष्टिगोचर होती है जहाँ

१—यशपाल : 'तुमने क्यों कहा था कि मैं सुन्दर हूँ' में संकलित 'आबरू' कहानी की शान्ति।

२—वही, देखिए 'गवाही' की तारा।

३—अज्ञेय : जयदोल : क० स०: में संकलित 'गैंग्रीन' की मालती।

४—भगवती प्रसाद वाजपेयी : निर्वातन : उपन्यास : की उमा।

५—अमृतराय : कस्बे का एक दिन, में संकलित, 'आवहान,' कहानी की बीरू की माँ।

६—अमृतराय : 'कठघरे' में संग्रहीत, 'सावनी समाँ,' कहानी में चन्द्रिका का परिवार।

आत्म, शमन की महान् साधना के पश्चात् जीवन की सुरूपता के प्रति एक उदासीन आसक्ति शेष रह जाती है।

मध्यवर्गीय नारी के विपरीत निम्नवर्गीय नारी में सुख दुख और उत्साह, विवशता के रँगीन चित्र देखने को मिलते हैं। उसमें जीवन के प्रति आस्था, उस जीवन को चलाते रहने के लिये एक गति और पूर्ण कार्य निष्ठा लक्षित होती है। जानते हुए भी कि जीवन अभिशापमय है, दुर्दैव सदैव ही उसके साथ लगा है, वह जैसे दुख की असीमता में मुस्कराते रहने की अभ्यासी हो गई है[1]। जीवन के प्रत्येक दिन में सुबह से शाम तक वह कार्यरत है। वह मजदूरी करती है[2], गाँव में हाट लगाती है, पत्ते बेचती है[3], घास काटती है[4] और लोगों का कलुष साफ करती है।

'सुथरे पर यह दाग़ उभारें, उज्ज्वल पर यह धब्बे डारें,
इनको धोना अपना काम, भज ले सजनि, हरि का नाम।
छीयो राम, छीयो राम।
: धोवन का गीत, विशाल भारत १९५१, पृष्ठ २५७ :

कार्यरता इस परिश्रम विमुग्धा नारी में सत् रूप का विकास होता है। उसके श्रम-विन्दु जैसे काम-भावना को धो डालते हैं—

जो बंटा रही तुम जग जीवन का काम काज।
तुम प्रिय हो मुझे, न छूती तुमको काम-लाज।
: पन्त : ग्राम्या, पृष्ठ ८४ :

वह अपने स्वेद कणों को बहा कर अपना पेट भरती है। किसी की दया पर आश्रित नहीं रखती। इसी लिए वह स्वाभिमानिनी है[5]। निर्धनता ने उसे

१—:अ: लक्ष्मीनारायण लाल : बया का घोंसला और सांप, की जमुना।
:ब: उपेन्द्रनाथ अश्क : पत्थर-अलपत्थर : की यासमन।
२—:अ: राजा राम खरे : मजदूरिन, सरस्वती १९३८, पृष्ठ ३४३।
:ब: मैं मजदूरिन चली काम पर लिए फावड़ा कुदाली।
मुझे देख कर विहंस उठी, वह प्राची में ऊषा की लाली।
हीरादेवी : मजदूरिन का गीत, सरस्वती १९५२, पृ० ३१३।
३—कन्हैया लाल दीक्षित : पत्ते वाली, माधुरी, १९३८, पृ० ५७९।
४—हरि शंकर शर्मा : घसियारिन, विशालभारत १९३९, पृष्ठ ५१९।
५—:अ: कान्ति चन्द्र सौरिक्सा : बटन वाली : कहानी:, सरस्वती १९३९, पृ० १२।
:ब: कोई सँत का खाती हूँ जो लात-मारी सहूँ। रात दिन छाती पर बज्जर जैसा गागरा-बाल्टी ढोती हूँ। बन्न कर दूं तो सरने लगें रानी लोग।
: मार्कण्डेय: हंसा जाई अकेला, : क० स० : में संग्रहीत, कल्पानमन, की मंगी, पृष्ठ २१।

सत्य और ईमानदारी के दो वर दिए हैं जो उसकी अमूल्य निधि हैं[1]। वधू के रूप में वह पूर्ण निष्ठावान है, पति उसके लिये देवता है। सास स्वसुर की आज्ञा उसके लिये शिरोधार्य है।

':सास सुसर का कहा मानना। जहाँ बैठाएं, वहीं बैठना, जहाँ उठाएं वहीं उठना।'

:मार्कण्डेय : देखिए 'हंसा आई अकेला' : क० स०: की 'सोहमईला' :

निम्न वर्गीय नारी के जीवन पृष्ठों पर इतनी गहरी निष्ठा, साहस विश्वास और कर्त्तव्यपरायणता के साथ-साथ करुणा और निरीहता की कथा भी लिखी हुई है जो उसके भाग्य का अपरिहार्य अंश है। एक बार विपथा होने पर फिर समाज में उसके लिए कोई स्थान नहीं रह जाता—'उसके भ्रष्ट हो जाने से कुल कलंकित हो जाता है। उस पर आरोपित यह नैतिकता उसके जीवन की दयनीयता को स्पष्ट करती है। जिस काम को करने से पुरुष का कुछ भी बनता-बिगड़ता नहीं, उसी को केवल एक बार भूल से कर लेने पर भी उसका जीवन हमेशा के लिये विनष्ट हो जाना है[2]। अपनी निर्धनता में वह अधरों पर मलिन विषाद को लिए चलती है—

'नेत्र में भिक्षुक का संसार
और होंठों पर मलिन विषाद,
रुक्ष काले, बिखरे कृश केश।
जीर्ण चिथड़ों में कम्पित गात।

: कन्हैयालाला दीक्षित : पत्तेवाली, माधुरी १९३८, पृष्ठ ५७९ :

और इतने बड़े दुर्भाग्य के बीच उसे पति का स्नेह भी नहीं मिलता। अपनी इतनी महान् सेवाओं का उपहार उसे भारी मार में मिलता है।

'रोज धोबी नहीं पीटता अपनी जोरू को ? मुंगरी से पीटते हैं मुंगरी से।'

:अमृतराय: 'भोर से पहिले' में संग्रहीत 'सत्यमेव जयते,' के रमलू का कथन :

इस प्रकार जीवन की व्यस्तता के बीच में वह अपने होंठों पर मुस्कराती हुई अपने अन्तर में रोती है। जिसके मौन आँसुओं को कोई भी सहानुभूति नहीं दे पाता।

इस वर्ग की नारी का ग्राम्य स्वरूप सुख दुःखों की सुन्दर-सजल दृष्टि से देखा गया है, जिसमें प्रकृति की पवित्रता एवं सौन्दर्य विद्यमान है।

१—उपेन्द्रनाथ अश्क : 'कहानी की लेखिका और झेहलम के सात पुल,' में मौसी का चरित्र।

२—भगवती चरण वर्मा : आखिरी दांव, की चमेली के विषय में रामेश्वर के विचार, पृष्ठ २५।

'पेड़ों पत्तों में जो, लावण्य निखरता
वही खेल रहा उसके मुख मण्डल पर।'

या,

वन देवी जैसी आती चली नगर में
हिरणी सी जाती ठिठक, सकुच कुछ लखकर।
: सोहन लाल द्विवेदी : चित्रा, ग्राम्य कन्या, पृष्ठ ६-७।

उसकी आँखों में वासना न होकर स्वागत का भोला भाव अंकित है—

'है कहीं वासना नहीं उधर
हैं कहीं कामना नहीं उधर
है आवभगत सी आँखों में
जैसे पाहुन हो आया घर।'
: वही, ग्राम्य वधू, पृष्ठ १० :

उसमें उन्मुक्त हास की प्रवृति भी है—

'हंसती खल खल
अबला चंचल
ज्यों फूट पड़ा हो स्रोत सरल
भर फेनोज्ज्वल दशनों से अधरों के तट।
: पन्त : ग्राम्या, ग्राम्य युवती, पृष्ठ १७ :

उसका कार्यरत मुद्रामय सौन्दर्य भी अवलोकनीय है—

बीच खेत में सहसा उठकर
खड़ी हुई वह युवती सुन्दर
लगा रही थी पानी झुककर
सीधी करे कमर वह पल भर
खड़ी हो गई सहसा उठ कर
घेरे उसे जहाँ दल के दल
उठते हैं कुहरे के बादल।
: राम विलास शर्मा : रूप तरंग, कुहरे के बादल :

मधुरता की इतनी सृष्टि करने वाली इस ग्राम्य बाला के भाग्य में दुर्दैव भी गहरा लिखा हुआ है—

दुखों से पिस
दुर्दिन में घिस
जर्जर हो जाता उसका तन
ढह जाता असमय यौवन धन

वह जाती तट का तिनका
जो लहरों से हँस खेला कुछ क्षण ।
: पन्त : ग्राम्या, ग्राम युवती, पृष्ठ १६ :

इतने पर भी उसे कवि का सम्मान प्राप्त हुआ है। चिर दैन्य और अविद्या के तम से पीड़ित होकर भी वह स्नेहशील, ममतामयी और माधुर्यपूर्ण है। तथा कुलीन मानवी में आज जिस अधिकार भावना का दर्प प्रवेश कर गया है और जिसके परिणाम स्वरूप उसकी स्थिति में जो अहंकार भावना उद्भूत हो रही है, उसका प्रायश्चित एवं उसके अभावों की पूर्ति जैसे इसी ग्राम्य नारी के मानवद गुणों के द्वारा हो रही है। कवि का विश्वास है—

कर रही मानवी के अभाव की आज पूर्ति
अगली नारी की—यह प्राण वह निश्चित ।
: पन्त : ग्राम्या, पृष्ठ २१ :

उपसंहार

मध्य-काल में नारी भावना के उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि बुद्धिवाद के बढ़ते हुए प्रभाव ने जहाँ एक ओर कल्पनाग्रस्त जीवन द्वारा ओढ़े गए नारी के छायावादी मधुर रूप की प्रतिष्ठा कम की, वहीं दूसरी ओर उसे जीवन की यथार्थताओं का परिचय कराते हुए सामाजिक प्रतिष्ठा करने के हेतु, संघर्षमय वातावरण भी प्रदान किया। इस काल की नारी में बौद्धिकता की प्रधानता होने के कारण निष्ठा का भाव समाप्त हो गया। समान स्वीकृति प्राप्त कर लेने तथा आत्म निर्भर हो जाने के परिणाम स्वरूप उसमें एक दर्प की भावना उद्भूत हुई। अपनी स्वतन्त्र वैयक्तिकता के अहंकार भाव में 'सैक्स' सम्बन्धी नैतिक नियम भी ढीले पड़ गए और वह भी पुरुषों के समान आचरण करने का दावा करने लगी। उसे सामाजिक जीवन के व्यवहारिक क्षेत्र में पहली बार अर्धांगिनी का रूप मिला तथा उसमें उद्भूत हीन भावना की समाप्ति हुई।

बढ़ते हुए पाश्चात्य-प्रभाव ने उसे इतना सब कुछ दिया। परन्तु उसकी आत्मा में अन्तर्निहित भारतीय संस्कार उसे इस दिशा में समय-समय पर कचोटते रहे हैं। वह बार-बार रुक कर यह सोचती हुई प्रतीत होती है कि क्या अधिकार प्राप्ति की दिशा में उसका यह प्रयत्न उसकी भारी भूल तो नहीं है, और यहीं पर उसकी दर्प-भावना का खोखलापन प्रतिलक्षित होता है। एक ओर बाह्य जगत में अपनी सत्ता की दुंदुभि और अपनी स्वतन्त्र आत्म-निर्भर वैयक्तिकता का अहं तथा दूसरी ओर पुरुष की अनिवार्य आवश्यकता और भारतीय संस्कृति के उसकी आत्मा में गहरे पैठे हुए आदर्श-संस्कार—इन सबके परस्पर संघर्ष में उसकी आज की आत्मा कुंठित हो उठी है। उसकी स्थिति तिराहे पर खड़ी उस भ्रमित पथिका की सी है जो एक राह से चल कर आती हुई, उसी आगे लम्बी फैली हुई राह को सशंकित होकर देखती है कि कहीं यह उसका गलत मार्ग तो नहीं है, और बीच में से काटती हुई तीसरी राह के प्रति उसके मन में प्रत्याशा उत्पन्न होती है, कि हो सकता है, इसी पर चल कर वह सही ढंग से चल सके और चली आई हुई राह से तो वह लौटना भी नहीं चाहती है, क्योंकि उससे वह भर गई है, ऊब गई है और फिर वह उसकी पराजय भी तो है।

फिर भी अभी उसे सोचना है, निश्चित करना है तथा नवीन और प्राचीन के बीच संधि करनी है। हो सकता है वह तीसरी राह को ही अपनाए।

आधुनिक हिन्दी साहित्य में नारी—संचयन

(१८५७-१९५७)

पिछले पृष्ठों में नारी भावना के गत सौ वर्षों का साहित्यक स्वरूप उपस्थित करने का प्रयत्न किया गया है। उत्थान-कालीन नारी में सुधार भावनाओं के विकास का प्रयास अधिक रहा है। परन्तु साथ ही रीति काव्य से प्रभावित शृंगार-मयी एकान्त प्रिय नायिका के प्रणय-सम्बन्धी रंग बिरंगे चित्र भी दृष्टि ओझल नहीं किये जा सकते। इस प्रकार नवयुग के प्रारम्भिक साहित्य में नारी को मध्य युगीन स्थूल शृंगारिकता एवं नवयुगीन सुधार भावना के संधि स्थल पर खड़ी हो, अरुणोदय की ओर लालायित दृष्टि किए देखा जा सकता है।

द्वितीय उत्थान में सुधार भावना को बल प्राप्त हुआ। नारी को उसकी दयनीय स्थिति से ऊपर उठाने की चेष्टा में नारी विषयक आदर्शों की स्थापना हुई। उसको रीति-युग के विपरीत पुरुष की भोग्या न बन कर उसकी प्रेरणा और शक्ति बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। सामाजिक आदर्श की उच्चतर मनोभूमि पर अधिष्ठित हो कर जैसे वह पुरुष से बहुत ऊंची हो गई। इस प्रकार की साहित्य रचना का मूल कारण उसको वासना और मांसलता के क्षेत्र से बाहर निकाल लाना था। उसे इतनी आदर्शमयी बना देने का प्रयास इसीलिए किया गया कि नव-जाग्रत भारत में वह पुरुष की वासना को उभार न देकर, उसकी सहचरी के रूप में उसका पथ प्रशस्त करे। यद्यपि वह आदर्श कोरा आदर्श ही था और बहुत अंशों में पूर्व साहित्य की प्रतिक्रिया मात्र था, फिर भी इस भावना ने नारी में नैतिक गुणों एवं पूज्य भाव की प्रतिष्ठा करने में यथेष्ठ सहयोग दिया।

विकास-काल आधुनिक हिन्दी साहित्य का वसंत काल है। सामाजिक चेतना और राष्ट्रीयता के इस विकास काल में नारी को सार्वजनिक जीवन में कार्य क्षेत्र प्राप्त हुआ। सामाजिक स्वीकृति के साथ-साथ उसे केवल नारी रूप में न देखा जाकर, प्रेयसी, पत्नी, माता, कन्या और बहिन आदि के भिन्न-भिन्न सम्बन्धों में भी निकटता से देखा गया तथा उसके प्रति संकीर्ण मान्यताओं का विनाश एवं उसकी स्थिति के प्रति सम्मानित-दृष्टिकोण का विकास इसी युग में विशेष रूप से हुआ। दूसरे, पश्चिम की रोमान्सवादी विचार धारा से प्रभावित हिन्दी कवि-वर्ग ने उसके जागृति कालीन अव्यवहारिक एवं आरोपित आदर्श रूप में मधुर भाव की स्थापना कर, उसमें पूत सौन्दर्य की स्थापना करते हुए उसे पूजा की वस्तु बना दिया। नारी को इस माधुर्यपूर्ण प्रेरक आदर्श की प्राप्ति विकास काल में पहली बार हुई। साथ ही

नारी के सामाजिक सम्मान की प्रतिष्ठा के लिये इस काल के साहित्यकार द्वारा प्रबल समर्थन की भावना अभिव्यक्त की गई।

नव्य-काल की नारी भावना बौद्धिक विचार भूमि पर अवतरित की गई है। उसमें शिक्षिता होने का दम्भ है। आत्म-सम्मान, सामाजिक प्रतिष्ठा और अपने अधिकारों के लिये वह पुरुष से संघर्ष किया चाहती है। आत्म-निर्भर जीवन-व्यवस्था में उसकी आस्था है। परन्तु साथ ही वह यह भी अनुभव करती है कि पुरुष से स्वतन्त्र हो, उसकी आत्मा को शान्ति नहीं मिलती। अपनी अपरिपक्व, विक्षिप्त विचारधाराओं में वह स्वयं ही उलझ गई है। उसकी शमित कुण्ठाएं उसके व्यक्तित्व में एक प्रकार का क्षुब्ध वातावरण उपस्थित कर देती हैं। पुरुष उसके सम्मुख अनिवार्य आवश्यकता के रूप में प्रकट होता है। बौद्धिक जागरूकता के आलोक में अपनी स्वतन्त्र सत्ता बनाने का उसका स्वप्न जैसे तिरोहित होने लगा है। उसने अधिकार प्राप्ति के अहंकार भाव में अपने स्वभाव की जिस शाश्वत निष्ठा, समर्पण भावना को छिपाने की चेष्टा की थी, वह जैसे उसकी कुण्ठाओं से झाँक-झाँक कर प्रकट हो रही है।

दूसरी ओर, नव्य-काल की नारी भावना वासना की पृष्ठ भूमि पर भी चित्रित की गई है। हम उसके विभिन्न रूपों के अन्तर्गत इसकी विवेचना कर आए हैं। इस काल में नैतिक विभ्रष्टता और स्थूल आकर्षण के आसान चित्र प्रस्तुत करने का मुख्य कारण वादी प्रवृति का विकास है। साम्यवादी आधार पर नारी को वर्गीय भूमिका पर प्रदर्शित करके असांस्कृतिक आक्रमण करने की जो प्रवृति चल रही है उसी ने नारी के स्वत्व को हीन-स्वरूप में उपस्थित करने का प्रयास किया है। मार्क्सवादी, क्योंकि, वर्ग को गिरा हुआ दिखाना चाहते हैं, अतः नारी वर्ग को भी पतित दिखाने की चेष्टा हुई है। मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित कलाकारों ने भी नारी के चरित्र के साथ खिलवाड़ ही किया है। उसके नग्न रूप को वासना की उत्तेजना से प्रज्वलित कर वर्गीय भूमि पर दिखाते हुए, उसकी सांस्कृतिक महत्ता को उपेक्षित कर, उसे वादों के संकीर्ण घेरे में आवद्ध कर दिया है।

इस प्रकार आज की नारी दोनों प्रकार से संघर्षात्मक भूमिका पर खड़ी हुई अपने आगत के निर्णय में प्रतीक्षाकुल है। उसने स्वयं भी, स्वतन्त्र वैयक्तिकता के अनुष्ठान—प्रयास में अपने लिये जटिलताएँ उत्पन्न कर ली हैं, तथा कलाकारों द्वारा भी उसको भौतिक मांसलता और वादी-प्रवृत्ति के रूप में चित्रित करने का प्रयास ही अधिक रहा है। इसी विघटन के असमंजस में अस्वस्थ वह, आज भी संधि-स्थल पर खड़ी है। उसे शीघ्र ही अपने भविष्य के मार्ग का निर्णय लेना है।

———

द्वितीय खण्ड

प्रसाद के नारी—चरित्र

प्रकरण—६

प्रसाद के नारी सम्बन्धी सामान्य आदर्श

: १ : आदर्श निर्माण के उपकरण

: २ : नारी आदर्श

: ३ : समन्वित कल्पना

आरम्भ

हम पिछले पृष्ठों में भारतीय नारी की सामाजिक स्थिति और हिन्दी साहित्य में नारी-चित्रण की विवेचना कर चुके हैं। विवेचना करते समय इस बात का विशेष ध्यान रखा गया है कि नारी सम्बन्धी सामाजिक वस्तु स्थिति, मान्यता एवं आदर्शों का सर्वांगीण चित्र उपस्थित किया जा सके, तथा उसके आलोक में हिन्दी साहित्यकारों ने सामाजिक परिपार्श्व में नारी-भावना की जो चित्रपटी प्रस्तुत की है, उसको भी विभिन्न रूपों में विस्तार के समझने की चेष्टा की गई है। सामाजिक एवं साहित्यिक नारी के इस विवेचन की पृष्ठभूमि में तत्कालीन किसी भी साहित्यकार के नारी-चरित्रों का अध्ययन और अनुशीलन सुगमता से, वैज्ञानिक पद्धति के माध्यम से किया जा सकता है। अतः प्रसाद के नारी चरित्रों के अध्ययन के लिए उपयुक्त विवेचना पीठिका के रूप में मानी गई है और इसी पीठिका के आधार पर प्रसाद के नारी-चरित्रों का अध्ययन उपस्थित किया गया है। आरम्भ में हम प्रसाद के नारी सम्बन्धी सामान्य आदर्शों की विवेचना करना चाहते हैं।

(एक)

आदर्श निर्माण के उपकरण

किसी भी कलाकार के आदर्श या विचार सामान्यतः निम्नलिखित तथ्यों पर आधारित होते हैं—

: अ : जीवनी
: ब : अध्ययन
: स : सामाजिक परिपार्श्व
: द : निजी अनुभव

इसीलिए प्रसाद जी के नारी-आदर्शों की सामान्य विवेचना करने से पूर्व भी उपर्युक्त बातों के आधार पर उन की संक्षिप्त परिचयात्मक विवेचना आवश्यक हो जाती है।

(अ) जीवनी

(क) आरम्भ

'सुंघनी साहु' के नाम से प्रख्यात काशी के एक कान्य कुब्ज वैश्य परिवार में संवत् १८८९ में प्रसाद जी का जन्म हुआ। इनके पूर्वज मूलतः कन्नौज के निवासी थे। किसी कारणवश वे सैदपुर में बस कर चीनी का व्यापार करने लगे। किन्तु उस में हानि हो जाने के कारण इनके पितामह ने काशी जाकर गोवर्धन सराय नामक मुहल्ले में इत्र, तम्बाकू, सुर्ती तथा सुंघनी का व्यापार आरम्भ किया। पितामह शिव रत्न साहु ने एक प्रकार की सुर्ती गोली का आविष्कार किया जो पान के साथ खाई जाती थी। इस सुर्ती को शीघ्र ही लोकप्रियता प्राप्त हो गई, और शिव रत्न साहु 'सुंघनी साहु' के नाम से विख्यात हो गए।

शिव रत्न साहु के दो पत्नियाँ थीं। बड़ी पत्नी से शीतल प्रसाद जी हुए थे, जो जीवन भर अविवाहित रहे। दूसरी पत्नी से ५ पुत्र हुए, जिनमें प्रसाद जी के पिता देवी प्रसाद सबसे ज्येष्ठ थे। देवी प्रसाद जी के भी पाँच संतानें हुईं, जिन में देवकी सब से बड़ी थीं और जय शंकर 'प्रसाद' सबसे कनिष्ठ। जय शंकर 'प्रसाद' से पूर्व इन के कई भाई बहिनों की मृत्यु हो चुकी थी। अतः इनकी दीर्घ आयुष्य के लिए इनकी माता मुन्नी देवी ने गोला-गोकर्णनाथ की मन्नत माँगी थी। 'इन्हें नाक छेद कर बुलाक धारण कराई गई और झारखण्ड के वैजनाथ भगवान की उपासना—आराधना द्वारा इन्हें विशेष रूप से भक्त बालक का पद दिया गया'।

इनके पितामह बड़े उदार और दानी थे। इस उदार-भाव की परम्परा प्रसाद जी तक चलती रही। गुप्त रूप से ब्राह्मणों, दीन दुखियों तथा विद्यार्थियों को दान दिया जाता था। इसी उदारता और दानशीलता के कारण काशी में इनके परिवार का महत्त्व काशी-राज के दरबार के बाद का था। पारिवारिक वातावरण धार्मिक था। सभी शिव के उपासक थे। 'काश्मीरी प्रत्यभिज्ञादर्शन की विचारधारा इस परिवार में स्वीकृत चली आ रही थी, जिसका प्रभाव प्रसाद जी की विचार-धारा एवं साहित्यिक कृतियों पर यथेष्ट रूप से पड़ा है।

प्रसाद जी का परिवार सम्मलित परिवार था। पितामह शिव साहु के उपरान्त इनके पिता को पारिवारिक कार्य-भार संभालना पड़ा। लेकिन जब प्रसाद जी केवल ११ वर्ष के ही थे, इनके पिता का स्वर्गवास हो गया और पारिवारिक उत्तरदायित्व इनके बड़े भाई शम्भुरत्न जी के कन्धों पर जा पड़ा। इस समय प्रसाद जी क्वीन्स कालेज में ८वीं कक्षा में अध्ययन कर रहे थे। शम्भु रत्न जी ने इन से कालेज छुड़ा कर इन की संस्कृत और अंग्रेजी की पढ़ाई का प्रबन्ध घर पर ही कर दिया, तथा ये दीन बन्धु ब्रह्मचारी से वेद और उपनिषदों की शिक्षा प्राप्त

१—'महाकवि प्रसाद' पृष्ठ १-२।

करने लगे। आरम्भिक पाठ उन्हें मोहन लाल गुप्ता से मिला था तथा उनके साथ इन्होंने संस्कृत, हिन्दी तथा उर्दू का अध्ययन किया था।

शम्भुरत्न जी पारिवारिक परम्परा के अनुकूल अतिशय उदार तथा खर्चीले थे। सम्मलित परिवार की भाँति व्यवसाय भी सम्मलित था। अतः इनके खर्चीलेपन को लेकर गृह-कलह आरम्भ हुई। वैसे चाचा भतीजे सभी दुकान पर जाते थे। घर में अब भी सब का खान-पान साथ ही था, लेकिन अदालत में एक दूसरे के विरोधी थे। इस में काफी धन तथा समय नष्ट हुआ, इस समय तक प्रसाद जी भी दुकान पर बैठने लगे थे।

जब प्रसाद जी केवल १५ वर्ष के ही थे, इन की माता का देहावसान हो गया। इसी वर्ष सम्पत्ति सम्बन्धी मुकदमे का फैसला हुआ था। जीत शम्भुरत्न जी की ही हुई थी, उन्हें नारियल बाजार वाली दुकान पर कब्ज़ा मिल गया था, लेकिन बदले में सारा कर्ज़ चुकाने का भार भी उन्हीं के सर आ पड़ा। इसके दो वर्ष बाद शम्भु रत्न जी का भी स्वर्गवास हो गया। बड़े भाई का यह अकाल निधन प्रसाद जी के लिए वज्रपात से कम न था। अब वे सभी विषमताओं को झेलने के लिए अकेले रह गए। व्यापार की देख-रेख, परिवार की सम्भाल, विधवा भाभी, भाई के समय का भारी ऋण तथा अपनी गृहस्थी जमाने की कल्पना और आंतर-प्रसूत भावनाओं का उद्वेलन—सभी ने प्रसाद के कोमल व्यक्तित्व को झकझोर देना चाहा, लेकिन युवक प्रसाद ने पूर्ण कौशल के साथ इन सभी विषमताओं में सामंजस्य बनाते हुए, संतुलन रखकर, सभी कठिन परिस्थितियों का सफलता पूर्वक सामना किया।

२० वर्ष की अवस्था में प्रसाद जी ने अपना पहला विवाह किया। इनकी पत्नी १० वर्ष जीवित रही। उनके निधन के पश्चात् प्रसाद जी की मनोवृत्ति धार्मिक हो गई तथा वे पठन-पाठन में अधिक समय देने लगे। परिस्थितियों ने इन्हें दूसरे विवाह के लिए विवश किया। दुर्भाग्यवश इनकी दूसरी पत्नी का निधन भी एक ही वर्ष उपरांत हो गया। इससे प्रसाद जी के जीवन में विरक्ति की एक रेखा सी खिंच गई। लेकिन उस विरक्ति में पलायन, वैराग्य या निषेध का प्राबल्य कहीं भी नहीं है। वे अपनी गति से पारिवारिक समस्याओं को सुलझाने तथा शेष समय अपने अध्ययन-मनन में लगे रहे। दूसरी पत्नी की मृत्यु के उपरान्त उन्होंने विवाह न करने का निश्चय कर लिया था। किन्तु घर में विधवा भाभी का जीवन दुःख की अनन्त रेखा की भाँति उनके सामने प्रश्न चिन्ह बना रहता था,..........भाभी के अनुरोध को वे न टाल सके........उन्होंने उचित यही समझा कि अपनी भाभी के मन का मान रखें, अपने भाभी के निर्देश पर गृहस्थी बसाएं, घर का सूनापन उनके लिए खलने की वस्तु न रह जाये'।[1] और तब इसलिए उन्होंने तीसरा विवाह कर

1—सुधाकर पाण्डेय : कामायनी समीक्षा, पृष्ठ ११।

लिया। रत्नशंकर जी उनके तीसरे विवाह से उत्पन्न संतान हैं।

दूकान, घर और साहित्य की त्रिधारा में वहते हुए प्रसाद जी ने अपना अल्प कालिक जीवन पूर्ण किया। १९३६ में राजयक्ष्मा से पीड़ित उन्होंने अपने प्राण विसर्जित किए। प्रसाद जी ने अपने व्यक्तित्व का विकास स्वयं किया था। उन्होंने अपनी पारिवारिक-परिस्थिति को संभाला तथा १९२९-३० तक अपने आप को पिछले ऋण भार से प्रायः सर्वथा मुक्त कर लिया था। साथ ही गृहस्थी की समस्याओं को समय देने के साथ साथ उन्होंने हिन्दी को अनुपम साहित्य-कृतियां प्रदान की। अतीत की स्वर्णिम चित्रपटी और वर्तमान का वैषम्य दोनों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन कर अपने समाधान प्रस्तुत करते हुए भविष्य की भव्य कल्पना का पथ प्रशस्त किया और अपने साहित्य को आगामी पीढ़ियों के लिए प्रकाश स्तम्भ के रूप में छोड़ गए। 'मनुष्य होने के नाते प्रसाद जी की अपनी कमजोरियां थीं, किन्तु उन कमजोरियों पर एक तपस्वी की भाँति, एक साधक की भांति उन्होंने सदैव ही विजय पाने का प्रयत्न किया। प्रारम्भ से अन्त तक उन्होंने संघर्ष किया। उन्होंने अपना रास्ता स्वयं बनाया, यह उनके व्यक्तिगत चरित्र की विशेषता थी'[1]।

(ख) व्यक्तित्व—स्वभाव और अभिरुचि

प्रसाद जी का व्यक्तित्व असाधारण था। वे मध्यम कद के व्यक्ति थे, तथा उनका शरीर पुष्ट और सुगठित था। वे गौर आकृति के सुढ़ार प्रसन्न मुख-मण्डल वाले सुन्दर पुरुष थे। उनकी रतनारी रसीली आँखें, घुंघराले बाल, मस्तानी चाल-ढाल तथा भावपूर्ण बोल-चाल लोगों को सहज ही अपनी ओर आकर्षित कर लेती थी। प्रसाद सौंदर्य और प्रेम के कवि हैं—कर्त्तव्य भी उनके लिए सौंदर्य था। प्रकृत्या वे बड़े सुरीले थे। उनका स्वर महीन था। संगीत के प्रति स्वाभाविक रुचि थी, कभी कभी मन पसन्द धुनों को धीमे से गुनगुनाते, तो मन का दर्द झांकता सा दिखाई पड़ता।

जैसा कि आचार्य वाजपेयी जी ने लिखा है ...'बाहर से उनका व्यक्तित्व देखकर कोई उनकी मुस्कान से मुग्ध होता, कोई उनकी व्यवहार पटुता और मैत्री से मोहित होता, किन्तु उनके इस दिव्य और मोहक बाह्य के भीतर जाकर अपनी ही कृति में आनन्द मनाने वाले, कीर्ति की लिप्सा न रखने वाले, भली बुरी समीक्षाओं से समान रूप से तटस्थ रहने वाले, निस्पृह और दिव्यकर प्रसाद जी को बहुत कम लोगों ने देखा[2]।'

इसी प्रकार शिवपूजन सहाय जी के शब्दों में 'स्मित पूर्वाभिभाषी प्रसाद का व्यक्तित्व, विशिष्ठ मानवोचित गुणों के कारण बड़ा हृदयग्राही था। उनकी सरल

१—सुधाकार पाण्डेय : कामायनी समीक्षा, पृष्ठ १८।
२—पं० नन्द दुलारे वाजपेयी : जय शंकर प्रसाद, पृष्ठ १९।

वाणी की मधुरिमा उनके मुक्त हास्य की विमलता, उनके स्वस्थ शरीर की गठन, उनके सुखद शील की आर्यता, उनके स्वार्जित पांडित्य की प्रौढ़ता, उनके सहिष्णु स्वभाव की कुलीनता, उनकी सद्यः फला—स्मृति-शक्ति की प्रखरता, उनके सामाजिक जीवन की उच्चता, उनके निष्कपट व्यवहार की शालीनता, उनकी निस्पृह साहित्य सेवा की महत्ता—सब ने मिलकर उनके व्यक्तित्व को विशद बनाया था। वैसा मोहक और उत्प्रेरक व्यक्तित्व आज हिन्दी-जगत में सावधानता से टटोलना पड़ेगा[1]।

डा० नगेन्द्र ने भी प्रसाद के गम्भीर संघर्षमय एवं उद्वेलनों से पूर्ण जीवन की परिस्थितियों में शान्त तरलता को हास भरते हुए देखा है—'शान्त गम्भीर सागर, जो अपनी आकुल तरंगों को दबाकर धूप में मुस्करा उठा है, या फिर गहन आकाश जो झंझा और विद्युत को हृदय में समाकर चांदनी की हंसी हंस देता है, ऐसा ही कुछ प्रसाद का व्यक्तित्व था।'

प्रसाद जी स्वभाव से विशाल हृदय और स्वतन्त्र विचारों के व्यक्ति थे। अपने मित्रों का स्वागत वे बड़ी आकर्षक आत्मीयता से मुस्कराते हुए करते। किसी के प्रति वैमनस्य या ईर्ष्या का भाव उनके मन में उत्पन्न न होता। वे शिष्टाचार का बड़ा ध्यान रखते थे। अपशब्दों का प्रयोग भूलकर भी नहीं करते। उनके मुक्त स्वभाव में भी एक मर्यादा रहती थी। इसीलिए अशिष्टता से उन्हें चिढ़ थी। वे आत्मसम्मान की मर्यादा को समझते थे, इसी से दूसरों का सम्मान करना उन्हें इष्ट रहा। वे किसी से लाभ या स्वार्थ साधने की आशा नहीं करते थे। अपने ऐश्वर्य को लेकर उन्हें अभिमान न था। हां, उन्होंने अभिमान सदैव उन्हीं को दिखाया, जो अपने को कुछ समझते थे तथा बनते थे। यह काशी के वातावरण के गठन का फल था[2]। प्रसाद जी को कौतूहलपूर्ण वार्ताएं सुनने का चाव था। यात्रा वर्णनों को सुनने के लिए बड़े आकृष्ट रहते थे।

प्रसाद जी बड़े व्यवहार कुशल थे। वे अपने अनुभवों में परिपक्व, भले बुरे के यथार्थ पारखी तथा दृढ़ व्रती लौह-पुरुष थे। यात्रा और कवि सम्मेलन...इन दोनों के प्रति वे बड़े शिथिल रहे हैं। उनकी दिन-चर्या बड़ी सामान्य रही है। उनमें न तो कहीं धूम-धाम को ही स्थान है, न कहीं विज्ञापन को ही। लौकिक विज्ञापन से सर्वथा दूर रहकर आत्मगुण की खोज करने वाले प्रसाद जी प्रकृति से दूर नहीं दिखाई देते। गृहस्थी और व्यापार उनकी लौकिक प्रवृति के परिचायक हैं, किन्तु चिन्तन मनन उनकी अभ्यान्तर निवृति का संदेश देते हैं ... उपनिषद् और गीता दोनों का समवेत रूप ही प्रसाद जी की दिनचर्या में प्रतिफलित हुआ था[3]।

१—शिव पूजन सहाय : प्रसाद का साहित्य : संकलित :, पृष्ठ २२।
२—कुमार पाण्डेय : कामायनी समीक्षा, पृष्ठ १७।
३—महाकवि प्रसाद, पृष्ठ ७।

प्रसाद जी आस्थावान धार्मिक प्रवृत्ति के पुरुष थे। शिव उनके उपास्य थे। वे खान-पान में परहेज मानते थे तथा शकुन आदि पर उन्हें विश्वास था[1]। प्रसाद जी में विद्रोह की, एक गहरे परिवर्तन की धारणा तो थी, परन्तु उस धारणा को प्रकाशित करने की उनकी प्रणाली या साधन क्रान्तिकारी न थे ...उनके संस्कार तथा मन की रचना कुछ ऐसी थी कि वे विद्रोह के किसी क्रियात्मक आन्दोलन का नेतृत्व करने की क्षमता नहीं रखते थे। उनकी निस्संगता की धारणा भी इसमें बाधक थी[2]।

प्रसाद जी अच्छे भोजन के शौकीन थे। नई-नई पाक प्रणालियों का आविष्कार कर स्वयं भी अच्छा भोजन बना लेते थे। उनका भोजन हमेशा सात्विक होता था। मांस मदिरा से उन्हें घृणा थी। पान और आहार के पश्चात तम्बाकू के अतिरिक्त और कोई व्यसन न था। बाग़बानी, शतरंज, संगीत, मूर्तिकला, चित्रकला आदि में इनकी अभिरुचि थी। कभी-कभी किसी महान् लेखक की कहानी पर बनाए गए फ़िल्म को भी देख लेते थे। प्रसाद जी को रेशमी वस्त्र पहनने का शौक था। किन्तु घर पर प्रायः खादी ही पहनते थे। जीवन के उत्तर काल में वे पूर्णतया खादी ही पहनने लगे थे। कभी कभी दुपलिया टोपी पहन कर बाहर निकलते, जो उन पर खूब फबती थी। प्रसाद-गृह के सर्व प्रिय अंगों में मन्दिर, फुलवाड़ी और अखाड़ा रहे हैं। प्रकृति-प्रेम की शिला तो बाल्य-काल से ही रखी गई थी। तब एक बार उन्होंने अपनी माता और बहिन के साथ धाराक्षेत्र, ओंकारनाथ, पुष्कर, उज्जैन, व्रज तथा अयोध्या की यात्रा की थी। दूसरी बार अपनी दूसरी पत्नी के निधन के उपरान्त वे यात्रा पर गए थे। वे दोनों बार प्रकृति के असीम सौन्दर्य से प्रभावित हुए, इसीलिए प्रकृति इनकी रचनाओं में ओत-प्रोत है।

(ग) जीवन दर्शन, विचारधारा

प्रसाद जी के जीवन का सुवर्णिम अंश उनका बाल्य-काल है। किशोर होने पर उन्हें जीवन की वैषम्यपूर्ण परिस्थितियों का सामना करना पड़ा। इस संघर्ष में उन्हें संसार के व्यावहारिक अनुभव हुए। उन अनुभवों के आधार पर सुख-दुख की व्याख्या करते हुए उन्होंने अपना मार्ग प्रशस्त किया। वही व्याख्या उनके साहित्य का प्राण है। संघर्ष, दुख की अनिवार्यता, करुणा, विश्वात्म भाव ...इन सब की गहरी छाप केवल उनके अध्ययन और मनन का ही परिणाम न थी, वरन् यह उनके जीवन का एक वास्तविक सत्य भी था, जिसमें से होकर वे निकले थे। उनके साहित्य में अतीत के स्वर्णिम स्वप्नों की भरमार है, इसलिए कि अपने युवाकाल में भी वे

१—विनोद शंकर व्यास : प्रसाद और उनका साहित्य, पृष्ठ २०।

२—राम नाथ सुमन : 'प्रसाद और उनका साहित्य' : में श्री व्यास द्वारा उत्कथित, पृष्ठ २०।

वाल्य-काल की स्वर्णिम अनुभूति और महान् ऐश्वर्य का स्वप्न नहीं भूल सके थे, जिसे उन्होंने देखा और कल्पित किया था।

जीवन का इतना वैषम्य सहते हुए प्रसाद में जीवन के प्रति अपार आसक्ति थी, क्यों कि वे 'जीवन अलभ्य है, जीवन सौभाग्य है' पर अटूट विश्वास करते थे। अपने अन्तिम समय में भी जब डाक्टरों ने निराश होकर उनसे कहा—'जो कुछ कहना हो कह दीजिए', तब भी प्रसाद जी ने केवल यही कहा था...'साँस लेने में बहुत कष्ट हो रहा है, उसे दूर करने की दवा दीजिए'[1]।'

प्रसाद जी नियतिवादी थे। उन्होंने अपने छोटे से जीवन में कई बार अपने स्नेह को खंडित होते देखा था। नियति के निर्मम विधान के सम्मुख इसी कारण वे जीवन भर झुके रहे। जीवन की इन कठोरताओं ने उन्हें नियति पर विश्वास करने के लिए विवश कर दिया था[2]। लेकिन फिर भी उन्होंने अपने जीवन को किसी भी दिशा को पलायनवादी भावना से प्लावित नहीं होने दिया। कर्म पर उनकी असीम आस्था थी। शिव के वे महान् उपासक थे, फिर भी अन्य देवताओं तथा धर्मों के प्रति वे सदैव सहिष्णु रहे। जाति पाँति की संकीर्णता भी उनमें नहीं थी। वे किसी कार्य को नीचा नहीं मानते थे। ब्राह्मण का आदर करते हुए शूद्र का असम्मान वे निन्दनीय मानते थे। वे अपना काम अपने हाथों करने और जानने के पक्षपाती रहे[3]।

एक बार प्रसाद जी ने 'जागरण' के अग्रलेख में लिखा था—कलाकार की कसौटी उसकी कला है न कि उसका व्यक्तित्व। वाल्मीकि और व्यास का आदर्श रखते हुए तो यह कहना पड़ता है कि बिना जले हुए, विदग्ध साहित्य की सृष्टि नहीं हो सकती, और तब कलाकार अपनी कला में व्यक्तित्व को खोकर कला के ही रूप में प्रतिष्ठित होता है।' प्रसाद जी ने स्वयं भी विदग्ध होकर अपने साहित्य की रचना की थी। उनके व्यक्तित्व और साहित्य दोनों में सामन्जस्य की एक श्रेणी सी फैली हुई प्रतिलक्षित होती है। कहीं कोई विरोधाभास या वैषम्य नहीं है। लगता है कि जैसे दोनों का समन्वय किसी वैज्ञानिक पद्धति से किया गया हो। स्वयं उनके पुत्र श्री रत्नशंकर ने 'प्रसाद की दिनचर्या' संस्मरण में लिखा है—'उनके साहित्यिक जीवन तथा घरेलू जीवन का एक ही सत्य था, वह था सामरस्य का सत्य'[4]। और यही सामरस्य की भावना उनके साहित्यिक एवं व्यावहारिक जीवन को भी एकाकार करने में प्रतिफलित हुई है।

१—गुलाब राय : प्रसाद जी की कला, पृष्ठ ७।

२—डा० प्रेम शंकर : प्रसाद का काव्य, पृष्ठ २८।

३—रत्न शंकर 'प्रसाद' : प्रसाद का साहित्य में, पृष्ठ २५।

४—वही, पृष्ठ २०।

(ब) अध्ययन—

प्रसाद जी के गम्भीर और विशाल अध्ययन के आधार पर उनके नारी सम्बन्धी आदर्शों और मान्यताओं को परिपुष्टि प्राप्त हुई है। उन्होंने वैदिक साहित्य से लेकर स्मृति, पुराण, उपनिषद, इतिहास तथा बौद्ध और शैव दर्शन का अध्ययन कर तथा उनसे प्रभावित हो अपने विचारों को स्वरूप प्रदान किया। उनकी विचार धारा के विकास में संस्कृत और भारतीय इतिहास का विशेष योगदान रहा है। भारतीय इतिहास में उन्होंने उसके सुवर्णयुग—गुप्तकाल को ही अपने नाटकों की पीठिका के रूप में प्रस्तुत किया है। दूसरी ओर कालिदास, भवभूति, भारवि, माघ वाल्मीकि, व्यास आदि प्रभृति साहित्यकारों की रचनाएं उनके साहित्य में एक वीथिका सी बनाती चलती है।

वैदिक साहित्य में—जैसा कि हम 'पृष्ठभूमि' में कह आए हैं, नारी सम्मान के प्रति एक विशेष आदर की भावना व्यक्त हुई है। उनमें स्त्री और पुरुष परमात्मा के दो रूप माने गए हैं :—

स्वेच्छामयः स्वेच्छया च द्विधारूपो वभूव ह।
स्त्रीरूपो वामभागांशो दक्षिणांशः पुमान् स्मृतः।

दर्शन शास्त्रों और उपनिषदों का अध्ययन भी प्रसाद जी की रुचि का विषय रहा है। इन दर्शन ग्रन्थों में जीव सृष्टि की दो स्वतन्त्र धाराएँ मानी गई हैं। एक स्त्री धारा और दूसरी पुरुष धारा—

'नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायम् नपुंसकः
यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स लक्ष्यते।'
(श्वेताश्वतर उपनिषद्)

वैदिक साहित्य में नारी को पुरुष के समान ही मान कर नहीं रहा गया है। उसे पुरुष से उच्चतर बनाने की चेष्टा निरन्तर कार्यान्वित हुई है और इसीलिए इनका स्तवन किया गया है (ऋगवेद ४।५७।६।७)। प्रसाद जी पर इन वैदिक मान्यताओं का यथेष्ठ प्रभाव पड़ा है। वैदिक साहित्य की प्रेरणा से प्रसाद ने अपने युग के अनुकूल जीवन के आदर्शों की प्रतिष्ठा की है। नारी को, जो इनके युग में आकर परवशता और दैन्य का जीवन विता रही थी, इन्होंने फिर से सम्मान, सहानुभूति और आस्था प्रदान की।

संस्कृत साहित्य से प्रसाद जी का अटूट सम्बन्ध रहा है। कहीं कहीं उनके आदर्श कालिदास, भवभूति आदि साहित्यकारों के बहुत निकट आ जाते हैं। कालिदास को सामान्यतः प्रणय और शृंगार का कवि माना जाता है परन्तु 'संस्कृत

कवियों में वही अकेला ऐसा कवि है (बाण को छोड़कर) जिसने अपने युग की चेतना को अपने काव्यों में तरलित कर दिया है। यदि कालिदास संस्कृत साहित्य का चोटी का रस सिद्ध कवि है तो दूसरी ओर भारत के प्राचीन इतिहास के ज्वलन्तमय युग का दीपस्तम्भ और पौराणिक ब्राह्मण धर्म तथा वर्णाश्रमधर्म का सच्चा प्रतीक[1] भी।' प्रसाद के विषय में भी यही बात सच्ची उतरती है। महान कवि, नाटककार और अतीत के गायक होने के साथ-साथ वे अपने युग के व्याख्याता भी हैं। कालिदास का युग गुप्तकाल माना जाता है। गुप्त काल भारतीत इतिहास का सुवर्ण-युग रहा है, प्रसाद जी ने भी इसी अतीत का चित्रांकन किया है। इस विन्दु पर दोनों साहित्यकार एक हो जाते हैं। मानव भाव के विविध रूपों का आकलन कालिदास की दूसरी महत्वपूर्ण विशेषता रही है। विजातीय आकर्षण से संघर्ष की उत्पत्ति और तदुपरान्त सामंजस्य की स्थापना पर कालिदास का विश्वास रहा है।

कालिदास ने नारी पात्रों के प्रति एक सहज सम्मान की भावना को अधिष्ठित किया है। कालीदास की नारी अपने स्वरूप में साध्वी, श्रद्धामयी, मूर्तिमयी तथा सत्क्रिया स्वरूपा है। गृहिणी के रूप में वह अपार गर्व रहित, पूर्ण समर्पित तथा विश्व मैत्री की संदेश-वाहिका रही है। कालिदास के युग के अनुसार उसमें सपत्नीक भावना का अभाव भी है। कालिदास की नारी भी केवल प्यार करने की सुविधा माँगती है। स्त्री-पुरुष के प्रथम दृष्टि के प्रेम पर संस्कृत कवि भी विश्वास करता है। नारी की स्वतन्त्रता का भी वह हामी है। परन्तु स्वच्छन्दता, जो नैतिक नियमों का उल्लंघन करने को तत्पर होती है, कालिदास को मान्य नहीं है। दुष्यंत द्वारा सीमाल्लोघंन करने की तत्परता में शकुन अपने आत्म सम्मान और मर्यादा की रक्षा करती हुई उसे रोक देती है—पौरव, रक्ष विनय, मदनसंतप्तापि न खल्वात्मनः प्रभवामि।'

(अभिज्ञान शाकुन्तलम् पृष्ठ २४, गोविन्द प्रकाशन, अहमदाबाद)

कालिदास ने 'प्रभुता तवैव' कह कर पुरुष पर नारी की महत्ता को स्वीकार किया है। वे नारी के शारीरिक आकर्षण की अपेक्षा उसके आत्मिक सौंदर्य को अधिक महत्त्व देते हैं। सौंदर्य का महत्त्व भी तभी है जब कोई उसका प्रेमी हो 'प्रियेषु सौभाग्य फला हि चारुता'। नारी में सौंदर्य के साथ-साथ तपस्विता का होना भी अनिवार्य है, उसी के तेज में ही उसका सौन्दर्य निखार पाता है। इसलिए अपूर्व सुन्दरी होते हुए भी पार्वती को शिव की तपस्या करनी पड़ी है। नारी को इतनी महत्ता प्रदान के साथ-साथ कालिदास उसके लिये स्मृति विहित मार्ग की योजना करते हैं। उच्छृंखलता उन्हें लेश-मात्र भी मान्य नहीं है। शकुन्तला को

१—भोला शंकर व्यास : संस्कृत कवि दर्शन, पृष्ठ ७१।

२—अभिज्ञान शाकुन्तलम्, ५वाँ अंक, श्लोक २२।

जरा सी कर्त्तव्य विमुखता के लिये दुर्वासा के शाप का भागी होना पड़ा। कालिदास की नारी की सबसे बड़ी विशेषता उसका सदैव आशावादिनी होना है।

कालिदास के उपरान्त भवभूति के 'उत्तर राम चरित' में सीता नारी का एक नवीन आदर्श उपस्थित करती है। वहाँ उसका अपना कोई स्वतन्त्र व्यक्तित्व नहीं है। वह पूर्ण आत्म-समर्पिता है। राम का सुख उसका ध्येय है—'प्रियाहि: ननु सर्वस्वार्थपूर्णो विशेषतो मम प्रियसख्या :' उसके प्रणय में निष्काम भावना का चरम उत्कर्ष प्रतिलक्षित होता है। भवभूति ने नारी को करुणा की मूर्ति के रूप में देखा है :—

'करुणस्य मूर्तिरथवा शरीरिणी
विरहव्यथैव वनमेति जानकी।'
(उत्तर रामचरित पृष्ठ ६७)

वह कोमल, भावुक और संवेदनशील है तथा स्वभाव से ही प्रेम करने वाली है। 'प्रकृत्यैव प्रिया सीता।' कालिदास और भवभूति दोनों महाकवियों की विशेषता नारी के प्रेम की एकनिष्ठा की भावना को लेकर है। भवभूति की सीता में भारतीय आदर्शानुकूल नारी के सभी उदात्त गुणों—पावित्र्य, साहस, धैर्य तथा औदार्य की समाविष्टि हुई है। यहाँ भी प्रेम के क्षेत्र में व्यष्टि का समष्टि में पर्यवसान होता है। जब राम लोक हित के लिए स्नेह, दया, सौख्य और यहां तक कि सीता को भी त्याग देने की बात कहते हैं तो सीता उनका समर्थन करती हुई कहती है—

'अत एव राघवकुलधुरन्धर आर्यपुत्र:'

कालिदास की भाँति भवभूति भी रूप की अपेक्षा आदर्शों की महत्ता प्रस्थापित करते हैं।

भारवि के 'किरातार्जुनीय' से प्रसाद जी को अपने नाटकों की राजनैतिक पृष्ठ भूमि, युद्ध-स्थल वर्णन, राजकीय समाज, मन्त्रणाएँ, सामन्ती विलास गृह आदि के चित्र प्रस्तुत करने में सहायता प्राप्त हुई है। भारवि राजनीति के प्रकाण्ड पंडित थे। युधिष्ठिर की उक्तियाँ इसका प्रमाण हैं। राजनीति की ही भाँति वे काम-शास्त्र के भी अच्छे पंडित रहे हैं। परन्तु उनमें कालिदास की सी रसिकता नहीं। भारवि का शृंगार भाव-पक्ष की अपेक्षा अपने कला-पक्ष में महान् है। वे प्रणय के नहीं वरन् प्रणय-कला के कवि हैं।

भारवि की भाँति माघ का 'शिशुपाल वध' भी उनके कलावादी कवित्व का उत्कृष्ट उदाहरण है। उनमें पांडित्य की प्रचुरता है। कलावादी होने के कारण उनमें शब्द और अर्थ दोनों के सौन्दर्य पर ध्यान देने की प्रवृत्ति अधिक दिखाई पड़ती है।

संस्कृत काव्य धारा के मूल स्रोत वाल्मीकि-रामायण का अध्ययन प्रसाद जी की विशेष चिन्तना का विषय रहा है। जीवन के स्थायी तत्वों से अनुप्राणित और उन पर आधारित यह काव्य कृति अपनी प्रमुख विशिष्टता—उदात्तता—को लेकर प्रस्तुत होती है। आदि कवि वाल्मीकि के 'इस काव्य-मन्दिर की पीठ स्थली है राम तथा जानकी का चरित" । राम चरित्र की उदात्तता, पूर्ण मानव के रूप में अपने में महान् है। जानकी के शील सौन्दर्य का तेज अपनी सम्पूर्ण शीतलता के साथ निःसृत हुआ है। उनके उत्कृष्ट चरित्र में उदात्तता मूर्तिमान हो उठी है। परित्याग के समय भी उनका धैर्य तथा मन की उदारता संस्कृत साहित्य में अपना सानी नहीं रखती। प्रसाद जी के नारी पात्रों में निःसृत उदात्तता का यह गुण विश्व कवि वाल्मीकि की लेखनी के चमत्कार से अनुप्राणित है।

रामायण की ही भाँति व्यास के महाभारत से भी प्रसाद जी प्रभावित हुए हैं। उनके कंकाल का वर्ण संकर समाज महाभारत के अध्ययन की देन है। उन्होंने अपने समाज में महाभारत कालीन समस्याओं और विषमताओं को लक्ष्य किया था। महिलाओं की स्थिति का अध्ययन इस दिशा में विशेष चिन्तन का विषय बना। सामाजिक व्यवस्था की उच्छृंखलता में किस प्रकार जीवन विभीषिकाओं की केन्द्र स्थली बन जाता है और सामाजिक व्यावहारिकता की गति में किन परिस्थितियों के कारण शैथिल्य आ जाता है, प्रसाद जी ने इन सबका मनन किया था, परिणाम स्वरूप उनका विश्लेषण ही उनके साहित्य का विषय बना।

संस्कृत साहित्य के इस अध्ययन के साथ-साथ प्रसाद जी ने शैव दर्शन, बौद्ध दर्शन तथा इतिहास का भी गहन अध्ययन किया था। उनका परिवार शैव मत का अनुयायी था। शैव दर्शन आगम ग्रन्थों का एक प्रकार है। शैव दर्शन के अन्तर्गत प्रत्यभिज्ञा दर्शन से प्रसाद जी अत्यधिक प्रभावित थे। इसी दर्शन के आधार पर उनके नारी सम्बन्धी दार्शनिक दृष्टिकोण का विकास हुआ है। 'जिस तरह स्त्रीतत्व और पुरुष-तत्व के योग से साधारण संसृति की उत्पत्ति होती है उसी तरह प्रत्याभिज्ञ—दर्शन में भी आनन्द-रूपा शक्ति एवं चित्त रूप शिव को सोम तत्व तथा अग्नि तत्व एवं नाद तथा बिन्दु कह कर दोनों के पारस्परिक संघटनात्मक सामरस्य से, सम्पूर्ण विश्व का विकास सिद्ध किया है।

(तन्त्रलोक, भाग २, पृष्ठ ६८, १२८, १६२, १६३)

प्रसाद साहित्य में उक्त दर्शन की अन्य विशेषताएं नियतिवाद, स्वतन्त्रता-वाद, अभेदवाद (आभासवाद) समरसता तथा आनन्दवाद के रूप में अभिव्यक्त हुई है। इस दर्शन का विकास काश्मीर प्रदेश में होने के कारण, इसे काश्मीरीय शैव दर्शन भी कहा जाता है।

१—बलदेव उपाध्याय : वाल्मीकि, आलोचना (अंक २५, पृष्ठ ३६)

शैव दर्शन के साथ-साथ बौद्ध दर्शन का प्रभाव भी प्रसाद साहित्य में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। बौद्धदर्शन के अनुसार सारा संसार दुख पूर्ण है, दुखों के कारण हैं, दुखों का नाश हो सकता है और इसके लिये उपाय भी हैं। प्रसाद में दुखवाद का स्वर बहुत ऊंचा है। उनके अजातशत्रु, चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त एवं कामायनी में इसके उदाहरण बिखरे पड़े हैं। साथ ही वे इस दर्शन की दूसरी मान्यता क्षणिकवाद से भी प्रभावित हैं। इस संदर्भ में कामायनी की ये पंक्तियां द्दष्टव्य हैं।

'जीवन तेरा क्षुद्र अंश है।
व्यक्त नील घन-माला में।
सौदामिनी संधि सा सुन्दर।
क्षण भर रहा उजाला में'। (पृष्ठ १६)

महायान सम्प्रदाय के अनुसार बुद्धत्व को वही प्राणी पा सकता है जिसमें प्रज्ञा के साथ-साथ महाकरुणा का भाव भी विद्यमान हो। 'वोधिचर्यावतार पंञ्जिका' में लिखा है कि वोधिसत्व या जीवात्मा का एक ही धर्म है कि वह महाकरुणा को प्राप्त करे। 'महाकरुणा की प्राप्ति से ही बुद्धत्व की प्राप्ति होती है।'

प्रसाद जी को करुणा की यह प्रेरणा बौद्ध साहित्य के अतिरिक्त भगवद्गीता से भी प्राप्त हुई है। गीता में करुणा को शान्ति प्राप्त योगी का एक लक्षण बतलाया है और कहा है कि जो 'व्यक्ति परम् शान्ति को प्राप्त कर लेता है वह समस्त प्राणियों से द्वेष रहित हो जाता है, सबका मित्र बन जाता है तथा सभी के प्रति करुणा का भाव रखने लगता है।

प्रसाद ने भारतीय साहित्य के इस अध्ययन के साथ-साथ पाश्चात्य साहित्य का भी अध्ययन किया था। वे स्वच्छन्दतावाद के प्रवर्तक थे। अतः पाश्चात्य स्वच्छन्दतावादी कवि उनके अध्ययन के मुख्य विषय रहे हैं। १६ वीं शती में योरुपीय स्वच्छन्दतावाद की इस काव्य धारा का विकास बाइरन, शैली और कीट्स में पूर्ण विकसित हुआ है। बाइरन में विद्रोह और क्रान्ति की भावना का उत्कर्ष है। वह आध्यात्मिकता और नैतिकता का आरोपण नहीं करता ; भावना का प्रवेग, सौन्दर्य ही उसके काव्य में सशक्त होकर आते हैं। इसके विपरीत शैली में कोमल कल्पना की अवस्थिति हुई है। स्नेह, सहानुभूति के साथ-साथ करुणा की छाया भी उसके साहित्य में विस्तृत है। प्रसाद को शैली की यह करुणा भली लगी है—लेकिन दोनों कवियों की करुणा में महान् अन्तर है। शैली में निराशावाद का स्वर ऊँचा है। वह जीवन से उदासीन है। वह कहता है—

'दिन और रात का उल्लास न जाने कहां चला गया। नवल मधुमास, ग्रीष्म और शिशिर वृद्ध होकर मेरे छोटे से मन को शोक और पीड़ा से भर देते हैं, किन्तु उल्लास कभी नहीं आता, ओह! अब कभी नहीं आता।'

दूसरी ओर प्रसाद की करुणा में शक्ति और विश्वास की भावना जीवन के लिये संदेश और सम्बल बन कर आती है—

'नीरव जीवन और एकान्त व्याकुलता, कचोटने का सुख मिलता है। जब हृदय में रुदन का स्वर उठता है तभी संगीत की वीणा मिला लेती हूँ। उसी में सब छिप जाता है।' (पृष्ठ ९०, स्कन्दगुप्त)

स्वच्छन्दवादी कवियों में कीट्स प्रेम की तीव्रतम अनुभूति को लेकर उपस्थित हुआ है। इसीलिए उसमें मांसल रोमान्स की भावना विशेष रूप से अभिव्यक्त हुई है। अपने प्रणय की असफलता में वह शान्त, गम्भीर और संतुलित नहीं रह सका है।—उसके जीवन-दर्शन में सामंजस्य का अभाव है। फेनी ब्राउनी के विषय को लेकर अपने साथी ब्राउन को लिखे गये पत्रों में उसकी मांसल पिपासा जैसे तृप्ति के अभाव में चिल्ला-चिल्ला कर रो उठी है। एक पत्र में उसने लिखा है—

'मैं मर सकता हूँ, लेकिन उसे नहीं छोड़ सकता। हे भगवन्, भगवन्, भगवन्! मेरे संदूक में सब कुछ है, जो भाले की धार के समान शरीर में प्रवेश करता हुआ उसकी याद दिलाता है। उसके विषय में मेरी कल्पना बहुत स्पष्ट है ब्राउन! मैं उसे देखता हूँ, मैं उसे सुनता हूँ। ब्राउन! मेरी छाती में अंगारे दहक रहे हैं।'

कीट्स की भाँति प्रसाद को भी प्रणय की असफलता का सामना करना पड़ा था। परन्तु प्रसाद में सयम, उदारता, धैर्य और गम्भीरता का अभाव कभी नहीं रहा।

कीट्स में उत्कट कोमलता की भावना विद्यमान थी। उसने स्वयं लिखा है:—
...'जब मैं स्कूल का विद्यार्थी था तब मैं नारी को पवित्र देवी के रूप में मानता था। मेरा मन एक कोमल नीड़ की भाँति था जिसमें उनमें से कोई न कोई निद्रा लेता रहता था। भले ही उसे इसका पता न हो। मैं उन्हें पुरुष से भी उच्च समझता था।...लेकिन अब जब मैं नारी के साथ होता हूँ, मेरे मन में बुरे विचार आते हैं। मैं उन्हें शंका से देखता हूँ। मैं न तो चुप ही रह सकता हूँ, न बातें ही कर सकता हूँ।'

उपर्युक्त स्वच्छन्दतावादी कवियों के अतिरिक्त प्रसाद जी का अध्ययन इब्सन, फ्रायड् और बर्नार्डशा के विषय को लेकर भी रहा है। नये युग में टी० एस० इलियट तथा गेटे आदि के साहित्य से प्रसाद जी परिचित रहे हैं। उनके इस विस्तृत अध्ययन के परिणाम स्वरूप उनके साहित्य में वैविध्य का सौन्दर्य निखरा है। अध्ययन और मौलिक उद्भावनाओं के सामंजस्य से प्रसाद ने जिस साहित्य की रचना की है उसका महत्व अपनी मान्यताओं तथा आदर्शों को व्यवस्थित, स्पष्ट और सही रूप से प्रस्तुत करने के संदर्भ में बहुत अधिक बढ़ जाता है।

(स) सामाजिक परिपार्श्व—

प्रसाद के अभ्युदय का काल भारत की राष्ट्रीय जागृति एवं सामाजिक चेतना का काल है। १९ वीं शती के उत्तर काल में बहुत सी छोटी २ राष्ट्रीय संस्थाओं की स्थापना होकर अंत में राष्ट्रीय कांग्रेस के रूप में एक सुदृढ़ राजनैतिक संस्था का निर्माण हो चुका था और प्रसाद के साहित्यिक जीवन आरम्भ करने के समय तक यह अपने स्वरूप में शक्तिशाली एवं सुनिश्चित लक्ष्य लेकर चलने वाली संस्था मान ली गई थी। १९०४ में जापान जैसे छोटे से देश ने रूस पर विजय प्राप्त कर ली। भारत को इससे प्रेरणा मिली और दूसरे ही वर्ष १९०५ में कांग्रेस के काशी अधिवेशन में तिलक ने 'स्वतन्त्रता के जन्म सिद्ध अधिकार होने की घोषणा कर दी। इसी वर्ष बंगाल-विभाजन के विरोध-स्वरूप राष्ट्रीय कांग्रेस का क्षेत्र-विस्तार और भी तीव्र गति से हुआ और धीरे-धीरे महिला-समाज का भी राजनैतिक एवं रचनात्मक कार्यों में आवाहन् होने लगा। वास्तव में प्रसाद-युग राजनैतिक क्षेत्र में गाँधी-युग है क्योंकि इस काल में देश का स्वरूप गांधी जी द्वारा निश्चित किया गया और वे ही इसके निर्माणकर्ता माने गए। इनके ही नेतृत्व में अब आध्यात्मिक लाभों से अधिक महत्त्व वैज्ञानिक उन्नति तथा राष्ट्रीयता को दिया जाने लगा। देश-सेवा के लक्ष्य को सम्मुख रखकर इनके निर्देशन में जाति-पाँत तथा लिंग के समस्त बाधा बन्धन नष्ट हो गए। नारी सम्मान, सत्यनिष्ठा एवं अहिंसा पालन के शस्त्रों को लेकर वे विश्व बंधुत्व के लक्ष्य-पथ पर बढ़ने लगे, इस काल की अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों ने भी भारत में विकास पाती हुई इस विचारधारा का साथ दिया तथा मानवतावादी प्रष्तिठा की भावना को प्रश्रय प्राप्त हुआ।

राष्ट्रीय जागृति के इस प्रहर में गाँधी जी ने युगों से उपेक्षित महिला के महत्व तथा उसकी आवश्यकता को समझा। उनकी अहिंसा नीति को सफल बनाने के लिए नारी ही सर्वश्रेष्ठ अस्त्र हो सकती थी। इटली में अहिंसा पर भाषण देते हुए उन्होंने कहा था—

'अहिंसा की यही विशेषता है कि नारी पुरुष के समान संघर्ष में भाग ले सकती है। भारत में अहिंसा संघर्ष में नारी ने पुरुषों की अपेक्षा अधिक योग दिया है। अहिंसा-युद्ध की नीति मूलतः सहन शक्ति पर आधारित है, और नारी से बढ़ कर सहन-शक्ति किसमें हो सकती है। (यंग इन्डिया, १४-१-१९३२)

सविनय अवज्ञा आन्दोलन के दिनों में महिलाओं में राष्ट्रीय चेतना का विकास व्यापक रीति से हुआ। भारतीय इतिहास में क्षत्रिय राजवंशों के बाद पहली बार नारी खुलकर राष्ट्रीय क्षेत्र में अवतीर्ण हुई और उसने अपनी इच्छा से धार्मिक तथा जाति सम्बंधी बन्धनों को तोड़ते हुए पुलिस की झिड़कियाँ, लाठी प्रहारों और जेल की यातनाओं को सहा; न्यायालयों में खड़ी हुई और अपूर्व उत्साह के साथ देश के चरणों पर अपने प्राणों की बलि दी।

प्रसाद युग भारत की राजनैतिक विकास-भावना के साथ-साथ सामाजिक, साहित्यिक, एवं सांस्कृतिक विकास का युग भी है, इसी युग में नवीन विचार धाराओं को भी भारतीय भूमि में प्रस्फुटित होने का अवकाश मिला। इनमें मार्क्स-वाद, बुद्धिवाद, जनवाद, अन्तर्राष्ट्रीयतावाद तथा मानवतावाद विशेष रूप से उल्लेख-नीय हैं। इन सभी विचार धाराओं ने समान रूप से मानव के मूल्य और महत्व की प्रतिष्ठा करनी चाही, अब भारतीय विचारकों को चिन्तन और मनन के लिए एक नवीन भाव-भूमि प्राप्त हुई। फलस्वरूप परिसीमित नारी को अवरुद्ध परिपाटी के बाहर निकालकर उन्मुक्त बौद्धिक आलोक में देखने का प्रयत्न किया गया। प्रसाद पर इस मानवतावादी विचारधारा का प्रचुर प्रभाव पड़ा है और यह सांस्कृतिक, मानवता-वादी भावना उनकी मूल साहित्यिक विचारधारा बनकर अभिव्यक्त हुई है।

इस युग की सामाजिक सुधार संस्थाओं में विशेष आर्य समाज, प्रार्थना समाज, रामकृष्ण मिशन तथा ब्रह्म विद्या समाज ने अन्य समाज सुधारों के साथ-साथ नारी जागृति की भावना को विशेष बल प्रदान किया। महर्षि दयानन्द द्वारा प्रस्थापित आर्य समाज इन सभी संस्थाओं में अग्रगण्य रहा क्योंकि इसके माध्यम सैद्धान्तिक उपदेशों के स्थान पर रचनात्मक कार्यों को व्यवहार में लाया गया। भारतीय संस्कृति का प्रचार, बाल विवाह निषेध, विधवा विवाह का समर्थन और गुरुकुलों की स्थापना आर्य-समाज के प्रमुख कार्यक्रम रहे हैं। स्त्री-शिक्षा के लिए आर्य-कन्या पाठशालाओं की स्थापना का सर्वोत्तम प्रबन्ध है। इसके साथ ही स्वामी दयानन्द ने युग निर्माता की भांति देश के सुप्त मस्तिष्क को प्रबुद्ध करने का प्रयास किया। उनका 'सत्यार्थ-प्रकाश' इस दिशा में अपना निजी महत्व रखता है। सामाजिक जीवन को उत्प्रेरित करने और अतीत संस्कृति के पुनरुद्धार के निमित्त उनके 'आर्य-समाज' का कार्य प्रशंसनीय रहा है। उसमें प्रतिक्रिया की भावना के स्थान पर नव-निर्माण की वास्तविक लालसा प्रमुख रही है। आत्मविश्वास की भावना से देश के उदास मस्तिष्क को चेतन करते हुए, वैदिक सभ्यता एवं संस्कृति की प्रायोगिक श्रेष्ठता प्रामाणित करने में उनका योगदान महत्वपूर्ण है।

इसी दिशा में बम्बई में स्थापित प्रार्थना समाज ने भी समाज-सुधार कार्यों को आगे बढ़ाया है। प्रार्थना समाज के प्रमुख कार्यकर्ताओं में लालशंकर उमियशंकर रहे हैं। अनाथ बालिकाओं एवं महिलाओं को आश्रय देकर उनकी शिक्षा का प्रबन्ध करना तथा उन्हें स्वावलम्बी जीवन निर्वाह करने के उद्देश्य को लेकर नाना प्रकार के प्रशिक्षण देना इस संस्था की विशेषता रही है। इस समाज के संस्थापक महादेव गोविन्द रानाडे तथा भंडारकर की समाज-सेवाएँ अपना विशेष महत्व रखती हैं।

इस काल की दूसरी संस्था रामकृष्ण मिशन द्वारा धार्मिक क्षेत्र में उदात्त दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति हुई। स्वामी रामकृष्ण मूलतः सभी धर्मों को एक मानने के पक्षपाती थे। उनकी परम्परा में उनके शिष्य विवेकानन्द हुए, जिन्होंने भारतीय

अद्वैतवाद के व्यावहारिक रूप को विश्व के समक्ष बड़े स्पष्ट रूप से बल तथा विश्वास के साथ रक्खा। वे आध्यात्मिक भावनाओं के प्रसार द्वारा वेदान्त के सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा करना चाहते थे। उनका मार्ग सुधारवादी था। समाज में व्याप्त अन्धविश्वासों पर स्थापित आडम्बर को एकाएक मिटाने के स्थान पर वे उनमें सुधार करने के पक्षपाती थे। स्वामी रामकृष्ण ने एक स्थान पर स्वयं लिखा है... 'पुराने सभी विचार अन्ध विश्वास हो सकते हैं, परन्तु अंधविश्वासों के विशाल समूह में सत्य की सुवर्ण कणिकाएं हैं। क्या तुमने ऐसा साधन ढूंढ़ निकला है जिससे सुवर्ण को सुरक्षित रखते हुए उसकी अशुद्धि को दूर कर सको।'[1] उन्होंने भारतीय संस्कृति एवं भारतीय साधनों के माध्यम भारत के उद्धार, उन्नति और विकास की बात को बल दिया। प्रसाद जी इस मिशन के सिद्धांतों से काफी प्रभावित थे।

राजाराम मोहन राय द्वारा स्थापित 'ब्रह्म समाज' को आगे चलकर केशव चन्द्र सेन का संरक्षण एवं दृष्टिकोण प्राप्त हुआ। यह भी रामकृष्ण मिशन की भाँति पहले तो सुधारवादी ही अधिक था। बाद में केशव चन्द्र सेन के समय में इसमें क्रांति के बीज प्रस्फुटित होने लगे थे। समता और परोपकार इस संस्था के मूल मंत्र थे। वेदान्त-धर्म 'समाज' द्वारा मान्य था, परन्तु मूर्ति-पूजा इसके सिद्धांतों के विरुद्ध थी। इस काल में श्रीमती एनी बीसेंट ने भारतीय आदर्शों एवं परम्पराओं की प्रतिष्ठा का प्रयत्न किया। इनकी संस्था 'ब्रह्म विद्या समाज' का प्राचीन भारतीय संस्कृति के नवोन्मेष में महत्त्व पूर्ण योगदान रहा है। परन्तु इस संस्था का संदेश केवल बुद्धिवादियों तक ही सीमित रह गया, अतः लोक प्रचार के अभाव में इसका अधिक विकास न हो सका।

इसी संदर्भ में हम गाँधी जी की सामाजिक विचारधारा पर भी कुछ कह लेना चाहते हैं। उन्होंने सामाजिक क्षेत्र में साहित्यिक प्रसाद की भाँति समन्वय और सामंजस्य का आदर्श प्रस्तुत किया है। मानवतावादी आदर्श की स्थापना, व्यापक और विराट धार्मिक भावनाएं, भारतीय संस्कृति का पुनरावर्तन, प्रवृति-निवृति का समन्वय, प्राणी मात्र के साथ ऐक्य-स्थापना का आदर्श तथा सबसे विशेष नारी स्वातन्त्र्य—गाँधी जी की सामाजिक विचार धारा के विशेष विन्दु रहे हैं। इस युग में उन्हीं के माध्यम भारत ने व्यावहारिक क्षेत्र में नारी को सम्मान देना सीखा है। 'मानव जीवन का कोई भी ऐसा पहलू नहीं है जिसमें गांधी जी ने मौलिक संशोधन न किया हो। केवल विचार में ही नहीं, आचार में भी उन्होंने क्रान्ति की है।'[2] गांधी जी भारतीय संस्कृति की संवेदनशील प्रकृति से भली भाँति परिचित थे और इसी लिए उसमें परिस्थिति और वातावरण के अनुकूल परिवर्तन या क्रांति की जा सकती है, इस पर उन्हें अटूट विश्वास था और उन्होंने प्रयोगात्मक रीति से इस सत्य को

१—सुधाकर पाण्डेय द्वारा 'प्रसाद की कविताएँ' पृष्ठ २२ पर उद्धृत्।
२—बसन्तलाल मुरारका स्मृति ग्रन्थ, पृष्ठ १६।

प्रस्थापित भी कर दिखाया, जो उनके सामाजिक जीवन की सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि है।

उपर्युक्त विवेचन के साथ साथ प्रसाद युगीन हिन्दी साहित्य की गतिविधि को जान लेना भी अप्रासंगिक न होगा। प्रसाद युग संक्रान्ति का युग था, राजनीतिक उथल-पुथल, सामाजिक आदर्श-प्रतिष्ठा, सांस्कृतिक पुनरुद्धार एवं साहित्यिक विचार परिवर्तन सभी क्रांति की उत्प्रेरक भावनाएं एक धारा में सन्निहित होकर नवीन भारत की सृष्टि कर रही थीं। जिस प्रकार प्रसाद-जीवन में दूकान, गृहस्थी और साहित्य साधना की त्रिवेणी प्रवाहित हुई, कुछ उसी प्रकार साहित्यिक क्षेत्र में भी उन्होंने एक साथ चार-चार विरोधी युगों का प्रतिनिधित्व किया। प्रसाद के परिवार में परम्परा से हीं साहित्यिक लोगों का आवागमन बना रहता था। अतः बाल्य काल में भारतेन्दु युग के अवशिष्ट संस्कारों से उनका परिचय हो चुका था। उनकी प्रारम्भिक कविताएं भी व्रजभाषा में ही रची गई थीं। द्विवेदी युग में उन्होंने स्वयं लिखना आरम्भ कर दिया था। उसके उपरान्त छायावादी कविता के अधिष्ठाता वे स्वयं बने, जिसको महादेवी, निराला और पंत के द्वारा सज्जापूर्ण व्यवस्था एवं अभिव्यंजना की व्यापकता प्रदान की गई और अपने उत्तर काल में 'कामायनी' 'कंकाल' और 'तितली' द्वारा प्रगतिवाद का पथ भी उन्हीं के द्वारा प्रशस्त किया गया।

भारतेन्दु युग में समाज सुधार आन्दोलन काफी प्रौढ़ हो चुका था। जाति भेद, शिक्षा एवं नारी समस्या उसके सम्मुख विशेष रूपसे विद्यमान थी। नारी सम्बंधी सुधारों का आरम्भ भारतेन्दु युग की सबसे विशिष्ट देन है जिसको द्विवेदी काल में महावीर प्रसाद द्विवेदी, रामनरेश त्रिपाठी तथा सत्यदेव परिव्राजक आदि साहित्य-सेवियों द्वारा विशेष महत्व दिया गया। छायावादी काल में उसमें सात्विक मधुरिमा की सज्जा एवं महान् आदर्श की कल्पना प्रतिष्ठित की गई तथा उसको उच्चतर भाव भूमि में अधिष्ठित किया गया। फिर प्रगति युग में मानवतावादी दृष्टिकोण के विकास स्वरूप उसमें समानता के भाव की खोज की गई।

इसी काल में राष्ट्रीय जागरण की उद्घोषणा भी हुई। अतः स्वराज्य की प्राप्ति के लिए नारी का सहयोग भी आवश्यक समझा गया। १९१७ के बाद नारी व्यावहारिक रूप से राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के समारोह में भाग लेने लगी और उसकी परम्परागत परिबद्ध एवं परिसीमित सीमाओं की लक्ष्मण रेखा मिटा दी गई।

प्रसाद ने भारतीय समाज की इस परिवर्तित होती हुई परिस्थितियों का गम्भीर अध्ययन किया था। दूसरे तत्कालीन समाज के प्रभाव से भी वे अछूते न रहे थे। उन्होंने नारी की दयनीय वस्तु स्थिति को बहुत निकट से देखा था और तब सामाजिक मान्यताओं की प्रतिक्रिया स्वरूप वे उसके लिए अपने साहित्य में स्वतंत्रता और सम्मान की उद्घोषणा लेकर प्रकट हुए।

(इ) निजी अनुभव—

प्रसाद जी का जीवन किशोरावस्था से लेकर अन्त समय तक अनुभवों की कसौटी पर कसा जाता रहा है और ऐसी दशा में उन्हें कड़ुवे मीठे सभी प्रकार के अनुभव हुए हैं। प्रतिकूल परिस्थितियों एवं असम घटनाओं में कभी कभी उनके दुःखवाद का स्वर बहुत ऊंचा सा उठता दिखाई पड़ता है। जैसे 'ले चल मुझे भुलावा देकर, मेरे नाविक धीरे धीरे' (लहर) वाली कविता में; तब ऐसा लगता है मानो कवि, जीवन की इस विषमता से ऊब गया है, उसमें विरोध, प्रतिरोध करने की शक्ति भी नहीं रही है और इसी लिए वह कोलाहल की अवनी से दूर, तारों की घनी छाया के तले, तारकों के झलकते हुए प्रदेश में, जहाँ सागर की कोमल लहरियां अम्बर के कानों में निश्छल प्रेम कथा कह रही हों—जाकर अपने जीवन की चिन्ताओं को भुलावा देना चाहता है और कभी लगता है कि वह इस जगत के छल और प्रवंचनापूर्ण व्यवहार से शिथिल पड़ गया है, उसे कहीं भी अपनत्व एवं मैत्री पूर्ण व्यवहार नहीं मिल पा सका है और शायद इसी लिए वह प्रत्येक शब्द को आंसुओं के व्यथा भार सा उठाता हुआ कह देता है —

कहां मित्रता, कैसी बातें ? अरे कल्पना है सब ये
सच्चा मित्र कहां मिलता है ? दुखी हृदय की छाया सा
(प्रेम पथिक, पृष्ठ १५)

किन्तु अभावों, अवसादों और प्रवंचना पूर्ण इस जगत में पूर्ण केवल वैफल्य ही हो, ऐसा नहीं है।

जीवन की इन्हीं विषमताओं के बीच प्रसाद का आशावाद अपनी सम्पूर्ण शक्ति लेकर अभिव्यक्त हुआ है। उनके मन के कोमल अंश को भी किसी की स्नेह धारा ने प्लावित किया है। जिस समय कवि अपनी घोर निराशा के प्रहर में शिथिल प्राण हो, निश्चेष्ट हो चला था, तब कोई अपूर्व सौन्दर्य-कौतूहल बनकर उसके जीवन में प्रविष्ट हुआ था ...

शशि मुख पर घूंघट डाले
अंचल में दीप छिपाये
जीवन की गोधूलि में
कौतूहल से तुम आये।

प्रसाद जी 'आंसू' के इस कौतूहल पूर्ण सौन्दर्य का परिचय 'झरना' में दे आए थे।

कर गई प्लावित तन मन सारा।
एक दिन तव अपांग की धारा॥
हृदय से झरना ...
बह चला, जैसे दृगजल ढरना.

प्रस्तुत प्रकरण में अपने विषय के अनुकूल हमें प्रसाद जी के नारी सम्बन्धी अनुभवों को ही देखना है। इसकी अपेक्षा कि हम इस विषय को प्रसाद-जीवन के मध्य से उठाएं, यह अधिक संगत होगा कि यदि उनके आरम्भिक जीवन काल से ही नारी सम्बन्धी सम्बन्धों के आलोक में उनके तद्विषयक विचारों के विकास को देखा जाय।

प्रसाद का नारी-सम्बन्ध माता, पत्नी, भाभी तथा प्रेमिका के चार रूपों में देखा जा सकता है। प्रसाद जी अभिजातीय कुल में उत्पन्न हुए थे। उनका पारिवारिक वातावरण सुसंस्कृत तथा धार्मिक था अतः सामान्य अथवा मध्य वर्गीय नारी की वैषम्य पूर्ण परिस्थितियों में उत्पन्न कुण्ठा और कलह न तो वे देख ही पाए और न उन्हें उसका शिकार ही होना पड़ा, दूसरे परिवार में सबसे छोटे होने के कारण बहिन और माता का उन्हें पूर्ण दुलार मिला। १०-११ वर्ष की अवस्था तक, जब तक उच्च वर्गीय परिवारों में बच्चे को केवल दुलराया ही जाता है, प्रसाद जी अपनी माता का दुलार पाते रहे। बाद में नियति की प्रतिकूलता के सम्मुख उन्हें माता के स्नेह से वंचित होना पड़ा। इस प्रकार प्रसाद जी का नारी से माता के रूप का पहला अनुभव और सम्पर्क, असीम स्नेह, दुलार और ममता से पूर्ण रहा। माता के इस स्नेह ने प्रसाद के कोमल मस्तिष्क पर अपनी गहरी छाप छोड़ी है और प्रसाद ने नारी के मातृत्व पद को ही सर्वश्रेष्ठ रूप माना है, प्रसाद साहित्य के अध्ययन से यह बात सहज ही स्पष्ट हो जाती है।

पत्नी के रूप में नारी उनकी करुणा की ही अधिकारिणी बन सकी। उनके तीन विवाह हुए। वे अपनी पहली पत्नी को बहुत प्यार करते थे। दूसरी पत्नी की मृत्यु के बाद उन्होंने तीर्थ यात्रा की थी। उनके यौवन काल में भी उनका स्नेह-सूत्र कई बार टूटा और परिणाम स्वरूप उसमें बार-बार गाँठें डाली गई। उन गांठों में केवल करुणा का रस ही बन पाया और उनके समस्त साहित्य क्षेत्र में विकीर्ण हो गया।

माता की मृत्यु के उपरान्त प्रसाद जी ने अपनी श्रद्धा अपनी भाभी के चरणों में समर्पित की। वे उनसे लगभग १४ वर्ष ज्येष्ठ थी क्योंकि भाभी भाभी थी, मां नहीं, अतः माँ के प्रति बाल्य काल का कोमल स्नेह और अपनत्व भाव अब युवा होने पर माँ के अभाव में, माँ की अपेक्षा भाभी से अपेक्षाकृत दूरी के कारण, भाभी के प्रति श्रद्धा और सम्मान में परिवर्तित हो गया। उन्होंने जीवन भर भाभी को माँ माना। और इस प्रकार से अपने पुत्र रूप को अक्षुण्ण बनाए रखा। नारी के प्रति उनकी असीम श्रद्धा-भावना का मूल भाभी के स्नेह से पोषित हुआ है। उधर भाभी आज भी किसी के द्वारा प्रसाद जी की बात उठाई जाने पर आंखों में आँसू भरे हुए 'मेरेलिए तो वह केवल शंकर था' कह कर पुत्रवत् स्नेह की झाँकी प्रस्तुत करती हैं। इस बात में कोई अत्युक्ति नहीं होगी, यदि यह कहा जाय कि प्रसाद जी ने भाभी का सम्मान करके नारी का सम्मान करना सीखा।

अब हम प्रसाद की नारी-सम्बन्धी मनोवैज्ञानिक धारणा के विषय पर आते हैं, जिसका सम्बन्ध उनकी प्रेम-घटना से है। यह ठीक है कि किसी कलाकार की महत्ता की माप उसके व्यक्तिगत जीवन के आधार पर न होकर उसके द्वारा निसृत कला के आधार पर होनी चाहिए। परन्तु कला की चित्रपटी में उसके जीवन की अनुभूतियां एवं अनुभवों के कण इस तरह घुले मिले रहते हैं कि उनको अलग कर उनकी कला का सही मूल्यांकन करना कभी-कभी कठिन सा हो जाता है। इस बात से किसी प्रकार भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि कलाकार की कला में उसके जीवन की अभिव्यक्ति किसी न किसी रूप में हो ही जाती है।

प्रसाद की नारी सम्बन्धी मनोवैज्ञानिक धारणा 'लहर' की कुछ कविताओं तथा 'आंसू' के आधार पर निश्चित की जा सकती है। सबसे पहले हमें यह निश्चित करना है कि प्रसाद ने किसी से प्रेम किया था। उनके जीवन में संयोग के कुछ क्षण अवश्य थे, परन्तु इन थोड़े से संयोग क्षणों में प्रेम के अनेक प्रसंग आये, पर वह संयोग काल इतना लघुतम था (या इतना लघुतम लगा) कि प्रिय जब तक आलिंगन में आए, समय पूरा हो गया और प्रिय उनसे बहुत दूर चला गया।...कभी लौटा नहीं, इतना सब कुछ हम उनकी 'आत्म कथा' में देख सकते हैं।[1] 'लहर' ही में संग्रहीत एक दूसरी कविता उस प्रिय के सरल, सौम्य और अपनत्व से पूर्ण होने का प्रमाण देती है। पंक्तियाँ इस प्रकार हैं...

स्निग्ध संकेतों में सुकुमार
बिछल, चल थक जाता तब हार
छिड़कता अपना गीलापन
उसी रस में तिरता जीवन
तुम्हारी आँखों का बचपन (पृष्ठ २३)

लेकिन यह बचपन सदैव कवि के सम्पर्क में न रह पा सका, तभी अपनी करुणा में अभिसिक्त अंत में वह कहता है ...

'आज भी है क्या नित्य किशोर
उसी क्रीड़ा में भाव विभोर,
सरलता का वह अपनापन
आज भी है क्या मेरा धन ?' (पृष्ठ २३)

विरह की यह अनुभूति आंसू में अधिक तीव्र हुई है। इस विषय में डा० प्रेम शंकर की यह उक्ति कि 'करुणा की प्रयोग-शाला की प्रथम आविष्कृति आंसू है।' बहुत महत्वपूर्ण हो जाती है।

१—'लहर' (कविता संकलन); पृष्ठ ११।

आँसू के कवि ने आँसू के आलम्बन का रूप वर्णन कई पदों में किया है; विशेप रूप से पद ३० से लेकर पद ४० तक। सौन्दर्य के प्रतीक उस रूप में कवि पूर्ण रूप से समर्पित है।

लावण्य शैल राई सा
जिस पर वारी बलिहारी
उस कमनीयता कला की
सुषमा थी प्यारी प्यारी (पृष्ठ २०)

यह प्रमाणित करने के लिए कि उनका प्रिय पार्थिव जगत का वासी था, निम्नलिखित दो पद देखे जा सकते हैं—

बाँधा था विधु को किसने
इन काली जंजीरों से
मणि वाले फणियों का मुख
क्यों भरा हुआ हीरों से ? (पृष्ठ २१)

o

काली आंखों में कितनी
यौवन के मद की लाली
मानिक मदिरा से भर दी
किसने नीलम की प्याली (पृष्ठ २१)

तो सौन्दर्य के साथ कवि का संयोग हुआ और वह भी उस समय जब उसके जीवन की स्थिति वैषम्यपूर्ण और हताश हो रही थी—

पतझड़ था झाड़ खड़े थे
सूखी सी फुलवाड़ी में
किसलय नवकुसुम बिछाकर
आए तुम इस क्यारी में

यहां पर थोड़ा सा 'सूखी सी फुलवारी' को समझते चलें। कभी प्रसाद का जीवन हरी भरी फुलवारी सा सुख सौरभ पूर्ण रहा होगा। परन्तु प्रिय के आगमन के समय किसी निराशा, समस्या या जीवन की किसी विषम गुत्थियों में फंसे रहने के कारण वह पतझड़ सा झाड़ और झखाड़ों से पूर्ण सूखी फुलवारी मात्र सा हो गया, ऐसे समय में किसी रूपवान् का स्नेह की आशीष का उपहार लिए आगमन कितना उत्साहमय और सुख पूर्ण हो सकता है, यह प्रसाद का कवि ही जान सका और इस लिए उसने बाद में उसके कठोर बन जाने पर भी, उस पर अपनी निष्ठा और श्रद्धा बनाए रखी। प्रसाद के लिए तो इतना ही काफी था कि उनको किसी ने महान् निराशा के अवसर पर सान्त्वना और स्नेह दिया है।

फिर यह संयोग का क्षण पूर्ण हो गया। विरह के क्षण कवि के मान्याकाश पर घिर गए। वह नारी जो पूर्ण ममता के साथ उसे स्नेह देती रही थी, उसे छोड़ कर चली गई। यहां पर सहसा ही कीट्स की 'ला बेली डेम सैन्स मरसी' की स्मृति आ जाती है। इस कविता के नायक की भांति प्रसाद के 'आंसू' का नायक भी पहले तो कलपता है, वियोग का आवेग उसे छटपटाने के लिए विवश कर देता है; उसकी विरह वेदना उसे कचोटती है, फिर उसका विस्तार होता है, और यहीं से आंसू का नायक कीट्स की कविता के नायक से भिन्न हो जाता है। वह देखता है कि गुलाब के पौधे की भांति इस जीवन में सुख और दुःख दोनों ही तो हैं। सुख-दुःख,संयोग-वियोग, आशा-निराशा, और उत्थान-पतन...यही तो इस जीवन का क्रम है। यह सब कुछ उतना ही सत्य है, जितना विश्व की मिट्टी, पानी, प्रकाश और अंधकार। और इस प्रकार वह इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि इन विषमताओं में सामंजस्य का नाम ही तो जीवन है।

इस प्रकार 'आंसू' में प्रसाद जी के तीन व्यक्तित्व—प्रेमी, कवि और दार्शनिक—मिले हुए हैं। उनका कवित्व प्रेमी के विरह को बल देता है फिर जब वह विरह के चारों ओर भटक लेता है, तब उनका कवि दार्शनिक और प्रेमी का मेल कराकर उसे विश्व-मण्डल की ओर ले जाता है।[1]

हम देख आए हैं कि आंसू की अन्तिम परिणति भाव - विस्तार और दार्शनिकता में होती है। सुख के बीतने पर सुख की याद ही सुख देती है और क्योंकि सुख की स्मृति से ही सुख प्राप्त होता है, इसीलिए उस सुख के आलम्बन के प्रति किसी प्रकार की प्रतिक्रिया या प्रतिशोध की भावना उत्पन्न नहीं हो पाती, बल्कि उसके प्रति एक सम्मान भावना का उदय होता है, जैसा कि आंसू से स्पष्ट है। यह कवि सम्बन्धी मनोवैज्ञानिक विश्लेषण है। दूसरी ओर, कवि देखता है कि उसकी प्रेयसी उसके प्रति समस्त ममता, स्नेह, सौहार्द और समर्पण लेकर आयी, वह अपने स्वभाव से कोमल, मृदु और भोलापन लिए है, परन्तु इतनी कोमलता, नैसर्गिक भावुकता और पूर्ण समर्पण भावना से विहित होते हुए भी वह इतनी कठोर हो सकती है, कि कवि को एकाकी छोड़कर चली जाए और यही निजी अनुभवों पर आधारित कवि की नारी सम्बन्धी मनोवैज्ञानिक धारणा है, जिसकी अभिव्यक्ति उसने अपने साहित्यिक नारी चरित्रों के उद्घाटन में की है। देवसेना, मल्लिका, चम्पा, तैला, मंगला और कमला आदि प्रसाद की ऐसी ही नारी कृतियाँ हैं जो कुसुमादपि कोमल सहृदया एवं प्रेम भावना से परिसिक्त होते हुए भी आत्म-सम्मान या परिस्थिति विशेष के कारण वज्रादपि कठोर बन जाती हैं। प्रसाद के नारी सम्बन्धी मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण वाले प्रकरण में हम इसकी विशद विवेचना करेंगे।

१—गुलाब राय—प्रसाद जी की कला, पृष्ठ ४८।

नारी आदर्श

(क) दार्शनिक कल्पना :—

सृष्टि के विकास की कहानी के दो मूल तत्व हैं, पुरुष और नारी ; जो सृष्टि में रहते हैं, उसे परिचालित करते हैं और साथ ही उसकी उपलब्धियों के उपभोक्ता भी हैं। सम्पूर्ण विश्व का जीवन इनके जीवन पर निर्भर करता है। इसलिए सृष्टि की विषमता में संतुलन बनाये रखने के लिए इन दोनों तत्वों का परस्पर एक्य, संगठन और सहयोग परम आवश्यक है। प्रसाद जी ने मानव के विश्व की इस चिरन्तन समस्या को उठाया है। उसका अध्ययन, मनन किया है और अपने समाधान प्रस्तुत किये हैं। उन्होंने पुरुष और नारी दोनों को सामाजिक मनोवैज्ञानिक, सांस्कृतिक एवं दार्शनिक दृष्टिकोणों से देखा और परखा है और वे इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि यदि पुरुष अपनी परुषता, अहंकार, ईर्ष्या और स्वार्थ भावना की संकीर्ण परिपाटी को छोड़कर श्रद्धा भावना को अपनाते हुए विश्व कल्याण के प्रशस्त पथ पर आगे बढ़े और नारी उसे सहयोग देती हुई अपने उदात्त गुणों...दया, माया, ममता, माधुर्य, सेवा, विश्वास, समर्पण, उदारता और करुणा—के रत्न पथ पर लुटाती चले, तो सारे विश्व में आनन्द की वृष्टि हो सकती है। उन्होंने नारी में उस चेतन शक्ति की स्थिति पाई है जो पुरुष की कठोरता पर सम्पूर्ण सहृदयता से शासन करती हुई मन को अन्तर्मुखी करने में समर्थ होती है। उनकी मान्यता है कि श्रद्धा स्वरूपा नारी के अभाव में ही समस्त विभीषिकाएं आरम्भ होती हैं, विश्वास उठते ही मन की उच्छृंखलता बढ़ जाती है, वह वहिमुखी हो जाता है ....फिर श्रद्धा ही उसे आनन्द दान देती है ...'वह एक प्रवृतिमूलक आस्थामयी वृत्ति है जो निवृत्ति का अन्त कर देती है। श्रद्धा (नारी) एक आस्तिक सद्वृति है जो चेतन शक्ति का उदात्त रूप है, मन में उसके प्रविष्ट होते ही इन्द्रियां भी कार्यरत हो जाती है। प्राणी की समस्त क्रियाशक्ति जागृत हो उठती है, मन को उसके प्रश्न का उत्तर मिल जाता है।'[1]

इतना ही नहीं प्रसाद जी ने उसे सर्वमंगला के रूप में भी देखा है। जीवन के पथ पर वह पुरुष की सहायिका रही है। विश्व का कल्याण केवल उसके हाथों ही संभव है। वह बुद्धि और हृदय का समन्वय कराते हुए वैषम्य पूर्ण वातावरण में सामन्जस्य स्थापित कर सकती है। उसके द्वारा ही विश्व बन्धुत्व के आदर्श को व्यावहारिक स्वरूप मिल सकता है। मानवता का प्रसाद नारी ही बांट सकती है और इन सबसे विशेष सामरस्य की स्थापना के मूल में नारी का ही विशेष हाथ है। प्रसाद जी ने इन सब की विस्तृत और ठोस व्याख्या की है और विश्व-शान्ति, मानवतावाद और अखंड आनन्द की प्राप्ति के लिए एक स्वस्थ निर्देश दिया है।

१—डा० प्रेम शंकर : प्रसाद का काव्य, पृष्ठ ३३१ तथा पृष्ठ ३४०।

–प्रसाद जी की इस दार्शनिक नारी कल्पना की पृष्ठभूमि में उनके वैदिक साहित्य एवं शैव दर्शन के विशाल अध्ययन का निश्चित रूप अंकित हुआ है, जिसकी सफलता में वे नारी के वास्तविक महत्व को सही रूप से समझ सके हैं। यहाँ पर जब हम प्रसाद जी दार्शनिक कल्पना की बात कह रहे हैं तो हमें यह न भूलना चाहिए कि प्रसाद जी ने जीवन को दर्शन से देखा है और जीवन में दर्शन को " इसीलिए उनकी दार्शनिक पीठिका हमेशा ही व्यवहार्य रही है। और उस पर मानवतावाद के आनन्दपूर्ण भवन का निर्माण सफलता पूर्वक हुआ है।[1]

नारी की इस दार्शनिक अभिव्यक्ति के समानान्तर प्रसाद जी ने नारी के प्रेम, सेवा तथा समर्पण सम्बन्धी आदर्श पर भी प्रकाश डाला है। जिसके परिणाम स्वरूप जीवन के सभी पहलुओं में उसकी श्रेष्ठता स्थापित हो गई है और वह सभी क्षेत्रों में पुरुष का नायकत्व सा करती दिखाई पड़ती है। संघर्ष कालीन इस विषम युग-चेतना में नारी की प्रतिष्ठा-स्थापना का सफल प्रयत्न प्रसाद जी की अपनी उपलब्धि है।

(ख) सांस्कृतिक भूमिका :—

प्रसाद जी का युग सांस्कृतिक जागरण का युग रहा है। वे अपने राष्ट्र के अतीत गौरव से अत्यधिक प्रभावित थे। उनके नाटकीय पात्रों में राष्ट्रीयता एवं भारतीयता का सन्निवेश विशेष रूप से हुआ है। उनका छोटे से छोटा पात्र भी राष्ट्रीय चेतना का जगमगाता नक्षत्र है। उनकी राष्ट्रीयता संकीर्णता की परिधि में आबद्ध नहीं है और सर्वत्र मानवता की भावना को विशेष महत्व दिया गया है।

प्राचीन भारतीय संस्कृति प्रसाद को मुग्ध किए थी। वे मानसिक रूप से जैसे उसी युग में रहते थे और उसी का स्वप्न देखते थे। इसलिए भारतीय संस्कृति के बिखरे अवयवों को जोड़कर उन्होंने अपनी भावुकता, चिन्ता और कल्पना द्वारा उसमें प्राण-संचार किया।[2]

भारत के प्राचीन सांस्कृतिक इतिहास के विचार-पटल पर उन्होंने अपने नारी पात्रों की सृष्टि की है। उनकी सांस्कृतिक नारी राष्ट्रीय गौरव से पूर्ण, उदात्त भावनाओं से युक्त और पुरुष वर्ग की प्रेरणा के रूप में अवतरित हुई है। उनमें अपने 'स्व' के प्रति पूर्ण सम्मान की भावना सन्निहित है। वे देश और जाति के कल्याण के लिए आत्मोत्सर्ग के महान् भाव से पूर्ण, अपनी सांस्कृतिक निष्ठा के प्रति गौरवमय तथा अपने कर्तव्य के प्रति सचेत हैं। उनका तेज किसी भी प्रकार की कुण्ठा पर विश्वास नहीं करता। प्रसाद की यह सांस्कृतिक नारी-भावना अलका, कार्नेलिया, तितली, शैला, मल्लिका, सरमा, जयमाला तथा मधूलिका आदि पात्रियों के चरित्र में प्रस्फुटित और

१—रामलाल सिंह : कामायनी अनुशीलन, पृष्ठ १८० ।
२—गुलाब राय : प्रसाद जी की कला, पृष्ठ ९० ।

विकसित हुई है। इस वर्गीकरण में आने वाली सभी नारियां उदात्त गुणों से पूर्ण हैं। उनको अपने स्वाभिमान का विचार है, वे स्वभाव से कोमल हैं, परन्तु उनकी कोमलता परिस्थिति के अनुरूप कठोर होना भी जानती है। भारतीयता से प्रेम, उत्सर्ग भावना का चरम् उत्कर्ष, जीवन की प्रत्येक स्थिति में पुरुष का साथ देने के लिए सन्नद्ध तथा उत्साही, स्वावलम्बन और गौरव-भावना से परिपुष्ट—प्रसाद की सांस्कृतिक नारी की अपनी विशेषता है।

प्रसाद के इन सांस्कृतिक पात्रों की अवतारणा भारतीय वातावरण के उस युग में हुई है जब गाँधी जी के आवाहन् पर देश की असंख्य महिलाएं राष्ट्र के लिए अपनी आवश्यकता की पुकार सुनकर आत्मोसर्ग की महान् भावना से परियुक्त, कार्य क्षेत्र में उतर आई थीं और उन्होंने स्वराज्य-प्राप्ति के लिए पुरुष-वर्ग के साथ कंधे से कंधा भिड़ाकर जन-आन्दोलन को एक विशाल स्वरूप प्रदान कर दिया था। तब भारतवर्ष ने युगों के पश्चात् पहली बार भारतीय नारी के देशानुराग में मिश्रित उसके स्वाभिमान और उसके अन्तस् में निहित उत्सर्ग की भावना का दर्शन किया था। प्रसाद जी ने भारतीय इतिहास की क्रोड़ में नारी के इस राष्ट्रीय स्वरूप का उद्घाटन कर राष्ट्रीय आन्दोलन को साहित्यिक प्रेरणा दी और समयानुकूल नारी के इस नवीन स्वरूप की प्रतिष्ठा करते हुए उसे गौरव भी प्रदान किया। इस प्रकार से सांस्कृतिक जीवन में नारी को सम्मानपूर्ण एवं महत्व का स्थान देते हुए प्रसाद जी ने उसे घर की सीमाओं से बाहर लाकर उसकी शक्ति, साहस और तेज का सही मूल्यांकन किया तथा समाज के सम्मुख उसकी श्रेष्ठता स्थापित की और साथ ही भारतीयों को उसके इस विस्मृत स्वरूप का दर्शन कराया।

(ग) मनोवैज्ञानिक पक्ष :—

प्रसाद जी के नारी चरित्र-चित्रण की अन्य महत्वपूर्ण विशेषता उनके मनोवैज्ञानिक पक्ष का अध्ययन प्रस्तुत करने में है। शारीरिक गठन के आधार पर नारी के स्थायी गुणों का अनुशीलन उनके गम्भीर चिन्तन का विषय रहा है। वे यह मान कर चले हैं कि कोमल अवयवा नारी का हृदय भी कोमलता का पालना है, दया का उद्गम है, शीतलता की छाया है और अनन्य भक्ति का आदर्श है।[1] 'उसका हृदय अभिलाषाओं का, संसार के सुखों का क्रीड़ा स्थल है।'[2] वे शीघ्र ही उत्साहित और उसी परिणाम में निराश हो जाने वाली होती हैं।[3] दया, माया, ममता, सौहार्द, एक निष्ठा, विश्वास, समर्पण, आकांक्षा, संवेदनशीलता, नियतिवादिता, औदार्य और उत्सर्ग आदि उदात्त वृत्तियों के साथ साथ उसमें ईर्ष्या

१—अजातशत्रु : पृष्ठ १११-११२।

२—नीरा : (आँधी में संकलित) पृष्ठ १०८।

३—कंकाल (उपन्यास), पृष्ठ २८।

मिश्रित शंकालु प्रवृति का भी सन्निवेश होता है। एक ओर वह पूर्ण समर्पण में विश्वास करती देखी जाती है, दूसरी ओर उस समर्पण के बदले कुछ प्राप्त करने की भावना भी अदृष्ट नहीं रह पाती। उसके मन में स्थिरता का अभाव होता है। अपने कथन में व्यंग्यात्मक तथा स्वभाव में अप्रत्याशित रूप से कठोर हो जाना उसकी विशेष प्रवृति है।

प्रसाद जी ने प्रेम प्रसंगों में नारी के इस मनोवैज्ञानिक पक्ष को विस्तार के साथ प्रस्तुत किया है। उदात्त स्थायी गुणों में 'संदेह' कहानी की श्यामा, 'देवरथ' की सुजाता 'ममता' की ममता, 'दासी' की फिरोजा, 'रसिया वालम' की राजकुमारी, 'मदन मृणालिनी' की मृणालिनी, 'कंकाल 'की यमुना और 'तितली' की तितली आदि कितने ही चरित्र प्रस्तुत किये जा सकते हैं, और इन चरित्रों का अध्ययन कर, लगता है कि नारी अपनी सम्पूर्ण कोमलता के साथ करुणा की प्रतिमूर्ति है, परन्तु साथ ही साथ नारी मनोविज्ञान सम्बन्धी दूसरे तथ्य भी उभरते हैं। नोरी में नर के संसर्ग की निसर्ग आकांक्षा होती है। प्रेम प्रसंग की असफलता के पश्चात् करुणा की विस्तृत छाया उसके जीवन पटल पर छा जाती है और वह नियतिवाद पर विश्वास करती हुई अपने जीवन को यों ही खे ले चलना चाहती है। मध्यवर्गीय नारी में व्यंग्य-भावना का प्राचुर्य होता है। किसी की बात को सीधा न कहकर उसे रहस्मय बनाना उसका स्वभाव होता है। अपने संदिग्ध भविष्य को सुरक्षित करने के लिए वह किसी पुरुष को पाकर निश्चिन्त हो जाना चाहती है।[1] अन्तंसंघर्प की भावना जैसे उसके रक्त में घुली मिली हुई होती है। प्रतिदान की भावना का प्राचुर्य, अतीत की घटनाओं का विश्लेपण, आत्मपीड़न, तथा पाश्चाताप नारी मनोविज्ञान के मुख्यविन्दु रहे हैं। अपने 'स्व' से प्रेम करने की भावना का विकास भी नारी मन की विशेपता है तथा अपने 'स्व' उसे गर्व भी होता है। वह जीवन के क्षेत्र में पुरुप के साथ समान स्तर पर चलना चाहती है। वह पुरुप में पौरुप देखना चाहती है उसके विलास की वस्तु नहीं वनना चाहती। वह पूर्ण निष्ठा के साथ किसी पुरुप पर समर्पित हुआ चाहती हैं और चाहती है कि बदले में वह भी उस पुरुप को पूर्ण रूप से अपने लिए प्राप्त कर ले।[2] परन्तु पुरुप की अहमन्यता से पीड़ित नारी की उत्साहमयी भावना का तिरोहण होता

१—सर्वस्व समर्पण करने की
विश्वास महा-तरु छाया में
चुपचाप पड़ी रहने की क्यों
ममता जगती है माया में :
(कामायनी, पृष्ठ १०४)।

२—वही, पृष्ठ १२६।

है और तब वह आत्मपीड़न के सिद्धान्त को बल देती हुई मौन होकर, बिना प्रतिवाद किये सब कुछ सह लेना चाहती है—

इस पतझड़ की सूनी डाली, और प्रतीक्षा की संध्या
कामायनि ! तू हृदय कड़ा कर धीरे-धीरे सब कुछ सह ले। (पृष्ठ १७७)

नारी मनोविज्ञान को प्रस्तुत करने में प्रसाद जी ने कुछ नवीन उद्भावनाओं का भी स्पर्श किया है और जहाँ नारी चरित्र अन्तर्भावनाओं के परस्पर संघर्ष के परिणाम स्वरूप बड़ा रहस्यमय हो उठा है। उदाहरण के लिए हम 'देवदासी' की पद्मा को लेंगे। रामस्वामी पद्मा को प्यार करता है और पद्मा उससे अधिक अशोक की ओर आकृष्ट है। अशोक का मूक प्रणय भी पद्मा की ओर ही निहारता है। परिस्थितियों के मध्य अशोक से रामस्वामी की हत्या हो जाती है। बस यहाँ से पद्मा के चरित्र में परिवर्तन होता है, वह सभा मण्डप के स्तम्भ से टिकी हुई, दोनों हाथों से अपने एक घुटने को छाती से लगाए अर्धस्वप्नावस्था में बैठी रहती है'। रामस्वामी ने उसके लिए प्राण दे दिए, अतः वह रामस्वामी को भूल नहीं पाती और अपने पूर्व के प्रिय तथा अब के उस पुरुष हत्यारे को, जो उसे प्यार करता था, किस प्रकार प्यार करे, वह सोच नहीं पाती और इसी अन्तर्संघर्ष की वेदना में उसका जीवन तिरोहित होता चल रहा है।

नारी अपने जीवन में आने वाले पुरुष को पूर्ण निष्ठा से प्यार करती है, उसकी अनन्यता अपने में पूर्ण और प्रौढ़ होती है। परन्तु इतने पर भी पुरुष द्वारा यदि इसकी उपेक्षा का उपक्रम होता है अथवा उसके आत्म सम्मान को कहीं ठेस पहुंचती है तो वह अपने अवयवों की समस्त कोमलता को एक ओर रख कर कठोर और परुष बन जाती है। उसके स्नेह का गुनगुना ताप प्रतिहिंसा के रूप में प्रलय की बाड्वज्वाला सा उबल उठता है और तब उस क्षण उसमें सब कुछ क्षार कर देने की शक्ति संचित हो जाती है। वह अपनी अप्रतिम साधना के प्रति किए गए विश्वासघात को सहन कर सकने में हमेशा असमर्थ रही है। प्रतिशोध के लिए वह कितनी भी कठोर और क्रूर बन सकती है। यह प्रसाद साहित्य की अपनी मौलिक खोज है। देवसेना, ध्रुव स्वामिनी, मधूलिका, लैला, चम्पा, चूड़ी वाली और कालिन्दी के चरित्र इस संदर्भ में देखे जा सकते हैं। इस प्रकार प्रसाद के अनुसार कोमलता और कठोरता नारी जीवन के दो विशेष अंग रहे हैं, जिसका विस्तृत विवेचन तद्विषयक अगले प्रकरण में किया जायगा।

(घ) नैतिक भावभूमि—

प्रत्येक समाज की सामाजिक स्थिति वैधानिक एवं नैतिक नियमों से मर्या-

दित और परिसीमित होती है। ये नैतिक नियम व्यक्ति के विकास, व्यवस्था और संरक्षण के लिए होते हैं, नियमों के अन्धपालन के लिए नहीं। काल परिवर्तन के साथ समाज में भी परिवर्तन होता है, और तद्नुरूप सामाजिक मान्यताएँ एवं आस्थाएँ भी वदलती हैं। इन सब परिवर्तनों के साथ साथ नैतिक नियमों में भी परिवर्तन होता है। लम्बे युग से चली आई हुई नैतिक मान्यताएँ कभी कभी रूढ़ि में परिवर्तित हो जाती है और परिणाम स्वरुप उनकी प्राण शक्ति समाप्त प्राय: हो जाती है। इन रूढ़ियों के साथ प्रगतिवादी भावनाओं का सामंजस्य नहीं हो पाता, इसलिए समाज में इनके परस्पर संघर्ष से एक विकर्षण उत्पन्न होता है। इस प्रकार के संघर्ष से वचने के लिए परिस्थिति को प्रधानता देनी पड़ती है और तद्नुसार नये नैतिक नियमों का नियमन करके उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा को शक्ति सम्पन्न बनाना होता है। परिस्थिति और समय की माँग के अनुसार व्यक्ति की स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए नैतिक नियमों में परिवर्तन आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है ; यही तथ्य प्रसाद का नीति सम्बन्धी दृष्टिकोण उपस्थित करता है।

प्रसाद जी का सम्पूर्ण साहित्य व्यक्ति स्वातन्त्र्य की आवाज ऊँची उठाता है। नारी भी इसका अपवाद नहीं है। स्वतन्त्रता के अन्तर्गत ही उनके नारी चरित्रों का विकास हुआ है।। जो वस्तु स्वतन्त्रता के माध्यम से उपलब्ध होती हो, वही मान्य है, प्रसाद इस सिद्धांत को लेकर चले हैं। उन्होंने आज की विवाह संस्थाओं का अध्ययन प्रस्तुत किया है जो प्राण-हीन, अपने स्वरूप में क्षत-विक्षत और नैतिकता के नाम पर महान् आडम्बरपूर्ण विशृंखलता की सृष्टि कर रही हैं। विवाह संस्थाओं की इस असफलता से क्षुब्ध, उन्होंने अपनी नारी को स्वतन्त्र प्रेम का अधिकार दिया है और वह उनकी दृष्टि से नीति मान्य और समाज स्वीकृत है। वे समाज के बोझ को व्यक्ति पर नहीं डालना चाहते। उनका कहना है कि वे ही सामाजिक नियम नीति सम्मत हो सकते हैं जो व्यक्ति की स्वतन्त्रता की रक्षा कर सकें तथा उसके व्यक्तित्व को विकास की प्रेरणा दे सकें। यदि नारी अपने स्वत्व की रक्षा के लिए सम्पूर्ण समाज से विद्रोह मोल लेती है और यदि उसमें पूर्ण निष्ठा की भावना विद्य-मान है, तो उसका यह कार्य किसी प्रकार से नीति विरोधी नहीं कहा जा सकता।

लेकिन प्रसाद के कोश में स्वतन्त्रता का अर्थ उच्छृंखलता नहीं हैं। ऐसा कार्य जिससे सामाजिक व्यवस्था का अतिक्रमण होता हो, प्रसाद को मान्य नहीं है। इसी लिए उनके जिस चरित्र ने भी लालसा और महत्वाकांक्षा के वशीभूत हो, स्वतन्त्रता के नाम पर उच्छृंखलता का प्रदर्शन किया है, उसे कभी भी परिणाम में अपने किये

पर गर्व नहीं हो सका है। उसे किसी न किसी रूप में अपने अतिक्रमण के लिए पाश्चाताप करना ही पड़ा है। दामिनी, अनन्त देवी, छलना, किशोरी, तिष्य रक्षिता तथा कमला के चरित्र इस कथन की पुष्टि कर सकने में समर्थ हैं।

कभी कभी नारी को अनीति की ओर ले जाने की दिशा में समाज भी उत्तरदायी रहा है। प्रसाद ने अपने कुछ चरित्रों के माध्यम से इस यथार्थ की ओर भी पाठकों का ध्यान आकर्षित किया है। लेकिन समाज में व्यवस्था और संतुलन रखने के आदर्श को लेकर चलने वाले प्रसाद जी ने ऐसे पात्रों को भी, जो अपने अनैतिक कर्मों के लिए आंशिक रूप से ही उत्तरदायी हैं, क्षमा नहीं किया है, और उन्हें भी अपने किये पर पाश्चाताप कराया है। इस प्रकार नैतिक मान्यताओं के क्षेत्र में प्रसाद क्रांतिकारी भावना को लेकर पूर्ण नैतिक साहस के साथ अवतरित हुए हैं जिसका विकास आज के सामाजिक जीवन की एक अपरिहार्य आवश्यकता मानी जानी चाहिए।

सामाजिक स्वरूप—

यद्यपि प्रसाद जी के आदर्श, युग की प्रगति के अनुकूल, उनकी स्वतन्त्र विचारणा के परिणाम थे, किन्तु यदि हमें पाश्चात्य विचारकों से तुलना करनी हो, तो हम कहेंगे कि प्रसाद जी के सामाजिक आदर्श फ्रांस की राज्य-क्रांति के बाद प्रतिष्ठित होने वाले समता और स्वतन्त्रता के आदर्शों से मिलते जुलते हैं। फ्रांस के विक्टर ह्यूगो और इंग्लैंड के सुप्रसिद्ध समाज-शास्त्री मिल की विचारणा के बहुत निकट प्रसाद जी की सामाजिक विचारणा है। इसका कारण मुख्यत: भारतीय परिस्थिति तथा तत्कालीन योरुप की समानता ही है। एक उदार जनसत्तात्मक भावना का विकास, और परम्परागत अभिजात्य का विरोध प्रसाद जी के कल्पना-शील, नवोन्मेष-शाली साहित्य की आधार भूमि है'। प्रसाद जी ने अपने युग की सामाजिक विचारणा और उससे पारिभाषित नारी मूल्य का गहरा मनन और चिन्तन किया था। नारी के प्रति पुरुष के अन्यायों और उसकी प्रताड़ित एवं उपेक्षित दयनीय अवस्था उनकी आंखों के सम्मुख नाच उठी थी। धर्म के थोथेपन और मिथ्या आडम्बर के निर्मम कांटेदार तारों में नारी के व्यक्तित्व को बाँधकर पुरुष ने जैसे नारी जाति के उपकारों का बदला चुकाया था। प्रसाद जी ने इसी परम्परागत अन्याय का प्रायश्चित करने के हेतु नारी को सामाजिक स्वीकृति प्रदान की है।

प्रसाद साहित्य में युग की अभिव्यक्ति के अनुकूल, नारी जीवन की विभिन्न समस्याओं पर विचार प्रकट किए गये हैं। उनमें पुनर्विवाह, शिक्षा, विधवा-स्थिति, वैश्यावृति, असमान विवाह, सपत्नीक भावना, सम्बंध विच्छेद, तथा अन्तर्जातीय विवाह

की समस्याएँ विशेष रूप से ली गई हैं। उनके उपन्यास और कहानियों में इन्हीं समस्याओं को लेकर वस्तु-स्थिति को चित्रित करते हुए समाधान के लिए अध्ययन और चिन्तन प्रस्तुत किया गया है। नारी को सामाजिक स्वीकृति दिलाने के क्षेत्र में प्रसाद जी का महत्व इस बात को लेकर विशेष हो जाता है कि उन्होंने भारतीय वातावरण, परिस्थिति और संस्कृति के अनुकूल ही इन समस्याओं का निदान किया है। उनके समय में पाश्चात्य लहर का जो तीव्र प्रभाव भारतीय मस्तिष्क में आन्दोलित हो रहा था, प्रसाद जी, अपने देश की समस्याओं के समाधान के लिए उससे तनिक भी प्रभावित नहीं हुए, सभी स्थानों पर उनका भारतीय स्वर ही गुंजन करता दिखाई पड़ता है।

'पुरुष-नारी जीवन और वर्तमान जगत में विद्यमान संघर्ष की तह में छिपी शाश्वत समस्याओं को प्रसाद की अन्वेषिणी प्रतिभा की आँखों ने उसी खूबी के साथ देखा है, जिस खूबी के साथ सूरदास ने बालक स्वभाव की एक एक बारीकियों को देखा था।'[1] और इसीलिए प्रतिक्रिया स्वरूप वे युग की सामाजिक नारी भावना में क्रांति लेकर सामने आए। उन्होंने नारी स्वातन्त्र्य का शंखनाद किया तथा उस प्रबुद्ध एवं नवचेतना के युग में नारी के उस स्वातन्त्र्य का समर्थन किया जिससे पुरुष और नारी में समरसता की स्थापना हो सके तथा दोनों एक दूसरे के हितों एवं अधिकारों की रक्षा कर सकें।

इसी प्रसंग में प्रसाद जी ने नारी को प्रेम की स्वतन्त्रता देने तथा समाज में स्वच्छन्द प्रेम की असम्भावना एवं वैवाहिक संस्था की व्यावसायिकता पर भी अपने विचार प्रकट किये हैं। इस क्षेत्र में उनके सामाजिक विचार क्रान्तिकारी कहे जा सकते हैं, क्योंकि वे उन जर्जर परम्पराओं को आदर्श बनाए रखने में विश्वास नहीं करते जिनकी उपयोगिता प्रगति के आलोक में शिथिल और निष्प्राण हो गई है। उनके विपरीत वे उन अग्रगामी विचारों, प्रथाओं और मान्यताओं का स्वागत करते हैं जो युगानुकूल जीवन के लिए सिद्ध हो चुकी हैं। 'प्रसाद जी नियम, धर्म, और संस्कृति जीवन के लिए मानते हैं, जीवन उनके लिए नहीं।'[2] लेकिन उनके इस स्वातन्त्र्य आदर्श का अर्थ उच्छृंखलता नहीं है। इस विषय को लेकर वे हमेशा ही संतुलित रहे हैं। आधुनिक पाश्चात्य प्रभाव से एक विशिष्ट नारी वर्ग में जो दर्पमूलक अहंकार भावना का प्रादुर्भाव हो रहा है, प्रसाद जी को वह कभी भी मान्य नहीं रहा। जहाँ नारी बौद्धिक क्षमता से युक्त हो कर अपनी शक्तिमत्ता पर अहंकार करती हुई पुरुष के समान अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व की उद्घोषणा

१—शम्भुनाथ पाण्डेय : ध्रुव स्वामिनी और प्रसाद,
(जयशंकर प्रसाद : चिन्तन व कला में संकलित), पृष्ठ १९७।
२—राम लाल सिंह : कामायनी अनुशीलन, पृष्ठ १८८।

करती दिखलाई दी है, वहीं पर वह प्रसाद के आदर्श नारी-चरित्र से नीचे उतर आती है। प्रसाद की दृष्टि में नारी स्वातन्त्र्य जीवन में सामजस्यपूर्ण स्थिति का सहायक बन कर आता है, उसमें विषमता और विकर्षण उत्पन्न करने के लिए नहीं। नारी स्वातन्त्र्य के पीछे प्रसाद जी का यही सामाजिक आदर्श निहित है।

उपर्युक्त पंक्तियों में 'नारी आदर्श' के अन्तर्गत हमने प्रसाद जी के नारी सम्बंधी दार्शनिक, सांस्कृतिक, मनोवैज्ञानिक, नैतिक तथा सामाजिक आदर्शों का परिचय मात्र दिया है, जिसे अगले अध्यायों की पृष्ठ-भूमि के रूप में ही समझा जाना चाहिए। इस परिचय के आधार पर ही इन विविध आदर्शों की विस्तृत विवेचना अगले प्रकरणों में स्वतन्त्र रूप से की गई है। यहां पर इन विविध आदर्शों की समन्वित कल्पना के विषय में थोड़ा सा कह कर हम इस प्रकरण को समाप्त करेंगे।

समन्वित कल्पना

सभी क्षेत्रों में समन्वय और सामन्जस्य की प्रस्थापना करने वाले प्रसाद ने नारी आदर्श -सम्बंधी विभिन्न पक्षों में भी सामंजस्य का आदर्श प्रस्तुत किया है। सामंजस्य उपस्थित करने वाले इन तत्वों में एक सुव्यवस्थित शृंखला और परम्परा परस्पर जुड़ी हुई है जो प्रसाद के दूरगामी बौद्धिक विकास और निश्चित पुरोगम एवं कल्पना का परिचय देती है। इन विभिन्न तत्वों का क्रमबद्ध विकास सामाजिक भाव भूमि से आरम्भ होकर दार्शनिक स्वरूप में पूर्ण होता है।

प्रसाद जी नारी की सामाजिक दुरावस्था से क्षुब्ध थे। उन्होंने अधिकार विहीन, भविष्य हीन और दयनीय नारी को पुरुष की क्रूरता, अन्याय और अत्याचारों का शिकार बनते देखा था। नारी की यह शोचनीय स्थिति ही उनकी प्रतिक्रिया का कारण बनी और वे नारी स्वतन्त्रता के समर्थक तथा उसके अधिकारों के पक्षपाती बनकर साहित्यिक क्षेत्र में अवतीर्ण हुए।

इसी संदर्भ में उन्होंने नारी के शिक्षा सम्बंधी आदर्श को भी प्रस्तुत किया है। उनका विश्वास था कि उच्चतर सामाजिक प्रतिष्ठा की प्राप्ति के लिए उनका शिक्षित होना आवश्यक है, जिसके आलोक में वह स्वयं अपने विकास-क्षेत्र को पहचान कर उसका उपयोग कर सके। इसीलिए शिक्षा विहीन नारी की कल्पना प्रसाद साहित्य में नहीं की गई है। उनकी नारी साँस्कृतिक आदर्शों की प्रबुद्ध पीठिका के रूप में चित्रित हुई है। प्रसाद जी नारी को देश काल के अनुकूल, गृहस्थी तथा अन्य उपयोगी क्षेत्रों में शिक्षित करने के पक्ष में थे।

समाज का नियमन एवं संचालन कुछ परम्परागत आदर्शों और मान्यताओं के आधार पर होता है। कुछ नैतिक नियम होते हैं जो व्यक्ति के अधिकार-क्षेत्र की व्याख्या करते हैं, उसका सामाजिक जीवन में निर्देशन करते हैं तथा उसकी सीमाओं

को निर्धारित करते हैं। प्रसाद की सामाजिक नारी इन्हीं रूढ़ि जर्जर नैतिक नियमों की संकीर्णता में आबद्ध और अवश अपने व्यक्तित्व का ह्रास-समारोह देख रही थी। अतः उसकी स्थिति के विकास के लिये यह आवश्यक था कि इन परम्परा से चली आई हुई अस्वस्थ नैतिक मान्यताओं के स्थान पर नवीन नैतिक आदर्श उपस्थित किए जाएं और प्रसाद ने अतीत की स्वस्थ और स्वच्छ भारतीय विचारधारा की पृष्ठ भूमि में नवीन नैतिक आदर्शों की प्रतिष्ठा की तथा उसकी वैयक्तिक स्वतन्त्रता का आदर्श प्रतिष्ठित किया। इसी प्रसंग में वे नारी मनोविज्ञान का सूक्ष्म अध्ययन भी प्रस्तुत करते चले। क्योंकि मान्यताओं और नियमों का सम्बन्ध, उनकी स्वीकृति अथवा अस्वीकृति मानव मनोविज्ञान पर बहुत अंशों में निर्भर होती है।

प्रसाद ने अपने नारी चरित्रों की स्वतन्त्रता का प्रतिपादन किया। उनको सार्वजनिक क्षेत्र में स्वीकृति प्रदान की और इस प्रकार से नवीन नैतिक आदर्शों के मध्य उनकी स्वतन्त्रता को प्रतिष्ठित किया। नारी के आदर्श प्रतिष्ठान की यह चेष्टा भारतीय संस्कृति, भारतीय इतिहास और भारतीय मान्यताओं से सम्पन्न है, इस तथ्य की पुष्टि के लिये प्रसाद ने भारतीय इतिहास से ली गई सांस्कृतिक नारियों को प्रस्तुत किया। भारतीय संस्कृति के परिपार्श्व में अपने नारी चरित्रों का चित्रांकन प्रसाद कला की एक उदात्त विशिष्टता है।

सांस्कृतिक स्वरूप में नारी को पुरुष के समान सभी क्षेत्रों में स्वीकृति देने के बाद उसके स्वरूप को दार्शनिक पृष्ठभूमि में देखने का प्रयत्न प्रसाद के, नारी के प्रति, असीम सम्मान भाव को पुष्ट करता है। जहाँ वह कल्याणी, सर्व मंगला और पुरुष की मार्ग दर्शिका, आनन्ददायिनी बन कर अवतरित होती है।

इस प्रकार से प्रसाद जी ने बड़े कौशल के साथ नारी को सामाजिक दुरावस्था से ऊपर उठा कर नैतिक भाव भूमि पर प्रतिष्ठित करते हुए उसे समान स्वतन्त्रता प्रदान की तथा उसकी परम्परागत हीन भावना को विनष्ट किया। फिर सांस्कृतिक रंग-मंच पर उसे पुरुष की सहायिका और सहयोगिनी के रूप में भाग लेने का अवसर मिला। यहां वह पुरुष के समान सभी क्षेत्रों में समान कौशल, योग्यता और बौद्धिक विकास के साथ दृष्टिगत होती है। परन्तु प्रसाद जी नारी को पुरुष के समान ही बना कर ही संतुष्ट नहीं रह गए। दार्शनिक भाव क्षेत्र में ले जाकर उन्होंने नारी को नवीन प्रतिष्ठा प्रदान की, जहां वह लोक रक्षिका और पुरुष की मार्ग दर्शिका के रूप में अवतरित हुई और सामाजिक क्षेत्र में उसके साथ अन्याय और अत्याचार करने वाला पुरुष यहाँ दार्शनिक भूमि तक आते-आते जैसे उसके सम्मुख नत-शिर हो गया और नारी उसके लिये असीम सम्मान और श्रद्धा की वस्तु बन गई। वहाँ उसके जीवन की पूर्णता और सार्थकता बन कर जैसे

विश्व के वैषम्य में उसकी कल्याण कामना और उसके प्रति मातृत्व-स्नेह का स्वरूप लेकर आई :—

तुम अजस्र वर्षा सुहाग की
और स्नेह की मधु-रजनी
चिर अतृप्ति जीवन यदि था तो
तुम उसमें सन्तोष बनीं (कामायनी पृष्ठ २२६)

नारी सम्बन्धी विभिन्न दृष्टिकोणों का यह क्रम-बद्ध गुम्फन प्रसाद की समन्वयवादी कल्पना का आदर्श प्रस्तुत करते हुए उनकी नारी भावना को हिन्दी साहित्य में अमरता प्रदान करता है।

प्रसाद की सामाजिक नारी

(अ) वस्तु स्थिति, समस्या और समाधान
(ब) आदर्श
(स) वैवाहिक संस्था और स्वच्छन्द प्रेम
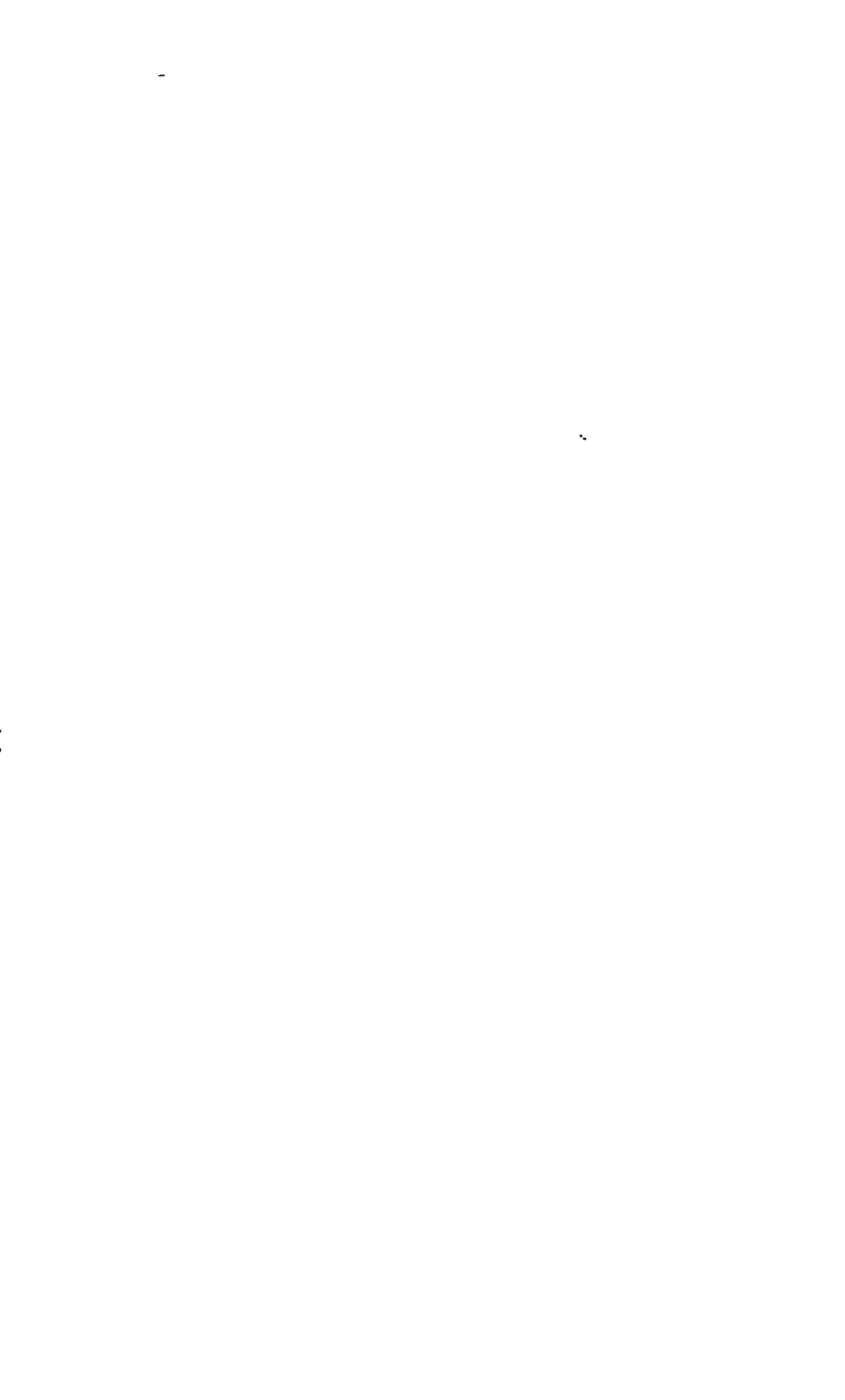
(अ) वस्तु स्थिति, समस्या और समाधान

प्रसाद जी ने अपने युग में परम्परा से चली आ रही संकीर्ण मान्यताओं की परिधि से आवृत नारी जीवन की व्यथा को देखा और उसका अध्ययन किया है। उन्होंने देखा कि महान् करुणा की पृष्ठभूमि में कराहती हुई उसकी वस्तु स्थिति—व्यक्तित्व एवं अधिकार विहींन होकर पुरुष की नृशंसता का भोज्य बन रही है। सामाजिक चेतना के इस अरुणोदय में प्रसाद जी ने अपने साहित्य, विशेपतया कहानी तथा उपन्यासों में नारी स्थिति के सजीव चित्र उपस्थित किये हैं और उनके अस्तित्व की वास्तविकता को पाठकों के सम्मुख उपस्थित कर, इस संदर्भ में, मस्तिष्क का उपयोग करने के लिये दिशा प्रदान की है। उन्होंने सामाजिक विषमता के बीच नारी के अधिकार शून्य व्यक्तित्व को देखा है ; जहां उसका अस्तित्व केवल 'पुरुषों की पूँछ' होने तक ही सीमित है। वह 'दुर्बल और अबला है', उसका समाज ही ऐसा है जहाँ अधिकार आदि के विषय में सोचने विचारने के लिये कुछ है ही नहीं।[1] 'कोई धर्म, कोई समाज स्त्रियों का नहीं है—सब पुरुषों के हैं—स्त्रियों का एक धर्म है, वह है आघात सहने की क्षमता रखना। दुर्दैव के विधान ने उनके लिये यही पूर्णता बना दी है, यह उनकी रचना है[2]। 'हिन्दुओं के समाज के पास दुर्बल स्त्रियों पर ही शक्ति का उपयोग करने की क्षमता बच रही है और यह अत्याचार प्रत्येक काल और प्रत्येक देश के मनुष्यों ने किया है। स्त्रियों की निसर्ग, कोमल प्रकृति और उनकी रचना इसका कारण है[3]।

'कंकाल' की गुलेनार के जीवन में प्रसाद जी ने अबला नारी के पतन की पराकाष्ठा प्रदर्शित की है और तारा के जीवन में मन के रुदन के लम्बे इतिहास को। गाला के शब्दों में—नारी जाति का निर्माण विधाता की एक झुँझलाहट है। लेखक का कहना है कि 'पुरुष के लिये नारी सब कुछ बलिदान कर देती है लेकिन

१—कंकाल, पृष्ठ १७०, १७२, तथा १७६।
२—कंकाल, पृष्ठ २७५—२७६।
३—कंकाल, पृष्ठ २५६।

हुई है। उनकी इस भावना का उत्कर्ष ध्रुव-स्वामिनी में लक्षित होता है। जब पति, पति के कर्त्तव्यों को पूर्ण कर सकने में असमर्थ हो, प्रसाद ने, यहां आकर, तब नारी को पुनर्विवाह का अधिकार दिया है। इस विषय पर प्रसाद पुरोहित के स्वर में घोषणा करते हैं—'धर्म का उद्देश्य इस तरह पद-दलित नहीं किया जा सकता। माता और पिता के प्रमाण के कारण से धर्म विवाह केवल परस्पर द्वेष से नहीं टूट सकते, पर यह सम्बन्ध उन प्रमाणों से भी विहीन है.. .. यह रामगुप्त मृत और प्रव्राजित तो नहीं, पर गौरव से नष्ट, आचरण से पतित और कर्मों से राज किल्विषी क्लीव है। ऐसी अवस्था में रामगुप्त का ध्रुवस्वामिनी पर कोई अधिकार नहीं'।'

असमान विवाह के दुष्परिणाम भी प्रसाद जी से दृष्टि-विमुख नहीं हुए हैं। उनकी दृष्टि में नैतिक मर्यादा की मान प्रतिष्ठा के लिये यह आवश्यक है कि पति-पत्नी में शारीरिक समानता हो। 'जनमेजय का नागयज्ञ' की दामिनी अपने वृद्ध पति वेद से सन्तुष्ट नहीं हो पाती। फलस्वरूप अपनी निसर्ग-प्रवृत्ति को तृप्त करने की आशा से वह युवा शिष्य उतंक की ओर आकर्षित होती है। वह यौवन की मदिर आकांक्षाओं से उन्मत्त, विषय वासना की मृग तृष्णा में पथ भ्रष्ट हो इधर-उधर भटकती फिरती है। 'इससे व्यक्तिगत एवं सामाजिक दोनों प्रकार के क्षेत्रों में असंतुलन उत्पन्न होता है। एक ओर नैतिक मर्यादा का हनन होता है, दूसरी ओर सामाजिक परम्पराओं की जर्जरता लक्षित होती है। असमान विवाह की असफलता की ओर लक्ष्य करते हुए प्रसाद जी स्वतन्त्र चुनाव तथा स्वयंवर आदि की मान्यताओं को प्रस्थापित नहीं किया चाहते हैं। प्रसाद का विश्वास है कि स्त्री-पुरुष में समझौते की परम आवश्यकता है और वही विवाह का रूप ले सकता है। इसी संदर्भ में उन्होंने सम्बन्ध-विच्छेद के प्रश्न को भी उठाया है। क्या नारी के लिए प्रेम की एकनिष्ठा का अर्थ जीवन भर पुरुष की पाशविकता, अत्याचारों और क्रूरताओं को सहते रहना ही है? प्रसाद का उत्तर है,—नहीं। जहाँ पुरुष अपने अधिकार क्षेत्र के मद में उन्मत्त, नारी की वैयक्तिक स्वतन्त्रता का मूल्य और महत्व नहीं मानना चाहता, विपत्ति-काल में उसकी रक्षा नहीं कर सकता, उसके प्रति अपने कर्त्तव्य का निर्वाह नहीं कर पाता, वहाँ वह उसका पति कहलाने का अधिकारी नहीं है। प्रसाद ने ऐसी अवस्था में नारी को सम्बन्ध विच्छेद का अधिकार दिया है। ध्रुव स्वामिनी ऐसी ही नारी है जो पति के प्रेम से वंचित है। प्रेमी तक पहुँचने में असहाय है। जो अन्तःपुर की दीवारों के भीतर वन्दी है, फिर भी वह साम्राज्ञी कही जाती है। रामगुप्त—उसका पति—उसे उपहार की वस्तु समझता है जो आवश्यकता पड़ने पर किसी को भी दी जा सकती है। किन्तु ध्रुव स्वामिनी का नारीत्व अन्यायों का आघात सहते-सहते अन्त में विस्फोट कर उठता है। उसके

उसकी चेतना में न जाने किस युग से घुस गई है[1] । वह धनियों के प्रमोद का कटा-छंटा हुआ सा शोभा वृक्ष -मात्र है । 'कोई डाली उल्लास से आगे बढ़ी, कुतर दी गई[2] । उसका जीवन जैसे 'जीवन के लिए कृतज्ञ, उपकृत और आभारी' होकर किसी के अभिमान-पूर्ण आत्म विज्ञापन का भार ढोते रहने[3] मात्र के लिए ही निश्चित हुआ है ।

प्रसाद साहित्य में मध्यवर्गीय नारी का जीवन उदासीनता की करुण कहानी के रूप में अभिव्यक्त हुआ है । 'परिवर्तन' की मालती जीवन के एक छोर से दूसरे छोर तक मलिन छाया का दुख संदेश बिखेरती रहती हैं। प्रसाद साहित्य में मध्य वर्गीय जीवन के वर्णन अधिक नहीं मिलते । सामान्य वर्गीय नारी के चित्रांकन में प्रसाद जी को विशेप सफलता मिली है। इस वर्ग की नारी का व्यक्तित्व अपेक्षा कृत स्वतन्त्र है । वह वासना का आहार वनने की अपेक्षा उसका तिरस्कार करते हुए मेहनत मजदूरी करना पसन्द करती है। 'तितली' की मलिया में आत्म -सम्मान की अपूर्व भावना निहित है । 'भिखारिन' की भिखा रिन, भिखारिन होते हुए भी आत्म प्रतिष्ठा का पल्ला नहीं छोड़ती । अभिजातीय वर्ग की भांति यहाँ भी अंध-विश्वास की मात्रा कम नहीं है ।'कंकाल' की किशोरी को महात्मा के आशीर्वाद से पुत्र उत्पन्न होने का विश्वास होता है। यहाँ भी उसकी आत्मा का हनन होता है । धर्म के नाम पर वह भ्रष्ट होती है। 'इरावती'की कालिन्दी मन्दिर की परिचारिका के रूप में पुजारी की वासना-तृप्ति का साधन बनती है । नारी का यौवन जैसे धन से खरीद लेने की वस्तु है[4] । उसकी असहाय अवस्था का लाभ उठाने के लिए धनी समाज सदैव तत्पर है[5] । वह धातु के कुछ टुकड़ों पर बिकी हुई हाड़ माँस का समूह-मात्र है, जिसके भीतर एक सूखा हृदय पिंड है[6] । उसका जीवन सुख की भूमिका से दूर, दुखों के अपार विस्तार में अवस्थित है । 'विशाख' की चन्द्रलेखा जीवन की विडम्बना से हारी है । वह सुख की परिभापा तक नहीं जानती ।

सखी री, सुख किसको हैं कहते ?
वीत रहा है जीवन सारा, केवल दुख ही सहते । (पृष्ठ १३)

विभिन्न वर्गों में नारी-स्थिति की सामान्य विवेचना के साथ-साथ विभिन्न परिस्थितियों में नारी स्थिति का अवलोकन भी आवश्यक हो जाता है।

१—ध्रुव स्वामिनी, पृष्ठ ५४ ।
२—चन्द्रगुप्त, पृष्ठ २०५ ।
३—ध्रुव स्वामिनी, पृष्ठ २८ ।
४—पाप की पराजय : (प्रतिध्वनि), पृष्ठ २९ ।
५—दुखिया : (प्रतिध्वनि), पृष्ठ ५९ ।
६—दासी (आँधी), पृष्ठ ५९ । देखिए, फिरोजा का चरित्र ।

प्रसाद जी ने हिन्दू विधवा की दयनीय स्थिति का मार्मिक अंकन किया है। 'घीसू' की विन्दो का जीवन विडम्बनाओं से पूर्ण, दारुण दुखों की अवतारणा करता है— 'उसका यौवन, रूप रंग कुछ नहीं रहा। बच रहा थोड़ा था पैसा, बड़ा सा पेट और पहाड़ से आने वाले दिन[1]।'

'कंकाल' की विधवा रामा पर दुराचार का लांछन लगता है। 'ममता' का वैधव्य उसके सुख पूर्ण जीवन का सम्बल नष्ट कर देता है। 'ग्रामगीत' की रोहिणी अपने अतृप्त प्रेम को ग्राम-गीतों में मुखर करती हुई वैधव्य जीवन की पीड़ा को थपकियाँ देती रहती है। 'अजातशत्रु' की मल्लिका एक स्थान पर कहती है—'यह वैधव्य दुख नारी जाति के लिए कैसा कठोर अभिशाप है। यह किसी भी स्त्री को अनुभव न करना पड़े[2]।' इसके साथ-साथ प्रस्थापित सामाजिक मान्यताओं की रक्षा के निमित्त पिता कुछ दिनों के लिये अपने घर से अनुपस्थित रही हुई पुत्री को स्थान नहीं देता और सद्‌गृहस्थ होने के अभिमान में पुत्री को स्वैरिणी का विशेषण प्रदान करता है[3]। निर्धनता के अभिशाप में पीड़ित नारी का विक्रय होता है[4]। परिस्थितियाँ उन्हें नर्तकी और वेश्या बनने पर विवश करती हैं और केवल इसी रूप में वे समाज के मध्य अपने जीवन का निर्वाह कर सकती हैं।

प्रसाद जी ने नारी सम्बन्धी सामाजिक जीवन के इस सत्य के उद्‌घाटन के साथ-साथ उनकी समस्याओं पर भी अपने विचारों को अभिव्यक्ति प्रदान की है। इस दिशा में पुनर्विवाह, असमान विवाह, वेश्यावृत्ति, संबन्ध-विच्छेद, अन्तर्जातीय विवाह तथा शिक्षा प्रचार आदि उस काल की सभी प्रमुख समस्याओं को प्रसाद साहित्य में स्थान मिला है।

पुनर्विवाह को लेकर प्रसाद जी के विचारों में विकास क्रम की रेखा स्पष्ट दिखाई पड़ती है। ऐसा लगता है कि पहले प्रसाद जी वैधव्य की पवित्रता पर ही अधिक विश्वास करते थे। इसीलिए 'प्रेम पथिक' की विधवा पुतली को अपने प्रिय किशोर के शरीर की अपेक्षा हृदय मात्र से मिलने की आयोजना की गई है। यहाँ प्रेम की एक निष्ठा की रक्षा के निमित्त व्यावहारिक विवाह की अपेक्षा आत्मिक मिलन को अधिक श्रेष्ठ माना गया है। परन्तु 'विजया[5]' में विधवा सुन्दरी कमल को प्राप्त कर लेती है। चित्तौर उद्धार[6] में भी विधवा-विवाह को स्वीकृति प्राप्त

१—घीसू : आँधी, पृष्ठ ७२।
२—अजातशत्रु, पृष्ठ ८२।
३—कंकाल, पृष्ठ ३६।
४—कंकाल, पृष्ठ ३४।
५—'आँधी' में संग्रहीत कहानी।
६—'छाया' में संग्रहीत।

हुई है। उनकी इस भावना का उत्कर्ष ध्रुव-स्वामिनी में लक्षित होता है। जब पति, पति के कर्त्तव्यों को पूर्ण कर सकने में असमर्थ हो, प्रसाद ने, यहां आकर, तब नारी को पुनर्विवाह का अधिकार दिया है। इस विषय पर प्रसाद पुरोहित के स्वर में घोषणा करते हैं—'धर्म का उद्देश्य इस तरह पद-दलित नहीं किया जा सकता। माता और पिता के प्रमाण के कारण से धर्म विवाह केवल परस्पर द्वेष से नहीं टूट सकते, पर यह सम्बन्ध उन प्रमाणों से भी विहीन है.. .. यह रामगुप्त मृत और प्रव्राजित तो नहीं, पर गौरव से नष्ट, आचरण से पतित और कर्मों से राज किल्विषी क्लीव है। ऐसी अवस्था में रामगुप्त का ध्रुवस्वामिनी पर कोई अधिकार नहीं'।'

असमान विवाह के दुष्परिणाम भी प्रसाद जी से दृष्टि-विमुख नहीं हुए हैं। उनकी दृष्टि में नैतिक मर्यादा की मान प्रतिष्टा के लिये यह आवश्यक है कि पति-पत्नी में शारीरिक समानता हो। 'जनमेजय का नागयज्ञ' की दामिनी अपने वृद्ध पति वेद से सन्तुष्ट नहीं हो पाती। फलस्वरूप अपनी निसर्ग-प्रवृत्ति को तृप्त करने की आशा से वह युवा शिष्य उतंक की ओर आकर्षित होती है। वह यौवन की मदिर आकांक्षाओं से उन्मत्त, विषय वासना की मृग तृष्णा में पथ भ्रष्ट हो इधर-उधर भटकती फिरती है। 'इससे व्यक्तिगत एवं सामाजिक दोनों प्रकार के क्षेत्रों में असंतुलन उत्पन्न होता है। एक ओर नैतिक मर्यादा का हनन होता है, दूसरी ओर सामाजिक परम्पराओं की जर्जरता लक्षित होती है। असमान विवाह की असफलता की ओर लक्ष्य करते हुए प्रसाद जी स्वतन्त्र चुनाव तथा स्वयंवर आदि की मान्यताओं को प्रस्थापित नहीं किया चाहते हैं। प्रसाद का विश्वास है कि स्त्री-पुरुष में समझौते की परम आवश्यकता है और वही विवाह का रूप ले सकता है। इसी संदर्भ में उन्होंने सम्बन्ध-विच्छेद के प्रश्न को भी उठाया है। क्या नारी के लिए प्रेम की एकनिष्ठा का अर्थ जीवन भर पुरुष की पाशविकता, अत्याचारों और क्रूरताओं को सहते रहना ही है? प्रसाद का उत्तर है,—नहीं। जहां पुरुष अपने अधिकार क्षेत्र के मद में उन्मत्त, नारी की वैयक्तिक स्वतन्त्रता का मूल्य और महत्व नहीं मानना चाहता, विपत्ति-काल में उसकी रक्षा नहीं कर सकता, उसके प्रति अपने कर्त्तव्य का निर्वाह नहीं कर पाता, वहाँ वह उसका पति कहलाने का अधिकारी नहीं है। प्रसाद ने ऐसी अवस्था में नारी को सम्बन्ध विच्छेद का अधिकार दिया है। ध्रुव स्वामिनी ऐसी ही नारी है जो पति के प्रेम से वंचित है। प्रेमी तक पहुँचने में असहाय है। जो अन्तःपुर की दीवारों के भीतर बन्दी है, फिर भी वह साम्राज्ञी कही जाती है। रामगुप्त—उसका पति—उसे उपहार की वस्तु समझता है जो आवश्यकता पड़ने पर किसी को भी दी जा सकती है। किन्तु ध्रुव स्वामिनी का नारीत्व अन्यायों का आघात सहते-सहते अन्त में विस्फोट कर उठता है। उसके

व्यक्तित्व में लेखक ने नारी-तत्व का ओजपूर्ण प्रतिपादन किया है। यहाँ 'ध्रुव स्वामिनी' का लेखक यह बतला देना चाहता है कि स्त्रियाँ पुरुष की सम्पत्ति नहीं है। वह दाम्पत्य-सम्बन्ध को सहज ही ठुकरा देने वाली वस्तु नहीं मानता, किन्तु पुरुष यदि अपने उत्तरदायित्व को भूल जाए, माँगी हुई शरण न दे, स्वेच्छाचार करे तो आपत्तिकाल में स्त्रियाँ ध्रुव स्वामिनी की भाँति अपना पथ निश्चित कर सकती हैं। दाम्पत्य जीवन को सफलता पूर्वक चलाने के लिये पति और पत्नी दोनों का एक दूसरे के प्रति एकनिष्ठ होना आवश्यक है। जिस प्रकार पति पत्नी से एकनिष्ठ होने की माँग कर सकता है, ठीक उसी प्रकार पत्नी भी पति से वही अपेक्षा कर सकती है। 'कंकाल' का वाथम लतिका को पाकर भी यमुना और घंटी की ओर आकर्षित होता है। परिणाम स्वरूप संघर्ष की पीठिका निर्मित होती है और दोनों में सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है।

प्रसाद जी ने जातिवाद की संकीर्णता में पिसती हुई मानवीय भावनाओं का करुण क्रन्दन देखा था। सामाजिक-क्षेत्र में अन्तर्जातीय विवाह निषिद्ध थे। ऐसे विवाहितों के प्रति समाज के पास उपेक्षा और घृणा ही थी। सामाजिक अनुशासन की इस अपेक्षा को तोड़ना सहज न था। स्वयं प्रसाद जी भी अपनी पूर्व कृतियों में इतना साहस नहीं कर सके थे कि अन्तर्जातीय विवाह का खुला समर्थन कर सकें। 'मदन-मृणालिनी' (छाया) में नायक नायिका को कलकत्ता से हटा कर सबसे दूर सिलोन ले जाया जाता है, जहाँ उनके विवाह पर व्यंग्य वाणों की वर्षा करने के लिये समाज नहीं आएगा। लेकिन वहाँ भी मदन और मृणालिनी का विवाह समारोह, एक दूसरे के प्रति असीम प्रेम होते हुए भी, पूर्ण न हो सका, और मदन, मृणालिनी को सिलोन में ही उसके माता-पिता के पास छोड़ कर एक दिन भारत लौट आया। उसकी इस विवशता में जातिवाद का प्रश्न ही प्रमुख था। परन्तु, अपनी उत्तर कृतियों से प्रसाद जी ने धीरे-धीरे अपने साहस का परिचय दिया है। 'जनमेजय का नागयज्ञ' में यादवी सरमा नाग का परिणय ग्रहण करती है। जनमेजय मणिमाला के साथ आबद्ध होता है। किन्तु इन विवाहों की पृष्ठ भूमि में स्वतन्त्र प्रेम की वकालत नहीं की गई है, बल्कि दो परस्पर विरोधी जातियों में एकता एवं मैत्री स्थापना के आदर्श को लेकर ही ये विवाह-व्यापार रचे गए हैं। चन्द्रगुप्त और कार्नेलिया का विवाह दो संस्कृतियों के सम्मिलन के महान् आदर्श को लेकर आयोजित हुआ है। साथ ही अन्तर्जातीय विवाहों की आयोजना में प्रेम-भावना को भी स्वीकृति पहले पहल यहीं प्रदान की गई है। आगे चलकर 'कंकाल' में मंगल और गाला का विवाह शुद्ध प्रेम पर आधारित है। 'तितली' के इन्द्रदेव शैला को भी इसी प्रकार से अपनाते हैं। यहाँ तक आते-आते प्रसाद जी प्यार करने की स्वतन्त्रता

पर विश्वास करने लगे हैं और अन्तर्जातीय विवाहों की पुष्टि के लिये उन्हें जो जातीय हित या सांस्कृतिक आदर्श की आड़ लेनी पड़ी था, उसकी आवश्यकता भी अब नहीं रह जाती है।

उपर्युक्त समस्याओं और समाधानों के साथ-साथ प्रसाद जी के सामाजिक अध्ययन का एक और मुख्य विषय है, वेश्यावृत्ति। इस प्रथा से प्रसाद जी सबसे अधिक पीड़ित हैं। उन्होंने इस वर्ग के प्रति अपनी महान् करुणा अभिव्यक्त की है। नारी के प्रति उनके मन में सम्मान-भावना का अतिशय भंडार है। एक स्थान पर 'कंकाल' के मंगल के मुख से वह कहते हैं—'परन्तु मैं तो आज तक यही नहीं समझा कि सुन्दरी स्त्रियाँ क्यों वेश्या बनें। संसार का सबसे सुन्दर जीवन क्यों इससे बुरा काम करे। (पृष्ठ ३१) पुरुष ने स्वयं अपनी वासना की तृप्ति के लिये वेश्यावृति का आविष्कार किया। अगणित महिलाओं से माँ और बहिन बनने का अधिकार छीन लिया। उल्टे उन्हें दुराचारिणी भी घोषित किया। नारी का इससे बड़ा दुर्भाग्य और क्या हो सकता है। प्रसाद ने ऐसी, समाज द्वारा पतिता नारी में भी एकनिष्ठा और सत्य प्रेम की प्रतिष्ठा की है। 'अजातशत्रु' में श्यामा विरुद्धक से कहती है—'क्या तुम मनुष्य नहीं हो। आन्तरिक प्रेम की शीतलता ने तुम्हें कभी स्पर्श नहीं किया? जीवन की कृत्रिमता में दिन-रात प्रेम का वानिज करते-करते क्या प्राकृतिक स्नेह का स्रोत एक बार ही सूख जाता है। क्या वार-बिलासिनी प्रेम करना नही जानती।' (पृष्ठ ७२)। प्रसाद जी का दावा है कि ऐसी महिलाओं के भी मन है, और वे सम्मानित सामाजिक बन कर रहना चाहती हैं। 'चूड़ीवाली' बारविलासिनी होते हुए भी विजय कृष्ण के प्रति एक निष्ठ है। 'सालवती' के मन का कोना संवेदनशीलता से भीगा हुआ है। वह अपनी परवशता के मध्य कुलवधुओं के व्यग्य वाण सहन करती है। उसका अन्तर रो उठता है, जब उससे यह कहा जाता है—

'तूने वेश्यावृत्ति के पाप का आविष्कार किया है। तू कुल-पुत्रों के वन की दावाग्नि की प्रथम चिनगारी है। तेरा मुँह देखने से भी पाप है।' (इन्द्रजाल, पृष्ठ १४७)

प्रसाद जी ने इस समस्या के समाधान हेतु समाज के कुल-पुत्रों से आगे आकर समाज द्वारा प्रताड़ित इन महिलाओं को पत्नी रूप में स्वीकार करने की अपेक्षा की है। जिस राष्ट्र में जिस वृत्ति को प्रोत्साहन मिला है, राष्ट्र का कर्त्तव्य है कि उसकी सुव्यवस्था भी करे। प्रसाद जी कौमार्य, शील और सदाचार खण्डिता इन प्राणियों के लिये विवाह का विधान बतलाते हैं और उनका कहना है कि इस समस्या का निराकरण केवल इस प्रकार से ही हो सकता है। वेश्यावृत्ति के लिये उन्होंने कभी भी नारी को दोषी नहीं ठहराया है। एक स्थान पर वे कहते हैं— सब

वेश्याओं को देखो —इनमें कितनों के मुख मलिन हैं, इनकी भोली भाली आँखें रो-रो कर कहती हैं, मुझे पीट-पीट कर चंचलता सिखलाई गई है[1]। समाज के इन पतित प्राणियों के प्रति प्रसाद जी की सहानुभूति का उद्रेक प्रबल रूप से निःसृत हुआ है।

सामाजिक चेतना के प्रहर में प्रसाद जी नारी-समाज, विशेषतया मध्यवर्गीय नारी समाज में व्यापक अविद्या के अंधकार को दृष्टि ओझल नहीं कर सके हैं। 'कंकाल' में मंगल की प्रेरणा से माला ग्राम्य बालिकाओं को पढ़ाने का भार ग्रहण करती है। प्रसाद जी का विश्वास है कि यदि घरों के भीतर अंधकार को समूल नष्ट करना है तो महिलाओं को शिक्षित होना पड़ेगा, जिससे वे भी विस्तृत समाज में प्राप्त अधिकारों का उपभोग कर सकें। लतिका नारी शिक्षा के लिये सर्वस्व दान दे देती है जिससे 'शिक्षा के साथ वे इस योग्य बनाई जाएंगी कि घरों में, नहीं तो, दीवारों के भीतर नारी जाति के सुख, स्वास्थ्य और संयत स्वतन्त्रता की घोषणा करें, उन्हें सहायता पहुंचाएं, जीवन के अनुभवों से अवगत करें। उनमें उन्नति, सहानुभूति, क्रियात्मक प्रेरणा का प्रकाश फैलाएं[2]।

प्रसाद जी ने अपने युग की इन विशिष्ट समस्याओं के साथ-साथ कुछ गौण समस्याओं पर भी प्रसंगवश प्रकाश डाला है। उन्होंने बहु-विवाह और वृद्ध-विवाह का विरोध किया है। उनकी लेखनी से व्यावसायिक विवाह की भावना पर कुठाराघात हुआ है। मदिरा समस्या भी, जो अभिजातीय वर्ग में विशेष रूप से प्रचलित है, उनकी चिन्तना का विषय बनी है। 'अजातशत्रु' में छलना और वासवी तथा 'स्कन्द गुप्त' की देवकी और अनन्त देवी का परस्पर संघर्ष बनाकर उन्होंने एक विवाह की मान्यता प्रतिष्ठित करनी चाही है। निम्न वर्गीय महिलाओं की आभूषण प्रियता तथा उसके दुष्परिणामों पर उनकी दृष्टि गई है। प्रेम के क्षेत्र में जाति प्रथा की समस्या का खण्डन करके उन्होंने अभिजातीय वर्ग के युवक को निम्न वर्ग की नारी से प्रेम-विवाह करने की सुविधा दी है[3]।

इस प्रकार प्रसाद जी ने उन सभी सामाजिक समस्याओं का स्पर्श किया है जो तत्कालीन समाज सुधारकों के सम्मुख उपस्थित थीं। और इस दिशा में उनके साहित्यिक समाधान भी समाज सुधारकों की विचारधारा के समान ही समस्याओं का निदान खोजते हैं।

१—कंकाल, पृष्ठ २०८।
२—कंकाल, पृष्ठ २८२।
३—नीरा, आँधी, पृष्ठ १००।

(ब) आदर्श :—

उपर्युक्त विवेचना के अन्तर्गत प्रसाद जी द्वारा उठाई गई नारी सम्बन्धी समस्याओं को लिया गया है। समाज में नारी स्थिति सम्बन्धी क्या आदर्श होना चाहिए, प्रसाद जी ने इस प्रश्न पर विशद व्याख्या प्रस्तुत की है। इस विषय को लेकर प्रसाद जी की विचार धारा में विकास हुआ है, लेकिन इस विकास-क्रम में कोई व्यवधान लक्षित नहीं होता। प्रसाद का साहित्य नारी-स्वातन्त्र्य की उद्‌घोषणा करता है। वह भारतीय जीवन की उन रूढ़ि-जर्जर परम्पराओं, आदर्शों और मान्यताओं पर कुठाराघात करता है, जिसने सामाजिक प्रगति का पथ, अवरुद्ध कर रखा है। अपने नाटकों को राष्ट्रीय भाव-भूमि प्रदान करते हुए उन्होंने नारी के क्षेत्र-विस्तार की वकालत की है। विजया, कार्नेलिया, अलका, मल्लिका आदि जीवन के व्यापक क्षत्र में अपने कर्त्तव्य का निर्वाह करती है। राष्ट्रीय उद्‌बोधन में वे पुरुष की सहचरी बन कर अवतीर्ण होती है। उनकी संकीर्ण सीमाओं की शृंखला टूट जाती है और वे अपनी प्रतिभा का उपयोग कर सकने में दत्तचित्त हो, राष्ट्रीय योजनाओं में भाग लेती दिखाई पड़ती हैं। इस प्रकार प्रसाद साहित्य में 'नारी को हम पर्दे के बाहर राजसभा में उपस्थित देखते हैं। स्वच्छन्दता से वह अपना मत भी प्रकट करती है। अवस्था और परिस्थिति के अनुसार हम उसे युद्ध-क्षेत्र में भी उपस्थित पाते हैं। उसे विद्रोह के लिये अग्रसर देखते हैं। विद्रोह का नेतृत्व करते पाते हैं'...... ..उपर्युक्त महिलाओं के रूप में 'यही कहने का प्रयत्न किया गया है कि नारी घर के बाहर भी पुरुष के समान ही हर काम को करने की क्षमता रखती है और हर काम करती रही है'।

सामाजिक जीवन में ही नहीं, पारिवारिक-क्षेत्र में भी प्रसाद जी नारी के स्वतन्त्र व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा करते हैं। उनका कहना है कि पत्नी पति की दासी नहीं, सहचरी और सहयोगिनी है। 'जनमेजय का नाग यज्ञ' में वासुकी शरमा से पूछता है—'क्या पति होने के कारण तुम पर मेरा कुछ भी अधिकार नहीं है?' तब सरमा उत्तर देती है—

'आप को और सब अधिकार है पर मेरी सहज स्वतन्त्रता के अपहरण करने का नहीं···मैं आपके साथ चलूंगी, पर अपमानित होने के लिये नहीं।' (पृष्ठ ३९)

प्रसाद जी की धारणा थी कि कला, सौन्दर्य और नारी का अपमान ही मानवता को विनाश की ओर ले जाता है। अतः मानवता की रक्षा के लिये यह आवश्यक है कि नारी का सम्मान करना सीखा जाए। और उसे सम्मान देने से

१—परमेश्वरी लाल गुप्त : प्रसाद के नाटक, पृष्ठ ११६।

पूर्व उसे स्वतन्त्रता देना आवश्यक है। 'कामायनी' में 'श्रद्धा और इड़ा दोनों का स्वतन्त्र गति एवं प्रेम द्वारा नारी-स्वातन्त्र्य-आन्दोलन का वह समर्थन करते हैं। वह नारी-स्वातन्त्र्य-समस्या के विषय में पं० जवाहर लाल नेहरू के निम्नलिखित मत से पूर्ण सहमत थे— 'हमारे देश की रचना का बुनियादी पत्थर स्त्री-स्वातन्त्र्य होना चाहिए और इसी आधार पर समाज का निर्माण होना चाहिए, क्योंकि हमारे समाज की इमारत की नींव नारी देती है'[1]।

'प्रसाद जी का समस्त साहित्य 'स्व' की अनुभूति जागृत करने का महत् (पर साथ ही सरस) प्रयत्न है। परन्तु इस 'स्व' का अर्थ प्रसाद जी के कोश में 'अहं' नहीं है। प्रसाद जी ने नारी स्वातन्त्र्य-आन्दोलन का जोरदार समर्थन किया है, ठीक है। यह भी ठीक है कि वह उसे राष्ट्रीय, सामाजिक एवं सांस्कृतिक सभी क्षेत्रों में समान अधिकार देने के पक्ष में रहे हैं। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं हो जाता कि नारी अपनी मूल प्रवृत्तियों को भुला कर केवल अधिकार प्राप्ति की आकांक्षा से पुरुष वर्ग के साथ निरर्थक और परिणाम में अहितकर होड़ करती हुई सामाजिक भावभूमि में असन्तुलन और वैषम्य की अवतारणा करे। अपने परवर्ती नाटक 'अजातशत्रु' में कह आए हैं—'विश्व भर में सब कर्म सब के लिये नहीं हैं। इसमें कुछ विभाग हैं अवश्य।...मनुष्य कठोर परिश्रम करके जीवन संग्राम में प्रकृति पर यथाशक्ति अधिकार करके भी एक शासन चाहता है, जो उसके जीवन का परम ध्येय है, उसका एक शीतल विश्राम है और वह स्नेह-सेवा-करुणा की मूर्ति तथा सान्त्वना के अभय वरद हस्त का आश्रय, मानव समाज की सारी वृत्तियों की कुन्जी, विश्व शासन की एक मात्र अधिकारिणी, प्रकृतिस्वरूपा स्त्रियों के सदाचारपूर्ण स्नेह का शासन है[2]।' क्योंकि 'स्त्रियों के संगठन में, उनके शारीरिक एवं प्राकृतिक विकास में ही एक परिवर्तन है जो स्पष्ट बतलाता है कि वे शासन कर सकती हैं, किन्तु अपने हृदय पर। वे अधिकार जमा सकती है उन मनुष्यों पर—जिन्होंने समस्त विश्व पर अधिकार किया हो...तब उन्हें दुरभि-संधि की क्या आवश्यकता है[3]।

उनकी इसी भावना का विकास 'तितली' में हुआ है। 'तितली' की मूल समस्या नारी के अधिकार-क्षेत्र को लेकर चलती है। इसमें उनके चिन्तन का विषय है कि क्या 'नारी-जीवन की सार्थकता अपना एक स्वतन्त्र व्यक्तिगत बनाए रखकर पारिवारिक जीवन की उपेक्षा करते हुए, समाज सेवा का व्रत धारण करने में है

१—रामलाल सिंह (कामायनी अनुशीलन), पृष्ठ १६८ पर उद्धृत।
२—अजातशत्रु, पृष्ठ १२५।
३—वही, पृष्ठ १२४।

अथवा गृहस्थी के भीतर अपने प्रेम और श्रद्धा के केन्द्र पति के प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन करते हुए समाज के रक्षण, निर्माण और विकास के योग देने में।

प्रसाद जी ने शैला और तितली के चरित्रों के माध्यम से इस समस्या का का उद्‌घाटन किया है। शैला पाश्चात्य आदर्शों की पीठिका में अपने जीवन दर्शन का निर्माण किया चाहती है। वह इन्द्रदेव के आश्रय में रहती है। एक प्रकार से वह इन्द्र देव की दया पर निर्भर है। फिर भी वह सोचती है—'नहीं, समाज का संगठन ही ऐसा है कि प्रत्येक प्राणी को धन की आवश्यकता है। इधर स्त्री को स्वावलम्बन से जब पुरुष लोग हटा कर उनके भाव और अभाव का दायित्व अपने हाथ में ले लेते हैं, तब धन को छोड़ कर उनका क्या सहारा है।' (तितली, पृ० २००)

वह अपना पृथक व्यक्तित्व बनाए रखने की चेष्टा में काम करके धन कमाना चाहती है। उसमें उस महान समर्पण भावना का अभाव है जो भारतीय नारी की अपनी विशेषता है। प्रसाद जी ने शैला के चरित्र में पाश्चात्य आदर्शों की अपूर्णता और अव्यावहारिकता की ओर संकेत किया है। शैला काम करके भी सुखी नहीं है। पत्नी बन कर भी इन्द्रदेव के प्रति उसकी निष्ठा पूर्ण रूप से मुखरित नहीं हो पाती है। वह बार-बार बाथम की ओर झुकती है। उसकी यह भावना उसे पाश्चात्य जीवन की देन है। इस प्रकार शैला अपने व्यक्तित्व का विलय कर सकने में असमर्थ है। दूसरी ओर अपनी सम्पूर्ण उदात्तता एवं कर्तव्य निष्ठा को लिए हुए तितली की चरित्र रश्मियां विकीर्ण होती हैं। उसमें प्रेम की एकनिष्ठा है। सुगृहिणी का आदर्श है। वह अपने पति पर पूर्ण समर्पित और विश्वासी है तथा उसमें जीवन की विभीषिकाओं का सामना करने की अपूर्व क्षमता है। वह भी सामाजिक कर्तव्य को पूरा करती है। ग्राम्य बालिकाओं के लिए पाठशाला का आयोजन उसी के द्वारा होता है। संसार भर के परम अछूत, समाज की निर्दय महत्ता के काल्पनिक दम्भ का निदर्शन, छिपा कर उत्पन्न किये जाने योग्य सृष्टि के बहुमूल्य प्राणी, जिन्हें उनकी माताएं भी छूने में पाप समझती हैं; व्यभिचार की सन्तान—ये सब बालक उसके यहाँ आश्रय प्राप्त करते हैं। वास्तव में तितली लोक सेविका और लोक संरक्षिका के रूप में अवतरित होती है। लेकिन लोक के प्रति अपने कर्त्तव्य की भावना के विस्तार में उसने अपनी गृहस्थी को, अपने मधुवन को और अपने पत्नी रूप को नहीं भुला दिया है। यही उसकी महानता है और इसी बिन्दु पर वह शैला से कई गुना ऊंची उठ जाती है। अपने व्यक्तित्व और चरित्र के माध्यम से वह यह स्पष्ट कर देती है कि भारतीय समाज में नारी जीवन का मूल्य असीम त्याग की भावना में अवस्थित है।

इस प्रकार प्रसादजी ने इस प्रश्न को कि नारी का सही स्थान कहाँ है, उसके अधिकार और कर्त्तव्यों के क्षेत्र और उनकी सीमा रेखा किस प्रकार निर्दिष्ट हो सकती है, 'तितली' की नायिकाओं के माध्यम से हल करने की सफल चेष्टा की है। उनके

अनुसार नारी का सबसे पहला और आवश्यक स्वरूप पारिवारिक जीवन के भीतर ही विकसित होना चाहिए। शैला ने पारिवारिक जीवन के पथ से विपथ होकर क्या पाया? जीवन भर अशान्ति और विकर्षण। प्रसादजी ने नन्द रानी के मुख से नारी के अधिकार-क्षेत्र की व्याख्या दी है—'मैं तो जानती हूं कि स्त्री, स्त्री ही रहेगी। कठिन पीड़ा से उद्विग्न होकर आज का स्त्री-समाज जो करने जा रहा है, क्या वह वास्तविक है।' तितली के शब्दों में भी 'हिन्दू स्त्री का श्रद्धापूर्ण समर्पण उसकी श्रद्धा का प्राण है।'

परन्तु प्रसादजी की मान्यता है कि यदि नारी पारिवारिक जीवन को प्राथमिकता देकर अपना स्थान निर्दिष्ट कर ले, तभी उसका जीवन सफल और उन्नत बन सकता है और तभी वह अपने सामाजिक कर्त्तव्यों के प्रति भी समुचित न्याय कर सकती है। अन्यथा, स्वतन्त्र बनाये रखने की मृग-मरीचिका में वह आत्मिक अशान्ति की तृषा से सदैव ही व्याकुल होती रहेगी।

इसी प्रसंग में प्रसादजी के, आधुनिक नारी में बल प्राप्त करती हुई अधिकार भावना विषयक विचारों को भी देख लेना चाहिये। हम ऊपर कह आए हैं कि प्रसादजी ने नारी को सामाजिक स्वतन्त्रता देने के पक्ष में जोरदार वकालत की है। लेकिन जहां नारी अपनी निसर्ग कर्त्तव्य-भावना को भूलकर समानाधिकार की प्रतिद्वन्द्विता को ले, महत्ता प्राप्त करने की आकांक्षा से प्रकट हुई है, वहां प्रसादजी ने उसे अपनी सहानुभूति प्रदान नहीं की है। बल्कि जीवन की विभीषिका में उसे उलझा कर सोचने के लिये विवश कर दिया है कि अधिकार प्राप्ति और महत्वाकांक्षा पूर्ति का उसका यह पथ उसके लिए श्रेयस्कर नहीं है। नारी की वास्तविक महानता उसके नारी रूप में है, पुरुष रूप में नहीं। इस प्रकार 'जहां रूप और सौन्दर्य से गर्विता नारी अपने जीवन की स्वाभाविक शान्ति को छोड़कर, घर की उपेक्षा कर, सामाजिक क्षेत्र में पुरुष से स्पर्धा कर महत्वाकांक्षाओं का शिकार बनती हुई अपने लिये ही धूमकेतु बन जाती है, वहां प्रसादजी की करुणा आंसू बहाती हुई[1]' उस अभागिन को उसके भविष्य के प्रति सचेत कर देती है। अजातशत्रु की 'मागधी' (श्यामा) में स्वतन्त्र वैयक्तिता की भयकर कामना है। जीवन के थपेड़ों से चोट खाती हुई वह अन्त में गौतम के सम्मुख नत हो जाती है। शक्तिमती नारी की अपेक्षा पुरुष अधिक है। वह अबलाओं की रोदनशील प्रकृति लेकर भाग्य के भरोसे बैठ रहने की अपेक्षा प्रतिशोध के लिये कटिबद्ध होती है। वह स्पष्ट रूप से समानाधिकार की बात कहती है—'यदि पुरुष इन कामों को कर सकता है तो स्त्रियां क्यों न करें। क्या उन्हें अन्तःकरण नहीं है? क्या स्त्रियां अपना कुछ अस्तित्व नहीं रखतीं। क्या उनका जन्म-सिद्ध कोई अधिकार नहीं है।[2]'

१—इन्द्रनाथ मदान : जयशंकर प्रसाद : चिन्तन व कला, पृ० १६५।
२—अजातशत्रु, पृ० १२३-१२४।

परन्तु इस अधिकार के तेज से तप्त नारी को नारीत्व की साकार प्रतिमा मल्लिका के सम्मुख क्षमा-याचना ही करनी पड़ी है—

'वह मेरी भूल थी देवि ! क्षमा करना। वह बर्बरता का उद्रेक था—पाशव वृत्ति की उत्तेजना थी।[१]'

'कामना' नाटक में भी कामना के रूप में अतृप्त और असंतोषी नारी का चरित्र उपस्थित किया गया है। जो संतोष को छोड़ कर विलास की ओर अग्रसर होती है। और फूलों का देश उच्छृंखलता की क्रीड़ा-स्थली में परिवर्तित हो जाता है।

इसी वर्ग की दूसरी नारी 'स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य' की अनन्त देवी है। जिसके चरित्र में आधुनिक नारी की बढ़ती हुई दर्प-भावना अभिव्यक्त हुई है। तितली की माधुरी भी प्रभुत्व की आकांक्षिनी है। इन्द्रदेव के उसके प्रति विचार दृष्टव्य हैं— 'वह मुझसे स्नेह और सांत्वना की आशा करने वाली निरीह प्राणी नहीं रह गई है, वह तो अपने लिये एक दृढ़ भूमिका चाहती है, और चाहती है मेरा पतन, मुझी से विरोध, मेरी प्रतिद्वन्द्विता। तब तो हृदय व्यथित हो जाता है। यह सब क्यों ? आर्थिक सुविधा के लिए।······प्रभुत्व का नशा, ओह, कितना मादक है। मैंने थोड़ी-सी पी है। किन्तु मेरे घर की स्त्रियाँ तो इस एकाधिकार के वातावरण में मुझसे भी अधिक। सम्मिलित कुटुम्ब कैसे चल सकता है।[२]'

प्रसाद ने आधुनिक नारी की इस अधिकार भावना पर व्यंग्य भी प्रस्तुत किये हैं। 'कामना' में प्रमदा दम्भ से कहती है—'स्त्री पुरुषों की दासता में जकड़ गई है, क्योंकि उन्हें ही सुवर्ण की अधिक आवश्यकता है। आभूषण उन्हीं के लिये हैं। मैंने स्त्रियों की स्वतन्त्रता का मन्दिर खोल दिया है। यहाँ वे नवीन वेशभूषा से अद्भुत लावण्य का सृजन करेंगी। पुरुष स्वयं उनके अनुगत होंगे। मैं वैवाहिक जीवन को घृणा की दृष्टि से देखती हूं। उन्हें धर्म भवनों की देवदासी बनाऊँगी।[३]

और अधिकार भावना के पथ पर बहुत दूर तक चली आने के बाद स्वयं कामना के भी कुछ इसी प्रकार के उद्गार उमड़ते हैं—'मैं पवित्र कुमारी हूं। मैं सोने से लदी हुई परिचारिकाओं से घिरी हुई, अपने अभियान साधना की कठिन तपस्या करूंगी[४], कहना न होगा कि प्रसाद ने नारी के इस जीवन दृष्टिकोण को कभी भी समादरित नहीं किया है। जहां नारी अनन्त साधनों से अपने सुख को अधिकाधिक सुख पूर्ण बनाना चाहती है, वहीं उसका पतन प्रसाद ने दिखलाया है। आधुनिक नारी की यह दर्पपूर्ण भावना का उत्कर्ष जो मूल रूप में पाश्चात्य शिक्षा और संस्कृति की देन है, हमें कामायनी की 'इड़ा' में देखने को मिलता है।

१—अजातशत्रु, पृ० १२६।

२—तितली, पृ० १०९-११०।

३—कामना, पृ० ६६।

४—वही, पृ० ७३।

'प्रसाद जी ने इड़ा के चरित्र में आधुनिक युग की बौद्धिक क्षमता से युक्त एक ऐसी सबल नारी का व्यक्तित्व खड़ा किया है जो आज के वैज्ञानिक युग की समस्त शक्तिमत्ता एवं दुर्बलता का एक साथ पूरा-पूरा आभास देने में समर्थ है।...आधुनिक युग की नारी जिसे हम अल्ट्रा-माडर्न के विशेषण से विभूषित करते हैं, और जो अपनी बौद्धिक पूर्णता के साथ पुरुष के साथ रहकर छलना करती है, इड़ा के व्यक्तित्व में कुछ कुछ देखी जा सकती है। वस्तुतः इड़ा व्यवसाय युक्त बुद्धि का वह रूप है, जो अपने चरम विकास की परिणति होने पर संघर्ष और विप्लव की भूमिका प्रस्तुत करती है।[1]'

'कामायनी' की इड़ा का अहम् प्रबुद्ध होकर सामाजिक जीवन में विडम्बनाओं की सृष्टि करता हुआ, 'नारी के दर्प, अहंकार तथा बौद्धिक वैभव' आदि का घातक रूप व्यक्त करने में सफल है। इड़ा के चरित्र से प्रसाद जी की इस भावना को अभिव्यक्ति मिलती है कि केवल प्रबुद्ध मस्तिष्क लेकर ही समाज की कल्याणमयी भूमिका की नींव सुदृढ़ नहीं की जा सकती है। उसके लिये मन की कोमल भावना का विकास अत्यावश्यक है क्योंकि कोरी बौद्धिकता की सदैव पराजय होती है, और उसके द्वारा जीवन के विविध तत्वों में अपेक्षित सामंजस्य होने की संभावना नहीं रह जाती। सामंजस्य का अभाव सामाजिक वातावरण में विशृंखलता उत्पन्न करता है। जिससे समाज की चेतन व्यवस्था को हानि पहुँचती है। प्रसाद जी इस विशेष नारी वर्ग की इस एकांगी अधिकार-भावना से शंकित थे, इसीलिये इड़ा के व्यक्तित्व, व्यवहार और उसके परिणाम तथा पराजय से उन्होंने इस विशेष वर्गीय नारी समुदाय को सोचने और समझने की दिशा प्रदान की है। सामाजिक जीवन के क्षेत्र में आधुनिक नारी का यथार्थ चित्रण और दिशा निर्देश प्रसाद जी की दूरगामी दृष्टि के परिचायक हैं।

इस प्रकार प्रसाद जी के सामाजिक आदर्श की समन्वित कल्पना करते हुए हम कह सकते हैं कि वे नारी को स्वतन्त्रता देने के पक्ष में थे। रूढ़िवादिता की संकीर्ण प्राचीरों में अपने व्यक्तित्व का दमन करने के लिये विवश नारी को उन्होंने अपने अन्तस् की समस्त सहानुभूति प्रदान की है। वे उसे उस परिबद्ध वातावरण से निकाल कर सामाजिक जीवन के विस्तृत क्षेत्र में अपने व्यक्तित्व का विकास करने के उद्देश्य से लाने की उद्घोषणा करते हैं। उसे जीवन के समस्त कार्य-कलापों और व्यापारों में पुरुष की सहयोगिनी और सहचरी मानते हैं। वे उन्हें ध्रुवस्वामिनी के समान पुरुष के अत्याचारों और अन्यायों का प्रतिकार करने का अधिकार भी प्रदान करते हैं। प्रसाद की नारी सम्बन्धी सामाजिक विचारधारा में पंत के इस भाव को कि—

'मुक्त करो नारी को मानव
चिर बन्दिनी नारी को

१—इन्द्रनाथ मदान द्वारा संकलित 'जयशंकर प्रसाद : चिंतन व कला' में, पृष्ठ १०३ पर।

युग युग की बर्बर कारा से
जननी, सखी प्यारी को—'

पूर्ण अभिव्यक्ति प्रदान हुई है। परन्तु इसके साथ-साथ जहाँ नारी स्वयं पाश्चात्य प्रभाव में आकर समानाधिकार के मांग की 'निर्लज्जता' कर बैठती है, वहाँ प्रसाद उदास हो जाते हैं। जन्म से ही अधिकारमयी नारी को अधिकारों की माँग करती देखकर वे पीड़ित हो उठते हैं। उनकी दृष्टि में यह नारी का अपनी सम्मानित अवस्था से पतन है। इसीलिए उन्होंने अधिकार एवं दर्पपूर्ण नारी का परिणाम दुःख, पराजय और हीनता में ही दर्शित किया है। उनका विश्वास है कि नारी अपनी दुर्बलताओं के परिणामस्वरूप ही दुःखी जीवन बिताती है। यदि वह अपनी पारिवारिक पृष्ठभूमि में सुदृढ़ निश्चय लग्न हो, अपने कर्त्तव्यों का पालन करने के लिए तत्पर बने तो निश्चित ही जीवन में सुचारुता एवं व्यवस्था का अधिष्ठान हो सकता है। इस प्रकार 'स्त्रियों की दुर्बलता की दुहाई देकर, और उनके सुधार की आवाज ऊँची उठाकर और समाज में उन्हें उचित स्थान देने का दावा करके भी प्रसाद जी का आदर्श भारतीय ही रहा है। पश्चिम के आदर्श की उन्नति का मार्ग उन्होंने नहीं माना[1]।' इस प्रकार प्रसाद जी के मन में नारी के प्रति अपार श्रद्धा और सहानुभूति की भावना विद्यमान है। किन्तु वे उसे पाश्चात्य आधुनिका के रूप में न देखकर केवल करुणा तथा कोमलता की प्रतिमूर्ति भारतीय नारी के रूप में देखना चाहते हैं। क्योंकि उनका विश्वास है कि—'कठोरता का उदाहरण है पुरुष, कोमलता का विश्लेषण है स्त्री[2]।'

वैवाहिक संस्था और स्वच्छन्द प्रेम

प्रसाद जी की सामाजिक विचारधारा का विकास स्वच्छन्द प्रेम और वैवाहिक संस्था के विषय को लेकर हुआ है। वैज्ञानिक युग की व्यक्तिवादी भावना के विकसित होने पर स्वच्छन्द प्रेम समाज के बीच भाव-ग्रहण करता सा प्रतीत होता है। प्रसाद जी इसके विरुद्ध हैं। क्योंकि इसमें न तो एकनिष्ठा की भावना ही विद्यमान है और न किसी प्रकार का स्थायित्व ही। एकनिष्ठा और स्थायित्व के अभाव में ऐसा प्रेम सुख, ऐश्वर्य और शान्ति के विपरीत मानसिक कुण्ठा और दुराचार को प्रश्रय देता है। इस समस्या को उन्होंने सबसे पहले 'एक घूंट' में अभिव्यक्त किया है। वे व्यक्ति की स्वतन्त्रता के हामी हैं, प्रेम के क्षेत्र में भी स्वतन्त्रता उन्हें मान्य है, परन्तु जब स्वतन्त्रता स्वच्छन्दता बनकर उच्छृंखलता की सृष्टि करती है, प्रसाद जी उसका विरोध करने लगते हैं। 'एक घूंट' में इसीलिए विवाहित जीवन को स्वच्छन्द जीवन की अपेक्षा उच्चतर और श्रेष्ठ माना गया है। वनलता के शब्दों में जैसे प्रेम की एकनिष्ठा बोल रही है—

१—गुलाबराय : प्रसाद जी की कला, पृ० १७५।
२—शम्भुनाथ पाण्डेय : प्रसाद जी की नाट्य-कला और अजातशत्रु, पृ० ३१।

'मैं जिसे प्यार करती हूं वही—केवल वही व्यक्ति मुझे प्यार करे, मेरे हृदय को प्यार कर, मेरे शरीर को—जो मेरे सुन्दर हृदय का आवरण है—सतृष्ण देखे। उस प्यास में तृप्ति न हो, एक-एक घूंट वह पीता चले, मैं भी पिया करूं, समझे[1] ?'

यह सत्य है कि 'आत्मा का स्वास्थ्य, सौन्दर्य और साफल्य प्रेम की स्वतन्त्रता' में ही है। परन्तु प्रेम के क्षेत्र में निर्बाधता और स्वच्छन्ता को ही एकमात्र नियम मान लेने से पति-पत्नी वृत भी आत्मा के बन्धन स्वरूप ही उपस्थित होते हैं। प्रसाद जी इसे अतिवाद मानते हैं, जो आनन्दवाद का स्वस्थ और सुन्दर रूप नहीं है। इसी से स्वतन्त्र प्रेम का प्रचारक आनन्द प्रेमलता के परिणय-सूत्र में बंध जाता है और अपनी भूल समझ लेता है। वर्तमान युग में नर-नारी के यौनाकर्षण को प्राकृतिक धर्म मानकर वैवाहिक बन्धनों के स्थान पर अबाध यौन-संयम की जो पुकार उठी है, जान पड़ता है, इस एकांकी द्वारा प्रसाद ने उस विचारधारा के समर्थकों पर व्यंग्य किया है[2]। इस प्रकार से प्रसाद जी ने स्त्री और पुरुष के सम्बन्ध की सबसे उत्तम अवस्था विवाह को ही माना है।

उनकी सामाजिक कृति 'कंकाल' में आज की विवाह संस्था की विडम्बना पर विचार प्रकट हुए हैं। इस रचना का निर्माण पक्ष अतिशय व्यक्तिवादी या एनार्किस्ट है। किसी भी सामाजिक संस्था, प्रणाली या परिणाम में उसका विश्वास नहीं है। व्यक्ति की प्राकृतिक चेष्टाओं, सहज कर्त्तव्यों और किसी भी कृत्रिम भार से रहित—व्यवहार में उसकी अटल आस्था है। प्रसाद जी का वह व्यक्तिवाद सात्विक प्रेममय, उत्कृष्ट चेष्टामय, शुद्ध, निर्दम्भ, शक्तिमय और सतत आयोजनमय है।[3]

इसी व्यक्तिवादी प्रेरणा से उन्होंने विवाह संस्थाओं की अव्यावहारिकता तथा असफल व्यवस्था पर दृष्टिपात किया है। जिस सामाजिक संस्था की स्थापना समाज की सुव्यवस्था के उद्देश्य से की गई थी, उसका फूहड़पन कंकाल में स्पष्ट हो जाता है। श्रीचन्द-किशोरी, मंगल-यमुना, लतिका-बाथम सभी तो विवाह-संस्था द्वारा अनुगृहीत हैं, लेकिन इनमें से कोई भी विवाह-संस्था की एकोन्मुख पवित्रता का रक्षण कर सकने में समर्थ नहीं है। मानव अपनी भावुकता और संवेदनशीलता के कारण अपनी कमजोरियों का शिकार है। किसी-न-किसी स्थान पर उससे त्रुटि का हो जाना बहुत ही स्वाभाविक है। परन्तु उसकी त्रुटि के लिए—केवल एक बार के पतन के लिए, केवल एक बार आदर्श विमुख हो जाने पर उसके प्रति समाज की कोई सहानुभूति नहीं रह जाती। प्रसाद जी ने 'कंकाल' में मानव जीवन के व्यापारों की पृष्ठभूमि में परिस्थितियों के व्यंग्य को उभार देकर इन विवाह-संस्थाओं की

१—एक घूंट, पृष्ठ ४०।

२—रामरतन भटनागर : प्रसाद साहित्य और समीक्षा, पृष्ठ १२०।

३—पं० नन्ददुलारे वाजपेयी : जयशंकर प्रसाद, पृ० ४२-४३।

पवित्रता के खोखलेपन को प्रदर्शित किया है जिसे अश्लीलता का नाम देकर नैतिकता की फूंक से नहीं उड़ाया जा सकता। कंकाल के यथार्थ चित्रण में जहाँ अश्लीलता है, वहाँ अश्लीलता उद्देश्य नहीं है[1]।

यहाँ आकर प्रसाद जी को मूलरूप से 'नारी और पुरुष के स्वाभाविक आकर्षण और उनकी स्वतन्त्र गतिविधि के हामी होने के कारण प्रचलित पावित्र्यवादी विचारधारा के प्रति विद्रोह करना पड़ा है। उनके अधिकांश पात्र इसी विद्रोही मनोभावना की उपज है और उपेक्षा तथा भगोड़ेपन का-सा जीवन व्यतीत करते हैं, पर यह भगोड़ापन नवीन सामाजिक एवं सांस्कृतिक साधना का अंग बनकर आया है। वह अपना विशिष्ट उद्देश्य रखता है, निरुद्देश्य नहीं है[2]।'

प्रेम की स्वतन्त्रता को मान्यता देने के पक्ष में होकर प्रसाद जी ने अपनी परवर्ती रचनाओं में इस आशय के विचार प्रकट किये हैं। वे नारी के लिये स्वतन्त्र-प्रेम के अधिकार की माँग करते हैं, जहाँ जाति, वर्ग, परिस्थिति और देशकाल की सीमाओं का कोई परिबन्धन नहीं है। इसीलिए उनके कथा-साहित्य में स्वतन्त्र प्रेम के कई प्रसंग देखने को मिलते हैं। 'विजया' कहानी की नायिका विधवा होकर भी प्रेम करने के अधिकार को अक्षुण्ण बनाए है। 'नीरा' कहानी की नीरा दैन्य और निर्धनता का जीवन बिताते हुए भी अभिजातीय वर्ग के पुरुष को प्रणय दे सकती है। इससे भी आगे प्रसाद जी ने वेश्या के अंतस् में सात्विक प्रेम का उदय दिखाया है[3]। इन सब में जर्जर और प्राणहत परम्पराओं एवं नैतिक मान्यताओं की अवहेलना की गई है और उसके स्थान पर प्रेम की स्वतन्त्र सत्ता का अधिष्ठान हुआ है। प्रसाद जी ने जीवन के इस बहुमूल्य व्यापार-प्रणय के क्षेत्र में नारी की विवशता को करुणा—गीली आँखों से देखा था। उसकी वैषम्यपूर्ण स्थिति से प्रपीड़ित उन्होंने नारी को प्रणय की सुविधा प्रदान करने की माँग की। इसी प्रसंग में उनकी दृष्टि वैवाहिक जीवन की विडम्बनाओं की ओर आकर्षित होती है। वहाँ उन्हें लगता है कि यह विवाह-संस्था अपना आदर्श प्राप्त कर सकने में असमर्थ है। तब प्रेम और विवाह के सम्बन्ध को लेकर एक प्रश्न उठता है। वे विवाह से प्रेम को उच्च स्थान पर प्रतिष्ठित करते हैं। उनके 'कंकाल' के स्वर में नवयुग की चेतना बोल उठती है—

'घण्टी, जो कहते हैं अविवाहित जीवन पाशव है, उच्छृंखलता है, वे भ्रान्त हैं। हृदय का सम्मिलन ही तो विवाह है। मैं सर्वस्व तुम्हें अर्पण करता हूं और तुम मुझे, इसमें किसी मध्यस्थ की आवश्यकता क्यों—मंत्रों का महत्त्व कितना। झगड़े की, विनिमय की, यदि सम्भावना रही, तो समर्पण ही कैसा। मैं स्वतन्त्र प्रेम की सत्ता स्वीकार करता हूं, समाज न करे तो क्या[4]।'

१—राम रतन भटनागर : प्रसाद साहित्य और समीक्षा, पृ० १७६।
२—पं० नन्द दुलारे वाजपेयी : जयशंकर प्रसाद, पृ० ४६।
३—देखिए, 'चूड़ीवाली' तथा 'सालवती' कहानियाँ।
४—कंकाल, पृ० १७५-१७६।

ऊपरी सतह से देखने पर प्रसाद के विचारों में मतभेद होने की सम्भावना हो सकती है। 'एक घूंट' में उन्होंने स्वतन्त्र प्रेम को विवाहित जीवन से हीन सिद्ध किया है। यहाँ वे प्रेम को वैवाहिक जीवन से श्रेष्ठतर मानते हैं। किन्तु 'एक घूंट' में जिस स्वच्छन्द प्रेम का निदर्शन किया गया है, उसमें हृदय के सम्मिलन और एकनिष्ठा को कोई स्थान नहीं है। किन्तु 'कंकाल' के स्वतन्त्र प्रेम में हृदय का सम्मिलन और एक-दूसरे के प्रति निष्ठा की भावना ही प्रमुख है। निष्ठा का उत्कर्ष समर्पण की उस सीमा का स्पर्श करता है जहाँ मध्यस्थ, विनिमय और झगड़े की सम्भावना ही नहीं रह जाती है। विवाह संस्था का भी तो यही आदर्श है, लेकिन क्या वह अपने आदर्श का पूर्ण निर्वाह कर सकने में समर्थ है। यदि नहीं, तो फिर उसकी आवश्यकता ही क्या रह जाती है। स्वतन्त्र प्रेम यदि निष्ठा, समर्पण और विश्वास के स्वर में दो मनों को परस्पर मिला देता है, तो अवश्य ही वह श्लाघनीय है, चाहे ऐसा करने से किसी सामाजिक रूढ़ि का प्रतिकार ही क्यों न होता हो। प्रसाद प्रेम और विवाह में इसी आदर्श की प्रतिष्ठा करते हैं। परन्तु उनकी विचार-कल्पना ने यहीं पर विश्राम नहीं ले लिया है। समाज के स्थायित्व की भी उन्हें चिन्ता है। यह ठीक है कि समाज मनुष्य के लिये है, मनुष्य समाज के लिए नहीं। लेकिन क्योंकि समाज मनुष्य का है, अतः उसकी रक्षा, उसकी व्यवस्था एवं स्थायित्व का भार मनुष्य पर ही आ पड़ता है। हृदय के सम्मिलन मात्र तथा स्वतन्त्र प्रेम की भावना को यहीं तक खींच लाने से सामाजिक जीवन व्यवस्था की अवस्थिति के प्रति कर्त्तव्य की इतिश्री नहीं हो जाती है। उसके लिए स्वतन्त्र चुनाव या स्वयंवर सहायता नहीं दे सकते। परस्पर समझौते के परिणाम स्वरूप उत्पन्न हुए प्रणय को सामाजिक स्थायित्व, व्यावहारिकता एवं सुव्यवस्था की रक्षा के लिए विवाह का रूप देना ही चाहिए। भले ही उसका महत्त्व प्रणय की उत्कृष्टतम भावना के सम्मुख बिल्कुल हीन ही क्यों न हो। इस प्रकार प्रसाद जी मानव मन की निसर्ग प्रवृत्ति का पूर्ण सम्मान करते तथा उसे जीवन की सर्वोत्कृष्ट भावना बताते हुए भी, सामाजिक व्यवस्था के प्रति उदासीन नहीं हो जाते। आत्मिक दर्शन के साथ भौतिक दर्शन का यह सामंजस्य, जिसका प्रतिपादन प्रसाद-साहित्य में हुआ है, किसी भी प्रकार अवास्तविक नहीं कहा जा सकता। उनकी दृष्टि में प्रणय का स्थान किसी भी अन्य भावना की अपेक्षा अधिक सुनिश्चित, उच्चतर एवं श्रेष्ठ है और विवाह केवल प्रणय और समाज की मान्यताओं एवं आदर्शों के बीच एक समझौता मात्र।

इस प्रकार से प्रसाद जी ने प्रेम को व्यवसाय से उच्चतर भावभूमि पर प्रतिष्ठित किया है। विवाह की व्यावसायिकता पर, जिसने सामाजिक जीवन में उच्छृंखलता एवं विच्छिन्नता उत्पन्न कर दी है, तीव्र आलोचना अभिव्यक्त की है और इन सबसे ऊपर स्वतन्त्र प्रेम की सम्भावना पर यदि पुरुष और स्त्री दोनों परस्पर समझौते के परिणाम स्वरूप स्वतन्त्र व्यक्तित्व का अनुभव कर सकने में समर्थ हों, अपने विचार प्रकट किये हैं। प्रसाद के मत में विवाह और सामाजिक समझौते के

बीच यह सामंजस्य लेखक की मौलिक कल्पना का प्रसाद है।

प्रसाद जी के सामाजिक विचारों की विवेचना करते समय एक अन्तिम किन्तु महत्वपूर्ण प्रश्न रह जाता है और वह है कि प्रसाद ने नारी-चित्रण में जीवन तत्व का स्पर्श किस सीमा तक किया है। साहित्य को सदैव ही जीवन से प्रेरणा मिलती रही है और जीवन के कार्यकलाप युग-दर्शन की पृष्ठभूमि में ही व्यवहृत होते रहे हैं। प्रसाद जी यथार्थ के आदर्शवादी कलाकार कहे जा सकते हैं। मानवीय परिस्थितियों में जीवन के दुःख-सुख की आँखमिचौनी व्यवहारों में परिवर्तित करती चलती है। ये व्यवहार युग-युग की मान्यताओं के अनुसार परिचालित होते हैं। प्रसाद ने अपने युग की नारी-समस्या को निकट यथार्थ की आँखों से देखा था। उन्होंने विभिन्न पक्षों में हो रही उसकी उत्पीड़ा को अनुभव किया था और तब मानव धर्म के निर्वाह के नाते उन्होंने इस समस्या को अपने हाथों में लेकर मौलिक समाधान 'एक उज्ज्वल आदर्श की आकर्षक आकांक्षा' के रूप में प्रस्तुत किया। शक्ति के उन्मेष-काल में यदि 'कुटुम्ब की सृष्टा, समाज की विधातृ, सेवा, त्याग, सौन्दर्य एवं शक्ति की प्रतीक नारी का अधिकार-शून्य, आलोकहीन तथा नारीत्व रहित रूप साम्प्रत समाज ने न दिखाया होता, तो नारीत्व की मूर्ति श्रद्धा जैसी नारी का चित्रण करने वाली कामायनी का दर्शन न हुआ होता[1]।'

प्रसाद ने इस बात को स्पष्ट रूप से देखा था कि सिद्धान्त रूप में पुरुष द्वारा सदैव से ही नारी की महिमा का गुणगान होता रहा है। परन्तु व्यवहार में उसके रूप और अभिव्यक्ति में अपार भिन्नता है। नारी सब जगह पुरुष से उत्पीड़ित और प्रताड़ित है। उसके इसी उत्पीड़न की कहानी प्रसाद जी ने ध्रुवस्वामिनी के रूप में प्रस्तुत करके, पुरुष-वर्ग की निर्लज्जता एवं अन्याय के विरुद्ध विद्रोह की आवाज ऊँची की है। युग के नवोन्मेष में नारी, चेतना की शक्ति लेकर अपने प्रति किये गये अत्याचारों का विरोध करती हुई, पुरुष के समान जीवन-निर्वाह का अधिकार चाहती है। लेखक यहाँ पर व्यक्तिवाद की प्रतिष्ठा करता है। एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति पर अनुशासन उसे सह्य नहीं है। वह समाज की सीमित सम्भावनाओं के विरुद्ध तथा रूढ़िबद्ध जाति-प्रतिष्ठा के विरोध में, सामाजिक परिस्थितियों के मध्य-जीवन की उच्छृंखल शक्तियों का इतिहास प्रस्तुत करते हुए, व्यक्ति स्वातंत्र्य की माँग उपस्थित करता है। वह संकीर्ण, बर्बर और प्राणहीन परम्पराओं और मान्यताओं को लोक-मंगल विधान के पथ का व्यवधान बना रहने देना नहीं चाहता और इसीलिए यथार्थ की पीठिका पर समस्याओं को प्रकट करते हुए वह पाठकों को उन पर विचार करने की सुविधा प्रदान करता है। इसी सन्दर्भ में प्रसाद ने पश्चिमी सभ्यता की अपूर्णता की ओर भी संकेत किया है। जहाँ जीवन की मान्यताएँ व्यक्तिवाद के चरम बिंदु का स्पर्श कर मानसिक असंतोष और सामाजिक व्यवस्था में असंतुलन का कारण

१—रामलाल सिंह : कामायनी अनुशीलन, पृ० १८३।

बनती हैं। पौर्वात्य समाज की विषमता का अध्ययन और मनन उन्होंने भली प्रकार से किया है। उनके साहित्य में गृहीत नारी जीवन की समस्याएँ प्रत्येक घर की समस्या है। वे कल्पना द्वारा अतिरंजित नहीं की गई हैं। उन्होंने समस्याओं के उद्घाटन में हृदय परिवर्तन के सिद्धान्त का आदर्श प्रस्तुत नहीं किया है। श्री गुलाब-रायजी के इन शब्दों में—'हमारी स्त्री जाति अपने हृदय की दुर्बलताओं का शिकार है और मनुष्य के स्वार्थ की क्रीड़ा। प्रसाद जी के चरित्रों की विशेषता यह है कि वे अतिरंजित नहीं हैं, उन्होंने चित्रकारी नहीं की है, फोटोग्राफी की है। प्लेट पर जो जैसा रहा है, वैसा उतार दिया है। किसी-किसी चित्र के ऊपर रंग भी चढ़ा दिया गया है, बस। यह दोनों पुस्तकें ('कंकाल' और 'तितली') वर्तमान हिन्दू समाज के यथार्थ चित्रण हैं'—प्रसाद साहित्य के यथार्थ चित्रण को पूर्ण अभिव्यक्ति प्राप्त हुई है।

प्रकरण—८

प्रसाद की नारी—नैतिक दृष्टिकोण

: अ : नीति—स्पष्टीकरण

: ब : नैतिक आदर्श

: स : बाह्य तथा आन्तरिक आचरण एवं स्वरूप

नीति—स्पष्टीकरण

पूर्व प्रकरण में प्रसाद जी की सामाजिक नारी-भावना का अध्ययन प्रस्तुत करते हुए हम कह आए हैं कि उन्होंने नारी के स्वातंत्र्य की जोरदार वकालत की है। उनका विश्वास है कि स्वतन्त्रता की रक्षा किये बिना 'स्व' का विकास सम्भव नहीं है और इसीलिए वे उसी वस्तु को उपादेय और हितकर मानकर चलते हैं, जो स्वतन्त्रता के माध्यम से प्राप्त की गई हो। नारी-स्वातन्त्र्य का विचार सामाजिक मान्यताओं तथा चारित्रिक नियमों से प्रतिपादित होता है। चरित्र का अर्थ, व्युत्पत्ति के अनुसार आचरण की प्रकृति अथवा प्रथा ही समझना चाहिए। आचरण और व्यवहार के द्वारा नीति का निर्माण होता है। इस प्रकार नीति आचरण के निर्णय से सम्बन्धित होती है, यहां पर आचरण का अर्थ अच्छे और बुरे व्यवहार के अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। नीति भले और बुरे आचरण सम्बन्धी हमारे निर्णय का व्यवस्थित लेखा प्रस्तुत करती है।

समाज की सुदृढ़ता, सुव्यवस्था और स्वास्थ्य के लिए नैतिक मर्यादाओं एवं प्रतिमानों का स्वीकार्य आवश्यक हो जाता है। सामाजिक जीवन का संतुलन इन्हीं नैतिक आदर्शों के पालन पर निर्भर करता है। परन्तु कभी-कभी परिस्थिति अथवा युग विकास के परिणामस्वरूप परम्परा से चली आई हुई मान्यताएं और नियम नये जीवन-दर्शन के साथ मेल खाने में असमर्थ होते हैं। वास्तव में उनकी प्राण-शक्ति नष्ट हो गई होती है और वे संतुलन एवं परिपोषण के स्थान पर वैषम्य और विडम्बना की अवतारणा सी करते दिखाई पड़ते हैं। ऐसी अवस्था में इन नैतिक रूढ़ियों से मुक्त होना आवश्यक हो जाता है और व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रता को अक्षुण्ण बनाए रखने के उद्देश्य से उनका बहिष्कार करना आरम्भ कर देता है और उसके स्थान पर नवीन जागृति के आलोक में नए आदर्शों, सिद्धान्तों और मान्यताओं की प्रतिष्ठा में दत्तचित्त होता है। जिससे समाज को नई परिस्थितियों के मध्य स्वस्थ प्राण-शक्ति प्राप्त होती रहे और उनके विकास में किसी प्रकार का गतिरोध उत्पन्न न हो। इस प्रकार से विभिन्न परिस्थितियां और युग की नवीन चेतना का दर्शन, समाज के नैतिक आदर्शों में परिवर्तन, विकास तथा क्रान्ति का सूत्रपात कर, नवीन उद्भावनाओं और विश्वासों की सृष्टि करता है, जिससे मानवता और समाज के हितों की न्यायपूर्ण रक्षा की जा सके।

नैतिक आदर्श

प्रसाद जी नैतिक आदर्शों की प्रतिष्ठा में व्यक्ति की स्वतन्त्रता को सर्वोपरि मानकर चले हैं। वे नीति की उस संकीर्ण शिक्षा में विश्वास नहीं करते, जो व्यक्ति की भावनाओं पर कुठाराघात कर, जीवन की निसर्ग प्रवृत्तियों को, खोखले आदर्शों की दुहाई देकर, हनन करने का उपदेश देती हैं। उनके मत में व्यक्ति को व्यक्ति होने के नाते अपने व्यक्तित्व के विकास का पूर्ण अवसर और सुविधा प्राप्त होनी चाहिए। सामाजिक नियमों को उसका पथ प्रशस्त करना चाहिए न कि वे उसका मार्ग अवरुद्ध करें। क्योंकि मनुष्य के लिए समाज है, समाज के लिए मनुष्य नहीं। इसीलिए प्रसाद व्यक्ति को अहितकारी, पथ अवरुद्ध करने वाले तथा संकीर्ण आदर्शों के बहिष्कार का अधिकार देते हैं।

भारतीय भूमि में नारी का नैतिक आदर्श एकनिष्ठ, अनन्य भक्तिमयी, दयावान, उदार तथा शुद्ध आचरणमयी होने में है। जीवन के सभी क्षेत्रों में उससे संयम, सहानुभूति और औदार्य अपेक्षित है, प्रसाद जी भी इसका विरोध नहीं करते। लेकिन नारी द्वारा अपने व्यक्तित्व को कुचल कर इन आदर्शों की स्थापना का आचरण उनकी दृष्टि में सामाजिक क्रूरता है। समाज ने नारी के कोमल कन्धों पर सामाजिक पवित्रता, सांस्कृतिक महत्ता एवं धार्मिक उच्चता का इतना बड़ा बोझ लाद दिया गया है कि उसके जरा से हिलने-डुलने पर भी लोक-अमंगल की आशंका चीत्कार कर उठती है। यह समाज का उसके प्रति महान् अन्याय है। प्रसाद जी इस अन्याय के विरोध का स्वर लेकर खड़े हुए हैं और इसीलिए उसे तथाकथित सम्मानित जीवन की मृग-मरीचिका के शीर्ष से उतार कर स्वतन्त्र वातावरण में समान अवसर देने की आयोजना करते हैं। इस प्रकार से प्रसाद जी का नारी सम्बन्धी नैतिक आदर्श परम्परा-युक्त न होकर स्वतन्त्रता की भाव-भूमि में आरोपित, प्रस्फुटित और विकसित हुआ है।

नारी को स्वतन्त्रता प्रदान करने के क्षेत्र में पुरुष ने बड़ी संकीर्णता प्रदर्शित की है। समाज की विशृंखल स्थिति का यह भी एक कारण है। जैसे-जैसे पुरुष नारी की स्वतन्त्रता का अपहरण करना चाहेगा, नारी-वर्ग उसके विरोध में प्रतिशोध की भावना से आविर्भूत, अधिक स्वतन्त्र होने की चेष्टा करेगा। इसी प्रयास में असंतुलन के कारण उसके अबाध स्वतन्त्र होने का भय भी बना रह सकता है और यही अबाध स्वतन्त्रता सामाजिक वैषम्य तथा व्यक्तित्व के विघटन का कारण बनती है। इसीलिए नारी को उतनी स्वतन्त्रता तो अवश्य देनी ही चाहिये, जितनी पुरुष अपने लिये अनिवार्य समझता है। अन्यथा सामाजिक संगठन में विक्षिप्ति की संभावना प्रकट हो सकती है। नारी स्वतन्त्रता के प्रश्न को लेकर 'उर्वशी' में उर्वशी का कथन उक्त कथन की पुष्टि करता है।

'इसी स्वतन्त्रता को छीनने के लिये आगे चलकर अनेक कठोर नियम बनेंगे । बड़े-बड़े प्रलोभन और बड़ी-बड़ी धमकियां होंगी पर फिर भी हमारा यह दल बना रहेगा और स्वतन्त्र रहेगा[1] ।'

प्रसाद जी नारी को सर्वप्रथम प्यार करने की सुविधा देते हैं । नारी की प्रणय सम्बन्धी इस स्वतन्त्रता पर ही उसकी अन्य प्रकार की स्वतन्त्रता आधारित है । प्रणय की भावना, प्रसाद जी के मत में, सबसे अधिक निसर्ग, स्वाभाविक और श्रेष्ठ है और इसलिए उस पर सबका समान अधिकार है । 'बभ्रुवाहन' की चित्रांगदा अपने जीवन में आने वाले पहले व्यक्ति अर्जुन को समर्पित होती है, उसी से उसका विवाह सम्पन्न होता है, विवाह के पश्चात् अर्जुन चले जाते हैं । कई वर्ष की अवधि व्यतीत होने पर भी वियोगिनी चित्रांगदा अर्जुन को नहीं भूल पाती । उनका प्रणय चित्रांगदा की गोद में बभ्रुवाहन बन कर खेलता-पलता और बड़ा होता है । तब एक दिन अपने ही कुमार से पराजित अर्जुन चित्रांगदा की सेवा पाते हैं । चित्रांगदा की एकनिष्ठा अर्जुन का मस्तक नत कर देती है । देवसेना[2] स्कन्दगुप्त से प्यार करती है और जीवन भर उसी से प्यार करती रहती है । उसके जीवन में केवल स्कन्द ही प्रथम और अन्तिम व्यक्ति है जो उसके प्रणय का स्वामी हो सकता है । परिस्थिति की विषमताओं में वे शरीर रूप में नहीं मिल पाते हैं लेकिन उससे देवसेना की एक निष्ठा पर कोई अन्तर नहीं पड़ता । 'वह अभिमानी भक्त के समान निष्काम होकर' जीवन भर उसी की उपासना करती रहना चाहती है । सुवासिनी[3] का प्रणय प्रथम बार राक्षस के सम्मुख उद्रित होता है । अपने प्रणय की निष्ठा के लिये वह अपने बाल-सहचर चाणक्य की स्मृति को पास भी नहीं आने देना चाहती । वनलता[4] भी प्रणय के क्षेत्र में स्वतन्त्र है । परन्तु एक बार वह किसी को समर्पित होकर सदा के लिये उसी की हो जाना चाहती है, और बदले में यह भी चाहती है कि वह पुरुष भी केवल उसी पर पूर्णरूप से समर्पित हो जाये । चमेली[5] का प्रणय किशोर के साथ विकास पाता है । सामाजिक परम्पराओं में आबद्ध उसका विवाह किसी दूसरे व्यक्ति से हो जाता है परन्तु किशोर के प्रति उसकी निष्ठा नहीं टूटती । अपने वैधव्य की स्थिति में उसे एक बार फिर किशोर का सामीप्य लाभ होता है और वे मन के बन्धनों में अपनी पूर्व निष्ठा के परिणामस्वरूप एकलय हो जाते हैं । आराधी[6] कहानी की वनपालिका राजा को अनजान में अप्रत्याशित रूप से समर्पित होती है । राजा चले जाते हैं, परन्तु वन-

---

१—चित्राधार, पृ० २४ ।

२—स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य की पात्री ।

३—चन्द्रगुप्त की पात्री ।

४—एक घूंट की पात्री ।

५—प्रेम पथिक की पात्री ।

६—आकाश दीप में संकलित ।

पालिका जीवन भर उनके प्रणय के पुष्प को अपनी गोद में सहेजे रहती है। अपनी समस्त निष्ठा के साथ वह महाराज के पुत्र का पोषण करती है। इसी प्रकार के प्रणयी एकनिष्ठ चरित्र मधूलिका[१], चम्पा[२], तारा[३], विलासिनी[४], नूरी[५], बेला[६], लैला[७], फिरोजा[८] आदि मानवियों के व्यक्तित्व में व्यक्त हुए हैं जो अपनी स्वतन्त्रता से प्रणय के क्षेत्र में पदार्पण करती हैं, और अपनी नैतिक एकनिष्ठा के साथ अन्तिम समय तक उसका निर्वाह भी।

इस प्रकार से प्रसाद जी के नैतिक आदर्श में पूर्ण स्वतन्त्रता की समादिष्टि तो है परन्तु साथ ही एकनिष्ठा की शर्त भी अनिवार्य हो गई है। क्योंकि एकनिष्ठा के अभाव में असंयमित चेष्टाओं एवं कार्यकलापों के परिणामस्वरूप व्यक्तित्व तथा समाज के विघटन की समस्या खड़ी हो जाती है। प्रसाद जी ने किसी भी असंयमित एवं निर्बाध स्वतन्त्र नारी-चरित्र को प्रशस्त और सफल नहीं बनने दिया है। उनके सम्पूर्ण साहित्य में जिस चरित्र ने भी स्वतन्त्रता की मर्यादा का अबाध स्वतन्त्रता की सीमा तक अतिक्रमण किया है, उसका पतन अवश्यम्भावी हो गया है। वह जीवन की विडम्बनाओं के चक्र में घूमता हुआ अन्त में या तो प्रायश्चित कर सुधार के पथ पर लग आता है अथवा उसी विकर्षण में अपने जीवन का अन्त कर देता है। प्रसाद जी की नैतिक मान्यता का यह महत्वपूर्ण अंग अनन्तदेवी, नागंधी, दामिनी, मंगला, राजकुमारी, उर्वशी, कालिन्दी, छलना, शक्तिमती, तरला, लालसा, मैना, विजया, कमला, कामना, सुरमा आदि पात्रियों में चित्रांकित हुआ है। ऐश्वर्य-लाभ की लालसा से उद्दीप्त अनन्तदेवी[९] वृद्ध सम्राट् की शक्तिहीनता का लाभ उठाकर, युवराज स्कन्दगुप्त के स्थान पर अपने पुत्र पुरगुप्त को सम्राट् बनाना चाहती है। महत्त्वाकांक्षा और अतृप्ति के उद्वेग में वह नारी-तत्व की सुलभ कोमलता का त्याग कर, भयंकर साहसशीलता का स्वरूप उपस्थित करती है—'क्षुद्र हृदय, जो चूहे के शब्द से भी शंकित होते हैं, जो अपनी सांस से भी चौंक उठते हैं, उनके लिये उन्नति का कंटकित मार्ग नहीं है। महत्त्वाकांक्षा का दुर्गम स्वर्ग उनके लिए स्वप्न है[१०]। उसमें नारी सुलभ

१—आंधी में संग्रहीत पुरस्कार की नायिका।

२—'आकाशदीप' की नायिका।

३—सुनहला साँप : (कहानी) : की नायिका।

४—चूड़ीवाली : (कहानी) की नायिका।

५—इन्द्रजाल : (कहानी) की पात्री।

६—नूरी : (कहानी) की पात्री।

७—आँधी : (कहानी) की पात्री।

८—दासी : (कहानी) की नायिका।

९—'स्कन्दगुप्त' की पात्री।

१०—स्कन्दगुप्त, पृ० २७।

ईर्ष्या भावना है, वह देवकी के बढ़ते हुए प्रभाव को रोकने के लिए सपत्नीक भावना के वश होकर, उसका वध तक कर देने के लिये प्रस्तुत हो जाती है। भट्टार्क के शब्दों में उसके 'दुर्वेद्य नारी हृदय में विश्व-प्रहेलिका की बीज रहस्य है[१]।' राजकीय षड्यंत्र की कुञ्जी को हस्तगत करने के साथ-साथ सम्राट् के वृद्ध पौरुष से अतृप्त वह युवा भट्टार्क की ओर आकर्षित होती है। भट्टार्क देखता है कि 'उसकी आंखों में कामवासना के संकेत अभी उबल रहे हैं। अतृप्ति की चंचल प्रवंचना कपोलों पर रक्त होकर क्रीड़ा कर रही है। हृदय में श्वासों की गर्मी विलास का संदेश वहन कर रही है[२]।' इस प्रकार से महत्वाकांक्षा और विषय लोलुपता की भावना से पूर्ण अनन्तदेवी 'नीति की सीमा का अधिकार, लिप्सा और कामुकता के विस्तार तक अतिक्रमण करती है जो प्रसाद जी के नैतिक आदर्शों के विपरीत है। इसीलिए आरम्भ से अन्त तक कामना और काम की मृग-मरीचिका में दौड़ लगाती हुई अनन्तदेवी अन्त में वन्दिनी रूप में स्कन्द के सम्मुख उपस्थित होकर क्षमा-याचना करती है। जैसे अन्तिम समय में रावण के मुख से 'हे राम' शब्द के उच्चारण से उसे मुक्ति प्राप्त हो गई थी' उसी प्रकार अनन्तदेवी की क्षमा-याचना ही उसकी पराजय और प्रायश्चित दोनों हैं। लेखक ने इस लालसामयी नारी के लिये यही विधान उपस्थित किया है।

इसी नाटक की दूसरी पात्री विजया अपनी चंचल प्रवृत्ति को वशीभूत कर सकने में असमर्थ है। उसकी उत्तप्त महत्त्वाकांक्षा शीतल संयम की सीमा का स्पर्श नहीं कर पाती। प्रणय के क्षेत्र में उसके मन का चांचल्य नैतिक सीमा का अतिक्रमण करता है। वह सबसे पहले स्कन्दगुप्त की ओर आकर्षित होती है, परन्तु उसे राज्य से विमुख और उदासीन देखकर उसका मन चक्रपालित की ओर फिरता है। स्कन्दगुप्त के प्रति आकर्षण को वह अब राजकीय वैभव का प्रभाव कह कर भूल जाना चाहती है और चक्रपालित के प्रति उसके उद्गार प्रकट होते हैं :—

'इस उदार दृष्टि से तो चक्रपालित क्या पुरुष नहीं है ? है अवश्य। वीर हृदय है, प्रशस्त वक्ष है, उदार मुख-मण्डल है[३]।' परन्तु चक्रपालित के प्रति यह आकर्षण साहचर्य के अभाव में शीघ्र ही समाप्त हो जाता है और तब उसके जीवन में राज्य-प्राप्ति के लिए अनन्तदेवी के साथ सतत प्रयत्नशील, तेजमय, वीर्यवान भट्टार्क का प्रवेश होता है। वह उसे देखते ही मुग्ध हो जाती है तथा उस उच्छृंखल वीर को अपने बाहुपाश की लौह-शृंखला पहनाने का उपक्रम करती हुई भरी राज-सभा में उसे पतिरूप में स्वीकार कर लेती है। परन्तु यहाँ भी भट्टार्क के विषय को लेकर उसे अनन्तदेवी की प्रताड़ना सहनी पड़ती है। तब वह सब ओर से निराश

१—स्कन्दगुप्त पृ० ३०।

२—वही, पृ० ३०-३१।

३—वही, पृ० ५३।

सर्वनाग का निर्देश स्वीकार करती हुई देश-सेवा के कार्य में संलग्न होती है, लेकिन निःस्वार्थ भावना के वश नहीं, वरन् इस आशा से कि उस क्षेत्र में स्कन्दगुप्त के दर्शन होंगे। वह एक बार फिर धन के आकर्षण और राष्ट्रीय सेवा के ढोंग से स्कन्दगुप्त को प्राप्त किया चाहती है। परन्तु तब तक स्कन्द देवसेना से प्रणय में हारकर आजन्म कौमार्य का व्रत धारण कर लेता है। और जिस समय स्कन्दगुप्त विजया के प्रणय को 'विजया, पिशाची! हट जा, नहीं जानती, मैंने आजीवन कौमार व्रत की प्रतिज्ञा की है।' कहकर उसकी भर्त्सना कर रहा होता है उसी समय भट्टार्क भी प्रवेश करके उसकी रही-सही प्रणय आस्था पर वज्र-प्रहार करते हुए कहता है—'दुश्चरित्रे! सुना था कि तुझे देश-सेवा करके पवित्र होने का अवसर मिला है, परन्तु छिः, पशु कभी एकादशी का व्रत करेगा—कभी पिशाची शान्ति पाठ पढ़ेगी।' विजया आत्म ग्लानि से इस महान् अवसर पर आत्म-हत्या कर लेती है और जैसे इसी प्रकार उसका प्रायश्चित्त पूर्ण हो जाता है। वह अपने ही शब्दों में अपने चरित्र की व्याख्या करती है—

'दुर्बल रमणी हृदय, थोड़ी आँच में गरम और शीतल हाथ फेरते ही ठण्डा। क्रोध से अपने आत्मीय जनों पर विष उगल देना। जिनको क्षमा की आवश्यकता है—जिन्हें स्नेह के पुरस्कार की वांछा है, उनकी भूल पर कठोर तिरस्कार और जो पराये हैं, उनके साथ दौड़ती हुई सहानुभूति। यह मन का विष, यह बदलने वाले हृदय की क्षुद्रता है। ओह!'

प्रसाद जी इस चंचल वृत्ति के समर्थक नहीं रहे हैं। इसीलिए विजया को इस महान् अपराध का मूल्य प्राण देकर चुकाना पड़ा है। प्रसाद जी की धारणा रही है कि अबाध स्वतन्त्रता सामाजिक विकास में विकर्षण एवं वैयक्तिक विघटन का कार्य करती है। अनन्त देवी अपने चरित्र की निरंकुश एवं अबाध भावनाओं के कारण राष्ट्रीय विघटनकारी के रूप में उपस्थित होती है। उसकी असंयमशीलता राष्ट्रीय एवं सामाजिक जीवन की शांति और व्यवस्था को खतरे में डाल देती है। उधर विजया का निर्बाध-स्वच्छन्द अपने व्यक्तित्व के लिए विभीषिका का वातावरण उत्पन्न कर देता है और अपने द्वारा निर्मित उस विकर्षण में उसका अपना ही दयनीय अन्त होता है। यहाँ पर प्रसाद जी का मत है कि वह नीति जो मानसिक ग्रन्थियों की सृष्टि करने वाली होती है, अपने स्वरूप में अनैतिक है, इससे व्यक्तित्व का हनन होता है। विजया के साथ ऐसा ही हुआ है।

'अजातशत्रु' की पात्री मागन्धी में भी चारित्रिक चांचल्य विद्यमान है। गौतम द्वारा उसका प्रणय अस्वीकार कर दिये जाने पर वह प्रतिशोध की ज्वाला में जल उठती है। वह अपमान के क्षणों को बढ़ा-चढ़ाकर सोचती हुई गौतम से प्रतिद्वन्द्विता करती है—गौतम! यह तुम्हारी तितिक्षा तुम्हें कहाँ ले जाएगी? यह तुमने कभी

न विचारा कि सुन्दरी स्त्रियाँ भी संसार में कुछ अपना अस्तित्व रखती हैं। अच्छा, देखें तो कौन खड़ा रहता है।[1]

सामान्य परिवार में जन्म लेने के कारण महत्त्व प्राप्ति की आकांक्षा में मत्त वह उदयन को पति रूप में प्राप्त कर लेने में समर्थ हो जाती है। परन्तु यहां भी अपने कुचक्रों और प्रवंचनाओं के कारण वह स्थिर नहीं रह पाती और अपने जलते हुए महल को छोड़कर उसे काशी की वार-विलासिनी श्यामा के रूप में अपने जीवन का निर्वाह करना पड़ता है। इस रूप में वह शैलेन्द्र के सम्पर्क में आती है और उसके प्रति उसकी एकनिष्ठा परिपक्व होने लगती है कि शैलेन्द्र उसे त्याग कर चल देता है। इस तरह रूपोन्मत्त श्यामा को आरम्भ से अन्त तक स्थिर शान्ति की प्राप्ति नहीं होती। उसके अपने ही शब्दों में उसका चरित्र इस प्रकार व्यक्त हुआ है—'अपनी परिस्थिति को संयत न रखकर व्यर्थ महत्वाकांक्षा का ढोंग मेरे हृदय ने किया, काल्पनिक सुख लिप्सा में ही पड़ी। उसी का यह परिणाम है। स्त्री-सुलभ सरलता की मात्रा कम हो जाने से जीवन में कैसे बनावटी भाव आ गए।[2] किन्तु जीवन के उत्तरकाल में जब वह आम्रपाली का जीवन बिता रही होती है, बुद्ध द्वारा उसका उद्धार होता है।

मागन्धी ने जीवन पर्यन्त अपने अधिकारों की सीमा का अतिक्रमण किया, इसीलिये जीवन भर वह अशान्ति के अग्नि कानन में झुलसती रही, परन्तु उसमें शैलेन्द्र के सम्पर्क में आकर एकनिष्ठा का भाव भी उदित हुआ था, उसी के वरदानस्वरूप अन्त में लेखक द्वारा उसके उद्धार की व्यवस्था की गई है। किसी भी चरित्र का परिणाम उद्घोषित करने में प्रसाद जी ने उसके कार्य-कलापों एवं भावनाओं में सत्-असत् के अनुपात का विशेष ध्यान रखा है।

'जनमेजय का नाग यज्ञ' की पात्रा दामिनी युवाकाल की मदिर आकांक्षाओं से उन्मत्त विषय-वासना की मृग-मरीचिका में भटकती फिरती है। उसमें वासना का अतिरेक है, जो निर्लज्जता की सीमा का स्पर्श करता है। वृद्ध पति के साथ निर्वाह करने की विवशता में वह युवा उत्तंक पर आकर्षित हुए बिना नहीं रहती। उसकी मानसिक दुर्बलता का यह अंश परिस्थिति जन्य भी कहा जा सकता है। अतः दामिनी के आचरण के लिए समाज भी आंशिक रूप से उत्तरदायी है। परन्तु इतना सब कुछ होते हुए भी, एकनिष्ठा के आदर्श संस्थापक प्रसाद उसकी चारित्रिक दुर्बलता को क्षमा कर देने के पक्ष में नहीं हैं। इसीलिए विषयों की पिपासा और प्रतिशोध की अग्नि में झुलसती हुई दामिनी को उस समय तक शान्ति प्राप्ति नहीं होती, जब तक वह अपनी पराजय स्वीकार नहीं कर लेती। नैतिक मर्यादा के उल्लंघन के अपराध में उसे प्रायश्चित करना ही पड़ता है—

१—अजातशत्रु, पृष्ठ ४१।

२—अजातशत्रु, पृष्ठ १३६।

'हृदय के अतिवाद से वशीभूत होने का मुझसे बढ़कर और कोई उदाहरण न मिलेगा···उत्तंक ! मैं क्षमा चाहती हूं ।'[1]

सुरमा[2] भी इसी कोटि की पात्रा है। मन का अस्थैर्य उसके पतन की कहानी रचता है। वह शान्तिदेव की ओर आकृष्ट होती है, परन्तु तब शान्तिदेव राज्यश्री की ओर आकर्षित है। अपने प्रणय के आधार के लिये वह देवगुप्त को चुनती है। परन्तु 'देवगुप्त के साथ सुरमा का सुखी जीवन बालुका-भीत्ति के समान है। घटना प्रभंजन के एक ही झौंके में वह भूमिसात् हो जाता है।' परिणामस्वरूप अन्त में एक बार फिर वह शान्तिदेव की ओर झुकती है। शान्ति भिक्षुकों के शब्दों में उसके हृदय की अस्थिरता स्पष्ट लक्षित होती है—'रमणी ! जब तुम्हें कोई चलने को कहता है, तो पैरों में पीड़ा का अनुभव करने लगती हो। जब विश्राम का समय होता है, तो पवन से भी तीव्र गति धारण करती हो। तुम स्नेह से पिच्छिल, जल से अधिक तरल, पत्थर से भी कठोर। इन्द्रधनुष से भी सुन्दर बहुरंग शालिनी।'[3] और इसीलिए वह अपने प्रिय से प्रताड़ित होती है—'ओह ! जब निःश्वास लेकर सिसकती हुई, किसी मूर्ख की छाती पर सुकुमार कुसुम सी व्याकुल होकर तुम पतित रहती हो, तब भी तुम्हारे भीतर व्यंग्य हंसा करता है। जब स्वयं प्राण देने के लिए प्रस्तुत होती हो, तब वह कितने जीवन लेने का प्रस्ताव होता है। प्रवंचना की पुजारिन ! युवती रमणी सुरमा ! तुमने मुझे पहचाना ?'[4]

परन्तु इतना होते हुए भी सुरमा के कोमल मन में नैतिकता का परमाणु संचित है। उसका बाह्य रूप परिस्थिति का परिहास है। अपने चरित्र के वैषम्य को प्रायश्चित्त के अश्रु-जल से धोकर वह धोखे के पथ पर चलने से रुकना चाहती है—'ठठा कर हँसना, नाचते हुए स्थिर जीवन में एक आंदोलन उत्पन्न कर देना, नहीं, यह कृत्रिम है, यह नहीं चलेगा। राज्यश्री को देखती हूं, तब मुझे अपना स्थान सूचित होता है—पता चलता है कि मैं कहां हूं ? चलूं, रोक सकूं[5]।' और इसीलिए राज्यश्री की क्षमा द्वारा उसका उद्धार होता है। काषाय धारण करके वह चित्त-शुद्धि के प्रशस्त पथ पर, अपूर्व आत्म-शान्ति प्राप्त करने के उद्देश्य से शांतिदेव के साथ चल पड़ती है।

अनन्तदेवी के समान महत्वाकांक्षाओं से पूर्ण शक्तिमती[6] अपने आचरणों से

१—पृष्ठ १०३।

२—'राज्यश्री' की पात्री।

३—'राज्य श्री,' पृष्ठ ४४।

४—'राज्यश्री,' पृ० ४५।

५—'वही,' पृ० ७१।

६—'अजातशत्रु' की पात्रा।

पतित होती है। अधिकार-प्राप्ति का दर्प उच्छृंखलता बनकर सम्पूर्ण साम्राज्य में कुचक्र, दुरभिसन्धि और अशांति का वातावरण उत्पन्न कर देता है। अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए वह निष्ठुर संकल्प ही नहीं वरन् तदनुरूप आचरण करने की तत्परता भी लिए है। वह पुरुषों द्वारा 'नारी जाति की असमर्थता सूचित करा कर उसे और भी निर्मूल आशंकाओं में छोड़ देने की कुटिलता का प्रतिशोध किया चाहती है। स्त्रियोचित सहज स्वभाव के स्थान पर पुरुष के पुरुषत्व को ग्रहण करती है। इसी कृत्रिमता और सीमोल्लंघन के कारण उसे सफलता नहीं प्राप्त हो पाती और नारीत्व की सजीव मूर्ति मल्लिका के सम्मुख भी उसे अपनी पराजय स्वीकार करनी ही पड़ती है। प्रसेनजित के सम्मुख भी उसे नत-मस्तक होना पड़ता है—

'वह मेरा ही अपराध था आर्य ! क्या उसके लिए क्षमा नहीं मिलेगी—मैं अपने कृत्यों पर पश्चात्ताप करती हूं। अब मेरी सेवा मुझे मिले, उससे मैं वंचित न होऊँ, यही मेरी प्रार्थना है[1]।'

इसी नाटक की दूसरी पात्रा छलना है। जो अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तियों के विरुद्ध चलने के कारण किसी भी उद्देश्य में सफल नहीं हो पाती। नारी-सुलभ स्थायी गुणों की उपेक्षा कर वह राजकीय क्षेत्र में अवतीर्ण होती हुई व्यर्थ ही पुरुषार्थ का ढोंग करती है। इसीलिए उसे अपने पति की विद्रोहिनी बनना पड़ता है, साथ ही वह पुत्र से भी हाथ धोती है। लक्ष्य भ्रष्ट और मर्यादा विहीन होने के कारण वह सम्मान प्राप्त करने की होड़ में इधर-उधर भटकती दिखाई पड़ती है। परन्तु अन्त में उसकी निसर्ग प्रवृत्तियों का उदय होता है, और उसे अपने व्यवहार के लिए वासवी से क्षमा-याचना करनी पड़ती है—'वासवी ! बहिन !—(रोने लगती है) मेरा कुणीक मुझे दे दो, मैं भीख माँगती हूं। मैं नहीं जानती थी कि निसर्ग से इतनी करुणा और इतना स्नेह, संतान के लिए इस हृदय में संचित था। यदि जानती होती, तो इस निष्ठुरता का स्वांग न करती[2]।'

महापिंगल की पत्नी तरला[3] को भी इसी कोटि में लिया जा सकता है। सुवर्ण संचय की लालसा तथा अपने वृद्ध और कामी पति पर पूर्ण अनुशासन उसकी चारित्रिक विशेषताएं हैं। पति को पीटने तक की निम्नता पर वह उतर आती है और इसी मर्यादा के सीमोल्लंघन के परिणाम स्वरूप उसे छला जाना पड़ता है। वह अपना सर्वस्व खो देती है। 'कामना' नाटक की पात्री कामना महत्वाकांक्षा के स्वप्न-प्रभात में संतोष की उपेक्षा करती हुई विलास का हाथ थाम लेती है। वह अपने स्वाभाविक रूप में श्रद्धा और पूजा की वस्तु है, परन्तु उच्छृंखल वासना का प्रवेग

१—अजातशत्रु, पृ० १२८।

२—वही, पृष्ठ १११।

३—'विशाख' की पात्रा।

उसकी सौम्य मूर्ति को तृष्णा और असंतोष के आवरण में आच्छादित कर लेता है। सन्तोष ने कामना के नारीत्व को सबसे पूर्व जिस रूप में देखा था वह उसके लिये आनन्द-निकेत के समान था—जहाँ प्राण अपनी अभिलाषा का आनन्द निकेतन देख-कर पूर्ण-वेग से धमनियों में दौड़ने लगता है, वहाँ चिन्ता विस्मृत होकर विश्राम करने लगती है, वहीं—रमणी का—तुम्हारा रूप देखा था, और यह नहीं कह सकता कि मैं झुक नहीं गया। परन्तु मैंने देखा कि उस रूप में पूर्ण चन्द्र के वैभव की चन्द्रिका सी सबको नहला देने वाली उच्छृंखल वासना।[1]

रमणी का यह रूप जो संतोष-भावना से विमुख हो, अतृप्त विलास की ओर अग्रसर होता है, आदर्श और नैतिक मान्यताओं की दृष्टि से सम्मान पूर्ण नहीं कहा जा सकता और इसीलिए कामना अशान्ति और मानसिक पीड़ा के संसार में भटकती हुई अन्त में सत्य-पथ का अनुसरण करती है। लेखक ने कामना के चरित्र में सहज नारीत्व की उदात्त भावना, करुणा और स्नेह भाव का अनुष्ठान किया, किन्तु परि-स्थितिवश, पुरुष के पाशव प्रलोभन में, अपने मन की भावुकता के वशीभूत हो, वह थोड़े समय के लिये सब कुछ भूल जाती है। लेकिन अनीति का अन्धकार-आवरण हटते ही वह अपनी भूल स्वीकार करती हुई साम्राज्ञी के पद को त्याग कर महत्त्व प्राप्ति की सुवर्ण-छाया से दूर हट जाती है—'यदि राजकीय शासन का अर्थ हत्या और अत्याचार है तो मैं व्यर्थ रानी बनना नहीं चाहती। मेरी प्रजा इस बर्बरता से जितना शीघ्र छुट्टी पावे, उतना ही अच्छा।...प्यारे देशवासियो, लौट चलो, इस इन्द्रजाल की भयानकता से भागो। मदिरा में सिंचे हुए चमकीले स्वर्ण-वृक्ष की छाया से भागो।[2]

'कामना' की मूल प्रवृति में सद्भाव का समावेश है, इसी लिए वह दिन भर भटकती हुई संध्या की लालिमा में सही पथ पा जाती है। परन्तु उसकी सहेली लालसा विषय-वासना के आवेग से उन्मत्त विविधता के आकर्षण में जीवन का पर्व मनाना चाहती है। अपने अपार वैभव का भोग किसी साथी के साथ किया चाहती है। परन्तु उस साथी को प्राप्त करने का साधन समर्पण नहीं, वासना का आमन्त्रण है। उसे अपनी भ्रू-भंगिमा और नयनों की भाषा पर विश्वास है—

'किसे नहीं चुभ जायँ, नैनों के तीर नुकीले ?
पलकों के प्याले रसीले, अलकों के फन्दे गंसीले,
कौन देखूं बच जाय, नैनों के तीर नुकीले[3]।

विलास की पत्नी बन कर भी उसकी लालसा तृप्त नहीं हो पाती। स्वस्थ

१—कामना, पृ० ७०-७१।
२—कामना, पृष्ठ ६७।
३—वही, पृष्ठ ५३।

सैनिक के तेजोमय मुखमण्डल को देख कर वह उस पर भी आसक्त हो उठती है। उसके द्वारा अपमानित होने पर भी वह कहती है—'तुम्हारे वाक्य मेरी कर्णेन्द्रियों को मांग रहे हैं। मैं कैसे छोड़ दूं। ठहरो, मुझे इस सम्पूर्ण मनुष्यत्व को आंखों से देख लेने दो।[1]

उसका यह चारित्रिक पतन ही उसके पतन का कारण बनता है। विलास के शब्दों में उसने पद की मर्यादा, वीरता का गौरव और ज्ञान की गरिमा सब डुबा दी है और इसीलिए उसके जीवन की नौका भी सागर के अतल में ही विश्राम पाती है।

नाटकों के अतिरिक्त प्रसाद जी के औपन्यासिक पात्रों में भी कुछ नीति विरोधी पात्रियों की अवतरणा हुई है। 'तितली' की राजकुमारी अपने वैधव्य की स्थिति में सुखदेव चौबे से सम्बन्ध बनाए हुए है। उठते हुये यौवन को वह शृंगार प्रसाधनों से रोके रहना चाहती है। ऐश्वर्य के प्रति उसके मन की लालसा अतृप्त हैं और इसीलिये वह जीवन भर सुखी नहीं हो पाती। मैना और अनवरी भी इसी कोटि की महिलाएं हैं जो अनीति और उच्छृंखलता के पथ पर चल कर सुखी परिवारों का दहन कार्य करती हैं। 'कंकाल' की किशोरी भी नीति पथ को त्याग कर विभ्रष्ट पथ का अनुसरण करती है, परिणाम स्वरूप जीवन भर आत्माभिमान का झूठा भार ढोती हुई अन्त में अपने पति श्री चन्द्र के सम्मुख अपनी पराजय स्वीकार कर लेती है—'उसे साहस हो चला था। आज उसे पाप और मुक्ति का नवीन रहस्य प्रतिभासित हो रहा था। पहली ही बार उसने अपना अपराध स्वीकार किया और यह उसके लिये इतना अच्छा अवसर था कि उसी क्षण उसे उद्धार की भी आशा थी।[2] 'इरावती' की कालिन्दी स्त्रियोचित गुणों की सीमा का अतिक्रमण करती है। प्रसाद जी ने उपन्यास क्षेत्र में हृदय परिवर्तन के सिद्धान्त को नहीं माना है। प्रगतिशील यथार्थ वादिता को लक्ष्य बनाते हुए उन्होंने समाज के विभिन्न श्रेणियों, स्तरों और परिस्थितियों के पात्रों को जैसा का तैसा उपस्थित कर दिया है। उनके उपन्यासों का लक्ष्य विशेष रूप से समाज की जर्जर शक्तियों का उद्घाटन करना है, जो सामाजिक हित कार्य में बाधा रूप प्रकट हो रही है। इसीलिए किसी भी चरित्र को आदर्श रूप में उपस्थित करने की विशेष चेष्टा नहीं की गई है। हां, तितली में तितली का चरित्र भारतीय नारीत्व का सम्पूर्ण चित्र उपस्थित कर सकने में समर्थ है।

उनकी मुक्त कविता 'प्रलय की छाया' में कमला का चरित्र नारी की उच्छृंखलता और पथ विभ्रष्टता का इतिहास प्रस्तुत करता है। समस्त गुजरात की कमनीयता उसकी अंग-लतिका में एकत्र है। गुर्जर महीप उसके चरणों में प्रणत होते हैं। लालसा की दीप्त मणियों से युक्त उसको अतीव सम्मान प्राप्त होता है—

१—कामना, पृष्ठ ८० ।

२—कंकाल, पृष्ठ २३६ ।

'अनुराग पूर्ण था हृदय उपहार में
गुज्जरेश पांवड़े बिछाते रहे पलकों के
निरते थे—
मेरी अंगड़ाइयों की लहरों में
पीते मकरन्द थे
मेरे इस अधखिले आनन्द सरोज का।'

गुज्जरेश की मृत्यु के उपरान्त भी वह अपने रूप के गर्व को नहीं भूल पाती। उसी को साधन बनाकर वह सुल्तान को जलाना, उसे आकर्षित करना चाहती है। अपने शील और चारित्रिक उत्सर्ग को पतित कर वह सुखी नहीं हो पाती। वह सुल्तान से प्रतिशोध भी नहीं ले पाती। सौन्दर्य का दर्प और मन की उच्छृंखलता तथा अनीति का आचरण उसके जीवन की सुषमा को कालिमा में परिवर्तित कर देते हैं। और तब उसे सुन पड़ता है कि—

'नारी यह रूप तेरा जीवित अभिशाप है,
जिसमें पवित्रता की छाया भी पड़ी नहीं
जितने उत्पीड़न थे चूर हो दबे हुए,
अपना अस्तित्व हैं पुकारते
नश्वर संसार में
ठोस प्रतिहिंसा की प्रतिध्वनि हैं चाहते।'[1]

'चित्रवाले पत्थर'[2] कहानी की 'मंगला' अपने वैधव्य में भी पुरुष के संसर्ग की भूखी है। वह अपने प्रिय को शराब की अचेतावस्था में छोड़कर पूर्व परिचित मुरली के साथ भाग जाना चाहती है क्योंकि उसका विश्वास है कि 'स्त्री जीवन की दृष्ट कब जाग जाती है, इसको कोई नहीं जानता, जान लेने पर तो उसकी बहाली देना असंभव है। उसी क्षण को पकड़ना पुरुषार्थ है।' मुरली को हिचकता देखकर वह शराबी प्रिय को मृत्यु के घाट उतार कर, उसे अपने प्रणय की पुष्टता का प्रमाण देना चाहती है। परन्तु इस भयानक रूप में मुरली उसे स्वीकार नहीं कर पाता और वहाँ से किसी तरह भाग जाता है। मंगला जीवन में सुखी नहीं हो पाती। उसे अपने दुर्विनीत स्वभाव पर पश्चात्ताप होता है, जो अपना अपराध स्वीकार कर लेता है :—

'देवता छाया बना देते हैं। मनुष्य उसमें रहता है। और दुष्ट भी राक्षसी उसमें आश्रय पाकर भी उसे उजाड़ कर ही फैंकती है।'[3]

प्रसादजी के नारी-सम्बन्धी नैतिक आचरण के उपर्युक्त अध्ययन से दो बातें

१—लहर, पृ० ७६।
२—इन्द्रजाल, में संग्रहीत।
३—इन्द्रजाल, पृ० ८०।

स्पष्ट होती हैं। पहली तो यह कि वे आचार की शुद्धता पर विशेष जोर देते हैं। मर्यादाओं का अतिक्रमण और उच्छृंखल व्यवहार उन्हें कभी भी इष्ट नहीं रहा है। ऐसी नारी सदैव ही समय-चक्र और परिस्थितियों के मध्य उत्पीड़ित होती आई है। उनकी दृष्टि में संयत स्वतन्त्रता और अपनी सीमाओं की पहचान सबसे महत्वपूर्ण वस्तु है। नारी अपने शील, सौजन्य और सद्व्यवहार के आचरण से महानता के शीर्ष को प्राप्त कर सकती है। उसको बाहर जाने की आवश्यकता नहीं है। अपनी सीमाओं का उल्लंघन ही उसकी मानसिक अशान्ति और सामाजिक वैषम्य का कारण बनता है। प्रसादजी नारी के व्यक्तित्व की स्वतन्त्रता पर उस सीमा तक विश्वास करते हैं जहाँ तक उसकी निर्विघ्न गतिविधि सामाजिक संतुलन के साथ-साथ सामाजिक जीवन की विभिन्न आवश्यकताओं के मध्य सामंजस्य बनाये रख सकने में समर्थ होती है। उनके मत में स्वतन्त्रता का निकष सामाजिक विकास की सफलता पर निर्भर करना है और अबाध स्वतन्त्रता, जो विकास के स्थान पर विकर्षण का कारण बनती है, प्रसादजी की दृष्टि में, नारी के लिये निषिद्ध होनी चाहिये, क्योंकि उससे सामाजिक मूल्यों की हानि होती है और जीवन के स्वस्थ आदर्शों की महत्ता का लोप होता है। दूसरे, इसके साथ-साथ पथ-विभ्रष्ट नारी के लिये, उत्थान, कल्याण और सुधार की आयोजना भी प्रसादजी के पास है। नारी जैसे ही अपनी भूल स्वीकार करती है और इस तथ्य को स्वीकार कर लेती है कि उसका ग्राह्य पथ व्यक्तिगत सौख्य एवं सामाजिक व्यवस्था के लिए कल्याणकर नहीं है, तथा उससे जीवन के मूल्यों में विघटनकारी परिवर्तन होने की आशंका है, वैसे ही उसके व्यवहारों का सत् रूप में विकास होना आरम्भ हो जाता है। प्रायश्चित के अश्रु-जल में सब कुछ स्वच्छ कर, नारी फिर से अपना पूर्व स्थायी सम्मानपूर्ण पद प्राप्त करती हुई, समाज के स्थायी कल्याणकारी तत्वों के विकास में सहयोग देना आरंभ कर देती है। यह प्रसाद जी के नैतिक आदर्श का वैशिष्ठ्य है। इसके अनुसार नैतिकता के एक बार टूट जाने से वह सदा के लिए ही खंडित नहीं हो जाती; उसमें सुधार हो सकता है। मागन्धी के चरित्र में यही भावना प्रकट हुई है। मन की दुर्दम्य भावनाओं से परिपूर्ण, आरम्भ में, उसके चरित्र को चांचल्य की पृष्ठ भूमि में अभिव्यक्ति प्राप्त होती है। श्यामा के रूप में वह शैलेन्द्र के पथ का कोमल और मनोहर कंटक बनती है। यहीं से उसमें सत् रूप का विकास होता है। वह अपने अतीत के लिए पश्चाताप भी करती है और इसीलिए मल्लिका द्वारा उसका उद्धार होता है। गौतम के चरणों ही में उसे शान्ति प्राप्त होती है। 'कामना' जब विलास का संग छोड़, मन की असंयत भावनाओं पर विजय प्राप्त करती हुई करुणा का विकास करती है तो उसका पथ मंगलमय बन जाता है। 'दामिनी' के द्वारा अपने मन के अतिवाद का अनुभव किये जाने पर उसे अपने पति से क्षमा और स्नेह प्राप्त हो जाता है। 'सुरमा' परिस्थितियों के बीच अनीति के मार्ग का अनुसरण करती है, परतु अपने निकट सम्पर्क में आने वाले प्रत्येक व्यक्ति के प्रति वह निष्ठावान है। यह उसके मन की उदात्त भावना का प्रारूप है। वह अपने अनीतिपूर्ण अतिवादी

व्यवहार को रूप भी स्वीकार करती है। सत् स्वरूप के स्थिर विकास होने पर उसको शान्ति प्राप्त होती है। 'किशोरी' का जीवन परिस्थितियों की शृंखलाओं में आबद्ध उत्थान-पतन की कहानी है। उसके पक्ष में अपने पति के साथ समझौता करते हुए एक अंग होकर निभते रहने का आदर्श ही श्रेष्ठ था, परन्तु ऐसा नहीं हो सका, इसीलिए वह जीवन भर अपने बाल-सहचर निरंजन के पुत्रपत्व की क्रोड़ में मनचाही करती हुई भी असमयस्क बनी रही। हमेशा उसे ऐसा लगता रहा कि जैसे कहीं वह कर्तव्य विमुख हो रही है। अन्त में श्रीचन्द के सम्पर्क में ही समझौते को स्वीकार करते हुए, वह जीवन में निश्चिन्तता का अनुभव करती है। 'तितली' की राजकुमारी अतृप्त वासना के आवेग में पुरुष का सम्पर्क चाहती है। उसका मानसिक पतन होता है। परन्तु उसके चरित्र के शुद्ध संस्कार उसे शारीरिक रूप से पतित नहीं होने देते। महत्त्वाकांक्षा के पथ पर अग्रसर होती हुई भी वह सुखदेव को अपने असहाय नारीत्व के जागरण काल में झिड़क देती है—"सुखदेव, मुझे सब तरह से मत लूटो। मेरा मानसिक पतन हो चुका है। मैं किसी और की न रही, तो तुम्हारी भी न हो सकूँगी मुझे घर पहुँचा दो।[1]"

और यहीं राजकुमारी अपनी समस्त दुर्बलताओं के साथ साथ पाठकों की सहानुभूति भी प्राप्त कर लेती है। इस प्रकार से प्रसाद जी का नैतिक आदर्श जड़ीभूत नहीं है।

दूसरे पक्ष में अनन्त देवी, विजया, शक्तिमती, मंगला, लालसा, मैना और अनवरी के चित्र हैं जो आरम्भ से अन्त तक नीति विरोधी आचरण करते हुए अपने स्वार्थ भावना की सिद्धि के उपक्रम में लगे रहते हैं। इसीलिए उनका उत्थान नहीं हो पाता और वे जीवन की विभीषिकाओं के रंगमंच पर ही अभिनय करते करते अन्त में थक कर तिरोहित हो जाते हैं। ऐसे पात्रों के प्रति प्रसाद जी की सहानुभूति निःसृत नहीं हुई है। स्वस्थ नैतिक नियमों का उल्लंघन उन्हें कभी भी स्वीकृत नहीं हुआ है। 'अशोक[2]' की तिष्यरक्षिता विषय वासना के पाशव रूप में उपस्थित होती है, इसलिए ऐसी स्त्री को पृथ्वी के ऊपर नहीं प्रत्युत 'उसके भीतर' रहने की व्यवस्था प्रसाद ने की है।

बाह्य तथा आन्तरिक आचरण एवं स्वरूप—

प्रसाद जी का नीति सम्बन्धी दूसरा पक्ष है बाह्य और आन्तरिक आचरण तथा नैतिकता की अवस्थिति। उनकी धारणा है कि परिस्थितिवश व्यक्ति को नीति विरोधी आचरण करने के लिए विवश हो जाना पड़ता है। वह कभी-कभी नैतिक आदर्शों के विरुद्ध आत्मा का हनन और आन्तरिक भावनाओं का दमन करते हुए,

---

१—तितली, पृष्ठ १६१।

२—छाया में संग्रहीत।

समाज की अस्वस्थ परिपाटी पर चल पड़ता है। प्रसाद जी इसके लिए उस व्यक्ति का सामाजिक बहिष्कार नहीं करते और न यही मानते हैं कि नीति-विरोधी कार्य करने से उसका आचरण भ्रष्ट हो गया है। प्रसाद जी मानव मन की उन मूल अनुभूतियों के गहरे में उतर कर उन परिस्थितियों का अध्ययन करते हैं, जिसमें उसे किसी प्रकार का विशिष्ट आचरण करने के लिये बाध्य हो जाना पड़ा है। उन्होंने नारी के उन्मुक्त व्यक्तित्व को सदैव सराहा है। उनके विचार में नैतिक आदर्श स्वस्थ स्वतन्त्रता की भाव-भूमि में ही श्रेष्ठतर रूप से विकसित हो सकते हैं। इसीलिए तो अपनी श्रेष्ठतम नारी-कृति को उन्होंने उन्मुक्त रूप प्रदान किया है—

> हृदय की अनुभूति बाह्य उदार,
> एक लम्बी काया उन्मुक्त
> मधु पवन क्रीड़ित ज्यों शिशु साल
> सुशोभित हो सौरभ संयुक्त[1]'

साथ ही साथ वह यह भी मान कर चले हैं कि इस स्वतन्त्रता का उपयोग नैतिक पीठिका में, समाज के किसी उच्चतर आदर्श की आयोजना के लिए होना चाहिए। परिस्थितियों की विवशता में किसी श्रेष्ठ लक्ष्य की पूर्ति के लिए नैतिक माप दण्डों का प्रयोग प्रसाद जी को अमान्य है। सुवासिनी यमुना, केतकी वन की रानी, इरावती, विलासिनी, बेला, मालवती, ध्रुवस्वामिनी, रामा, 'विराम चिन्ह की नायिका तथा कमला के चरित्र प्रसाद जी की इस धारणा को अभिव्यक्त करने में सफल हुए हैं।

कुसुमपुर का स्वर्गीय कुसुम सुवासिनी अमात्य राक्षस की धरोधर है। राक्षस के प्रति उसकी निष्ठा कभी भी नहीं टूटती। परिस्थितियों के व्यूह चक्र में उसे अपने भरण-पोषण के लिए मगध सम्राट के विलास कानन में रंजन का उपक्रम करना पड़ता है। अभिनय शाला की नर्तकी के रूप में वह नन्द के विनोद का साधन बनती है। जीवन की रंगमयी विविधता का अभिनय करती हुई भी वह अपने एकनिष्ठ प्रेम की स्मृति में टीस का अनुभव करती हुई सुखी होती रहती है, क्योंकि उसके शब्दों में यही टीस प्रेम का प्रमाण है। नन्द का विशाल वैभव उसके प्रणय की अडिगता को नहीं हिला पाता। वह विश्वास भरे शब्दों में राक्षस से कहती है—'मैं तुम्हारी अनुचरी हूं। मैं नन्द की विलास लीला का क्षुद्र उपकरण बन कर नहीं रहना चाहता।[2]

इतना ही नहीं, नन्द के द्वारा उसे शील-भ्रष्ट किये जाने की चेष्टा करने पर वह उसे भी स्पष्ट किन्तु संयत उत्तर देने से नहीं चूकती—'महाराज! मैं अमात्य राक्षस की धरोहर हूं, सम्राट की भोग्या नहीं बन सकती।'[3]

१—कामायनी, पृष्ठ ४६।
२—चन्द्रगुप्त, पृष्ठ ७०।
३—चन्द्रगुप्त, पृष्ठ १५५।

प्रसाद के मत में प्रणय की एक निष्ठा ही सबसे बड़ी नैतिकता है। अपने स्त्रीत्व और प्रणय की रक्षा करती हुई उस नारी को, जो अपने प्रिय के लिए सम्राट का कोप भोजन बनने से भी भयभीत नहीं होती और जिसमें उसे खोजने के लिए स्वर्ग में भी जाने का साहस संचित है, लेखक की पूर्ण सहानुभूति और ममता प्राप्त हुई है। उसे अपनी अनाथावस्था के कारण भले ही गणिका के रूप में निर्वाह करना पड़ा हो, परन्तु अपनी इस निरवलम्बता के लिये वह किसी भी प्रकार दोषी नहीं ठहराई जा सकती। उसे नैतिक मान देने के लिए इतना ही पर्याप्त है कि परिस्थितियों की भयंकरता के मध्य भी उसका मन कलुषित नहीं हुआ है, और वह अपनी निष्ठा की रक्षा के लिये पूर्ण सन्नद्ध और समर्थ दिखलाई पड़ती है। उसके आचरण की यह पवित्रता ही अन्त तक उसकी चारित्रिक स्थिति को ऊंचा उठाए रखने में सहायक हुई है। अपनी इस पवित्रता का हवाला देते हुए वह राक्षस से कहती है—'अमात्य ! मैं अनाथ थी जीविका के लिये मैंने चाहे कुछ भी किया हो, पर स्त्रीत्व नहीं बेचा[1]'। और यही उसकी महानता का रहस्य है।

तारा परिस्थितियों के कुचक्रों में गुलेनार और यमुना के रूप में जीवन की भयावहता का सामना करती है। उसका प्रणय दैन्य की छाया में मंगल को देखकर प्रस्फुटित होता है। जीवन-जीवन भर वह मंगल के प्रति एकनिष्ठ बनी रहती है। मंगल उसे छोड़ देता है। लेकिन आत्म-पीड़न को अधिक से अधिक ममता देती हुई वह जीवन की अमूल्य कसक को अपने हृदय में ही सहेजे रखना चाहती है। चाची की प्रताड़नाओं से क्षुब्ध जब वह आत्म-हत्या के लिये प्रेरित होती है, तब भी मंगल के प्रति निष्ठा पूर्वक शब्द ही उसके मुख से निकलते हैं—

'मंगल ! भगवान जानते होंगे कि तुम्हारी शैया पवित्र है। कभी मैंने स्वप्न में भी तुम्हें छोड़ कर इस जीवन में किसी से प्रेम नहीं किया, और न तो मैं कलुषित हुई। यह तुम्हारी प्रेम भिखारिनी पैसे की भीख नहीं मांग सकती और न पैसे के लिये अपनी पवित्रता बेच सकती है[2]।'

मंगल के बाद विजय उसके जीवन में आता है। अब वह तारा नहीं यमुना है। विजय उसे मन से चाहता भी है। परन्तु वह विजय पर समर्पित नहीं हो सकती। यह उसके नैतिक संस्कारों की विवशता है। विजय के प्रस्ताव को, जिसमें वह उसकी सर्वस्व बनने जा रही थी, अस्वीकार कर अपने प्रणय की एकनिष्ठा के कारण अभिमान को लिये वह कहती है—'मैं आराध्य देवता बना चुकी हूं···मुझे··· ।'

लेकिन विजय यह सब जानते हुए भी उसे पवित्र, उज्ज्वल और ऊर्जस्वित पाता है। जैसे मलिन वसन में हृदयहारी सौन्दर्य। वह उसकी इस पवित्र आत्मा को

१—चन्द्रगुप्त, पृष्ठ १७८।
२— कंकाल, पृष्ठ ५८।

विवाह के बन्धन में बांध कर उसे भविष्य के प्रति निश्चिन्त बना देना चाहता है। तब यमुना कहती है :—

'किसी के हृदय की शीतलता और किसी के यौवन की उष्णता—मैं सब झेल चुकी हूं। उसमें सफल नहीं हुई, उसकी साध भी नहीं रही विजय बाबू। मैं दया की पात्री एक बहन होना चाहती हूं। है किसी के पास इतनी निःस्वार्थ-स्नेह सम्पत्ति, जो मुझे दे सके[1]।'

प्रसाद जी ने यमुना की दुर्भाग्यपूर्ण विवशता में ही उसके उच्चतर नैतिक आदर्श का विधान रचा है। समस्त कलुषिताओं के मार्ग से होती हुई भी, वाह्याचरण में नीति मान्य आदेशों की अवहेलना करती सी दिखाई देने वाली यमुना अभ्यान्तर भावनाओं में कितनी नैतिक, कितनी एकनिष्ठ और कितनी महान् है। मंगल को अपना सर्वस्व अर्पण करके भी वह विजय के लिये नवाब की मृत्यु के प्रसंग में समस्त अपराध अपने सिर पर ले लेती है और यहीं उसका देवी रूप प्रकट होता है। दूषित वातावरण की दुर्गन्ध में विकसित होता हुआ उसका चरित्र प्रत्येक घटना-प्रसंग को लेकर नव विकसित पुष्प सा सौरभ बिखेर देता है।

उधर इसी के समानान्तर घंटी का चरित्र भी विकसित हुआ है। वह विजय को अपना आराध्य चुनती है। परन्तु विजय यमुना के अनुशासन में उसको स्वीकार कर पाने में असमर्थ होता है। फिर भी घंटी सामाजिक जीवन में हमेशा उसी के साथ लगी रहती है। विजय द्वारा समाज को दोषी ठहराए जाने पर वह अपने वास्तविक रूप में प्रकट होती है। उलाहना भरे शब्दों में वह विजय से कहती है—'इसमें समाज का क्या दोष है। तुम कहोगे कि मैं फिर सब जान कर भी तुम्हारे साथ क्यों घूमती हूं, इसलिये कि मैं इसे कुछ महत्व नहीं देती। हिन्दू-स्त्रियों का समाज ही कैसा है, उसमें कुछ अधिकार हो तब तो उसके लिए कुछ सोचना-विचारना चाहिए और जहां अन्ध अनुसरण करने का आदेश है, वहां प्राकृतिक, स्त्री जनोचित प्यार कर लेने का जो हमारा नैसर्गिक अधिकार है—जैसा कि घटना वश प्रायः स्त्रियाँ किया करती हैं—उसे क्यों छोड़ दूं। यह कैसे हो, क्या हो, और क्यों हो—इसका विचार पुरुष करते हैं। वे करें, उन्हें विश्वास बनाना है, कौड़ी-पाई लेना रहता है और स्त्रियों को भरना पड़ता है। तब इधर उधर देखने से क्या? भरना है' यही सत्य है। उसे दिखावे के आदर से व्याह करके भरा लो या व्यभिचार कह कर तिरस्कार से। अधमर्ण की सान्त्वना में लिये उत्तमर्ण शाब्दिक मौखिक प्रलोभन या तिरस्कार है। समझे[2]?'

घंटी फिर कहती है—'मैं तुम्हें प्यार करती हूं। तुम व्याह करके यदि उसका प्रतिपादन किया चाहते हो, तो भी मुझे कोई चिन्ता नहीं। यह विचार तो मुझे कभी

१—कंकाल, पृष्ठ १११

२—कंकाल, पृष्ठ १७६ १७७।

सताता ही नहीं। मुझे जो करना है, वही करती हूं, करूंगी भी। घूमोगे, घूमूंगी, पिलाओगे, पीऊंगी, दुलार करोगे- हंस लूंगी, ठुकराओगे, रो दूंगी। स्त्री को इन सभी वस्तुओं की आवश्यकता है। मैं इन सबों को समभाव से ग्रहण करती हूं और करूंगी[1]।'

घंटी का यह चरित्र आलोचकों के विवाद का विषय रहा है। समाज में सुव्यस्था के अस्तित्व की मर्यादा के लिये इस स्वतन्त्र व्यक्तित्व पर मर्यादा के अतिक्रमण का आरोप लगा है। लेकिन प्रसाद जी प्रेम की स्वतन्त्र-सत्ता पर विश्वास करते हैं। घंटी को नैतिक मूल्यों से नीचे नहीं गिरने देते। वाथम घंटी की ओर आकर्षित हुआ। इसमें घंटी का क्या दोष है। यमुना के मन में आशंका हुई इसमें घंटी क्या करे। घंटी ने तो अपने जीवन में विजय को चुना है और विजय को छोड़ कर अन्य कोई कभी उसकी कल्पना में आता ही नहीं। तो फिर एकनिष्ठ चरित्र को किस प्रकार नैतिक आदर्शों से पतित मान लिया जाये। इतने पर भी वह ललिता और यमुना की पीड़ा का अनुभव करती है जो उसके कारण उत्पन्न हुई है। उसके लिये वह प्रायश्चित करना भी नहीं भूलती :—

'मैंने संचित शक्ति से विजय को छाती से दबा लिया था। और यमुना··· वह तो स्वयं राह छोड़ कर हट गई थी। पर मैं बन कर भी न बन सकी—नियति चारों ओर से दबा रही थी। और मैंने अपना कुछ न रखा था, जो कुछ था सब दूसरी धातु का था। मेरे उपादान में कुछ ठोस न था। लो—मैं चली, वाथम···उस पर भी लतिका रोती होगी···यमुना सिसकती होगी···दोनों मुझे गाली देती होंगी··· अरे··अरे, मैं हंसाने वाली, सबको रुलाने लगी। मैं उसी दिन धर्म से च्युत हो गई। मर गई, घंटी मर गई[2]।'

घंटी के चरित्र को लेकर प्रसाद जी ने नीति की उदार व्याख्या प्रस्तुत की है। उन्हें व्यक्ति के शुद्ध स्वभाव पर अटल विश्वास है। उनके मत में जो व्यक्ति स्वतन्त्र और मुक्त है वह सदा हित-वस्तु की ही इच्छा करेगा[3]।'···इसीलिए व्यक्ति पर समाज की विवशताओं और उसके परिणाम में होने वाले अनर्थों और दुखों को दिखा कर व्यक्ति से पुनः पुनः यही आग्रह किया गया है कि वह अपनी हस्ती को समझे और आत्म शक्ति का उपयोग करे[4]।' इसी आत्म शक्ति का अंकुर घंटी के चरित्र में प्रस्फुटित हुआ है।

'पाप की पराजय' कहानी[5] में केतकी वन की रानी अपने क्षुधित बच्चों के

१—कंकाल, पृष्ठ १७७।

२—वही, पृष्ठ १८८।

३—पं॰ नन्ददुलारे वाजपेयी, जय शंकर प्रसाद पृष्ठ ४४।

४—वही पृष्ठ ४३।

५—प्रतिध्वनि में संग्रहीत।

लिये शरीर बेचने को भी सन्नद्ध हो जाती है। घनश्याम से वह कहती है—शहर चलूंगी। सुना है, वहाँ रूप का भी दाम मिलता है। यदि कुछ मिल सके[1]।'

नीति की रूढ़िवादी परिभाषा के अन्तर्गत शायद नैतिकता के पुरोहित इसे कोई स्थान न देंगे। क्योंकि उनके अर्थों में वेश्यावृत्ति—शरीर का विक्रय, समाज में दुराचार की सृष्टि का कारण है। इसको वे किस प्रकार सहन कर सकते हैं। लेकिन इस कहानी का लेखक शरीर बेचने के कारणों की खोज करता है। परिस्थिति के मध्य समस्या को उभार कर वह प्रश्न करता है कि भूख से बिलबिलाते हुए बच्चों को तड़प तड़प कर मरने देना अनीतिपूर्ण है अथवा शरीर का विक्रय करके उनके लिये रोटी का एक कौर जुटाना जिससे उनके कोमल प्राणों की रक्षा की जा सके।

वेश्या वृत्ति के पथ पर अग्रसर होते हुए भी रानी की चारित्रिक उज्ज्वलता में कोई अन्तर नहीं पड़ता वरन् वह और भी दीप्त हो उठता है। प्रसाद जी यहाँ पर इसी विश्वास को लेकर चले हैं, कि शरीर स्पर्श से नैतिकता विभ्रष्ट नहीं होती, यदि मन का पावित्र्य और उद्देश्य की उच्चता अक्षुण्ण रखी गई हो।

'दासी[2]' कहानी की इरावती भी परिस्थितियों के मध्य आततायियों द्वारा विमृष्ट की जाती है। वह बलराज की वाग्दत्ता है। वह्नि-वेदी के सम्मुख उनका परिणय होने वाला था। लेकिन इससे पूर्व ही कि वह सिन्दूर—बिन्दी से सौभाग्यशालिनी का पद प्राप्त करे, उसके भाल पर कलंक की रेखा खींच दी गई। प्रसाद जी फिर यहाँ पर प्रेम की विस्तृत व्याख्या लेकर उपस्थित होते हैं। बलराज के मुख से जैसे उनका आदर्श बोलता है :—

'प्रेम की परिभाषा अलग है इरा। मैं तुमको प्यार करता हूं। तुम्हारी पवित्रता से मेरे मन का अधिक सम्बन्ध नहीं भी हो सकता है। चलो हम···और कुछ भी हो, मेरे प्रेम की वह्नि तुम्हारी पवित्रता को अधिक उज्ज्वल कर देगी।'[3]

इस प्रकार प्रसाद जी ने सर्वत्र नीति और आचार की व्याख्या में परिस्थितियों को महत्व देते हुए मन की मूल-प्रवृत्ति को विशिष्ठता प्रदान की है। नीति सम्बन्धी उनकी विशद व्याख्या, उद्देश्य को मुख्य मान कर चलती है, वाह्य आचरण को नहीं।

'चूड़ीवाली'[4] की नायिका चूड़ीवाली के रूप में लालसा से उदीप्त विजय कृष्ण की ओर आकर्षित होती है। वहू से प्रताड़ित होने पर नगर की प्रसिद्ध नर्तकी विलासिनी के रूप में विजयकृष्ण के रूप, यौवन और चरित्र को आकर्षित करने का उपक्रम होता है। अपने रूप और संगीत कला की सुख्याति एवं अपार वैभवमयी होने

१—प्रतिध्वनि, पृष्ठ २८।
२—आंधी में संग्रहीत।
३—आंधी, पृष्ठ ५२।
४—आकाशदीप, में संग्रहीत।

पर भी उसे सन्तोष नहीं होता। मन में कुल-वधू बनने की अभिलाषा उत्पन्न होती है। विजय कृष्ण की ओर आकर्षण इसी आकांक्षा को लेकर था। उसमें उसे सफलता भी मिली। विजय कृष्ण जैसे पूर्ण रूप से उसके हो गए। उधर उनकी पत्नी राजयक्ष्मा से पीड़ित स्वर्ग सिधार गई। इधर परिस्थितियों के चक्र में विजय कृष्ण का सर्वस्वान्त हुआ। तब तक विलासिनी में विजय के प्रति निष्ठा उत्पन्न हो चुकी थी। एक दिन परिहास में उसने विजय से कहा था—जिसमें बाधा नहीं, बन्धन नहीं, जिसका सौन्दर्य स्वच्छन्द है उस असाधारण प्राकृतिक कला का मूल्य क्या बन्धन है? कुरुचि के द्वारा वह कलंकित भले ही हो जाये, परन्तु पुरस्कृत नहीं हो सकती। उसे आप पींजड़े में बन्द करके पुरस्कार देंगे या दण्ड।'[1]

आज वह इस स्वतन्त्र प्रकृति को छोड़कर विजय कृष्ण से बध कर कुलवधू बनने की इच्छा पूर्ण करना चाहती है। परन्तु वेश्या की दी हुई जीविका से पेट पालने में असमर्थ विजय कृष्ण उसके प्रणय को पत्नी रूप में स्वीकार नहीं कर पाते। तब वह सोचती है—

'अपना व्यवसाय और विजय की गृहस्थी बिगाड़ कर जो सुख खरीदा था, उसका कोई मूल्य नहीं। मैं कुलवधू होने के उपयुक्त नहीं। क्या समाज के पास उसका कोई प्रतिकार नहीं, इतनी तपस्या और इतना स्वार्थ-त्याग व्यर्थ है।'[2]

और तब विजय कृष्ण से अस्वीकृत विलासिनी अपनी जीवन-चर्या बदल डालती है। सेवा के महान् आदर्श को लेकर आदर्श हिन्दू गृहस्थ की भाँति तपस्या में निरत वह 'अब लौं नसानी अब न नसैं हौं,' के महत् संकल्प का निर्वाह करती चलती है। तभी उसे एक बार फिर विजय कृष्ण के दर्शन होते हैं और अपनी निष्ठा के विश्वास में वह उन्हें प्राप्त कर लेती है। उसका कुल-वधू होने का स्वप्न साकार हो जाता है।

इसी कहानी में प्रसाद जी ने आचरण की शुद्धता और वेश्यावृत्ति की समस्या पर भी प्रकाश डाला है। नर्तकी का जीवन कला के व्यवसायियों का जीवन है। यह कला अपने आप में पवित्र है। परन्तु इसके द्वारा समाज में जिस उच्छृंखलता एवं नैतिक भ्रष्टाचार की सृष्टि होती है, उसके लिये कला के मूल्य लगाने वालों की कुरुचि तथा कुत्सित इच्छा उत्तरदायी है न कि कलाकार। इस कला के द्वारा भले ही जीविका प्राप्त करते रहने के लिये बहुत से सामाजिकों का मनोरंजन करना पड़े, परन्तु इसका अर्थ व्यभिचार नहीं होता। वेश्या होकर भी विलासिनी ने एक व्यक्ति से प्रेम किया है और यही उसके नैतिक सरक्षण के लिये यथेष्ट है। यहां भी प्रसाद बाह्य आचरण को महत्व न देकर विलासिनी की मूल भावना को पकड़ कर चलते हैं, जहाँ वह कुलवधू बन कर एकनिष्ठ जीवन बिताने का स्वप्न पूर्ण करना

१—आकाशदीप, पृष्ठ ११७-११८।
२—आकाशदीप, पृष्ठ ११९।

चाहती है। नर्तकी होकर भी वह एक पुरुष के लिये अपना व्यवसाय खो देती है। एक ही पुरुष से अस्वीकृत होने पर वह अपने जीवन की दिशा ही बदल देती है। प्रसाद जी प्रणय की भावना को बहुत ही स्वाभाविक मान कर चले हैं। इसी भावना के कारण यदि उसको किसी विवाहित पुरुष से प्रेम हो गया हो, और उसके कारण विजय की पत्नी को जीवन की हानि उठानी पड़ी हो, तो इसमें विलासिनी का कितना दोष है? उसने कभी भी बहू के रहते विजय को सम्पूर्ण रूप से अपना ही बना कर नहीं रखना चाहा। वह तो अपने अभ्यास के अनुसार यही समझती रही, 'कि यदि बहूजी की अपार प्रणय सम्पत्ति में से कुछ अंश मैं भी ले लेती हूं तो हानि क्या?'[1] यह तो अपने प्रणय के एकाधिपत्य पर पूर्ण विश्वासिनी बहूजी के ही दृष्टि-कोण का दोष है कि वे इतनी-सी हानि को भी सहन नहीं कर सकीं।

इस प्रकार प्रसाद जी वारांगना को भी प्रेम करने का अधिकार देते हैं जो उनकी दृष्टि में नीति पूर्ण है। उसके व्यवसाय से समाज में जिस अनीति का विस्तार होता है, उसके लिये प्रसाद, कला पारखी सामाजिकों को दोषी ठहराते हैं जिन्होंने अपनी विषय-वासना के वशीभूत होकर उसे यह अनैतिक स्वरूप प्रदान किया है। उनके मत में प्रत्येक नारी के मन में कुलवधू बनने की इच्छा होती है। कोई भी स्त्री अपने मन से समाज मान्य वेश्या के विकृत रूप को नहीं अपनाना चाहती। और इसीलिए प्रसाद ने विलासिनी में गृहस्थ बनने की आकांक्षा का आरोपण किया है, उसके व्यवसाय की कलुषिता का कारण सामाजिकों की कुरुचि में खोजा है तथा वैविध्य का व्यवसाय करते हुए भी उसको एकनिष्ठा, प्रेमिका और लोक सेविका की स्थिति प्रदान की है।

'सालवती[2]' भी इसी कोटि की पात्री है। सर्वश्रेष्ठ सौन्दर्यमयी होने के कारण उसे स्वतन्त्र रहने का अधिकार दिया जाकर उससे कुलवधू का अधिकार छीन लिया जाता है। उसकी प्रत्येक रात्रि १०० सुवर्ण मुद्राओं में विक्रीत होती है। सेनापति मणिधर की पराजय का कारण, उसका संसर्ग दोष माना जाता है। 'काल भुजंगिनी' वैशाली का अभिशाप तथा 'विचार स्वातन्त्र्य के समुद्र का हलाहल' उसके विशेषण बनते हैं। परिस्थितियों की भांवरों में घिरी हुई वह अपने को स्वतन्त्र होते हुए भी कंगाल की तरह, अधिकार नियन्त्रण विहीन सा अनुभव करती है। वह समाज की प्रताड़नाओं का लक्ष्य बनती है। उसे वेश्यावृत्ति के पाप की आविष्कर्त्री माना जाता है। राज्य प्रदत्त स्वतन्त्रता के उपभोग क्षणों में वह स्वयं भी वैसा ही अभिनय करने लगती है। इसी कारण उसे अभय कुमार का प्रत्याख्यान करना पड़ता है। परन्तु अपनी

१—आकाशदीप, पृष्ठ ११८।

२—इन्द्रजाल में संग्रहीत।

स्वाभाविक प्रवृत्ति में ममतामयी पूर्ण ममतामयी है। वेश्यावृत्ति को वह वैशाली राष्ट्र के लिये अहितकर मानती है। इसीलिये तो वह संघ के सम्मुख अपनी प्रतिज्ञा उपस्थित करती है :—

'यदि संघ प्रसन्न हो तो मुझे आज्ञा दे। मेरी यह प्रतिज्ञा स्वीकार करे कि आज से कोई स्त्री वैशाली राष्ट्र में वेश्या न होगी।[1]'

वह अपने द्वारा अब तक के वेश्यावृत्ति-प्रचार के लिये दण्ड का विधान भी उपस्थित करती है—'मुझे निर्वासन मिले, कारागार में रहना पड़े। जो भी संघ की आज्ञा हो, किन्तु अकल्याणकर और पराजय के मूल इस भयानक नियम को जो अभी थोड़े दिनों से वज्जिसंघ ने प्रचलित किया है, बन्द करना चाहिए।[2]'

संघ द्वारा उसकी प्रतिज्ञा का स्वीकार्य तथा उसका कुल वधू बनने का स्वप्न दोनों ही सामाजिक व्यवस्था के संचालन में सहायक होते हैं। अपने सुप्त मातृत्व की भावना के उद्रेक-क्षणों में उसे प्रत्याख्यायित अभयकुमार के पुत्र की माँ बनना स्वीकार करना ही पड़ता है।

परिस्थितियों के विधान में नैतिक आचरण का दूसरा उदाहरण बेला[3] का चरित्र है। वह गोली से प्यार करती है। लेकिन उसका विवाह भूरे से होता है। वह इसे सर झुका कर स्वीकार कर लेती है, लेकिन गोली की स्मृति उसके मन से धूमिल नहीं हो पाती। उसके सुन्दर अंग की मेघमाला प्रेमराशि की रजत रेखा से उद्भासित हो उठी थी। उसके हृदय में यह विश्वास जम गया था कि भूरे के साथ घर बसाना गोली के प्रेम के साथ विश्वासघात करना है। उसका वास्तविक पति तो गोली है। और इसीलिए वह 'पलाश के जंगल में अपने बिछड़े हुए प्रियतम के लिए दो-चार विरह वेदना की तानों की प्रतिध्वनि छोड़ आने का काल्पनिक सुख नहीं छोड़ सकती थी।[4]

फिर मैकू की कूट मन्त्रणा से वह ठाकुर को दे दी जाती है। समाज में वह उनकी एक मात्र प्रेमिका समझी जाती है। उसकी प्रतिष्ठा अन्य कुल-वधुओं की भांति होती है। ठाकुर की उमंग की रातें वहीं कटती हैं। फिर भी ठाकुर कभी कभी प्रत्यक्ष देख पाते कि बेला उनकी नहीं है।[5] और एक दिन जब बर्षों का छूटा हुआ गोली नट

१—इन्द्रजाल, पृष्ठ १४६।

२—वही, पृष्ठ १४६।

३—इन्द्रजाल, कहानी की पात्री।

४—इन्द्रजाल, पृष्ठ ७।

५—वही, पृष्ठ १०।

के रूप में ठाकुर को खेल दिखाता हुआ बेला को लेने उसके समीप पहुंचता है, तो प्रेम की तीव्र अनुभूति से पूर्ण एक ही क्षण में दीन भिखारी की तरह—जो एक मुट्ठी भीख के बदले अपना समस्त संचित आशीर्वाद दे देना चाहता है—वह वरदान देने के लिये[1] प्रस्तुत हो जाती है।

बेला के चरित्रांकन में लेखक ने शारीरिक पवित्रता और नीति-स्थापना के प्रश्न को उठाया है। क्या शरीर के दूषित हो जाने से नैतिकता भ्रष्ट हो जाती है? क्या विवाह के बाद बेला को अपना प्रिय भूल कर भूरे के प्रति एकनिष्ठ हो जाना चाहिए था? क्या ठाकुर के वैभव विलास को त्याग, बेला का एक कंगाल के साथ हो लेना नीति सम्मत था? प्रसाद जी, जैसा कि हम पहले ही कह आए हैं, प्रेम की अनन्यता को ही श्रेष्ठ नैतिकता मानते हैं। समाज की क्रूरता ने बेला को गोली से छीन कर भूरे से बांध दिया, इसमें बेला का क्या दोष है? समाज के अन्याय से वह अपनी एकनिष्ठा का व्रत-भंग क्यों करे। भूरे और ठाकुर दोनों के द्वारा शारीरिक रूप से भ्रष्ट किये जाने पर भी बेला अपनी आत्मा से पवित्र है, अपनी भावनाओं में महान है, और अपने प्रणय में एकनिष्ठ है। नैतिकता की उदार परिभाषा को शारीरिक पावित्र्य की सीमाओं में आबद्ध नहीं किया जा सकता, वह आत्मा की वस्तु है।

दूसरे, पलास वन की एकान्तता में जब बेला ठाकुर से पहले पहल मिलती है तब उसके महत्व का सम्पूर्ण चित्र, जिसे अपने मन की असंयत कल्पना में वह दुर्गम शैल-शृंग समझ कर अपने भ्रम की हंसी उड़ा चुकी थी[2], उसकी आंखों में घूम गया। यह उसका मनोवैज्ञानिक पक्ष है। महत्व प्राप्ति की लालसा की कमज़ोरी में तथा इससे विशेष कि ठाकुर को प्राप्त कर लेने पर उसका अपने प्रिय गोली के प्रतिद्वन्दी भूरे से सम्बन्ध विच्छेद हो जायेगा, वह ठाकुर के शरीर से अपना सर सटा देती है। शायद उसने उस क्षण भी यह सोचा हो कि ठाकुर चाहे और कुछ भी क्यों न हो पर भूरे की भाँति उसके प्रिय का प्रतिद्वन्दी और शत्रु तो नहीं है। और हो सकता है, इस तरह ठाकुर के प्रति समर्पण भी गोली के प्रति अनन्य प्रणय की भावना के कारण ही हुआ हो। हाँ, यदि ठाकुर के पास जाने पर वह गोली को भूल जाती, उसके विलास वैभव में अपने पलास-वन-जीवन के दिन बिसरा देती, तो हम इसे उसकी नैतिक मर्यादा का उल्लंघन तथा चारित्रिक पतन मान लेते। लेकिन ऐसा नहीं होता, और इसीलिए वह प्रसाद मान्य नीति का नवीन उदार आदर्श प्रस्तुत करने में समर्थ होती है।

भारतीय संस्कृति में नारी के लिये पत्नीत्व की मर्यादा का आदर्श निर्वाह अन्यतम कर्तव्य है। पति के सुख दुःखों की सहचरी, उसके प्रति एकनिष्ठा और आज्ञा-

---

१—इन्द्रजाल, पृष्ठ १२।

२—इन्द्रजाल, पृष्ठ ८।

कारिता उसके जीवन के प्रमुख लक्ष्य हैं। प्रसाद जी पत्नीत्व के आदर्श को महत्व प्रदान करने के साथ एकनिष्ठा और आज्ञाकारिता के अर्थ को उस विन्दु तक नहीं खींच ले जाते, जहां नारी का अपना स्वर, अपनी इच्छा और अपना अस्तित्व ही लोप हो जाता है। उनके मत में जिस प्रकार नारी से आदर्श निर्वाह की अपेक्षा की जाती है उसी प्रकार से पुरुष को भी अपनी सीमाओं एवं अधिकार क्षेत्रों का ध्यान रखना आवश्यक है। यदि वह नारी से नैतिक व्यवहार की आशा रखता है तो उसे भी स्वयं नीति विरोधी व्यवहारों का अनुसरण नहीं करना चाहिए और यदि वह ऐसा करता है तो नारी भी उसका विरोध करने के लिए स्वतन्त्र है। प्रसाद जी ने अपनी अनेक पात्रियों को यह सुविधा प्रदान की है। उनकी पत्नी-पात्रियाँ एकनिष्ठ, कर्तव्यमयी एवं सदाचार से युक्त हैं। उनमें अपने पति के प्रति सम्मान और आज्ञाकारिता की भावना विशिष्ठ है। लेकिन साथ ही वे अपने पति को भी दुराचार करते नहीं देख सकतीं। ऐसे अवसरों पर अपनी नैतिक महाशक्ति को लेकर वे अपने आराध्य समझे जाने वाले पति का प्रकट विरोध करती हैं, और प्रसाद जी की दृष्टि में यह पूर्ण नैतिक है। ऐसा करने से उनके नैतिक आचार की श्रेष्ठता में कोई अन्तर नहीं आता।

चन्द्रगुप्त से प्रेम करते हुए भी जब ध्रुवस्वामिनी को राम गुप्त की पत्नी वन जाना पड़ता है तो नारी स्वभाव के अनुसार नियति पर विश्वास करते हुए वह राम-गुप्त के प्रति एकनिष्ठ हो जाती है। अपने जीवन की सम्पूर्ण संवेदनाओं और असफलताओं को ममता और कारुण्य की अनुभूति में छिपा कर, वह अपने पत्नीत्व का कर्त्तव्य निर्वाह करती चलती है। लेकिन रामगुप्त उसे उपहार में देने की वस्तु समझता है और पति होते हुए भी शकराज के पास भेजे जाने का आदेश देता है। तव भी ध्रुवस्वामिनी सहनशीलता के शृंग पर चढ़ कर उससे विनय करती है—'राजा! आज मैं शरण की प्रार्थिनी हूं···मैं तुम्हारी होकर रहूंगी ··· राज्य और सम्पत्ति रहने पर राजा को—पुरुष को—वहुत सी रानियाँ और स्त्रियाँ मिलती हैं, किन्तु व्यक्तित्व का मान नष्ट होने पर फिर नहीं मिलता।[1]

लेकिन दुर्विनीति रामगुप्त जब उसे किसी दूसरे को देने पर ही तत्पर हो जाता है तब वह अपने स्वत्व और स्वाभिमान की रक्षा के लिये सन्नद्ध होकर रोष भरे शब्दों में कहती है—

'निर्लज्ज! मद्यप! क्लीव। ओह, तो मेरा कोई रक्षक नहीं। नहीं, मैं अपनी रक्षा स्वयं करूंगी। मैं उपहार में देने की वस्तु, शीतलमणि नहीं हूं। मुझ में रक्त की

१—ध्रुवस्वामिनी, पृष्ठ २६

तरल लालिमा है। मेरा हृदय उष्ण है और उसमें आत्म सम्मान की ज्योति है। उसकी रक्षा मैं ही करूंगी।[1]

उसकी भर्त्सना में वह जैसे शक्तिमान् होकर बोलती है :—

'अनार्य ! निष्ठुर ! मुझे कलंक कालिमा के कारागार में बन्द कर मर्म वाक्य के धुएं से दम घोट कर मार डालने की आशा न करो। आज मेरी असहायता मुझे अमृत पिला कर मेरा निर्लज्ज जीवन बढ़ाने के लिये तत्पर है ... मैं एकान्त चाहती हूं[2]।'

वह यह भी जानती है कि उसका राक्षस-विवाह हुआ है। अभी तक वह अपनी अपार उदारता और सामंजस्य प्रवृति के कारण उसका यों ही निर्वाह कर लेना चाहती थी। परन्तु अब वह उसे मानने से भी इन्कार कर देती है। यह समाज का घोरतम अन्याय है कि 'स्त्रियों को धर्म बन्धन में बांध कर बिना उनकी सम्मति के, उनके अधिकार का अपहरण होता है और धर्म के पास कोई प्रतिकार, कोई संरक्षण नहीं होता जिससे वे अभागी स्त्रियां आपत्तिकाल में अवलम्ब मान सकें।[3]

यहीं पर प्रसाद जी विवाह का आदर्श स्त्री और पुरुष का परस्पर विश्वास-पूर्वक अधिकार, रक्षा और सहयोग' के रूप में प्रस्तुत करते हैं।[4] इनके अभाव में विच्छेद अनीतिपूर्ण नहीं कहा जा सकता।

स्कन्दगुप्त की पात्रा रामा अपने पति शर्वनाग से पूर्ण स्नेह करती है, उसका सम्मान करती है। पर साथ ही उसके अनीतिपूर्ण व्यवहार का विरोध भी। सत्य की मान-रक्षा के लिये पति का विरोध अनैतिक नहीं कहा जा सकता। उसका पति सर्वनाग महादेवी देवकी के वध की कुमंत्रणा का शिकार होता है। उसे इस महान् दुष्कर्म में सम्मिलित हुआ देख कर रामा उसका विरोध करती है। उसे फटकारते हुए वह कहती है:—'मेरे रक्त के प्रत्येक परमाणु में जिसकी कृपा की शक्ति है, जिसके स्नेह का आकर्षण है, उनके प्रतिकूल आचरण ? वह मेरा पति तो क्या, स्वयं ईश्वर भी हो, नहीं करने पायेगा।[5]

अपने पति के प्रति प्रताड़ना भरे इन शब्दों में उसका रोष और भी उज्ज्वल हो उठता है :—

१—ध्रुवस्वामिनी, पृ० २७।
२—वही, पृ० ३२।
३—वही, पृ० ५२।
४—वही, पृ० ५२।
५—स्कन्दगुप्त, पृ० ६४।

'टुकड़े का लोभी ! तू सती का अपमान करे, यह तेरी स्पर्धा ? तू कीड़ों से भी तुच्छ है। पहले मैं मरूँगी, तब महादेवी।'[1]

प्रसाद जी नैतिक आचरण से भ्रष्ट पति के इस व्यवहार के विरोध को नीति सम्मत मानते हैं। इससे पत्नीत्व की नैतिक मर्यादा टूटती नहीं वरन् सबल होती है। पत्नी का यह नैतिक आदर्श ही तो उसके पति का जीवन बनाने में सहायक होता है। शर्वनाग को अपराधी के रूप में उपस्थित किया जाकर स्कन्दगुप्त उसके लिये निर्णय देता है :—

'क्योंकि रामा—साध्वी रामा को मैं अपनी आज्ञा से विधवा न बनाऊँगा। रामा सती ! तेरे पुण्य से आज तेरा पति मृत्यु से बचा[2]।' रामा इस कृतज्ञता के बोझ से झुकी हुई सम्राट के चरणों पर गिर पड़ती है। वह वास्तव में अपने पति से बहुत प्यार करती है। लेकिन उसके अनैतिक आचरणों से नहीं। इसीलिए उसे उसका विरोध करना पड़ता है, जो वास्तव में विरोध न होकर उसका सर्व-प्रथम नैतिक कर्तव्य है।

इसी प्रकार 'विराम चिन्ह[3]' का मधुप राव अपनी पत्नी द्वारा त्यक्त व्यक्ति है। पति के क्रूर, निर्दय, और दुराचारी होने पर पत्नी द्वारा उसका त्याग लेखक को किसी भी अवस्था तथा किसी भी वर्ग में अनीतिपूर्ण नहीं लगा है।

नारी का एक और रूप है, मातृ रूप। अपने पुत्र के उन्नत उत्थान के लिये मंगल कामना से परिपूर्ण उसका मन सदैव ही सुन्दर कल्पनाओं में निमग्न रहता है। वह सदैव अपने पुत्र को सत्पथ पर अग्रसर होते देखना चाहती है। परन्तु कर्त्तव्य विमुख पुत्र का विरोध करने से भी उसे नहीं हिचकना चाहिए। प्रसादजी ने 'स्कन्दगुप्त' की कमला के चरित्र में मातृत्व का यही नैतिक आदर्श प्रस्तुत किया है। उसका पुत्र भटार्क अनन्त देवी की कुमन्त्रणा में फंस कर राज्य विद्रोही बनता है। कमला को उसका यह नैतिक दुराचरण सह्य नहीं है। नीति की रक्षा में तत्पर वह उसके लिये कहती है। 'तूने घरों में आग लगाने, हाहाकार मचाने और देश को अनाथ बना कर उसकी दुर्दशा करने के लिये नरक के कीड़े तू जीता रहा ? मैंने भूल की, सूतिका-गृह में ही तेरा गला घोंट कर क्यों न मार डाला।'[4]

माता-पुत्र का सम्बन्ध अपार विश्वास पूर्ण, स्नेह और ममता पूर्ण होता है।

१—स्कन्द गुप्त, पृष्ठ ६८।

२—वही, पृष्ठ ८१।

३—इन्द्रजाल में संग्रहीत।

४—स्कन्दगुप्त, पृष्ठ ११४।

मां अपने पुत्र की हित कामना में कुछ भी नहीं उठा रखती। परन्तु आदर्श मां अपने पुत्र को नीति-विरोधी व्यवहार करते देखकर चुप भी नहीं रह सकती। वह उससे जहां एक ओर अपरिमित, अतुल्य स्नेह कर सकती है वहां दूसरी ओर उसी मात्रा में घृणा भी, और ऐसा करने से मातृत्व के आदर्श का क्षय नहीं होता। कमला के नैतिक आचार की श्रेष्ठता के कारण ही अन्त में भटार्क को पश्चाताप करना पड़ा है :—

'अनन्त देवी। एक क्षुद्र नारी—उसके कुचक्र में, आशा के प्रलोभन में, मैंने सब विगाड़ दिया।' (पृष्ठ १३५)

इस प्रकार से प्रसाद जी ने नैतिक आदर्श की विस्तृत और उदार व्याख्या की प्रस्थापना का प्रयास किया है। संक्षेप में नारी सम्बन्धी उनके नैतिक आदर्शों का संचयन करते हुए हम कह सकते हैं कि प्रसाद जी को नारी की स्वतन्त्रता पर अटल विश्वास है। स्वातन्त्रता-जन्य वस्तु ही वास्तविक अर्थों में लाभप्रद और कल्याण कर हो सकती है। लेकिन उसके साथ जुड़ी हुई उच्छृंखलता की समस्या सम्बन्धी उनके विचारों को भी अभिव्यक्ति प्राप्त हुई है। वे नारी के द्वारा अपनी यथार्थ और निसर्ग प्रकृति का त्याग कर देने के पक्ष में नहीं हैं। नारी की अबाध स्वतन्त्रता का परिणाम उनके साहित्य में अनिष्टकर ही हुआ है। यहाँ पर वे उनमें सुधार की व्यवस्था करते हैं। उनके नैतिक आदर्श जड़ी-भूत नहीं हैं।

वास्तव में प्रसाद जी की नैतिकता प्रयोगशील नैतिकता है। विभिन्न चरित्रों के आचरणों में अनेकों प्रयोग करके वे नैतिकता का स्वरूप स्पष्ट करते हैं। नैतिकता उनकी दृष्टि में शाश्वत नहीं है। देश, काल, परिस्थिति तथा इतिहास इन सबकी पृष्ठ भूमि में नैतिक मान्यता भिन्न-भिन्न रूप रेखाओं तथा अर्थों में व्यक्त होती है। प्रबुद्ध सामाजिक जीवन में नैतिकता का स्वरूप ग्राम्य जीवन की नैतिकता से भिन्न होता है। प्रदेश-अन्तर के कारण भी नैतिकता परिवर्तित होती है। इसलिये न तो वह चिर स्थायी है, न चिर कालीन और इसी मान्यता के कारण वे यह मान कर नहीं चलते कि एक वार नीति विरोधी आचरण कर लेने पर उसमें सुधार की सम्भावना नहीं रह जाती। उनके वहुत से पात्र महत्त्वाकांक्षा और लालसा के वशीभूत होकर आरम्भ में नैतिक मर्यादाओं का उल्लंघन करते दिखाई पड़ते हैं। परन्तु अन्त में पश्चाताप की अग्नि के सम्मुख उनके चरित्र की मलिनता निर्मलता एवं सात्विक तेज में परिवर्तित हो जाती है। यहाँ पर वे रूढ़िगत नैतिक आदर्शों की धारा से स्वतन्त्र मत की आदर्श स्थापना करते हैं। विद्रोही भावना के परिणाम स्वरूप किसी अस्वस्थ रूढ़ि को तोड़ने की अभिलाषा भी उनकी दृष्टि में नैतिकता विरोधी नहीं है। इसी प्रसंग में वे यह भी मान कर चलते हैं कि प्रेम नारी हृदय की सहज सात्विक भावना है। परन्तु साथ ही इस क्षेत्र में संयम की आवश्यकता भी वे बतलाते हैं। असंयमित

प्रेम के द्वारा नैतिक मर्यादाओं के उल्लंघन की आशंका बनी रह सकती है। साथ ही वे आत्मिक प्रणय को शारीरिक प्रेम से श्रेष्ठतर मानते हैं और इसीलिए बाह्य तथा आन्तरिक आचरणों की व्याख्या करते हुए वे इस आदर्श की स्थापना करते हैं कि शरीर के कलंकित होने से नैतिकता भ्रष्ट नहीं हो जाती। शर्त यही है कि आत्मिक भावना अपने में पूर्ण स्वच्छ और निष्ठामय हो। इस तरह से प्रसाद जी ने नारी को जड़ीभूत जर्जर नैतिक आदर्शों के परिबद्ध एवं संकीर्ण बाड़े से बाहर निकाल कर विस्तृत भाव भूमि के मध्य बौद्धिक विश्वास के प्रकाश में नवीन आदर्शों एवं मान्यताओं की सृष्टि करते हुए बुद्धि प्रयोग की व्यावहारिक दिशा प्रदान की है। उसकी पृष्ठभूमि में वह अपने जीवन दर्शन का विकास भली भांति अनुभव करती है, और उसी के अनुसार आचरण भी।

प्रकरण—६

प्रसाद की नारी—मनोवैज्ञानिक भूमिका

: अ : आरम्भ

: ब : सामान्य स्थायी गुण

: स : नारी मनोविज्ञान—विभिन्न वर्गों में

: द : प्रणय प्रसंग और असाधारण मनोविज्ञान

आरम्भ

मानव-स्वभाव की सबसे स्वाभाविक प्रवृत्ति विचार-शीलता है। मानव मानव का समान धर्मी है, इसलिए मानव-स्वभाव का विचार उसके चिन्तन की विशेष महत्वपूर्ण वस्तु होती है। 'मानव के भाव की चिन्तनात्मक और भावात्मक सत्ता पर इस सर्वाधिकार का एक कारण और भी है कि इस व्यापार के द्वारा उसे स्वयं अपने को समझने में सहायता मिलती है। इस प्रकार की मानव के प्रति मानव की चिन्ता को, समझने-समझाने, देखने-बूझने के प्रयत्न को मनोविज्ञान का अध्ययन कहते हैं। इसमें मानव-व्यापार उसके क्रिया-कलाप, उसके आचरण तथा प्रतिक्रियाओं का अध्ययन होता है[1]।'

मानव के क्रिया-कलापों एवं व्यवहार द्वारा ही उसके मन की स्थिति का उद्घाटन होता है। वास्तव में मन ही वह केन्द्र स्थल है, जहां से प्रत्तेक वस्तु का आरम्भ होता हैं। सब कुछ मन ही की क्रीड़ा है[2]।' मन में किसी वस्तु के संकल्प, इच्छा तथा व्यवहार की कामना होती है। वह चंचल होता है, तथा नियन्त्रण के अभाव में उच्छृंखलता की सीमा तक पहुंच जाता है। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार व्यक्ति और मन ही सृष्टि के समस्त क्रिया-व्यापारों के केन्द्र हैं। मनोविज्ञान के माध्यम मन का अन्तर्विश्लेपण होता है। इस प्रकार से यह एक विश्लेषण प्रक्रिया है, जिसके द्वारा मानव-मन के अध्ययन में सहायता मिलती है।[3] मन की कुछ मूल प्रवृत्तियां होती हैं, जिन्हें प्रसिद्ध वैज्ञानिक ए० डी० मैन्डर ने संस्कार तथा शरीर की अन्तर्जात प्रवत्ति कहा है, जो परिस्थिति विशेष में विशिष्ठ व्यवहार करती है।

मन सम्बन्धी भारतीय मत

भारतीय ग्रन्थों में मन का विवेचन ऋगवेद ग्रन्थ, निरुक्त श्रीमद् भगवत् गीता, योगवाशिष्ठ आदि ग्रन्थों के अतिरिक्त बौद्ध दर्शन, न्याय एवं वैशेषिक दर्शन,

---

१—डा० देवराज : आधुनिक हिन्दी कथा-साहित्य और मनोविज्ञान, पृष्ठ ३५।

२—डा० प्रेम शंकर; प्रसाद का काव्य, पृष्ठ २३३।

३—स्टाउट् : मेनुअल ऑफ साइकॉलॉजी, पृष्ठ ३०।

सांख्य और योग-दर्शन तथा वेदान्त दर्शन में भी मिलता है। इन ग्रन्थों में उल्लिखित मन की व्याख्या के अनुसार वह सत् और असत् दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों से पूर्ण है। कहीं वह ब्रह्म है,[1] तो कहीं जानने, धारण करने, देखने, संकल्प करने आदि की अनेक शक्तियों से सम्पन्न[2] और कहीं समस्त इन्द्रियों में सर्वोच्च शक्तिमान् और सर्व श्रेष्ठ भी।[3] वह बन्धन और मोक्ष का कारण भी है।[4] इसके साथ-ही-साथ उसे चांचल्यपूर्ण तथा वायु के समान वशीभूत कर सकने में दुष्कर कहा गया है।[5] इस पर नियन्त्रण कर लेने पर ही शान्ति और कल्याण की प्राप्ति सम्भव है।[6] बौद्ध दर्शन में मन की उत्पत्ति अविद्या और तृष्णा से मानी गई है।[7] न्याय तथा वैशेषिक-दर्शन में मन को सुख-दुख आदि निसर्ग भावनाओं का अनुभव करने वाली साधन-इन्द्रिय के रूप में ग्रहण किया गया है।[8]

पाश्चात्य मत

प्राचीन भारतीय धर्म एवं दर्शन ग्रन्थों की भाँति मन सम्बन्धी पाश्चात्य मत भी दृष्टव्य हैं। मनोविज्ञान से सम्बन्धित खोज सबसे पूर्व यूनानी दार्शनिकों द्वारा की गई थी। उनका विश्वास था कि मन एक ठोस द्रव्य है जो जीवित प्राणियों में विद्यमान रहता है। इसी के माध्यम जीवन अथवा मृत्यु का ज्ञान होता है। परन्तु एनेक्सेगोरस ने इस विश्वास का खण्डन करते हुए मन को चेतन-प्राणियों पर अधिकार रखने वाली असीम स्वशासित शक्ति के रूप में संसार के परिवर्तन का कारण माना है।[9] प्लेटो के मत से भी मन सर्वोपरि है।[10] उनका कहना है कि समस्त कार्यों के मूल में दो कारण होते हैं—(अ) बुद्धिगत या स्वतन्त्र (ब) परतन्त्र या परचालित। इनमें से प्रथम मन से सम्बन्धित है जो स्वशासित या उन्मुक्त है। मन के द्वारा ही अन्य ज्ञान भी प्राप्त होते हैं।

१—छांदोग्य उपनिषद् ३।१८।१।
२—एतरेय उपनिषद् ३।२।
३—कठोपनिषद् १।३।१६,२।३।७।
४—कल्याण, उपनिषद् अंक, पृष्ठ १६४।
५—श्रीमद् भगवत् गीता, ६।३४।
६—योगवशिष्ठ १४७-१४८।
७—दर्शन-दिग्दर्शन, पृष्ठ ५०५, ५७८।
८—तर्क-संग्रह, पृष्ठ ३५।
९—हिस्ट्री आफ वैस्टर्न फिलासफी, पृष्ठ ८२।
१०—वही, पृ० १७४।

अरस्तू ने मन को विचार करने की शक्ति के रूप में माना है। उसके मत में वह आत्मा से भिन्न वस्तु है।[1] जार्ज बर्कले मन को सब का ज्ञाता कहते हैं और संसार को उसके विचार मात्र के रूप में मानते हैं।[2] डेविड ह्यूम मन को अविच्छिन्न प्रवाह युक्त विभिन्न प्रत्ययों की राशि मानते हैं।[3] लिबनीज़ उसे प्रत्ययों एवं प्रवृत्तियों से निर्मित एक चिद् बिन्दु के रूप में स्वीकार करते हैं।[4] हेगेल ने मन को तर्कपूर्ण प्रत्यय का विकास कहा है[5] और हर्बर्ट स्पेन्सर उसे निरपेक्ष या अज्ञेय शक्ति के उन्मेष-रूप में मानते हैं।[6] फ्रायड ने मन के चेतन और अचेतन दो रूप स्वीकार किए हैं तथा चेतन मन की अपेक्षा अचेतन मन को अधिक महत्वपूर्ण माना है।[7] उनके अनुयायी युंग और एडलर ने मन के अचेतन रूप को ही अधिक महत्ता प्रदान की है। परन्तु युंग अचेतन मन को फ्रायड की धारणा के विपरीत दमित काम अथवा इच्छाओं का ही स्थान नहीं मानते वरन् भलाइयों का मूल और चेतना का आदि स्रोत भी सिद्ध करते हैं।[8] एडलर ने भी युंग की ही भाँति मन में काम-प्रवृत्ति की अपेक्षा समाज को स्व-स्थापना की शक्ति-प्राप्ति की प्रवृत्ति को ही अधिक प्रबल माना है।[9]

इस प्रकार से प्राचीन दार्शनिकों और मनोविज्ञान मनीषियों द्वारा मन सम्बन्धी धारणा उपस्थित करने के विषय को लेकर एक प्रकार की विकास-परम्परा भी स्पष्ट लक्षित होती है। आरम्भ से मन को सर्वोच्च, स्वतन्त्र इकाई के रूप में माना गया। इसी में निर्माण, धारणा, अनुभव, विचार आदि कार्यों के परिचालन की शक्ति भी कल्पित की गई। परन्तु मनोविज्ञान-क्षेत्र में फ्रायड के प्रवेश ने मन के सर्वोच्च और स्वतन्त्र होने की धारणा को नष्ट करके नई मान्यता की प्रस्थापना की। उन्होंने उसे स्वतन्त्र और पूर्ण इकाई न मान कर विभिन्न इकाइयों के मिश्रित रूप में स्वीकार किया। उसको चेतन और अचेतन रूप में विभक्त कर अचेतन रूप को अपेक्षाकृत सशक्त और समर्थ माना। 'क्योंकि उसके द्वारा ही चेतन मन की समस्त

१—हिस्ट्री आफ वैस्टर्न फिलासफी, पृ० १६२।

२—ए हिस्ट्री आफ फिलासफी, पृष्ठ ३६०-३६१।

३—वही, पृष्ठ ३७६।

४—वही, पृष्ठ ३६०।

५—वही, पृष्ठ ४८५।

६—वही, पृष्ठ ५४६।

७—सिन्हा: मनोविज्ञान, पृष्ठ ५१७।

८—वही, पृष्ठ १३-१७।

९—सिन्हा: मनोविज्ञान, पृष्ठ ४६७-४६८।

क्रियायें होती हैं और वही समस्त मानसिक क्रियाओं का मूल है। इसके साथ ही मन तथा शरीर का घनिष्ठ सम्बन्ध होता है, क्योंकि मन ही चेतना है जिसकी 'इच्छा, ज्ञान और क्रिया' ये तीन प्रक्रियायें होती हैं।[1]

इसी प्रसंग में मनोविज्ञान की नवीन आचरणवादी मान्यता के विषय में भी कुछ कह लेना आवश्यक हो जाता है। १९वीं शताब्दी के मनोविज्ञान में बौद्धिक तत्वों को अधिक महत्व प्रदान किया जाने लगा था, तथा इन्द्रियातीत प्रयोगशाला के कार्य-कारण शृंखला के दृढ़ तथा वैज्ञानिक नियमों की पकड़ में न आने वाली वस्तुओं को मर्शक दृष्टि से देखना उस बौद्धिक युग का स्वभाव हो गया था। सभी क्षेत्रों में वैज्ञानिक दृष्टिकोण के विकास ने मनोविज्ञान के क्षेत्र को भी प्रभावित किया और यहाँ भी ऐसी पद्धति की मांग की जाने लगी, जो वैज्ञानिक पद्धति की तरह ठोस, दृढ़ तथा स्पष्ट हो, और जिसे प्रयोगशाला के निश्चित वातावरण में भिन्न-भिन्न रूप में परीक्षा लेकर देखा जा सके। फलस्वरूप आचरणवाद का जन्म हुआ। इस विषय को लेकर विशेष रूप से वाट्सन नामक अमरीकी मनोवैज्ञानिक का दृष्टिकोण सामने आया। 'वाट्सन की दृष्टि वस्तु निष्ठ है, जो मनोवैज्ञानिक की भी व्याख्या उन संज्ञाओं के सहारे करना चाहते हैं, जिनका ठोस रूप हम समझ सकें, जिनके बारे में किसी तरह के संदेह की गुंजाइश न हो।' उन्होंने कहा कि मनोविज्ञान मानव के अन्तः प्रदेश के अन्धकार में चलती रहने वाली प्रक्रिया का नाम नहीं है। वह मनुष्य के बाह्य आचरण, शारीरिक अनुभवों के ऊपर विचार करने वाला एक शास्त्र है।[2]

प्रसाद जी की धारणा

'चित्राधार' में संकलित 'मानस' कविता के आधार पर प्रसाद जी की मन सम्बन्धी धारणा को जाना जा सकता है। वे उसे सरोवर की भांति निर्मल तथा विशाल मानते हैं और साथ ही मधुर भावना-तरंगों से पूर्ण भी। इसी मन के पुलिन पर बैठ, मानव चिन्ता, हर्ष, विषाद, क्रोध निर्वेद, लोभ, मोह आनन्द आदि विभिन्न भावनाओं में लीन होता है। ये भावनाएं मन-सरोवर के मकर और मत्स्य हैं। यहाँ कल्पना रूपी हंस आशा रूप मुक्ताओं को आनन्द पूर्वक चुगता है। कभी कभी कल्पना को महान् मत्स्य निगल जाते हैं, जिसके कारण दुःखों की सृष्टि होती है। इस मन

१—सिन्हा : मनोविज्ञान, पृ० ५७८।

२—डा० देवराज उपाध्याय : आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य तथा मनोविज्ञान, पृ० ६१।

मानस की उमंगित असीमित तरंगों में चित-मराल सुख-पूर्वक विचरण करता है।

प्रसाद जी ने मन को चंचल तथा हरिण के समान चौकड़ी भरने वाला कहा है।[1] साथ ही अतृप्त भी,[2] क्योंकि मन कभी बूढ़ा नहीं होता।[3] उनके विचार से मन समस्त रसों का अधिष्ठाता भी है।[4] वह सदैव सुखों की ओर आकर्षित होता है और उसका लक्ष्य आनन्द की प्राप्ति है।[5] वे उसे संकल्प, विकल्प करने वाला मानते हैं,[6] और साथ-ही-साथ एक रहस्य भी।[7]

इस प्रकार से मन-सम्बन्धी प्रसाद जी की धारणा भारतीय एवं पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों से मेल खाती है। वे उसमें सभी प्रकार की मनोवृत्तियों का अधिष्ठान मान कर चलते हैं। विभिन्न मनोभावों की पीठिका पर लिखित 'कामायनी' इस कथन को पुष्ट करती है। वे यह भी मानते हैं कि मन की चेतन और अचेतन दो अवस्थाएं होती हैं, और दोनों अवस्थाओं में वह विभिन्न प्रकार की मानसिक प्रवृत्तियों में व्यस्त रहता है।' तृष्णा और लालसा दो मनोवृत्तियां अत्यन्त प्रवल हैं। इनके वश में होकर मन अपना नियन्त्रण नहीं रख पाता और अधिकाधिक सुख या आनन्द की खोज में पद-पद पर ठोकरें खाने लगता है। हां, यदि इनसे छुटकारा मिल जाये, तो इसे आनन्द-प्राप्ति में कोई वाधा उत्पन्न नहीं होती। प्रसाद जी ने आनन्द के अन्तर को सरलता और वहिरंग को सौन्दर्य कहा है।[8] इसलिए वह मन के निग्रह को आवश्यक समझते हैं, तथा इसे महापुरुषों का स्वभाव वतलाते हैं। मन सद्‌वुद्धि और हृदय के साथ सामंजस्य स्थापित करके आनन्द मार्ग का अनुगामी होता है।[9]

नारी मनोविज्ञान और रचना में प्रसाद जी उसके शारीरिक एवं मानसिक गठन का विशेष महत्व मान कर चले हैं। अपने अवयवों की कोमलता के कारण यह स्वभाव में मृदु, कोमल, सौजन्यपूर्ण एवं लज्जाशील, उदार, सहिष्णु, त्यागमयी और भावना प्रधान है। 'कामायनी' की श्रद्धा के शब्दों में उनकी इस धारणा का स्पष्टीकरण हो जाता है—

१—चित्राधार, पृष्ठ १७६।
२—राज्य श्री, पृष्ठ १८।
३—चन्द्रगुप्त, पृष्ठ ६१।
४—आंसू, पृष्ठ २८।
५—एक घूंट, पृष्ठ १७।
६—कंकाल, पृष्ठ १८-१९।
७—अजातशत्रु, पृष्ठ १४१।
८—डा० द्वारिका प्रसाद : कामायनी में काव्य, संस्कृति और दर्शन, पृ० ३५४।
९—वही, पृ० ३५४।

यह आज समझ तो पाई हूं
मैं दुर्बलता में नारी हूं।
अवयव की सुन्दर कोमलता
लेकर, मैं सबसे हारी हूं।' (पृ० १०४)

उनकी दृष्टि में स्त्रियों का हृदय अभिलाषाओं का, संसार के सुखों का क्रीड़ा-स्थल है।[1] मन की संवेदनशीलता के कारण वे बहुत उत्साहित हो जाती हैं और उतने ही परिणाम में निराशावादिनी भी।[2] उनका मन करुणा पूर्ण है, इसी लिए समस्त मानवी सृष्टि को करुणा के लिए ही मानती हैं। क्रूरता का निदर्शन उनकी दृष्टि में केवल हिंस्र पशु-जगत के लिए ही यथेष्ट है।[3] प्रसाद जी नारी-हृदय को कोमलता का पालना कहते हैं। उनकी दृष्टि में वह दया का उद्गम है, शीतलता की छाया है, और अनन्य भक्ति का आदर्श है।[4] उनका मन सदैव ही चिर-प्रशान्त मंगल की कामना से पूर्ण है।[5] मन की अतिशय करुणा के कारण बातों में ही करुणा-प्लावित होकर उनका दृग-जल झरने लगता है।[6]

प्रसाद जी नारी के इस उदार स्वरूप के साथ उसके कठोर-रूप को भी दृष्टि ओझल नहीं करते। क्षमा और प्रतिशोध नारी जीवन के दो अनिवार्य अंग हैं। और दोनों ही में उसकी महानता प्रतिष्ठित की गई है। वह कोमल होते हुए भी कठोर है, और कठोर होते हुए भी कोमल। उसके चरित्र की यह रहस्यमयी विवेचना प्रसाद जी द्वारा, 'रमणी-हृदय' में इस प्रकार व्यक्त हुई है :—

'कौन जानता है नीचे में, क्या बहता है।
बालू में भी स्नेह, कहां कैसे रहता है।
फल्गू की है धार, हृदय वामा का जैसे,
रूखा ऊपर, भीतर स्नेह सरोवर जैसे।
ढंकी बर्फ़ से शीतल, ऊंची चोटी जिनकी।
भीतर है क्या बात न जानी जाती उनकी।

१—आंधी, पृ० १०८।
२—कंकाल, पृ० ३८।
३—अजात शत्रु, पृ० २४ तथा पृ० ११४ भी।
४—वही, पृ० १११-११२।
५—कामायनी, पृ० १४८।
६—प्रेम पथिक, पृ० १३।

ज्वालामुखी समान कभी जब खुल जाते हैं।
भस्म किया उनको, जिनको वे पा जाते हैं।
स्वच्छन्द, स्नेह, अन्तर्निहित, फल्गू सदृश किसी समय
कभी सिन्धु ज्वाला मुखी, धन्य धन्य रमणी हृदय[1]।

: २ :

सामान्य स्थायी गुण

'प्रसाद जी मनुष्यों और मानवीय भावनाओं के कवि हैं। शेष प्रकृति यदि उनके लिए चैतन्य है, तो भी मनुष्य सापेक्ष्य है। यह विकास-भूमि यदि संकीर्ण है तो भी मनुष्यता के प्रति तीव्र आकर्षण से भरी हुई है। उनके साहित्य का मनोवैज्ञानिक आधार प्रौढ़तर भाव-भूमि पर विकसित हुआ है। मानव मन की सूक्ष्म अनुभूतियों को दृष्टिगत कर, अपनी रचनाओं में उन्हें अभिव्यक्ति प्रदान करने में 'प्रसाद' जी का गौरव अन्यतम हो जाता है। मनोभावों का उत्थान पतन और परिवर्तन इतनी स्वाभाविक रीति से चित्रित होता है, कि आदि से अन्त तक कहीं भी कृत्रिमता का दोषारोपण नहीं किया जा सकता। उनका प्रत्येक पात्र अपने संस्कारों और परिस्थितियों के परिपार्श्व में अपने मनोभावों को व्यक्त करता है। साथ ही वे उन परिस्थितियों का निर्माण करने में भी विशेष सफल सिद्ध हुए हैं, जिनके मध्य पात्रों के चरित्रांकन, उनके मनोभाव तथा व्यवहार में किसी प्रकार की कृत्रिमता नहीं आने पाती। कहीं भी पाठक को क्यों, क्या और कैसे आदि प्रश्नों के समाधान के लिए रुक कर सोचना नहीं पड़ता। ख्याति-प्राप्त उपन्यास-लेखक और कलाकार जैनेन्द्र कुमार के पात्रों से प्रसाद जी के पात्रों की तुलना करने पर यह अन्तर स्पष्ट हो जाता है। जैनेन्द्र जी के पात्र रहस्यमय, गोपनीय तथा सामान्य समझ से कुछ परे के हैं। उनके मनोभाव अप्रत्याशित—अस्वाभाविक कहना भी अधिक अनुपयुक्त न होगा—रूप से परिवर्तित होकर क्षण-क्षण नई भावभूमि पर कार्य करते, सोचते और व्यवहार करते दृष्टिगोचर होते हैं। मृणालिनी, सुनीता आदि उनके विशिष्ट पात्र इसके उदाहरण रूप में प्रस्तुत किए जा सकते हैं। परन्तु प्रसाद जी के किसी भी पात्र में यह रहस्यमयता नहीं है। और यदि है भी, जैसा कि हम लैला, फ़िरोजा, चम्पा, पद्मा, रमला तथा मधूलिका आदि के चरित्रों का अध्ययन करते समय देखेंगे, तो भी वह समझ में आने लायक है। उनका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण इतना सूक्ष्म, पूर्ण और पुष्ट है कि किसी भी पात्र का कोई भी चारित्रिक पहलू अस्पष्ट नहीं रह जाता और पाठक की मनोवैज्ञानिक विचारधारा के प्रवाह में कहीं भी कोई गतिरोध उत्पन्न नहीं होता।

१—कानन-कुसुम, पृ० ७६-७७।

प्रसाद जी को नारी-मनोविज्ञान के चित्रांकन में विशेष सफलता प्राप्त हुई है। वे उनके शारीरिक गठन के आधार पर उनके स्थायी गुणों की विवेचना करते हैं। साथ ही विभिन्न वर्गों के अन्तर्गत, विभिन्न परिस्थितियों और वातावरण की पार्श्वभूमियों में भी उनका नारी-मनोविज्ञान का सूक्ष्म विश्लेषण, मनोविज्ञान-क्षेत्र में उनकी सिद्ध-हस्तता का प्रमाण उपस्थित करता है। इसी संदर्भ में कोमल अवयवी नारी के कठोर हो जाने के तथ्य का निरूपण भी, जिसे हम 'कानन-कुसुम' की कविता का उदाहरण देकर उपर्युक्त पंक्तियों में उद्धृत कर आए हैं, पूर्ण सफलतापूर्वक अभिव्यक्त किया गया है। इन्हीं तीन भूमिकाओं के अन्तर्गत हम प्रसाद जी के नारी-मनोविज्ञान की विवेचना करेंगे।

\+ \+ \+ \+

प्रसाद जी ने नारी का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण विशेष रूप से कथा-साहित्य एवं उपन्यासों में किया है। नाटकीय पात्रों में भी इसकी मात्रा कम नहीं है। वे नारी स्वभाव में मूलतः सद्गुणों की अवस्थिति मान कर चले हैं। उनकी दृष्टि में नारी प्रकृति से उदार है। दया, त्याग, क्षमा और ममता उसके स्थायी गुण हैं। इन सब गुणों की स्वीकृति प्रसाद-साहित्य में कई चरित्रों के माध्यम से बार-बार दोहराई गई है। 'संदेह'[१] कहानी की श्यामा रामनिहाल के मन की यह बात जानते हुए भी, कि वह यह जानते हुए भी कि श्यामा विधवा है, उससे प्रेम करने लगा है, उससे उदारता पूर्वक ही व्यवहार करती है। 'ममता'[२] विधर्मी पर दया करते हुए आपत्-काल में उसकी सहायता करती है। उससे स्नेहसिक्त स्वरों में कहती है—"आओ भीतर, थके हुए पथिक। तुम चाहे कोई हो, मैं तुम्हें आश्रय देती हूं।"[३] 'तितली' की बंजो दया से द्रवीभूत होकर ही चौबे की सहायतार्थ उसे अपने कुटीर में ले आती है[४]। राज्यश्री विकट-घोष जैसे धूर्त और षड्यन्त्रकारी पर भी दया दिखाती है। हर्षवर्धन से उसकी मुक्ति की याचना करती हुई वह कहती है—

"आज हम लोगों ने सर्वस्व दान किया है भाई। आज महाव्रत का उद्यापन है। क्या यही एक दान रह जाए,—इसे प्राण-दान दो भाई[५]।"

दया के साथ-साथ नारी त्याग और क्षमा के निसर्ग गुणों से भी पूर्ण है।

१—इन्द्रजाल में संकलित।
२—आकाशदीप में संकलित।
३—वही, पृ० २१।
४—तितली, पृ० १३-१४।
५—राज्यश्री, पृ० ७४।

वासवी भिक्षुओं की उदर-पूर्ति के निमित्त अपने कंकण उतार कर उन्हें देती है[१]। मल्लिका क्षमा की साकार मूर्ति के रूप में अवतरित होती है। वह औदार्य की चरम स्थिति में क्षमा को ही सब से बड़ा दण्ड मानती है तथा राष्ट्र-नीति को इसी के अवलम्बन का आशीर्वाद देती है[२]।

क्षमाशीलता के अतिरिक्त नारी ममता के आदर्श गुण से भी अभिसिक्त है। प्रत्येक नारी के मन में अपने शिशु को देखने की उत्कट लालसा होती है। तारा अपने अवैध शिशु को देखकर भी ममतापूर्ण स्नेह और सौहार्द के मध्य मुस्करा देती है[३]। किशोरी निरंजन के कारण अपने पुत्र का तिरस्कार कर देती है, किन्तु उसका सहज ममतापूर्ण मातृस्नेह विद्रोह करने लगता है और फिर वह इसी विषय को लेकर निरंजन से लड़ती है[४]। यमुना अपने पुत्र मोहन के कारण ही श्रीचन्द के घर नौकरी करती है। यहाँ भी पुत्र-वात्सल्य की भावना प्रमुख है[५]। 'चित्र-मन्दिर की नारी' हरिणों के झुण्ड को संवेदनशील हृदय से निस्पृह देखती हुई शावक को गोद में उठा लेती है। उसके निरीह नयनों में नारी अपनी छाया देखती है[६]। उसका कोमल हृदय प्रवंचना नहीं जानता[७]। श्रद्धा के मुख से नारी-जीवन की यह ममत्व भावना अमर हो उठी है। पक्षियों के भरे-पूरे नीड़ों की ओर संकेत करती हुई वह मनु से कहती है—

'उनके घर में कोलाहल है
मेरा सूना है गुफा-द्वार
तुम को क्या ऐसी कमी रहेगी
जिसके हित जाते अन्य द्वार' (कामायनी, पृ० १४४)

अपने पुत्र के लिए नारी के मन की ममता कितनी तीव्र होती है। 'कामायनी' अपने भावी शिशु के प्रति कल्पना करती है—

'झूले पर उसे झुलाऊँगी
दुलरा कर लूँगी वदन चूम
मेरी छाती से लिपटा इस

१—अजातशत्रु, पृ० ४०।
२—वही, पृ० १२६।
३—कंकाल, पृ० ६०।
४—वही, पृ० १६६।
५—वही, पृ० २६५।
६—इन्द्रजाल, पृ० ८७।
७—स्कन्दगुप्त, पृ० ५६।

घाटी में लेगा सहज घूम

वह आयेगा मृदु मलयज सा
लहराता अपने मसृण बाल
उसके अधरों से फैलेगी
नव-मधुमय स्मित-लतिका प्रवाल (कामायनी, पृ० १३२)

यही ममत्व छलना के इन शब्दों में भी प्रकट हुई है—'मेरा कुणीक मुझे दे दो, मैं भीख माँगती हूं। मैं नहीं जानती थी कि निसर्ग से इतनी करुणा, इतना स्नेह, सन्तान के लिए इस हृदय में संचित था। यदि जानती होती तो इस निष्ठुरता का स्वाँग न करती'[1]। श्याम दुलारी के कठोर मन में भी शैला का घंटी सा बोलना सुन कर ममता जाग उठती है, क्योंकि वह उसके स्वभाव की निसर्गता है, जिसे वह चाह कर भी नहीं छिपा पाती[2]।

मातृत्व-ममता के साथ-साथ प्रसाद जी ने नारी के सरल करुणामय, भावुक और कोमल स्वभाव के चित्र भी अंकित किए हैं। इन उदार गुणों के परिपार्श्व में उसका व्यक्तित्व निर्मल और अर्चनीय बन जाता है। देवसेना और कोमा के चरित्र में नारी मन की सरलता और भावुकता व्यक्त हुई है। ध्रुवस्वामिनी अपने इन शब्दों में कितनी कोमल बन जाती है—'आह कितनी कठोरता है। मनुष्य के हृदय में देवता को हटाकर राक्षस कहाँ से घुस जाता है[3]। कार्नेलिया के चरित्र में भी सरलता की मात्रा कम नहीं है। कल्पना के मुक्त-आकाश में भावना-पूर्ण विचरण और भारत की हरित उपत्यका के मध्य मन भर सो लेने की चाह, जैसे उसके जीवन के दो उद्देश्य हैं।

प्रसाद जी ने नारी-स्वभाव में करुणा की भावना को विशेष स्थान दिया है। वैसे तो उनके सम्पूर्ण साहित्य में बौद्ध-दर्शन से अनुप्रेरित करुणा का अजस्र स्रोत प्रवाहित है। परन्तु उनका नारी मन तो जैसे इस करुणा के लिए शान्ति कुटीर बन गया है। 'देवरथ'[4] की सुजाता के चरित्र में कारुण्य की यह धारा प्रवेगवती हो उठी है। भैरवी होने के कारण वह अपने प्रिय आर्यमित्र से विवाह कर सकने में असमर्थ है। वह उससे कहती है—

'मेरी वेदना रजनी से भी काली है, और दुःख समुद्र से भी विस्तृत है। स्मरण है? इसी महोदधि के तट पर बैठ कर, सिकता में, हम लोग अपना नाम

१—अजातशत्रु, पृ० १११।
२—तितली, पृ० ४३।
३—ध्रुवस्वामिनी, पृ० १४।
४—इन्द्रजाल में संग्रहीत।

लिखते थे। मिट जाने दो हृदय की सिकता से प्रेम का नाम। आर्यमित्र इस रजनी के अन्धकार में उसे विलीन हो जाने दो[1]।

'स्वर्ग के खण्डहर' की मीना भी इसी करुणा को स्वर देती है—

'मैं एक भटकी हुई बुलबुल हूं। मुझे किसी टूटी डाल पर अन्धकार बिता लेने दो। इस रजनी विश्राम का मूल्य—अन्तिम तान सुना कर जाऊंगी[2]।' जहांनारा का चरित्र भी इसी करुणा से प्लावित होकर अपने जीवन की दिशा बदल देता है[3]। 'कंकाल' की यमुना का चरित्र आरम्भ से अन्त तक करुणार्द्र है। अपने प्रणय में असफल हो, वह विजय द्वारा प्रस्तावित होने पर केवल दया की पात्री एक बहन होना चाहती है[4]। कृष्ण मोहन द्वारा त्यक्त कर दिए जाने पर माधुरी का अधिकार और वैभव का दर्प, महान् करुणा की छाया में विश्राम लेने लगता है। अब वह शैला को अपना आत्मीय समझ कर उससे सब कुछ कह देती है[5]। अग्निमित्र द्वारा अपने प्रणय को अस्वीकार कर दिए जाने पर कालिन्दी स्वयं को अपमानित समझती है—

'उसके नेत्र आरक्तिम हो उठे। परन्तु रमणी के नेत्र। उनमें अधिक ताप होते ही जल-बिन्दु दिखलाई पड़े[6]।'

भावना से पूर्ण मणिमाला अपने स्वभाव में करुण भी कम नहीं है। एक स्थान पर वह अपने भाई से कहती है—

'भाई, इसी से कहती हूं कि माँ की गोद में सिर रख कर रोने को जी चाहता है। मैं स्त्री हूं, प्रकट में रो सकूंगी[7]।'

कामना के चरित्र में भी इसी करुणा का निदर्शन हुआ है—परन्तु विलास, देखो, यह हरी-भरी घास रक्त से रंगी जाकर भयानक हो उठी है। यहाँ का पवन भाराक्रान्त होकर दबे पांव चलने लगा है[8]।' 'कामायनी' की इड़ा में भी यही भावना मुखर हुई है—

'मैं आज अकिंचन पाती हूं
अपने को नहीं सुहाती हूं

१—इन्द्रजाल, पृ० ११५।
२—आकाशदीप, पृ० ४४।
३—छाया में संग्रहीत 'जहांनारा' कहानी देखिये।
४—कंकाल, पृ० १११।
५—तितली, पृ० १४४।
६—इरावती, पृ० ५६।
७—जनमेजय का नाग-यज्ञ, पृ० ४७।
८—कामना, पृ० ३४।

दो क्षमा, न दो अपना विराग
सोई चेतना, उठे जाग
(कामायनी, पृ० २४०)

नारी-स्वभाव की यह करुणा भावुकता और कोमलता से परिपुष्ट होकर विस्तार पाती है। कामना का करुण चित्र पिछली पंक्तियों में उपस्थित किया जा चुका है। यह करुणा उसकी भावना के मध्य से ही उद्भूत हुई है। एक स्थान पर वह कहती है—

'ये मुरझाए फूल, उंह, कलियां चुनो, उन्हें गूँथो और सजाओ, तब कहीं पहनो। ले, इन्हें रूठने में भी देर नहीं लगती[1]।' इसी प्रकार 'विशाख' की चन्द्रलेखा प्रणय की पृष्ठभूमि में भावनामय बन जाती है—

'हां! प्रेम का विकास और विपत्ति का परिहास साथ ही साथ दोनों उबल पड़े; हृदय में विपत्ति की दारुण ज्वाला जल रही थी, इसी में प्रणय सुधाकर ने शीतलता की वर्षा की, मरुभूमि लहलहा उठी[2]।'

प्रसाद ने नारी स्वभाव के अन्तर्गत भय को अधिक महत्व नहीं दिया है। चन्द्रलेखा के स्वभाव में ही चैत्य में दीप के बुझने तथा उसकी आड़ में बैठे हुए भिक्षु की आवाज और गर्जना सुनने के कारण ही उसको भय-त्रस्त दिखाया गया है[3]।

प्रसाद जी ने ध्रुवस्वामिनी के स्वभाव में नारी की सहनशीलता के महान् गुण को अधिष्ठित किया है। वह भरसक रामगुप्त के अत्याचारों का विरोध करती है। 'यमुना' जैसे जीवन के कठोर आघातों को सहने के लिए ही उद्भ्रान्त हुई है। तितली भी इसी कोटि में ली जा सकती है। देवसेना के जीवन का उत्तर भाग सहनशीलता का उच्चतम आदर्श प्रस्तुत करता है।

सहनशीलता की इस कठिन अग्नि-परीक्षा के साथ-साथ उसके स्वभाव का एक अन्यतम गुण एकनिष्ठा भी है। प्रसाद की पात्रियां इस कसौटी में शत-प्रतिशत खरी उतरती हैं। अनन्त देवी, विजया, दामिनी आदि के चरित्र इस कसौटी की असफलता के रूप में देखे जा सकते हैं। एकनिष्ठा के इस स्थायी गुण का विवेचन अगले पृष्ठों में प्रेम-प्रसंग की विवेचना करते समय किया जायगा।

एकनिष्ठा की भाँति ही प्रसाद ने नारी स्वभाव में समर्पण के गुण का अधिष्ठान किया है। उनके मत में नारी पुरुष में पौरुष देखने की अभिलाषिणी होती है। वह वासना के वशीभूत होकर पुरुष पर समर्पित नहीं होती। शकराज के प्रति

१—कामना, पृ० ३, देखिये पृ० १ भी।
२—विशाख, पृ० ३६।
३—वही, पृ० ६७।

कामा का यह कथन कितना खोजपूर्ण है—

'प्रेम का नाम न लो । वह एक पीड़ा थी जो छूट गई।''' मैं तो दर्प से दीप्त तुम्हारी महत्वमयी पुरुष मूर्ति की पुजारिन थी, जिसमें पृथ्वी पर अपने पैरों से खड़े रहने की दृढ़ता थी । इस स्वार्थ मलिन कलुष से भरी मूर्ति से मेरा परिचय नहीं[1] ।' इसी प्रकार सुवासिनी विलास-जीवन के विरुद्ध राक्षस को समर्पित होना चाहती है—'नहीं प्रिय ! मैं तुम्हारी अनुचरी हूं । मैं नन्द की विलास लीला का क्षुद्र उपकरण नहीं बनना चाहती[2] ।' कामनी भी पुरुष की तेजस्विता के सम्मुख ही झुकती है—

'हैं ! यह कौन ? मैं क्यों झुकी जा रही हूं । और सर पर इसके क्या चमक रहा है, जो इसे बड़ा प्रभावशाली बनाए है[3] ।'

श्रद्धा भी मनु के पौरुष पर ही समर्पित होती है और उसके विश्वास पर अपना सर्वस्व दे दिया चाहती है—

'सर्वस्व समर्पण करने की
विश्वास महा तरु छाया में
चुपचाप पड़ी रहने की, क्यों
ममता जगती है माया में ।'

—कामायनी : पृ० १०४

कार्नेलिया के प्रेम का आलम्बन भी 'शृंगार और रौद्र का संगम' चन्द्रगुप्त बनता है । वह उसके तेज, पौरुष, साहस तथा सौजन्यपूर्ण व्यवहार पर अनुरक्त है । इस प्रकार से नारी सदैव ही समर्पित होने से पूर्व पुरुष की शक्ति का अन्दाज लगा लेती है और उसे अपने अनुकूल पाकर वह अपनी सम्पूर्ण एकनिष्ठा के साथ उस पर समर्पित हो जाती है, अपने पर वश नहीं रख पाती । श्रद्धा के शब्दों में—

'मैं जभी तोलने का करती
उपचार, स्वयं तुल जाती हूं
भुज लता फंसा कर नर तरु से
झूले से झोंके खाती हूं ।'

—कामायनी : पृष्ठ ५६

समर्पण के उपरान्त नारी में लज्जा का आविर्भाव भी एक स्वाभाविक गुण

१—ध्रुवस्वामिनी, पृ० ४५ ।

२—चन्द्रगुप्त, पृ० ७० ।

३—कामना, पृ० ६ ।

है। मनु को समर्पित होकर श्रद्धा अपनी सुकुमारता के भार से लज्जापूर्वक झुक जाती है—

'झुक चली सव्रीड़ वह सुकुमारता के भार
लद गई पाकर पुरुष का नर्ममय उपचार।'

—कामायनी : पृ० ६४

पुरुष का संसर्ग नारी में एक महान् परिवर्तन की सृष्टि करता है। मन की डाली 'फल भरता के डर में' जैसे झुक जाती है—

पुलकित कदम्ब की माला सी
पहना देती अन्तर में
झुक जाती है मन की डाली
अपनी फल भरता के डर में

—कामायनी : पृ० ६८

भविष्य-कल्पना और सुरक्षा नारी-स्वभाव के दो महत्त्वपूर्ण बिन्दु हैं। वह अपने सुखद भविष्य की कल्पना में संतोष और सामंजस्य की स्थापना करते हुए जीवन का सरलता पूर्वक निर्वाह कर लेने का स्वप्न देखती है। 'परिवर्तन' (कहानी) की चंदा अपने प्रिय नीलधर के विषय में मालती को बतलाती हुई कहती है—

'फिर हम ऊंचे पहाड़ पर अपने गांव में चले जाएंगे। वहीं हम लोगों का घर बनेगा। खेती कर लूंगी। बाल-बच्चों के लिए भी तो कुछ चाहिये। फिर बुढ़ापे के लिए, जो इन पहाड़ों में कष्टपूर्ण जीवन-यात्रा के लिए अत्यन्त आवश्यक है'[1]।

'चूड़ीवाली'[2] की विलासिनी भी विजय कृष्ण को पाकर कुलवधू बनने की अभिलाषा में अपना भविष्य निश्चिन्त कर लेना चाहती है। 'श्रद्धा'[3] के समर्पण में भी इसी भाव की अभिव्यक्ति हुई है।

भविष्य की सुरक्षा के साथ साथ उसमें संतोषी, नम्र और कलह शून्य जीवन बिताने की मधुर कामना होती है। वासवी का स्वभाव ऐसे ही संतोष की कामना से परिपूर्ण है। वह छोटे से उपवन में जीवन-निर्वाह करके अपने नाथ की सेवा में ही सबसे बड़ा संतोष मान लेना चाहती है। बिम्बसार से वह कहती है—

'भगवन्! हम लोगों के लिए तो एक छोटा सा उपवन पर्याप्त है। मैं वहीं नाथ के साथ रह कर सेवा कर सकूंगी'[4]। चन्द्रलेखा के कथन में भी नारी-स्वभाव

१—इन्द्रजाल पृ० ४६।
२—आकाशदीप में संकलित।
३—कामायनी की नायिका।
४—अजातशत्रु पृ० ३२।

की यही संतोष भावना प्रतिलक्षित होती है। वह महापिंगल से कहती है—

'मेरी इस झोपड़ी में राज मन्दिर से कहीं बढ़ कर आनन्द है। हमारे नर-पति के सुर-राज्य में हम लोगों को कानन में भी सुख है।'

—विशाख, पृष्ठ ५८

इस संतोष की पृष्ठ भूमि में वह अपनी गृहस्थी को हरा-भरा, फला-फूला देखना चाहती है। यह उसके स्नेहमय, मधुर ममतापूर्ण स्वभाव के कारण ही है। तितली ने समस्त अभावों के बीच मधुवन की छाया में अपनी गृहस्थी की जड़ों में सेवा और त्याग का पानी देकर उसे हरा-भरा बनाया है। शैला उसकी उस सुखद गृहस्थी को देख कर मन ही मन अपनी गृहस्थी की कल्पना करती है। तितली की गृहस्थी में जैसे उसे अपने मन की भावना का साकार रूप दिखाई पड़ता है[1]।

नारी-स्वभाव में सामंजस्य की प्रवृत्ति विशेष रूप से निहित होती है। इसी प्रवृत्ति के कारण कौटुम्बिक एवं सामाजिक व्यवस्था में एक संतुलन बना रहता है। प्रसाद जी ने सामंजस्य की इस प्रवृत्ति को विशेष महत्व प्रदान किया है। प्रसाद जी ने इस भावना को गाला की मां के चरित्र में स्पष्ट किया है। मिरजा और गाला की मां दो विरोधी शिविरों से सम्बन्ध रखते हुए भी सामंजस्य के कारण सरल जीवन का निर्वाह करते हैं। गाला की मां के इन शब्दों में :—

'यौवन की पहली ऋतु हम लोगों के लिए जंगली उपहार लेकर आई। मन में नवाबी का नशा और माता की सरल सीख। इधर गूजर पति की कठोर दिन-चर्या। एक विचित्र सम्मेलन था। फिर भी मैं अपना जीवन बिताने लगी हूं[2]।' उसकी सामंजस्य प्रवृति स्पष्ट हो जाती है।

ध्रुवस्वामिनी भी इसी सामंजस्य स्थापना के प्रयत्न में अपने को कितना झुका देती है :—

'राजा! आज मैं शरण की प्रार्थिनी हूं। मैं स्वीकार करती हूं कि आज तक मैं तुम्हारे विलास की सहचरी नहीं हुई, किन्तु मेरा वह अहंकार चूर्ण हो गया है। मैं तुम्हारी होकर रहूंगी[3]।'

इसी प्रकार श्रद्धा का उत्तर-जीवन भी सामंजस्य का संदेश देता दिखाई पड़ता है। इसी आदर्श की स्थापना के प्रयत्न में वह सब कुछ देकर भी कुछ लिया नहीं चाहती—

१—तितली, पृष्ठ १६७।

२—कंकाल, पृष्ठ २१४।

३—ध्रुव-स्वामिनी, पृष्ठ २६।

'विनिमय प्राणों का वह कितना, भय संकुल व्यापार अरे।
देना हो जितना, दे दे तू, लेना! कोई यह न करे।'

—कामायनी, पृ० १७८

उसके समर्पण और उत्सर्ग की भावना भी इसी सामंजस्य की स्थापना का प्रच्छन्न संदेश देती है।

इस अर्पण में कुछ और नहीं
केवल उत्सर्ग छलकता है।
मैं दे दूं और न फिर कुछ लूं।
इतना ही सरल झलकता है।

—कामायनी, पृष्ठ १०५।

प्राणी मात्र के प्रति दया की भावना, नारी स्वभाव का एक विशिष्ठ अंश है। जाव-धर्म की रक्षा में वह प्रकृति से ही कर्तव्यपरायण एवं तत्पर रही है। पद्मावती लुब्धक से इसी भावना के अन्तर्गत कहती है :—

'निरीह जीवों को पकड़ कर निर्दयता सिखाने में सहायक न होना'[1]।'

'कामायनी' की श्रद्धा में यह भावना पूर्ण विकसित दिखलाई पड़ती है। वह मनु की मृगया-प्रवृत्ति का अनुमोदन नहीं करती। जीव-मात्र के प्रति उसके मन में अगाध-ममता वर्तमान है। वह उनके जीने के अधिकार को नहीं छीन लेना चाहती।

पर जो निरीह जीकर भी कुछ
उपकारी होने में समर्थ
वे क्यों न जिएं, उपयोगी बन
इसका मैं समझ सकी न अर्थ।

—कामायनी, पृष्ठ १४६।

नारी-स्वभाव के इन स्थायी गुणों के साथ साथ प्रसाद जी के सूक्ष्म विश्लेपण ने उनकी प्रवृत्ति में और भी कुछ विशिष्ठ गुणों की अवस्थिति मानी है। प्रसाद-साहित्य में नियतिवाद का स्वर बहुत ऊंचा है। उनके स्त्री-पुरुष सभी पात्र इस विश्वास से आविभूत हैं। प्रसाद जी नारी की प्रवृति में भी भाग्यवादिता के इस गुण को विशिष्ठ मानते हैं।' 'आकाशदीप' की चम्पा के इन स्वरों में कि 'मैं अपने अदृष्ठ को अदृष्ट ही रहने दूंगी'[२] नियति वाद का स्वर मुखरित होता है। 'विशाख' की

१—अजातशत्रु, पृष्ठ २४।
१—आकाशद्वीप पृष्ठ ६।

चन्द्रलेखा भाग्य और भगवान के भरोसे ही विषम परिस्थितियों का सामना करने को प्रस्तुत है[1]। ध्रुवस्वामिनी में भी जीवन की प्रतिकूलता से ऊब कर यही भाग्यवादी प्रवृत्ति विकसित होती दिखाई देती है।

'तो जाने दो, छिपी हुई बातों से मैं घबड़ा उठी हूं। हां, मैंने उन्हें देखा था, वह विनम्र प्राची का बाल अरुण। आह! राज चक्र सबको पीसता है, पिसने दो, हम निस्सहायों को और दुर्बलों को पिसने दो[2]।'

अपनी विषम नियति, पराजय और विवशता के क्षणों में नारी निराश भी बहुत शीघ्र हो जाती है। यमुना अपने दुखी जीवन की दयनीयता में एक स्थान पर लतिका से कहती है :—

'बहुतों का दिन कभी न लौटने के लिए चला जाता है। विशेष कर स्त्रियों का। मेरी रानी! जब मैं स्त्रियों के ऊपर दया दिखाने का उत्साह पुरुषों में देखती हूं तो जैसे कट जाती हूं।'

—कंकाल, पृष्ठ २७५

प्रसाद जी की नारी यदि नियतिवादिता और विवशता के प्रसंग में इतनी दयनीय और करुण है, तो वह इसकी क्षति-पूर्ति उसके स्वभाव में पूर्ण आत्म-सम्मान की भावना का निरूपण करके कर देते हैं। उनकी अधिकांश नारी पात्रियों में स्वाभिमान की इस भावना का सन्निवेश उच्चतर और स्वस्थ स्तर पर हुआ है। 'पुरस्कार' की मधूलिका आत्म-सम्मान की तेजस्विता में राजा का अनुदान ग्रहण नहीं करती। अरुण के प्रणय को भी पहली बार इसी लिए तिरस्कृत कर देती है। 'भिखारिन' की किशोरी बालिका अपने आत्म-सम्मान की रक्षा के लिए निर्मल द्वारा उससे विवाह की बात कह दिये जाने पर उसे फटकार बतलाती हुई कहती है :—

'दो दिन मांगने पर भी तुम लोगों से एक पैसा तो देते नहीं बना, फिर गाली क्यों देते हो बाबू[3]?' प्रेम-प्रसंग में नारी का आत्म-सम्मान अपनी समस्त तेजस्विता लेकर प्रस्फुटित हुआ है। वह अपने प्रेम का अपमान किसी भी दशा में सह सकने के योग्य नहीं है। 'दासी' कहानी की इरावती के चरित्र में उस भावना का विकास मिलता है :—

'मेरे दुखी होने पर जो मेरे साथ रोने आता है। उसे मैं अपना मित्र नहीं मान सकती फिरोजा! मैं तो देखूंगी कि वह मेरे दुख को कितना कम कर सकता है। मुझे दुख सहने के लिए जो छोड़ जाता है, केवल अपने अभिमान और आकांक्षा के लिए मेरे दुख में हाथ बटाने का जिसका साहस नहीं, जो मेरी परिस्थिति में साथी

१—विशाख, पृष्ठ ७४।
२—ध्रुवस्वामिनी, पृष्ठ १४।
३—आकाशदीप, पृष्ठ ७३।

नहीं बन सकता, जो पहले अमीर बनना चाहता है, फिर अपने प्रेम का दान करना चाहता है, वह मुझसे हृदय मांगे, इससे बढ़ कर दृष्टता और क्या होगी[1] ।'

नारी अपनी विषम परिस्थितियों से लड़ना स्वीकार कर सकती है परन्तु दूसरे के महत्वपूर्ण प्रदर्शन के सम्मुख अपनी लघुता बता कर अपने आत्म-सम्मान को छोटा नहीं करना चाहती । तितली मधुवन के वियोग में जीवन के वैषम्य की मार सहते हुए भी इन्द्र देव की दया-पात्री नहीं बनना चाहती । वह शैला को बताती है:—

'वे (इन्द्रदेव) कुछ करते भी, इसका मुझे विश्वास है; परन्तु मैंने यही समझा कि मुझे दूसरों के महत्व प्रदर्शन के सामने अपनी लघुता न दिखानी चाहिए । मुझे अपनी शक्तियों पर अवलम्ब करके संसार से लड़ना अच्छा लगा[2] '

इसी प्रकार देवसेना अपने एकनिष्ट प्रणय का मूल्य देकर अपने आत्म-सम्मान की रक्षा करती है । स्कन्दगुप्त द्वारा प्रस्ताव किये जाने पर कहती है—

'परन्तु क्षमा हो सम्राट् ! उस समय आप विजया का स्वप्न देखते थे । अब प्रतिदान लेकर मैं उस महत्व को कलंकित न करूंगी । मैं आजीवन दासी बनी रहूंगी, लेकिन आपके प्राप्य में भाग्य न लूंगी[3] ।

आत्माभिमान का यही तेज वासवी के स्वभाव में भी प्रकट हुआ है । मगध साम्राज्य की वैषम्यपूर्ण प्रवंचना की स्थिति में वह चिन्तित बिम्बसार को धैर्य देती हुई कहती है—

'काशी का राज्य मुझे, मेरे पिता ने आंचल में दिया है । उसकी आय आपके हाथ में आनी चाहिए, और मगध साम्राज्य की एक कौड़ी भी आप न छुए[4] ।'

इसी प्रकार अश्वसेन की विषय लोलुपता देख कर दामिनी नैतिक पतन की राह पर गिरते गिरते भी अपने सम्मान की रक्षा के लिए सन्नद्ध हो जाती है । वह दर्पपूर्ण स्वर में उसे रोकते हुए कहती है—

'हटो, अश्वसेन ! मेरा मानस कलुषित हो चुका है, पर अभी तक मेरा शरीर पवित्र है । उसे दूषित न होने दूंगी[5] ।'

मनु द्वारा श्रद्धा त्याग के बाद, जब वह स्वप्न में अतीत की स्मृतियों का लेखा जोड़ती-घटाती है, तो अपने निठुर प्रिय की जय को वह अपनी पराजय स्वीकार

१—आंधी, पृष्ठ ५६ ।

२—तितली, पृष्ठ २३५-२३६ ।

३—स्कन्द गुप्त, पृष्ठ १४० ।

४—अजातशत्रु, पृष्ठ ३७ ।

५—जनमेजय का नाग-यज्ञ, पृष्ठ ६० ।

नहीं करती। यहां भी उसके आत्म-सम्मान का उन्मेष हुआ है। अब वह इस प्रकार सोचती है—

'विस्मृत हों वे बीती बातें, अब जिन में कुछ सार नहीं,
वह जलती छाती न रही, अब वैसा शीतल प्यार नहीं।
सब अतीत में लीन हो चलीं, आशा मधु-अभिलाषाएं।
प्रिय की निष्ठुर विजय हुई, पर यह तो मेरी हार नहीं।

—कामायनी, पृष्ठ १७७

यही आत्म-गौरव की भावना 'चित्राधार' की गन्धर्व कुमारी उर्वशी में प्रकट हुई है। पुरुरवा द्वारा अपने विषय में पूछे जाने पर वह अपना परिचय देते हुए आगे बतलाती है—

'राजन्! क्या मैं सामान्य नर्तकी होने योग्य हूं? क्या मैं दूसरों के विलास की सामग्री बनूंगी? क्या मेरे हृदय में अपना कुछ नहीं है[1]।'

पूर्व-पृष्ठों में हम कह आए हैं कि नारी में पूर्ण समर्पण की भावना निसर्ग से होती है। इसी समर्पण से वह अपना भविष्य भी निश्चित कर लेना चाहती है। इसके साथ ही साथ इसी से सम्बन्धित उसके स्वभाव का एक महत्वपूर्ण अंग प्रतिदान की भावना है। वह अपना सर्वस्व देकर बदले में वही वस्तु अपने लिए भी लिया चाहती है। प्रसाद जी की आदर्श पात्रियों को छोड़ कर यह प्रतिदान की भावना उनके बहुत से चरित्रों में गुम्फित हुई है। 'प्रसाद' कहानी की सरला देव-मन्दिर में पुजापा चढ़ा कर प्रतिदान की भावना से ही देर तक प्रतीक्षा करती है। उसके अपने ही शब्दों में 'प्रसाद की आशा ने, शुभ कामना के बदले की लिप्सा ने मुझे छोटा बना कर अभी तक रोके रखा।'

—प्रतिध्वनि, पृष्ठ ६

कालिन्दी इसी प्रतिदान का अनुग्रह अग्निमित्र से करती है—

'मैं तुम्हें......केवल तुम्हारी सहायता इस संसार के सुख-दुःख में चाहती हूं। कालिन्दी को और कुछ नहीं चाहिए। देखो, मगध का साम्राज्य तुम्हारा होगा, और तुम मेरे, केवल मेरे हो जाओ।'

—इरावती, पृष्ठ ६५

इसी तरह श्रद्धा के समर्पण में भी ग्रहण का भाव निहित है—

१—चित्राधार, पृष्ठ १४।

'था समर्पण में ग्रहण का एक सुनिहित भाव,
थी प्रगति, पर अड़ा रहता था सतत अटकाव ।'

—कामायनी, पृष्ठ ८१ ।

और जब उसे अपनी सेवा, समर्पण तथा अपरिमित विश्वास का प्रतिदान उसी रूप और उसी अनुपात में नहीं मिलता, तब उसका मन क्षुब्ध होकर कह उठता है—

'जिस के हृदय सदा समीप है,
वही दूर जाता है ।
और क्रोध होता उस पर ही,
जिससे कुछ नाता है ।'

—कामायनी, पृष्ठ १२६ ।

और इसी लिए नारी में अधिकार-भावना का पूर्ण विकास पाता है। अनवरी द्वारा शैला के प्रति माधुरी के मन में ईर्ष्या का भाव उत्पन्न कर दिये जाने पर, माधुरी अपने लोभी मन के कारण, अधिकार च्युत होने की आशंका में, अधिकार-प्राप्ति के लिए और भी प्रयत्नशील होती है । वह जानती है कि उसके गौरव की ऊषा शैला की चांदनी में फीकी पड़ेगी, जिसकी दृढ़ सम्भावना थी भी; इसीलिए अपने अधिकारों को अक्षुण्ण बनाये रखने के निमित्त वह युद्ध के लिए तत्पर होती है[1] । जय माला, मधूलिका आदि के चरित्रों में भी यह भावना बहुत ही प्रच्छन्न रूप से प्रकट होती है ।

आत्म-समर्पण, आत्म-सम्मान, प्रतिदान और अधिकार-भावना के साथ-साथ नारी-मनोविज्ञान का एक तथ्य और स्पष्ट होता है । वह कभी भी अपनी उपेक्षा सहन नहीं कर सकती । देवसेना के साथ बहुत कुछ यही हुआ है । विजया के प्रति स्कन्द-गुप्त के आकर्षण ने देवसेना के मन में दुराव की एक रेखा खींच दी है, इसमें किसी भी प्रकार का संदेह नहीं किया जा सकता । भले ही प्रणय का विवाह में परिवर्तन न होने का कारण अन्य रहा हो । इसी प्रकार 'साला' नए को प्यार करती रही है । लेकिन नए की अपने प्रति उपेक्षा इसे सह्य नहीं है । बदन के द्वारा उससे विवाह का प्रस्ताव किये जाने पर वह उसी समय विवाह-सम्बन्ध की आवश्यकता का अनुभव करने लगती है । परन्तु नए की उपेक्षा के कारण वह बदन से रोकर केवल इतना ही कह पाती है—

'आप मुझे अपमानित कर रहे हैं । मैं अपने यहां पले हुए मनुष्य से कभी विवाह न करूंगी ।'

१—तितली पृ० ४७ ।

नारी के मन में सुखी जीवन के प्रति बड़ा मोहक स्वप्न सजा होता है, और इसीलिये वह वैभव की ओर आकर्षित होती है। चम्पा और वेला के चरित्रों में यही भावना अभिव्यक्त हुई है। लेकिन सच्चे प्रणय के सम्मुख वे कभी भी वैभव को महत्व नहीं देती। मन की बात को बाह्य आचरण से छिपा रखना भी नारी-स्वभाव की एक विशेषता है। किशोरी को यमुना की धार्मिक प्रक्रिया सह्य न थी, क्योंकि धर्म का ढोंग करते हुए भी वह स्वभाव से धार्मिक न थी[1]। यह भावना ध्रुवस्वामिनी द्वारा चन्द्रगुप्त को कहे गये इन शब्दों में और भी अधिक स्पष्ट हो जाती है—

'तुम्हारे उपकार और स्नेह की वर्षा से मैं भीगी जा रही हूं। ओह! इस वक्षस्थल में दो हृदय हैं क्या? जब अन्तरंग 'हां' करना चाहता है, तब ऊपरी मन 'ना' क्यों कहला देता है[2]।'

नारी का मन विश्लेषण प्रधान होता है। किसी भी वस्तु को करने के पूर्व या उपरान्त वह एकान्त के क्षणों में बैठ कर उसका विश्लेषण करना आरम्भ कर देती है। किशोरी निरंजन के आकर्षण में बैठी हुई श्रीचन्द के साथ न जाकर हरिद्वार में ही ठहर जाती है, और फिर श्रीचन्द के चले जाने के बाद अपने ठहर जाने के औचित्य पर विचार-विश्लेषण करती है[3]। माला बच्चों को शिक्षित करना आरम्भ करने के बाद अपने पिता की आज्ञा न मानने और उनकी उपेक्षा करने की बात को बार बार सोचती है[4]।

विश्लेषण प्रवृति के समानान्तर उसमें अतीत का हिसाब-किताब खोल कर बैठ जाने का भी स्वभावगत संस्कार होता है। प्रसाद ने अतीत-घटनाओं का विश्लेषण करने की इस प्रवृत्ति को नारी मनोविज्ञान का विशेष अंश माना है। 'गुण्डा'[5] कहानी की राजमाता पन्ना विधवा हो जाने के पश्चात् भी किशोरावस्था में नन्हकू सिंह से भेंट होने के परिणाम स्वरूप दूर की एक सम्भावना पर विचार करने लगती है। 'नूरी' अपने प्रेमी याकूब खां को देखकर १८ वर्ष पूर्व की एक घटना के विषय में सोचना आरम्भ कर देती है—

'आज जीवन का क्या रूप होता? आशा से भरी संसार यात्रा किस सुन्दर विश्राम-स्थल में पहुंचती? अब तक संसार के कितने सुन्दर रहस्य फूलों की तरह अपनी पंखुरियां खोल चुके होते[6]।'

१—कंकाल' पृष्ठ १०१।
२—ध्रुवस्वामिनी, पृष्ठ ३२।
३—कंकाल, पृष्ठ १७।
४—कंकाल, पृष्ठ २५८।
५—इन्द्रजाल में संग्रहीत।
६—इन्द्रजाल, पृष्ठ ४४।

इसी प्रकार 'आकाशदीप' की चम्पा बुद्धगुप्त के वैभव की प्राचीरों से मुक्त होने की कामना ले कर उससे कहती है—'मुझे इस बन्दीगृह से मुक्त करो। मुझे उन दिनों की स्मृति सुहावनी लगती है, जब तुम्हारे पास एक ही नाव थी, और चम्पा के उपकूल में पुण्य लाद कर हम सुखी जीवन बिताते थे'[1]।

'कंकाल' की लतिका भी बाथम द्वारा त्यक्त हो जाने पर अपनी कल्पना में अपने अतीत का लेखा उपस्थित करती है। यमुना, घंटी सभी में यह निसर्ग प्रवृत्ति वर्तमान है। अन्धेरे शून्य में घंटी अपने अतीत क्षणों की स्मृति करती है[2]। शैला भी शेरकोट के खण्डहर में रामजस और मधुबन के साथ चलते-चलते अपने अतीत की स्मृति में भूल जाती है[3]। राजकुमारी गंगा के शीतल जल में खड़ी 'अपनी विगत घटनाओं का स्वप्न देखती है'[4]। और इसी प्रकार इरावती सोचती है—

'वेत्रवती का किनारा। माता के दाह-कार्य के उपरान्त उसका अकेले शरद सन्ध्या में बैठना। अग्निमित्र का आना। सान्त्वना। फिर उसका आना-जाना बंद। वह विदिशा का कुल पुत्र। वह पंथ की भिखारिणी, आदि आदि[5]।'

यही भावना असत् कार्य-व्यापारों में दूर तक चली जाने वाली नारी-पात्रों के स्वभाव में भी व्यक्त की गई है। मागन्धी जीवन की सन्ध्या में अपनी असफलता पर क्षुब्ध अपने अतीत की स्मृति करती है। ठीक इसी प्रकार 'प्रलय की छाया' की कमला आत्म-ग्लानि के सबसे निकृष्ट प्रहर में अपने अतीत की स्मृति-रेखाओं का जाल बुनती-बिछाती दिखाई पड़ती है—

> पागल हुई मैं अपनी ही मृदु गन्ध से
> कस्तूरी मृग जैसी
> गुर्जरेश पांवड़े बिछाते रहे पलकों के
> तिरते थे
> मेरी अंगड़ाइयों की लहरों में।

वह सुल्तान को जलाना चाहती थी, इसीलिए जीवित रही थी। उसने सोचा था—

> पद्मिनी जली थी स्वयं, किन्तु मैं जलाऊँगी
> वह दावानल ज्वाला—
> जिसमें सुल्तान जले।

१—आकाशदीप, पृष्ठ ८।
२—कंकाल, पृष्ठ १८७-१८८।
३—तितली, पृष्ठ ६९।
४—तितली, पृष्ठ ८५-८६।
५—इरावती, पृष्ठ ३८।

परन्तु रूप वैभव और ऐश्वर्य की चकाचौंध में वह पति का प्रतिशोध लेना भूल कर भारतेश्वरी का पद प्राप्त करना चाहने लगी—

'रूप ने बनाया मुझे रानी गुजरात की
वही रूप आज मुझे प्रेरित था करता
भारतेश्वरी का पद लेने को[1] ।'

और अन्त में अपनी असफलता के क्षण में वह अतीत की इस घटना का स्मरण कर, आत्म-ग्लानि की दावा में दग्ध होती है।

नारी स्वभाव की अन्य महत्वपूर्ण विशेषताओं में अन्तर्संघर्ष की प्रवृत्ति मुख्य है। अन्तर्संघर्ष का मूल-सम्बन्ध मन के अस्थैर्य अथवा चांचल्य से होता है। प्रसाद जी ने नारी की चंचल प्रवृत्ति का निदर्शन और अन्तर्संघर्ष दोनों को नारी स्वभाव का स्थायी गुण माना है। विजया, श्यामा, दामिनी आदि के चरित्रों में चंचलता की मात्रा प्रचुर है। अन्तर्संघर्ष की प्रौढ़ भावना चम्पा के स्वभाव में अंकित हुई है। एक ओर वह बुद्धगुप्त को प्यार करती है, क्योंकि वह उसका प्रेमी है, दूसरी ओर वह उससे घृणा करती है, क्योंकि उसे यह शंका है कि यही उसके पिता का हत्यारा है। अतः उसके मस्तिष्क में बुद्धगुप्त के प्रति घृणा और प्यार की भाव-धाराएं साथ साथ बहती हैं। वह कहती है—

'मेरा पिता, वीर पिता की मृत्यु के निष्ठुर कारण जलदस्यु ! हट जाओ। विश्वास ? कदापि नहीं, बुद्धगुप्त ! जब मैं अपने हृदय पर विश्वास नहीं कर सकी, उसी ने धोखा दिया, तब मैं कैसे कहूं ? मैं तुम्हें घृणा करती हूं, फिर भी तुम्हारे लिये मर सकती हूं। अन्धेर है जलदस्यु ! तुम्हें प्यार करती हूं।'[2]

इसी प्रकार 'पुरस्कार' की मधूलिका के मन में प्रेम और कर्तव्य को लेकर द्वन्द्व मचता है। एक बार वह अरुण के प्रणय को ठुकरा देती है, लेकिन दूसरी बार उसी के लिए वह देश तक से विश्वासघात करने के लिये तैयार हो जाती है।' आंधी की लैला मनोभावों के इस संघर्ष का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करती है। श्रीनाथ ने उसे उसके प्रिय रामेश्वर के विषय में एक दिन कोई सुन्दर बात कह कर सुना दिया है, बस इसी लिये वह श्रीनाथ को क्षमा किये रहती है। रामेश्वर की पत्नी के विषय को लेकर भी उसमें अन्तर्संघर्ष का भयावह स्वरूप खड़ा होता है। वास्तव में यह भी नारी का एक मनोवैज्ञानिक पहलू है कि वह कभी भी अपने से प्यार करने वाले को उपेक्षा की आंखों से नहीं देख पा सकती। इस पहलू को हम 'प्रणय प्रसंग' के अन्तर्गत अधिक विस्तार से देखेंगे।

१—'लहर' से गृहीत।
२—आकाशदीप, पृष्ठ ८, ११।

प्रसाद जी ने नारी-स्वभाव में स्पष्ट विरोध के अभाव को भी लक्ष्य किया है। उनकी धारणा है कि नारी कभी भी स्पष्ट विरोध नहीं करती। किशोरी के स्वभाव में यह गुण कई प्रसंगों में व्यक्त हुआ है। इसी प्रकार 'तितली' की नन्द रानी में भी यह प्रवृत्ति प्रकट हुई है। मुकुन्द लाल इन्द्रदेव से छोटे वंगले को नन्दरानी के नाम लिखाने की बात कहते हैं। नन्दरानी इसे सुनती है, लेकिन प्रतिवाद करना चाह कर भी वह कुछ नहीं कह पाती। नारी में वस्तुओं को जानने, उनसे परिचय प्राप्त करने की भी उत्सुकता होती है। श्रद्धा के शब्दों में उसकी यह प्रवृत्ति व्यक्त हुई है।

'भरा था मन में उत्साह
सीख लूं ललित कला का ज्ञान,
... ...
दृष्टि जाती जब हिम-गिरि ओर
प्रश्न करता मन अधिक अधीर
धरा की यह सिकुड़न भयभीत
आह कैसी है क्या है पीर,

—कामायनी, पृष्ठ ५१

इसी प्रकार वंजो प्रथम परिचय में ही शैला का परिचय प्राप्त करने की उत्कृष्ट अभिलाषिनी हो उठती है। अनवरी शैला को 'दृष्टि विनिमय से ही पहचान लेना चाहती है।[1]

नारी का स्वभाव अपने पर प्रेम करने तथा आत्म-प्रशंसा सुनने का भी होता है। अपने 'स्व' पर प्रेम करने का स्वभाव जयमाला के इन शब्दों में व्यक्त हुआ है—

'विश्व प्रेम, सर्वभूत हित कामना परम धर्म है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं हो सकता कि अपने पर प्रेम न हो। इस अपने ने क्या अन्याय किया है कि इसका वहिष्कार हो।'

—स्कन्द गुप्त, पृष्ठ ७२

इस संदर्भ में नारी के आत्म प्रशंसा सम्बन्धी स्वभाव के विषय में भी एक उद्धरण दे देना आवश्यक हो जाता है। यह गुण उनकी सबलता नहीं, वरन् दुर्बलता का भाव प्रकट करता है। अपनी प्रशंसा के सम्मुख नारी सदैव ही नत-सिर होती आई है। 'सिकन्दर की शपथ' कहानी में सिकन्दर सरदार का वध करके सरदार पत्नी के सम्मुख उपस्थित होता है। सिकन्दर को अपने पति का हत्यारा जान कर, प्रतिशोध के प्रण में वह अपने हाथ में चमकता छुरा ले लेती है। लेकिन तभी घुटनों के बल बैठ कर सिकन्दर कहता है:—

१—तितली, पृष्ठ १४-१५।

'सुन्दरी एक जीव के लिये तुम्हारी दो तलवारें बहुत थीं, फिर तीसरी की क्या आवश्यकता है?'

—छाया, पृष्ठ ५४।

और केवल एक ही प्रच्छन्न प्रशंसा का वाक्य रमणी की दृढ़ता को विगलित कर देता है। 'न जाने क्यों उसके हाथ से छुरा छटक कर गिर पड़ा, वह भी घुटनों के बल बैठ गई।'

—छाया, पृष्ठ ५४

उपर्युक्त पंक्तियों में हम नारी स्वभाव के उदात्त गुणों की विवेचना कर आए हैं। इसके साथ ही नारी की मनोवैज्ञानिक धारणा के अन्य पहलुओं पर भी दृष्टिपात कर लेना आवश्यक हो जाता है। नारी अपने स्वभाव में संतोषी-जीवन की अभिलाषिनी होती है, यह हम कह आए हैं, परन्तु इसके साथ ही साथ उसमें महत्वाकांक्षा की भावना भी कम नहीं होती। अधिकार प्राप्ति के लिए वह अपने उदात्त गुणों की भी उपेक्षा कर सकती है। राजकुमारी बनजरिया और शेरकोट के लिये तितली का विवाह मधुबन से न कर इन्द्रदेव से करना चाहती है।[1] छलना में भी इसी महत्वाकांक्षा की भावना का अतिरेक है।[2] 'प्रलय की छाया' की कमला, 'अजातशत्रु' की शक्तिमती तथा 'स्कंदगुप्त' की अनन्त देवी आदि—पात्राएं इसी भावना की शिकार हैं।

इसी भावना के समानान्तर उनमें अपने रूप गौरव की भावना भी लक्षित होती है। कमला को अपने रूप का ही गर्व है, जिसके बल पर वह भारतेश्वरी के पद पर सुशोभित होने का स्वप्न देखती है—

'कभी निज को सुन्दरता की अनुभूति
क्षण भर चाहती जगाना मैं
सुल्तान ही के उस निर्मम हृदय में'

—लहर, पृष्ठ ६८

मागन्धी[3] में भी वह रूप-दर्प की भावना विद्यमान है। अपने सौन्दर्य-गर्व में चूर्ण मदान्ध मागन्धी गौतम से तिरस्कार का प्रतिशोध लिया चाहती है। उसके इस

१—तितली, पृष्ठ ६०-६१।

२—अजातशत्रु, पृष्ठ १०६-१०७।

३—अजातशत्रु की पात्री।

वाक्य में कि 'दिखला दूंगी, स्त्रियां क्या कर सकती हैं।' रूप का दर्प और वासना भाव का ही प्राधान्य है।

नारी-स्वभाव का एक प्रधान गुण है, व्यंग्य के माध्यम अपने मनोभावों की अभिव्यक्ति करना। 'भिखारिन' कहानी की किशोरी भिखारिन के द्वारा निर्मल को दिये गए उलाहने में यह भावना प्रतिलक्षित है। 'देवदासी' की पद्मा के इन शब्दों में व्यंग्य का भाव कठगाढ़ होकर व्यक्त हुआ है—

'मन्दिर के दर्शन करने वालों का मनोरंजन करना मेरा कर्तव्य है। मैं देवदासी हूं।'

—आकाशदीप, पृष्ठ ८७

'प्रतिध्वनि[1]' कहानी में तारा के प्रति उसकी ननद का व्यंग्य कितना कटु है—

'अरे भैया रे, किसका पाप किसको खा गया रे।'

'कलावती' की शिक्षा[2] में भी चीनी पुतली को सिखाते हुए कलावती वास्तव में अपने पति को सुनाती है। इसी प्रकार से अनन्त देवी भी देवकी को उलाहना भरे स्वरों में कहती है :—

'क्यों देवकी ! राजसिंहासन लेने की स्पर्धा क्या हुई ?'

— स्कन्दगुप्त, पृ० ६७

ईर्ष्या और प्रतिशोध की भावना का भी नारी-मनोविज्ञान से निकट का सम्बन्ध है। 'स्वर्ग के खण्डहर' में बहार और गुल को साथ-साथ तैरता देखकर मीना में ईर्ष्या-भाव का उदय होता है, और वह हताश हो धीरे-धीरे तैरने लगती है[3]। तारा की चाची तारा को सुखी नहीं देखना चाहती, इसीलिए मंगल से तारा की वर्ण-संकरता के विषय में बतला कर उसका मन तारा के प्रति वितृष्णा से भर देती है[4]। लतिका घंटी के हाथ में बाथम की अंगूठी देखकर, उसके निकट से चली जाती है[5]। तितली की शान्त, सरल गृहस्थी से शैला को ईर्ष्या होती है। वह सोचती है—

'यह गंवार लड़की ! अपनी वास्तविक स्थिति में कितनी सरलता से निर्वाह कर रही है। सो भी पूरी स्वतन्त्रता के साथ। और मैं, मैंने अपना जीवन, थोड़ा-सा

१—आकाशदीप में संग्रहीत।

२—प्रतिध्वनि, में संग्रहीत।

३—आकाशदीप, पृ० २८।

४—कंकाल पृ० ५२।

५—वही, पृ० १४१।

काल्पनिक सुख पाने के लिए जैसे बेच दिया ।'

—तितली, पृ० २४१

इसी प्रकार—स्कन्दगुप्त विजया को आसक्ति की आँखों से देखता है । देवसेना स्कन्दगुप्त को इस प्रकार देखता हुआ देख लेती है । ईर्ष्या की एक हल्की-सी जाली जैसे उस पर छा जाती है । वह अपने आप से कहती है—

'आह ! जिसकी मुझे आशंका थी, वही हुआ । विजया ! आज तू हारकर भी जीत गई ।'

—स्कन्दगुप्त, पृ० ८३

छलना का मन वासवी के प्रति ईर्ष्या-भाव से उत्तप्त है । इसी कारण उसके चरित्र के सभी उदात्त गुण विच्छिन्न हो गये से दिखाई पड़ते हैं ।

इस प्रकार जीवन के सभी क्षेत्रों एवं व्यापारों में नारी-मन की ईर्ष्या-भावना की अभिव्यक्ति होती है । चाहे वह सामाजिक समादर का ही प्रश्न हो अथवा वैभव का प्रसंग । परन्तु इस भावना का विकास प्रणय के क्षेत्र में अधिक होता है, जैसा कि हम उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट कर आए हैं ।

ईर्ष्या की इस भावना के साथ-साथ नारी-स्वभाव में प्रतिशोध का एक गुण विशेष भी होता है । अपमान की ज्वाला में वह प्रतिकार किए बिना सन्तुष्ट नहीं रह सकती । बहूजी द्वारा अपमानित होने पर 'चूड़ीवाली' विजयकृष्ण को 'पागल' कर देती है[1] । भले ही उसके लिए उसे विपथगामिनी क्यों न बनना पड़ा हो । 'चन्दा'[2] में यही प्रतिशोध की भावना प्रबल रूप से व्यक्त की गई है । उसके प्रिय तथा पति हीरा को रामू की क्रूरता के कारण बाघ की लड़ाई में अपने प्राणों की बलि देनी पड़ती है । चन्दा इसी का बदला लेने के लिए जीवित रहती है । वह अपना सुख आश्रय छीनने वाले को कभी भी क्षमा नहीं कर सकती । इसी प्रकार 'सरमा' भी जनमेजय से अपमानित होकर उग्र बन जाती है । विजया के चरित्र में भी यही भावना विशिष्ट है । 'प्रतिध्वनि' की तारा ने रामा की मृत्यु के उपरान्त भी उसकी बेटी श्यामा तक से प्रतिशोध लिया । परन्तु अन्त में उसके प्रतिशोध भाव का यह कलुष उसके प्रायश्चित्त की निर्मल भाव-धारा में बह जाता है, और इस स्थल पर वह पुनः अपने सम्मान के उच्च शीर्ष को प्राप्त कर लेती है । प्रसाद जी ने नारी स्वभाव के इस उदात्त स्थायी स्वरूप की प्रतिष्ठा कर नारी के शील, सौजन्य और सदाचार की रक्षा की है ।

नारी स्वभाव में प्रायश्चित्त का गुण भी उतना ही विशिष्ट है जितना प्रति-

१—आकाशदीप, पृ० ११७ ।
२—छाया, में संग्रहीत ।

क्षोभ का। उसे शान्ति और सन्तुलन के क्षणों में अपने किये पर पश्चात्ताप होता है और उसी क्षण उसमें निसर्ग उदार भावना जन्म लेती है। प्रसाद जी ने अपने बहुत से चरित्रों के माध्यम से उक्त तथ्य की पुष्टि की है। वासना, आकांक्षा और वैभव-दर्प की उद्दाम भावना में बहने वाली विजया अपनी असफलता के क्षणों में स्वयं से कहती है—

'स्नेहमयी देवसेना का शंका से तिरस्कार किया। मिलते हुए स्वर्ग को घमंड से तुच्छ समझा। देवतुल्य स्कन्दगुप्त से विरोध किया, किसलिए? केवल अपना रूप, धन और यौवन दूसरे को दान करके उन्हें नीचा दिखाने के लिए। स्वार्थपूर्ण मनुष्यों की प्रतारणा में पड़कर खो दिया, इस लोक का सुख, उस लोक की शान्ति। ओह!'

—स्कन्दगुप्त, पृ० १११

ऐसी ही ग्लानि उसे अनन्तदेवी से प्रताड़ित होने पर होती है—

'मैं कहीं की न रही······दुर्बल रमणी हृदय······यह मन का विष, यह बदलने वाले हृदय की क्षुद्रता है। ओह!'

—स्कन्दगुप्त, पृ० ११०

छलना देवदत्त के प्रवंचनापूर्ण व्यवहार को समझ कर अपने प्रति ग्लानि से भर जाती है। देवदत्त की उपेक्षा करती हुई वह कहती है—

'तेरी प्रवंचना से मैं इस दशा को प्राप्त हुई। पुत्र बन्दी होकर विदेश चला गया और पति को स्वयं मैंने बन्दी बनाया।'

—अजातशत्रु, पृ० १०६

और इन पश्चात्ताप के क्षणों में वह वासवी से दया और अपने पुत्र के प्राणों की भीख मांगती है। श्यामा (मागधी) मल्लिका के निर्मल उदार देवत्वपूर्ण व्यक्तित्व से प्रभावित होकर स्वयं ही अपनी प्रतारणा करती है—

'जिसे काल्पनिक देवत्व कहते हैं, वही तो मनुष्यता है। मागन्धी धिक्कार है तुझे।'

—अजातशत्रु, पृ० १२१

इसी प्रकार शक्तिमती राजकुमार को उपेक्षित करने की अपनी भूल पर पश्चात्ताप करती हुई मल्लिका से क्षमा-याचना करती है—

'वह मेरी भूल थी देवी! वह बर्बरता का उद्रेक था। पाशव-वृत्ति की उत्तेजना थी।'

—अजातशत्रु, पृ० १२६

वह प्रसेनजित से भी क्षमा-याचना करती है—'वह मेरा ही अपराध था।

आर्य ! क्या उसके लिए क्षमा नहीं मिलेगी ? मैं अपने कृत्यों पर पश्चात्ताप करती हूं । अब मेरी सेवा मुझे मिले, उससे मैं वंचित न होऊं, यही मेरी प्रार्थना है ।'

—अजातशत्रु, पृ० १२८

सत्पथ की अनुगामिनी होकर दामिनी भी वेद से पश्चात्ताप भरे स्वरों में कहती है—'वह मेरा भ्रम था, परन्तु हृदय से नहीं, आप अपनी स्वाभाविक कृपा से पूछ देखिए । वही मुझे क्षमा कर देगी । मेरा और कौन है ।'

—जनमेजय का नागयज्ञ, पृ० ७१

वपुष्टमा के इन शब्दों में भी यही पश्चात्ताप प्रकट हुआ है—

'बहन सुरमा, मुझे क्षमा करो । मैंने तुम्हारा बड़ा अनादर किया था । आज मुझे तुम्हारे सामने आंख उठाते लज्जा आती है ।'

—वही, पृ० ९६

ममता भी प्रायश्चित करती है—

'भाई, मुझसे क्या चाहते हो ? क्या मैं उत्तेजना की एक सामग्री नहीं हूं ।'

—वही, पृ० ९८

आकांक्षा और अतृप्ति के लम्बे पथ पर चलते-चलते जब कामना थक सी जाती है, तो वह स्वयं अपने अपराध का दण्ड स्वीकार कर लेती है—

'अपने हाथों जो विडम्बना मोल ली है, उसका प्रतिफल कौन भोगेगा ?'

—कामना, पृ० ७३

सुरमा भी इसी आकांक्षा के पथ पर रुक कर सोचती है—

'राज्यश्री को देखती हूं तो मुझे अपना स्थान सूचित होता है, पता लगता है कि मैं कहां हूं ।'

—राज्यश्री, पृ० ७१

इड़ा को अन्त में यही प्रायश्चित करना पड़ता है । 'कमला'[१] भी इसी आत्म-ग्लानि की ज्वाला में दग्ध होती है । उसके इन स्वरों में कितनी दयनीयता है—

'आज सोचती हूं, जैसे पद्मिनी थी कहती—
अनुकरण कर मेरा
—समझ सकी न मैं ।'

—लहर, पृ० ६७

नारी-स्वभाव की प्रायश्चित प्रवृत्ति के अंश को उठा कर प्रसादजी ने नारी-मनोविज्ञान के इस तथ्य की ओर संकेत किया है कि नारी भी अपने कमजोर ...

१—प्रलय की छाया (कविता), की रानी ।

या कठोरता पर कभी भी अभिमान नहीं होता । अपने दुर्व्यवहार अथवा अनीतिपूर्ण आचरण के लिए वह सदैव ही लज्जित रही है । परिस्थितिवश, भले ही उसका सद् स्वरूप कुछ क्षण के लिए आकांक्षा अथवा तीव्र लालसा के आवेग में बहुत पीछे छूट जाय, लेकिन उससे उसका साथ सदा-सदा के लिए छूट गया हो, ऐसा नहीं है । उपर्युक्त उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जाती है । इसी प्रसंग में एक और उदाहरण मातृगुप्त की प्रेयसी मालिनी का दिया जा सकता है, जो अवगुंठन में उसके सम्मुख उपस्थित की जाती है । समाज मान्य अपने अनैतिक आचरण के कारण वह मातृ-गुप्त के सम्मुख अपने मुख का आवरण उठा सकने का साहस भी नहीं करती । दयनीय होकर वह मातृगुप्त से कहती है—

नहीं, मातृगुप्त मैं ही हूं । अवगुंठन केवल इसीलिए था कि मैं तुम्हें मुख नहीं दिखा सकती थी ।'

—स्कन्दगुप्त, पृ० ११७

: ३ :

नारी-मनोविज्ञान : विभिन्न वर्गों में

सामान्य रूप से नारी-मनोविज्ञान के आधार पर उसके स्थायी गुणों का विवेचन उपर्युक्त पंक्तियों में किया जा चुका है । किन्तु विभिन्न परिस्थितियों और वातावरण में नारी की मनोवैज्ञानिक धारणाओं में परिवर्तन होते रहते हैं । इसीलिए विभिन्न वर्गों में नारी-स्वभाव में भी अन्तर होता है । प्रसाद जी ने अपनी कहानियों, उपन्यासों और नाटकों में इस अन्तर को काफी स्पष्ट किया है । मोटे तौर से हम कह सकते हैं कि उनकी कहानियों में सामान्य वर्गीय नारी-स्वभाव का चित्रण मुख्य रूप से हुआ है । उपन्यासों में मध्य-वर्गीय नारी को ले सकते हैं तथा नाटकों में उच्च वर्गीय नारी को अधिक अभिव्यक्ति मिली है । लेकिन इस विभाजन के द्वारा कोई सुनिश्चित रेखा नहीं खींच दी गई है । उपन्यासों में भी उच्च और सामान्य वर्गीय नारी-स्वभाव का चित्रण मिलता है । नाटकों में सामान्य और मध्य वर्गीय नारी के चित्र भी अंकित हुए हैं और इसी प्रकार कहानियों में भी मध्य-वर्गीय नारियां विद्यमान हैं ।

सामान्य वर्गीय नारी में विचार-पक्ष की अपेक्षा भाव-पक्ष की प्रबलता होती है । उसके द्वारा रूढ़िगत आदर्शों का पोषण होता है । अन्ध-विश्वास उसके स्वभाव का स्थायी गुण है । इसके साथ-साथ वह अपेक्षाकृत स्वतन्त्र भी होती है । नारी में व्यंग्य की जिस भावना की बात हम पिछले पृष्ठों में कह आए हैं, सामान्य-वर्गीय नारी में साधारणतया उसका अभाव होता है । वह अधिक स्पष्टवादिनी होती है । नूरी, बेला, चम्पा तथा मधूलिका के स्वभाव इस सन्दर्भ में देखे जा सकते हैं । इस

वर्ग की नारी का मनोवैज्ञानिक विकास दृढ़ धारणाओं तक ही सीमित होता है। अविद्या और स्वस्थ विस्तृत वातावरण का अभाव उसके कारण हो सकते हैं। इस वर्ग की नारियों में वैभव के प्रति एक सहज आकर्षण होता है। परन्तु सच्चे प्रणय और स्वस्थ हृदय के आदान-प्रदान के सम्मुख इस नारी के लिए सभी कुछ तुच्छ है। विलासिनी[1] का चरित्र इस बात की सफल पुष्टि कर देता है। इस वर्ग की नारी के स्वभाव की अनन्य विशेषता उत्कट आत्म-सम्मान की भावना है। उपर्युक्त सामान्य विवेचना में इस संदर्भ में कई उद्धरण दिए जा चुके हैं। प्रणय, कर्त्तव्य और व्यवहार यह कहीं भी आत्मसम्मान को खोकर, कुछ भी प्राप्त नहीं किया चाहती। बेला भिखारिन, मधूलिका, चम्पा, चन्दा आदि के स्वभाव इसी आत्म-सम्मान की भावना के प्रतीक हैं। और इन सबसे विशेष 'गुदड़ी में लाल' की निर्बल बुढ़िया पात्री है, जो अपनी असहाय और दयनीय परिस्थितियों में भी काम करके ही पैसा प्राप्त करना चाहती है। वह सोचती है—

मैं बिना किसी काम के किए इनका पैसा कैसे लूंगी। क्या यह भीख नहीं ?'

—प्रतिध्वनि, पृष्ठ १५।

यह अपनी कोठरी में अपने एक मात्र संचित धन आत्म-सम्मान की पोटली को अपनी कोख में दबाए केवल यही सोचती है—

'जीवन भर के संचित आत्म-धन को एक मुट्ठी अन्न की भिक्षा पर बेच देना होगा ? असह्य।'

—प्रतिध्वनि, पृष्ठ १६।

मध्यवर्गीय नारी-मनोविज्ञान का चित्रण प्रसाद साहित्य में अधिक मात्रा में नहीं हुआ है। जितना हुआ है, उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि सामाजिक स्वीकृति के अभाव में उसे स्वतन्त्र भाव-भूमि पर विचार विनिमय करने के अवसर नहीं मिले हैं। अतः भावनाओं के दमन के कारण उसमें बहुत सी कुंठाएं प्रवेश कर गई हैं। व्यंग्य, ईर्ष्या, स्वयं को धिक्कारने की प्रवृत्ति, संकीर्णता, अनात्म-विश्वास, भाग्यवादिता तथा पश्चात्ताप उसके स्वभाव के मुख्य अंग बन गए हैं। 'परिवर्तन' में मालती का यही मनोवैज्ञानिक विश्लेषण हुआ है। उसे बात बात पर रोष आता है। नाक सिकोड़ती है, दूसरों पर दोषारोपण करती है। स्वयं को धिक्कारती है और ईर्ष्यावश अपने पति चन्द्रदेव को किसी दूसरे का नहीं होने देना चाहती। 'कंकाल' की किशोरी, 'तितली' की राजकुमारी तथा 'प्रतिध्वनि' कहानी की नन्द और तारा आदि के चरित्र भी इसी मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की पुष्टि करते हैं।

प्रसाद की कृतियाँ अतीत के स्मारक कहे जाते हैं। अतीत का गौरव वर-

१—चूड़ीवाली, कहानी की पात्री।

स्थित करने में उन्होंने साम्राज्यों, सिंहासनों तथा सम्राटों के परिपार्श्व की सहायता ली है। साथ ही साम्राज्ञियों तथा उच्च वर्गीय महिषियों के चरित्र भी आलोक में लाए गये हैं। उन्हीं के आधार पर उच्च वर्गीय नारी के मनोभावों एवं व्यवहार में उदार और उदात्त कल्पना के साथ साथ दर्प-भाव, आत्म-सम्मान, समानाधिकार का भाव, प्रबल ईर्ष्या तथा शिक्षा और विस्तीर्ण स्थलों पर व्यवहार करने के कारण तर्कवादिता की भावना प्रबल है। इस प्रकार यदि एक ओर में मल्लिका, देव सेना, पद्मावती, वासवी, मालविका, जयमाला, देवकी, कार्नेलिया, सुवासिनी आदि के उदार मनोभावों को अभिव्यक्ति मिली है, तो दूसरी ओर छलना, शक्तिमती, विजया, अनंत देवी, दामिनी, लालसा आदि की असत् दिशा में विकसित मनोवैज्ञानिक दृष्टि की ओर भी लेखक ने संकेत किया है।

विभिन्न वर्गों एवं परिस्थितियों में नारी-मनोविज्ञान का उद्घाटन करने के साथ साथ प्रसाद जी यह भी बतलाते चले हैं कि स्थायी सत्-गुणों से रहित नारी कभी भी किसी क्षेत्र में सफल नहीं हो सकी है। यह उनकी आदर्श-स्थापना की दिशा में महत्वपूर्ण सत्प्रयास है।

प्रणय प्रसंग और असाधारण मनोविज्ञान

प्रसाद जी के सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विश्लेषण ने नारी-स्वभाव के प्रणय-प्रसंगों सम्बन्धी मनोभावों के विषय में कुछ नवीन रहस्यों का उद्घाटन किया है। वे इस प्रकार से हैं:—

प्रसाद जी यह मानकर चलते हैं कि (१) नारी के लिये प्रणय का महत्व सबसे अधिक है: (२) प्रणय के लिए वह सभी कुछ त्याग कर सकती है। (३) उसके प्रणय में एकनिष्ठा की भावना प्रबल होती है। (४) अपने प्रणय तथा सम्मान के प्रति प्रवंचना किए जाने पर वह कोमल अथवा दुर्वह कठोर हो जाती है। यह प्रसाद जी के विश्लेषण का सुन्दर अंश है। (५) वह सभी अवस्थाओं में दुलार की प्रत्याशा करती है। (६) अपने को प्रेम करने वाले को वह कभी नहीं भूल पाती। (७) विशेष अवस्थाओं में वह कर्त्तव्य के लिए प्रणय की उपेक्षा भी सहन कर लेती है, लेकिन स्नेह की मीठी टीस को कभी भी भूल नहीं पाती। तथा (८) इसी प्रणय की पीठिका में कभी-कभी उसके मनोभावों की असामान्यता भी प्रकट होती है।

नारी अपने जीवन में प्रणय को मुख्य स्थान देकर चलती है। देवसेना, विजया, सुवासिनी, मालविका और 'दासी' कहानी की इरावती के लिए प्रेम की भावना ही प्रमुख है। बलराज जब इरावती से अधिक महत्व धन को देकर उसे दुःख सहने के लिए छोड़ जाता है, तो वह इसे सहन नहीं कर पाती। 'मालविका' अपने प्रणय के मौन आदर्श पर ही अपने प्राणों की बलि दे देती है। विजया प्रणय के लिए

जीवन भर भटकती है। देवसेना स्कन्दगुप्त के प्रति प्रणय भाव को अपने संगीत की निःश्वासों में भर कर जीवन के दिन काटे चलती है। सुवासिनी का प्रणय, राक्षस की अमूल्य धरोहर है। वह उसे कहीं भी खंडित नहीं होने देती। अपने प्रणय के भावातिरेक में वह सभी कुछ त्याग करने के लिए तत्पर रहती है। 'इन्द्रजाल' की वेला के लिए ठाकुर का ऐश्वर्य छोड़ते क्षण भर की भी देर नहीं करती। विजया स्कन्दगुप्त का प्रणय प्राप्त करने के लिए अपने अपार वैभव को उसकी सहायतार्थ दे देने में अपना मान समझती है। मधूलिका प्रणय के लिए राष्ट्र की विरोधिनी बनती है। लैला[1] इसी प्रणय की भावना के प्रवाह में अपने टोलो के लोगों की उपेक्षा करती है। प्रसाद जी ने इसी प्रणय प्रसंग में उत्सर्ग और दान की भावना को यों व्यक्त किया है—

> 'पागल रे, वह मिलता है कब
> उस को तो, देते ही हैं सब'
>
> —लहर, पृष्ठ ३७।
>
> 'इस एकान्त सृजन में कोई
> कुछ बाधा मत डालो
> जो कुछ अपने सुन्दर से हैं
> दे देने दो इन को'
>
> —लहर, पृष्ठ ४४-४५

नारी का प्रणय त्याग का नहीं, वरन् एकनिष्ठा का उच्चतम आदर्श भी प्रस्तुत करता है। 'इन्द्रजाल' की वेला भूरे और ठाकुर के पास रहती हुई भी अपने प्रिय गोली को नहीं भूल पाती। और अवसर आने पर अन्त में उसी को समर्पित होती है। सुवासिनी, देव सेना, मालविका, मधूलिका, नूरी तथा विलासिनी आदि सभी प्रणय-पात्राओं में यही एकनिष्ठा की भावना लक्षित होती है। 'कंकाल' की गाला की माँ में भी यह भाव अपने अनन्य रूप में प्रकट हुआ है। मिरजा गाला की मां को गर्भ देकर चला जाता है, फिर भी गाला की मां केवल उसी के प्रति एकनिष्ठ रहती है। आपत्तिकाल में जब मिरजा गाला की मां से अप्रत्याशित रूप से मिलता है तब भी गाला की मां उसकी सेवा सुश्रुषा कर अपनी निष्ठा को बनाए रखती है। अपराधी[2] की वन-पालिका के स्वभाव में भी प्रणय की यहीं अनन्यता प्रकट हुई है। यमुना[3] भी मंगल को समर्पित होकर उसे नहीं भूल पाती, भले ही उसने यमुना के प्रति अन्याय किया हो।

नारी स्वभाव से ही दुलार की प्रत्याशिनी होती हैं। वह चाहती है कि कोई उसे स्नेह करने वाला हो, उसे अपना कहने वाला हो, उसके मन की सुनने वाला

'१—आँधी' कहानी की पात्री।
२—आकाशदीप, में संग्रहीत।
३—कंकाल की पात्री।

हो। और इस दिशा में सोचने के लिए अवस्था, परिस्थिति और वातावरण का कोई बन्धन, कोई सीमा निर्धारण नही होता। राजकुमारी के जीवन मध्यान्ह में चौवे का प्रवेश होता है। चौवे उसे स्नेह दिया चाहता है। राजकुमारी अपनी निसर्ग भावना के प्रतिकूल क्या कर सकती है? दुलार का प्रत्याशी निर्मल हृदय दिन प्रति-दिन सहज स्निग्धता और सहानुभूति के प्रवाह में एक दूसरे के निकट आने लगता है। अब उसकी झोपड़ी में प्रसाधन की सामग्री भी दिखाई पड़ने लगी है। कहीं छोटा सा दर्पण, तो कहीं तेल की शीशी।[1] और इस प्रकार वह चिकने पथ पर फिसल रही रही होती है।

इसी दुलार की कामना के साथ साथ नारी अपने प्रेमी को कभी भी नहीं भूल पाती। यह दूसरी बात है कि वह उसका प्रणय स्वीकार करे या न करे, परन्तु अपने प्रेमी के प्रति उसके हृदय का एक कोना कोमल हो ही जाता है। इस निसर्ग प्रवृति का त्याग उसके सामर्थ्य के बाहर की वस्तु है। 'रसिया बालम[2]' राजकुमारी से प्रेम करता है, और उसी के लिए वह अपने प्राणों का त्याग भी कर देता है। हालांकि यह प्रेम एकांगी है, परन्तु फिर भी, राजकुमारी उसके इस प्राण त्याग की उपेक्षा या अवहेलना नहीं कर सकी है, और उसके मन में 'रसिया बालम' के प्रति एक श्रद्धा-सिक्त स्नेह भावना का उदय हो ही जाता है। इसी प्रकार से 'देवदासी' की पद्मा को प्राप्त करन के लिए राम स्वामी को अपने प्राणों का उत्सर्ग करना पड़ता है। पद्मा अशोक से प्यार करती है; पर अशोक द्वारा राम स्वामी की हत्या कर दिये जाने पर वह राम स्वामी को नहीं भूल पाती, केवल इसीलिए कि राम स्वामी ने उसके लिए—केवल उसके प्रणय के लिए अपने प्राणों की बलि दी है। उर्वशी का शैशव सहचर केयूरक उर्वशी के लिए अपने प्राणों की बाज़ी लगा कर पुरुरवा द्वारा आहत होता है। उस समय पुरुरवा की प्रेयसी बनी हुई भी वह उससे कहती है—

'एक दिन मैं इसे चाहती थी। आज यह तुम्हारे हाथों से आहत हुआ है तो मैं क्या इसकी थोड़ी सी भी सुश्रुषा नहीं कर सकती? सैंकड़ों बार इसने मेरे लिए अपने प्राणों की बाज़ी लगा दी है।'

—चित्राधार, पृष्ठ २१।

वास्तव में नारी यह नहीं सोच पाती, कि जिस पुरुष ने उसके लिए प्राणों की बाजी लगा दी हो, उसे वह क्यों न प्यार करे।

कभी कभी प्रसाद जी की नारी को अपने आत्म-सम्मान और कर्तव्य-निर्वाह के लिए प्रणय के त्याग का आदर्श भी प्रस्तुत करना पड़ता है। परन्तु इस के लिए प्रणय भाव की हत्या नहीं करनी पड़ी है। बस, हृदय के किसी प्रशान्त कोने में उसे छिपा कर सुरक्षित रख देना पड़ा है। सुवासिनी राक्षस के प्रणय को लेकर अपनी

१—तितली, पृष्ठ १५३।
२—छाया में संग्रहीत।

विवशता और निरीहता के दिनों को काटे चलती है। वह केवल राक्षस की ही है, और उसे ही अपना मानती है। इतने पर भी बिछड़े हुए पिता को अप्रत्याशित रूप से पाकर, उनकी दयनीय दशा से करुणार्द्र हो, राक्षस द्वारा विवाह की बात कही जाने पर उससे कहती है—

'मैं तुम्हारा प्रणय अस्वीकार नहीं करती, किन्तु अब इसका प्रस्ताव पिता जी से करो। मेरे चिर दुःखी पिता। राक्षस, तुम वासना से उत्तेजित हो, तुम नहीं देख रहे हो कि सामने एक जुड़ता हुआ घायल हृदय बिछुड़ जाएगा। एक पवित्र कल्पना सहज ही नष्ट हो जाएगी।

—चन्द्रगुप्त, पृष्ठ १७८।

यहीं से प्रणय प्रसंगों में प्रसाद जी द्वारा खोजी हुई नारी की कोमल प्रवृत्ति में कठोरता का सन्निवेश होता है। जिसका संस्थान प्रसाद जी के अपने सूक्ष्म दृष्टिकोण की उपलब्धि है। चन्द्रगुप्त की 'कल्याणी' चन्द्रगुप्त को प्यार करती है। लेकिन चन्द्रगुप्त उसके पिता का विरोधी है, इसीलिए—पिता के आत्म-सम्मान के लिए, उनकी आत्मा की शान्ति के लिए, वह उस प्रणय को—प्रेम की पीड़ा को—पैरों से कुचल कर, दबा कर खड़ी रहती है।[1] 'आकाशदीप' की चम्पा, 'बुद्ध गुप्त' से प्यार करते हुए भी इसी शंका के कारण कि वह उसके पिता का हत्यारा है, उसका वरण नहीं करती। इसी पितृ-सम्मान की रक्षा के लिए कोमा शकराज के प्रणय-प्रस्ताव को स्वीकार नहीं करती। मधूलिका अपने स्वर्गीय पिता के प्रति राजा के विश्वास को नहीं तोड़ना चाहती। देश-सेवक सिंहमित्र की कन्या होकर वह किस प्रकार अपने देश के साथ विश्वासघात कर सकती है। इसीलिए अरुण को मन-प्राण से चाह कर भी वह उसे बन्दी बनाने की साधन बनती है।

नारी-स्वभाव की कठोरता का यह भाव विशेष रूप से दो प्रसंगों को लेकर व्यक्त हुआ है। १—प्रणय प्रसंगों में, २—आत्म-सम्मान की रक्षा के क्षेत्र में।

बाल-विधवा मंगला[2] अपनी असहाय दशा में छवि नाथ की सेविका सी बन कर अपना कर्तव्य निर्वाह करती है। उसका सुख साधन बनती है। परन्तु अपने पूर्व-परिचित मुरली के अकस्मात् मिल जाने से वह छवि नाथ से उसके दुर्व्यवहार एवं अत्याचारों का प्रतिशोध लेने के लिए इतनी कठोर हो जाती है कि उसकी हत्या करने के प्रयत्न से भी नहीं चूकती। 'देवरथ' की सुजाता आर्य मित्र की वाग्दत्ता भावी पत्नी है। वह उसी के लिए भिक्षु बनता है। सुजाता भी आर्य मित्र को अपनी पूर्ण निष्ठा के साथ चाहती है, परन्तु पारिवारिक पवित्र बन्धनों को तोड़ कर वह मुक्ति, निर्वाण और शान्ति की मरीचिका—बौद्ध संघ में भिक्षुणी का स्वरूप लेकर भैरवी का जीवन बिता रही होती है, तो अब वह किस प्रकार कुल-

१—'चन्द्रगुप्त', पृष्ठ १७६।

२—'चित्रवाले पत्थर', कहानी की नायिका।

वधू-वर्त। आर्य मित्र से वह पूछती है—कि वह अमूल्य उपहार—जो स्त्रियां, कुल वधूएं अपने पति के चरणों में समर्पित करती हैं, वह कहां से लाएगी। 'वह वरमाला जिसमें दुर्गा सदृश कौमार्य हरा-भरा रहता है, जिसमें मधूक कुसुम सा हृदय-रस भरा हो, कैसे, कहां से तुम्हें पहना सकूंगी ?'

—इन्द्रजाल, पृष्ठ ११८।

और इसी अछूते उपहार के अभाव में वह आर्य मित्र को पति-रूप में स्वीकार नहीं करती। लेकिन आर्य-मित्र के बिना उसके जीवन का अभाव पूर्ण नहीं हो सकता इसलिये वह मृत्यु का आलिंगन करती है।

—इन्द्रजाल, पृष्ठ ११७।

'आकाशदीप' की चम्पा उद्दाम भावना से युक्त है। वह बुद्धगुप्त को प्यार करते हुए भी, उसके द्वारा विवाह का प्रसंग उठाए जाने पर कठोर हो उठती है।

'चुप रहो, महानाविक ! क्या मुझे निस्सहाय और कंगाल जानकर तुमने आज सब प्रतिशोध लेना चाहा।

—आकाशदीप, पृष्ठ १३।

उसके मन में पिता के प्रति उत्पन्न ममता, बुद्ध गुप्त के प्रणय को सदैव पराजित करती है। उसने पिता की स्मृति को संजोये रखने के लिए अपने 'स्व', सौन्ध्य और भविष्य का बलिदान कर दिया, कठोर बन कर।

'आंधी' कहानी की पात्री लैला अबोध गति से चलने वाली निर्झरणी है। अब वह यह जानती है कि जिसे वह प्यार करती है, वह भी उसे प्यार करता है, तो जैसे उसकी आंखों से स्वर्ग हंसने लगता है।[1]

परन्तु वह अपने प्रणय के साथ खिलवाड़ करना नहीं सह सकती। वह ऐसे अवसरों पर आंधी से भी अधिक वेगवती और भयानक हो उठती है। श्रीनाथ से वह कहती है—'ऐं तुम झूठे ! दगाबाज !' और यह कहती हुई वह अपनी छुरी की तरफ देखती हुई दांत पीसने लगी।' वह आगे भी कहती है—

'तुम खून सकते हो, मैं नहीं। मैं खून करूंगी···ओह नहीं, तुम्हारा नहीं। तुमने एक दिन मुझे सबसे बड़ा आराम दिया है। हां, वह झूठा। तुमने अच्छा नहीं किया, तो भी मैं तुमको अपना दोस्त समझती हूं।'

—आंधी, पृष्ठ २४।

अपनी निष्ठा को टूटते देख कर नारी हमेशा भयंकर हो जाती है। लैला के मनोभाव इसी दिशा में व्यक्त हुए हैं। 'पुरस्कार' की मधूलिका पहली बार अरुण के प्रणय-प्रस्ताव को अपनी निर्धनता पर व्यंग्य समझ कर ठुकरा देती है। और दूसरी बार अपने देश की रक्षा के निमित्त। प्रणय की भावना से अभिसिक्त, अपने व्यवहार में निर्मल मधूलिका का चरित्र परिस्थितियों के चक्र में कठोर बन गया है।

१—आंधी, पृष्ठ १०।

प्रणय वंचिता रमणी के मनोभाव विजया के इन शब्दों में स्पष्ट मुखरित हुए हैं—

'प्रणय-वंचिता स्त्रियां अपने राह के रोढ़े-विघ्नों को दूर करने के लिए वज्र से भी दृढ़ होती हैं। हृदय को छीन लेने वाली स्त्री के प्रति हृत-सर्वस्वा रमणी पहाड़ी नदियों से भी भयानक, ज्वाला-मुखी से विस्फोट से वीभत्स और प्रलय की अनल शिखा से भी लहरदार होती हैं।'

—स्कन्दगुप्त, पृष्ठ १०९।

मागन्धी के स्वभाव में भी गौतम को पा सकने की असफलता में यही कठोरता प्रतिलक्षित हुई है। दूसरे अवसर पर शैलेन्द्र द्वारा उसके एकनिष्ठ प्रेम के प्रति की गई प्रवंचना से यह क्षुब्ध हो उठती है, और मल्लिका के सम्मुख उसकी प्रताड़ना करती हुई कहती है—

'हां, शैलेन्द्र। तुम्हारी नीचता का प्रत्यक्ष उदाहरण मैं अभी जीवित हूं। निर्दय! चांडाल के समान क्रूर कर्म तुमने किया। ओह, जिसके लिए मैंने अपना सब छोड़ दिया, अपने वैभव पर ठोकर लगा दी, उसका ऐसा आचरण। प्रतिहिंसा और पश्चाताप से सारा शरीर भस्म हो रहा है।'

—अजातशत्रु, पृष्ठ १२०

यही प्रतिहिंसा 'चन्दा' कहानी की पात्री में लक्षित होती है। अपने प्रिय का कल्याण और निधन करने वाले को यह क्षमा नहीं कर सकती। वह उससे प्रतिशोध लेकर ही शान्त होती है।

नारी-स्वभाव में उपर्युक्त कठोर भावना का आरोपण प्रसाद जी के व्यक्तिगत जीवन से सम्बन्धित है। 'आंसू' के नायक स्वयं प्रसाद हैं। उस नायक के जीवन में प्रभूत सुख और सौन्दर्य-राशि को लिए हुए कोई प्रेयसी आती है। कुछ क्षणों की धूम-धाम के उपरान्त वह नायक को छोड़ कर चली जाती है। प्रसाद जी का नायक एक ओर उसके मृदुल स्वभाव, औदार्य और अप्रतिम सौन्दर्य की ओर देखता है, और दूसरी ओर स्वयं को छले जाने की कठोरता को। उनके मनोवैज्ञानिक विकास के मूल में यह घटना विशेष चिन्ह और धारणा छोड़ जाती है। और इसी लिए इसी आधार पर उन्होंने नारी स्वभाव के चित्रण की स्थापना की है।

प्रेम-प्रसंगों के अतिरिक्त भी आत्म-सम्मान की रक्षा के हेतु, प्रसाद जी ने नारी के कठोर स्वभाव को अभिव्यक्त किया है। देवसेना आत्म-सम्मान की भावना के कारण ही स्कन्दगुप्त का प्रणय स्वीकार नहीं कर पाती। वह यह नहीं चाहती कि लोग कहें कि मालव देकर उसके लिए स्कन्दगुप्त के प्रणय को मोल लिया गया है। मंगल द्वारा ऋषिकुल की बात चलाई जाने पर परित्यक्ता तारा के रोयें खड़े हो जाते हैं। वह सोचने लगती है—मंगल क्या है? देवता है? उसी समय उसे अपने तिरस्कृत हृदय पिंड का ध्यान [illegible] गया। उसने मन में सोचा—

'पुरुष को उसकी क्या चिन्ता हो सकती है...उसने कहा—मंगल ही नहीं, सब पुरुष राक्षस हैं, देवता कदापि नहीं हो सकते।'

—कंकाल, पृष्ठ १०६।

कालिन्दी को शतधनुष ने अपनी कामवासना की पूर्ति के लिए पकड़ मंगवाया था। लेकिन जिस दिन वह प्रासाद में आई संयोगवश उसी दिन शतधनुष की मृत्यु हो गई। और एक बार जब वह अपने जीर्ण गृह से निकल आई है, तो अब अपने इस अपराध का प्रतिशोध लेना चाहती है, वह मौर्यों का विनाश किया चाहती है, क्योंकि उन्होंने नन्दों का विनाश किया था। वह अग्निमित्र से कहती है—

'हां, मैं सावधान हूं, प्राण हथेली में लिए मैं किसी भविष्य की प्रतीक्षा में हूं मित्र।'

—इरावती, पृष्ठ ५६।

कठोरता की यह भावना कोमल मना ध्रुव-स्वामिनी के चरित्र में स्पष्ट प्रतिलक्षित होती है। जब उसकी निष्ठा को उपहार में देने की वस्तु कह कर उपहास का उपक्रम होता है, तब वह कठोर होकर, रामगुप्त, सामाजिक और धार्मिक विधान तथा आडम्बर पूर्ण व्यवहार सभी का प्रतिशोध करती है, और उनके उस नवीन स्वरूप में नारी का गर्जन मुखर हो उठता है।

सरमा[1] जातीय एकता के लिए जीवन के सुखों को तिलांजलि देकर नवीन स्वरूप में उपस्थित होती है। वह नागकुल से अपमानित होकर अपने कठोर स्वभाव को स्वरूप देती है।

राज्य श्री, जो विमला के सम्मुख भूली हुई यातना, अन्याय और अत्याचार की कहानी कहते कहते करुणा को सजीव कर देती है, वही राज्य श्री देवगुप्त से अपमानित होकर अपने सम्मान की रक्षा के हेतु कठोर होकर तिरस्कार भी कर सकती है—

'तुम देवगुप्त मुझसे बात करने के अधिकारी नहीं हो। मैं तुम्हारी दासी नहीं हूं। एक निर्लज्ज प्रवंचक का इतना साहस।'

—राज्य श्री, पृष्ठ ३८

नारी-मन की कोमलता कठोरता विषयक यह भावना कामायनी में सुन्दर रूप से प्रकट हुई है :—

'नारी का वह हृदय ! हृदय में
सुधा-सिन्धु लहरें लेता,
बाड़व-ज्वलन उसी में जल कर
कंचन-सा जल रंग देता।'

—कामायनी, पृष्ठ २१९

१—'जनमेजय का नागयज्ञ' की पात्री।

कठोरता-कोमलता की इस पार्श्व-भूमि में कुछ रहस्यमय नारी-चरित्र विकसित हुए हैं। देवदासी की 'पद्मा' का चरित्र उनमें से एक है जिसकी विस्तृत व्याख्या 'प्रसाद के नारी सम्बन्धी सामान्य आदर्श' वाले प्रकरण में 'मनोवैज्ञानिक पक्ष' के अन्तर्गत की जा चुकी है। इसी कोटि के अन्य चरित्र लैला, चम्पा, फिरोजा तथा मधूलिका आदि हैं।

'रमला' कहानी की पात्रा गोप-पालिका 'रमला' अपने व्यवहार में स्वच्छन्द है। वह एक दिन खेल खेल में, मंजुल द्वारा पहाड़ी से गिरा दी जाती है। कुछ दिनों के बाद नीचे झील के पास उसका परिचय साजन—अपने पुराने गोप-सहचर से होता है। वह उसके साथ रहने लगती है। परन्तु साथ-साथ रहते हुए भी वे अलग-अलग रहते हैं। एक दिन रमला और साजन अपने गांव में आते हैं। वहां रमला युवक मंजुल से मिलती है। वह तब साजन को छोड़ देती है। साजन झील के देश में एकाकी लौट आता है।

इसी प्रकार लैला के मन में महान अन्तर्द्वन्द्व चलता है। वह एक क्षण श्रीनाथ का खून करने के लिये तैयार हो जाती है, दूसरे क्षण उसे अपना दोस्त मानती है। चम्पा के स्वभाव में भी बुद्ध गुप्त के प्रति ठीक यही भावना प्रकट हुई है। मधूलिका पहले अरुण का प्रणय अस्वीकार करती है, फिर उसी के लिए देश-विद्रोहिनी बनने में भी नहीं हिचकती। उसका संघर्ष यहीं पर नहीं रुक जाता, वरन् वह अपने अरुण को बन्दी भी बनवा देती है, और जब उसे विद्रोह के अपराध में प्राण-दण्ड मिलता है, तो स्वयं भी अरुण के साथ इसी प्रकार दंडित हो जाना चाहती है। फ़िरोजा बलराज को इसीलिये प्यार करती है कि वह एक नारी को प्यार करता है। वह यह नहीं समझ पाती कि एक नारी को प्यार करने वाले पुरुष से किस प्रकार घृणा की जाए। यहाँ पर बरबस ही प्रेमचन्द जी के 'गबन' की जोहरा याद आ जाती है। वह भी रमानाथ की सहायता इसीलिए करती है कि वह एक नारी से—जालपा से—सच्चा स्नेह करता है। इसी प्रकार फिरोजा बलराज से कहती है—

'बलराज, न जाने क्यों मैं तुम्हें मरने देना नहीं चाहती। वह तुम्हारी राह देखती हुई कहीं जी रही होगी, तब ? आह ! कभी उसे देख पाती, तो उसका मुंह चूम लेती। कितना प्यार होगा उसके छोटे से हृदय में।'

सामान्यत: नारी का मन ऐसे अवसरों पर ईर्ष्या से जल उठता है, जैसा कि प्रसाद जी ने कई पात्रों में चित्रित किया है। विजया, लैला आदि के चरित्र इसी रूप में देखे जा सकते हैं। परन्तु नारी कब क्या सोच ले, इसके विषय में निश्चय और विश्वास पूर्वक कुछ नहीं जा सकता। प्रसाद जी ने नारी मनोविज्ञान के सूक्ष्म चित्र उपस्थित किए हैं। उनके सीधे चरित्रांकन में वैशिष्ठ्य नहीं है, परन्तु विशिष्ठ चरित्रों के अंकन

में—गूढ़ मनोवृत्ति का संघर्ष उपस्थित करते हुए, नारी के आचरण का रहस्यमय पहलू प्रकट कर उन्होंने विशेष प्रकार के मनोविज्ञान की झांकियां प्रस्तुत की है। उपर्युक्त पंक्तियों में विवेचित चरित्र इसी असामान्य आचरण का भाव प्रकट करते हैं। प्रसाद जी ने नारी के इस असाधारण मनोविज्ञान को विशेष रूप से प्रणय प्रसंगों के अन्तर्गत ही गूंथा है। मन में भरा हुआ अपरिमित स्नेह, स्वयं में एकनिष्ठा के भाव का प्राचुर्य, विरोधी मनोवृत्तियों का पारस्परिक संघर्ष और मन की कोमल तथा उदार वृत्ति एवं परिस्थितिवश कठोर हो जाने का विरोधी स्वाभाविक गुण प्रसाद की नारी के इस असाधारण मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया के कारण कहे जा सकते हैं। इसी लिए उनके नारी-मनोविज्ञान की अभिव्यक्ति स्पष्ट रेखाओं में विभाजित नहीं हुई है। नारी के असाधारण मनोविज्ञान का सूक्ष्म विश्लेषण, विस्तृत अध्ययन एवं वैचारिक विवेचन करने के पश्चात् भी वे उसे अत्यन्त जटिल, दुर्बोध तथा रहस्यमय ही मानते हैं। अपनी अन्तिम कृति 'इरावती, के पात्र अग्निमित्र के माध्यम जैसे उन्होंने अपनी ही भावना व्यक्त की है—

'चुप रहो कालिन्दी। मैं स्त्रियों के प्रेम का रहस्य नहीं समझ पाता हूं। जब पेट चंचल लास्य से मन को'''अथवा जाने दो, मैं प्रणय के स्वाध्याय का असफल विद्यार्थी हूं। (पृष्ठ ५३)।

प्रकरण— १०

प्रसाद की सांस्कृतिक नारी

(अ) आरम्भ

(ब) उदात्त भावना

(स) राष्ट्रीय स्वरूप

आरम्भ

राष्ट्रीय नवोत्थान की प्रेरणा में प्रसाद जी का साहित्य भारत की अतीत समृद्ध संस्कृति के बहुरंगी चित्र लेकर उपस्थित हुआ है। सामान्यतः संस्कृति शब्द का अर्थ व्यापक अर्थों में व्यवहरित होता है। विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न प्रकार से इस शब्द की व्याख्या प्रस्तुत की है। संस्कृति का शाब्दिक अर्थ संशोधन, सुधार अथवा परिष्कार आदि होता है। लावी के अनुसार संस्कृति 'समस्त सामाजिक परम्परा है।'[१] लिंटन इसे 'सामाजिक विरासत कहता है[२]।' हर्स कोविट्स के मत में संस्कृति मनुष्य का 'समस्त सीखा हुआ व्यवहार' है अर्थात् वे वस्तुएं जो मनुष्यों के पास हैं, वे वस्तुएं जो वे करते हैं, और वह सब जो वे सोचते हैं, संस्कृति है[3]। टाइलर ने उन्नीसवीं शती के अन्तिम चरण में संस्कृति की प्राचीनतम व्यापक परिभाषा उसे वह जटिल तत्व कह कर दी थी, जिसमें नीति, कानून, रीति-रिवाज तथा दूसरी उन योग्यताओं और आदतों का समावेश है, जिन्हें मनुष्य सामाजिक प्राणी होने के नाते प्राप्त करता है[४]। मैलिनाउस्की के अनुसार संस्कृति सामाजिक विरासत है, जिसमें परम्परा से पाया हुआ कला-कौशल वस्तु सामग्री, यांत्रिक क्रियायें, विचार, आदतें और मूल्य समावेशित हैं[५]।

भारतीय विद्वानों में श्री ब्रह्मानन्द सरस्वती का मत है कि जिन चेष्टाओं द्वारा मनुष्य जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में प्रगति करता हुआ सुख-शान्ति की प्राप्ति करता है, वे ही संस्कृति कही जा सकती हैं[६]। करपात्री जी 'लौकिक, पारलौकिक, धार्मिक आध्यात्मिक, आर्थिक, राजनैतिक, अभ्युदय के लिए उपयुक्त देहेन्द्रिय, मन, बुद्धि,

---

नोट—उद्धरण क्रमांक १ से ५ तक—संस्कृति का दार्शनिक विवेचन : डा० देवराज; पृष्ठ १४३ से उत्कथित।

६—कल्याण : हिन्दू संस्कृति अंक, पृष्ठ २४।

अहंकार आदि की भूपग्रभूत सम्यक चेष्टाओं और हलचलों को ही संस्कृति मानते हैं[1]।'

डा० सम्पूर्णानन्द का मत है कि संस्कृति उस दृष्टिकोण को कहते हैं जिसमें कोई समुदाय विशेष जीवन की समस्याओं पर दृष्टि-निक्षेप करता है। यह दृष्टिकोण कई बातों पर निर्भर करता है। थोड़े में कह सकते हैं कि समुदाय की वर्तमान अनुकृतियाँ और पुरातन अनुभूतियों के संस्कारों के अनुरूप उसका दृष्टिकोण होता है[2]। राजगोपालाचारी के अनुसार किसी भी जाति अथवा राष्ट्र के शिष्ट पुरुषों में विचार, वाणी और क्रिया का व्याप्त रूप ही संस्कृति है[3]। डा० वासुदेव शरण अग्रवाल संस्कृति की व्याख्या 'मनुष्य के भूत, वर्तमान और भावी जीवन के सर्वांगपूर्ण प्रकार' के रूप में करते हैं[4]। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी सभ्यता के आन्तरिक प्रभाव को ही संस्कृति मानते हैं। उनके मत में सभ्यता समाज की बाह्य व्यवस्थाओं का नाम है, संस्कृति व्यक्ति के अन्दर के विकास का[5]। डा० गुलाबराय के अनुसार संस्कृति शब्द का सम्बन्ध संस्कार से है, जिसका अर्थ है संशोधन करना, उत्तम बनाना, परिष्कार करना। संस्कृत शब्द का भी यही अर्थ है, और संस्कार व्यक्ति के भी होते हैं, और जाति के भी, किन्तु जातीय संस्कारों को ही संस्कृति कहते हैं[6]। डा० सत्यकेतु के अनुसार मनुष्य द्वारा अपनी बुद्धि प्रयोग के बल पर विचार और कर्म के क्षेत्र में किया गया सृजन ही संस्कृति है[7]। श्री रामधारी सिंह दिनकर ने चार अध्यायों में भारतीय संस्कृति की कहानी प्रस्तुत करते हुए, संस्कृति की उदार, सरल और सुगम्य परिभाषा की है। उनके अनुसार 'संस्कृति, जिन्दगी का एक तरीका है, और यह तरीका सदियों से जमा होकर उस समाज में छाया रहता है, जिसमें हम जन्म लेते हैं। इसलिए जिस समाज में हम पैदा हुए हैं, अथवा जिस समाज से मिल कर हम जी रहे हैं, उसकी संस्कृति हमारी संस्कृति है, यद्यपि अपने जीवन में हम जो संस्कार जमा करते हैं, वह भी हमारी संस्कृति का अंग बन जाता है, और मरने के बाद हम अन्य वस्तुओं के साथ अपनी संस्कृति की विरासत भी अपनी संतानों के लिए छोड़

१—कल्याण : हिन्दू संस्कृति अंक, पृष्ठ ३५।

२—कल्याण : हिन्दू संस्कृति अंक, पृष्ठ ७०।

३—वही, पृष्ठ ६३।

४—कला और संस्कृति, पृष्ठ १।

५—विचार और वितर्क, पृष्ठ १८१।

६—भारतीय संस्कृति की रूप रेखा, पृष्ठ १।

७—भारतीय संस्कृति और उसका विकास, पृष्ठ २०।

जाते हैं। इसलिए संस्कृति वह चीज मानी जाती है, जो हमारे सारे जीवन को व्याप्त हुए हैं तथा जिसकी रचना और विकास में अनेक सदियों के अनुभवों का हाथ है।

—संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ ६५३।

उपर्युक्त व्याख्या के आधार पर हम कह सकते हैं कि संस्कृति का सम्बन्ध व्यक्ति और जाति के परम्परागत आचार, व्यवहार, नियम, रुचि, मान्यता, विश्वास तथा संस्कारों से सम्बद्ध होता है। जीवन के सभी क्षेत्रों में इनका हाथ होता है। इनके ही द्वारा उस जाति, वर्ग अथवा देश के संस्कारों को अभिव्यक्ति प्राप्त होती है। इस प्रकार संस्कृति को हम 'संस्कारों का इतिहास' कह सकते हैं।

भारतीय संस्कृति विश्व मैत्री, राष्ट्र प्रेम, मानवतावाद आदि उच्चतम आदर्शों के साथ साथ क्षमा, त्याग, शान्ति, करुणा, सहयोग, उदारता, सामंजस्य, संतोष, सहिष्णुता, विश्वास, निस्वार्थ भावना, सत्यनिष्ठा, संयम, आतिथ्य सत्कार, प्राणी मात्र के प्रति सहज स्नेह तथा पति-व्रत के उदात्त गुणों की आधार शिला पर ही खड़ी हुई है। इन सब महान् आदर्शों के आलोक में भारतीय संस्कृति का उज्ज्वल रूप देखा जा सकता है। प्रसाद जी अपने नारी-पात्रों के चरित्रांकन में भारतीय संस्कृति के इसी महान् स्वरूप को अभिव्यक्त करते हैं। उन्हें अपनी प्राचीन संस्कृति से बड़ा मोह रहा है। भारतीय इतिहास और संस्कृति के प्रति इस अनुराग के मूल में प्रसाद जी की राष्ट्रीय भावना कार्य करती है। वे एक ऐसे युग में उत्पन्न हुए थे जबकि देश दासता के बन्धनों से मुक्त होने का प्रबल प्रयत्न कर रहा था। अन्य कलाकारों की भाँति उन्होंने भी इसमें सहयोग दिया। उनकी भावना सामान्य राष्ट्रीयतावादी कवि से किंचित् भिन्न है। मैथिलीशरण गुप्त के कवि का राष्ट्रीय स्वरूप स्पष्ट ज्ञात होता है। प्रसाद का दृष्टिकोण सांस्कृतिक अधिक है। वे किसी क्रान्तिकारी कवि की भाँति उद्‌बोधन-गीत नहीं गाते लगते, किन्तु क्रमशः एक ऐसी परिस्थिति की योजना करते हैं, जिसमें राष्ट्र की संस्कृति और परम्परा का चित्र हो[1]।'

प्रसाद जी ने समय की आवश्यकता को समझ कर भारतीय नारी में भारतीय संस्कृति के उदात गुणों को—अधिष्ठित करते हुए उसे राष्ट्रीय योजना में जो नवीन स्वरूप प्रदान किया, वह उनके साहित्य—विशेषतया नाटक साहित्य की आधुनिक भारत को एक अमूल्य देन है। उनके सभी नाटक सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर ही लिखे गए हैं। जैसा कि ऊपर कह आए हैं कि 'आर्य-संस्कृति में उन्हें गहन आस्था थी, इसी लिये उनके नाटकों में भारत के इतिहास का प्रायः वही परिच्छेद है, जिसमें उसकी

१—डा० प्रेम शंकर: प्रसाद का काव्य, पृष्ठ ५६०।

संस्कृति अपने पूर्ण वैभव में थी[1]। वे भारतीय संस्कृति पर मुग्ध थे। स्वभाव से चिन्तन-शील और कल्पना प्रधान होने के कारण वे उसी युग में रहते थे। वे विदेशी छाया से आच्छादित भारतीय जीवन को फिर से उसी स्वर्ग की ओर प्रेरित करने की बात सोचा करते थे। उन्होंने भारतीय संस्कृति के बिखरे अवयवों को जोड़ कर अपनी भावुकता, चिन्ता व कल्पना द्वारा उसमें प्राण संचार किया[2]।

प्रसाद जी के मन में आरम्भ से ही नारी जाति के प्रति श्रद्धा-सिक्त भावना विद्यमान थी। अतः सांस्कृतिक चेतना और पुनरुत्थान के महान् आदर्श की स्थापना, तथा राष्ट्रीय भावना के विकास को भी उन्होंने नारी-चरित्रों के माध्यम से ही व्यक्त किया है। उनका विश्वास था कि राष्ट्रीय समुन्नति के साथ साथ लोक मंगल की साधना भी परम आवश्यक है, और लोक-मंगल की साधना नारी द्वारा अधिक सम्भव है, इसीलिए नारी का सांस्कृतिक निरूपण उनकी साहित्यिक साधना का मुख्य विषय बना। नारी चरित्रों के माध्यम भारत की प्राचीन संस्कृति के द्वार को अनावृत कर, उन्होंने राष्ट्रीय गौरव एवं ऐश्वर्य-शाली अतीत का पुनरुद्धार किया है। और उनकी आँखों में वही सपना झूल उठा है, जो कभी कालिदास की आँखों में झूल उठा था[3]। उनके नारी-चरित्र जातीय गौरव, राष्ट्र प्रेम और विश्व-मंगल आदि की उदात्त प्रवृत्तियों से गौरवान्वित हुए हैं। उनकी सत्प्रेरणा पुरुषों को सत्कार्यों और राष्ट्रीय हितों की ओर प्रोत्साहित और प्रेरित करती हैं। अपनी अन्य उदात्त प्रवृत्तियों से वे सामाजिक भावभूमि में उच्चादर्श स्थापना के पुनीत कार्य में संलग्न होती हैं, तथा मानवतावाद की प्रतिष्ठा में अपने मन की सम्पूर्ण सच्चाई और निष्ठा के साथ अग्रसर दिखाई पड़ती हैं।

उपर्युक्त कथन के आधार पर प्रसाद जी की सांस्कृतिक नारी का अध्ययन दो विभिन्न विभागों के अन्तर्गत स्पष्टता और सरलतापूर्वक किया जा सकता है। पहले विभाग में हम उनके उदात्त गुणों की विवेचना करेंगे, जिनके कारण वे पुरुष से उच्च शीर्ष पर आसीन होती है, और दूसरे विभाग के अन्तर्गत उनके राष्ट्रीय स्वरूप का अध्ययन, जो आज की राष्ट्रीय परिस्थिति में उनके व्यक्तित्व को और भी अधिक महत्व प्रदान करता है।

उदात्त भावना

प्रसाद जी की संस्कृतिनिष्ठ उदात्त-भावना देवसेना, मालविका, मल्लिका, कार्नेलिया, श्रद्धा, तितली, ममता, वासवी, पद्मावती, सरमा, मणिमाला, वपुष्टमा,

---

१—डा० नगेन्द्र : प्रसाद के नाटक; जयशंकर प्रसाद, चिन्तन व कला, में संकलित, पृष्ठ १६६।

२—जय शंकर प्रसाद : चिन्तन व कला, पृष्ठ १६७।

३—राम रतन भटनागर : प्रसाद साहित्य और समीक्षा, पृ० २१०।

देवकी, कोमा और चन्द्रलेखा आदि नारी-पात्रों में अभिव्यक्त हुई है।

देवसेना प्रेम, त्याग, वेदना और कोमलता की साकार, सुन्दर मूर्ति है। उसके हृदय की विशालता, स्वभाव की उदारता और व्यवहार की—निःस्वार्थपरता उसके जीवन में करुणा के विस्तार के लिए उत्तरदायी है। उसके चरित्र की आदर्शवादिता में भी व्यावहारिक व्यक्तित्व की—अपूर्णता विद्यमान है। उसके व्यवहार की अलौकिकता में गाम्भीर्य का आच्छादन सुशोभित है तथा 'गाम्भीर्य की सहयोगिनी दृढ़ता' भी उसमें उच्च कोटि की है। देवसेना की विचारधारा कुछ उच्चतर भावभूमि पर चलती है। उसके जीवन का आदर्श एकान्त टीले पर, सबसे अलग, शरद के सुन्दर प्रभात में फूला हुआ, पारिजात वृक्ष है[1]। वह अपनी भावनाओं में रहस्यमयी और कल्पना के किसी सुख-कोने में बैठी हुई विचार निमग्न सी प्रतीत होती है। उसकी दृष्टि में प्रत्येक परमाणु के मिलन में एक सम है, प्रत्येक हरी-हरी पत्ती के हिलने में एक लय है······पक्षियों को देखो, उनकी चह-चह, कल-कल, छल-छल में, काकली में एक रागिनी है।'

—स्कन्दगुप्त, पृ० ५४

देवसेना के चरित्र में उदारता का रंग उभरा हुआ है। देश-कल्याण के लिए मालव के राज्य को देने में वह जयमाला के सम्मुख कितनी उदार भावना प्रकट करती है—'क्षुद्र स्वार्थ। भाभी जाने दो, भैया को देखो। कैसा उदार, कैसा महान् और कितना पवित्र।'

—स्कन्दगुप्त, पृ० ७१

बंधुवर्मा के साथ युद्ध-भूमि में जाकर आहत वीरों की सेवा का कार्य उसकी सेवा-वृत्ति का आदर्श प्रस्तुत करता है। नीच भावनाओं से भ्रष्ट नागरिकों की बातों का वह तनिक भी बुरा नहीं मानती[2]। ऐश्वर्य और वैभव के मध्य लाड़-प्यार से पली होने पर, विषम परिस्थितियों में गाकर भीख माँग लेने पर भी वह अपने दुःख को प्रकट नहीं करती[3]। शान्ति से वह इन सब विभीषिकाओं को सहती चलती है। सहिष्णुता की यह चरमता उसके व्यक्तित्व को और भी निर्मल बना देती है। देवसेना का उदात्त स्वरूप उसके प्रणय-प्रसंग में अपने महान् उत्सर्ग की पीठिका पर अभिव्यक्त हुआ है। वह स्कन्दगुप्त को अपनी प्रतिस्पर्धिनी विजया के हाथ सौंपकर भी उससे कभी विद्वेष प्रकट नहीं करती। सुख-दुःख दोनों अवसरों पर समान आचरण और व्यवहार उसके चारित्रिक समरसता की आदर्श प्रतिष्ठा करता है। संगीत उसके

१—डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन, पृ० १०२ उत्कथित।

२—स्कन्दगुप्त, पृ० १३७।

३—वही, पृ० १६६।

जीवन का राग है। जहाँ वह मन की वेदना को मधु बना कर सम-भाव से उसे अपनाए, चलती है। देवसेना का चरित्र आदर्श और अलौकिक होते हुए भी व्यावहारिक जीवन में प्रतिष्ठित होने के कारण परम लोकोपयोगी एवं मंगलमय है। वास्तव में देवसेना प्रसाद जी की अमर कल्पना का प्रसाद है[1]।

देवसेना के चरित्र के समानान्तर परन्तु उससे कम विकसित 'चन्द्रगुप्त' की मालविका का चरित्र है। भारतीय संस्कृति की करुण भावना और उत्सर्ग का उदात्त गुण उसके इस चरित्र में अपनी सच्ची अभिव्यक्ति पा सका है। वह सेविका, दूती और ताम्बूलवाहिनी के रूप में राजनैतिक जीवन से परिचित होती है। लोगों की सेवा करती है और अपने मन से किसी स्वच्छ अन्तरिक्ष में अपने प्रणय के शिशु को पाले हुए उसकी मंगल कामना में ही अपने जीवन का अन्त कर देती है। वह विशाल जन-समूह में एक सुगन्ध-धारा बनकर आती है और झुटपुटा-सा प्रभाव छोड़कर विलीन हो जाती है। यही उसके जीवन की व्याख्या है और इसी में उसका व्यक्तित्व स्फुट हुआ है[2]। अहिंसामय और सेवाव्रतिनी नारी के रूप में उसके चरित्र की उदात्तता मन में करुण छाया सी छोड़ जाती है।

प्रसाद जी की सांस्कृतिक नारी-कल्पना का भव्य रूप मल्लिका के रूप में मूर्तिमान हुआ है। उदार सेवा, कर्तव्य-निष्ठा, सहिष्णुता, निष्कपट पति-परायणता, करुणा, स्नेह, विश्वमैत्री एवं राष्ट्र-प्रेम - सभी कुछ उसकी चारित्रिक विशेषताओं के अमूल्य रूप में प्रकट हुए हैं। आततायियों के प्रति भी वह उदारतापूर्ण व्यवहार करती है तथा अपने आचरण की दृढ़ता से उन्हें शान्ति, सौजन्य और मर्यादा का पाठ पढ़ाती है। पति के हत्या-विषयक षड्यन्त्र को जान कर भी वह उन्हें कर्तव्य से विमुख कराने में विश्वास नहीं करती। वीरता के गौरव से भरी हुई वह कहती है—

'कठोर कर्मपथ में अपने स्वामी के पैर का कंटक मैं नहीं बनना चाहती। वह मेरे अनुराग, मेरे सुहाग की वस्तु है। फिर भी उसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व है, जो हमारी शृंगार मंजूषा में बन्द करके नहीं रखा जा सकता।'

—अजातशत्रु, पृ० ७४

कर्तव्य की इस उदात्त भावना के साथ-साथ उसमें अतिथि भाव की मर्यादा भी उसी भाव में विद्यमान है। वैधव्य के कठोर दुःख को सहन करते हुए वह अपनी विषम परिस्थिति में आतिथ्य धर्म का पालन धैर्य और निष्ठा के साथ सम्पन्न करती है। उसका यह कथन—

१—जगदीश नारायण दीक्षित : प्रसाद के नाटकीय पात्र, पृ० १०२।

२—जगन्नाथ प्रसाद शर्मा : प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन, पृ० १६६।

'नहीं सरला ! मैं भी व्यवहार जानती हूं, आतिथ्य परम धर्म है । मैं भी नारी हूं, नारी के हृदय में जो हाहाकार होता है, वह मैं अनुभव कर रही हूं । जी रो उठता है, तब भी कर्त्तव्य करना ही होगा[1] ।

—उसकी उदारता को महत्वपूर्ण बना देता है।

उदयन के द्वारा घायल हुए विरुद्धक की वह सेवा करती है तथा उसके पिता से उसे क्षमा दान दिलवा कर उसे युवराज के पद पर अधिष्ठित कराती है। न्याय और सहनशीलता उसके स्वभाव के प्रमुख अंग बनकर प्रकट हुए हैं। विश्व-मैत्री का उदात्त रूप उसके चरित्र में चित्रित हुआ है। वह जीवन के सुख-दुःखों, उत्थान-पतन और शत्रु-मित्र के मध्य सदैव ही समदृष्टि रखती है । यह उसके जीवन की उच्च और आदर्श स्थिति है । 'स्त्री-सुलभ सौजन्यता और संवेदना, कर्त्तव्य और धैर्य की शिक्षा' को वह व्यवहार-क्षेत्र में अपने पुनीत आचरणों द्वारा सार्थकता प्रदान करती है। उसके चरित्र में सद्वृत्तियों का चूड़ान्त निदर्शन हुआ है। 'वह अपने महान् गौरव-शाली गुणों की गरिमा के द्वारा सामान्य लौकिक धरातल से बहुत ऊंची उठी प्रतीत होती है[2] । यह कहा जा सकता है कि गौतम की आत्मा को मल्लिका के व्यवहार में ही सही अभिव्यक्ति मिली है।

प्रसाद जी 'संस्कृति को विभिन्न मानवीय अर्जन का समन्वय मानकर चलते हैं, जो कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं किन्तु विभिन्न क्षेत्रों मे अर्जित मानव-श्रम का नवनीत है । उनका कथन था कि भारतीय जीवन-दर्शन का आशावादी स्वरूप समन्वय की भीत्ति पर आधारित होकर ही इतना उन्नत हो सकता है[3] ।' इसी प्रकार वे विभिन्न संस्कृतियों के समन्वय पर भी विश्वास करते हैं, परन्तु भारतीय संस्कृति को उन्होंने प्राथमिकता प्रदान की है। इसीलिए उनके विदेशी पात्र भी इस पौर्वात्य संस्कृति से प्रभावित हो, उसी के स्वर में बोलने लगते हैं । ग्रीक नवकुमारी कार्नेलिया का तन भले ही यूनान का रहा हो, किन्तु उसमें पैठी हुई आत्मा शुद्ध भारतीय है । उसकी भावनाओं में भारतीय संस्कृति की उदात्तता मुखरित होती है। वह भारत के नैसर्गिक सौन्दर्य, यहां के ज्ञान-विज्ञान, दर्शन, संगीत आदि सभी से प्रभावित है । उसके लिए यह स्वप्नों का देश, त्याग और ज्ञान का पालना, प्रेम की रंगभूमि तथा मानवता की जन्म-स्थली सब कुछ तो है, तभी उसे इस देश से जन्म-भूमि के समान स्नेह होता जाता है[4] । इसी प्रभाव के कारण वह भारतीय और ग्रीक युद्ध में चाणक्य की ही

१—अजातशत्रु, पृ० ८३ ।

२—जगदीश नारायण दीक्षित : प्रसाद के नाटकीय पात्र, पृ० १५८ ।

३—पं० नन्द दुलारे वाजपेयी, प्रसाद का साहित्य (संकलन); पृ० १९३ ।

४—चन्द्रगुप्त, पृ० १४५ ।

विजय मानती है,[1] तथा भारत को रक्त-रंजित नहीं देखना चाहती। उसके द्वारा सेल्यूकस की महत्त्वाकांक्षा को दबाने की पृष्ठभूमि में भी यही भावना विशिष्ट है। वररुचि के शब्दों में वह यवन बाला सर से लेकर पैर तक आर्य-संस्कृति में पगी है। इसीलिए भारतीय संस्कृति का पाठ वह बार-बार दोहराना चाहती है, उसे भूलना नहीं चाहती[2]। अपने स्वभाव की इसी उदात्त-वृत्ति के कारण जैसे उसे भारतीय संस्कृति द्वारा चन्द्रगुप्त का उपहार दिया जाता है।

कार्नेलिया की भांति 'तितली' की अंग्रेज रमणी शैला भी भारतीय संस्कृति से प्रभावित है। इन्द्रदेव की माता से विनीत व्यवहार, गाँव वालों के साथ अलाव पर बैठकर उनके दुःख-सुख की चर्चा, भारतीय जीवन की दीक्षा प्राप्ति और संस्कृत भाषा का अध्ययन उस पर भारतीय संस्कृति का प्रभाव ही स्पष्ट करते हैं। उसके चारों ओर भारतीय वायुमण्डल हवन, धूप, फूलों और हरियाली से स्निग्ध हो रहा होता है। जिसकी निर्मलता में वाट्सन के हृदय से उसके प्रति द्वेष का आवरण हट जाता है। इसके बदले अब उसके सौन्दर्य में वह श्रद्धाभाव एवं मैत्री को विकसित करने की चेष्टा करता है[3]।

यहीं पर प्रसाद जी भारतीय और पाश्चात्य संस्कृति का विभेद-निर्देशन भी करते हैं। शैला एक स्थान पर इन्द्रदेव से कहती है—

'तुम्हारे भारतीय हृदय में जो कौटुम्बिक कोमलता में पला है, परस्पर सहानुभूति की—सहायता की बड़ी आशाएँ परम्परागत संस्कृति के कारण, बलवती रहती हैं। किन्तु मेरा जीवन कैसा रहा है, उसे तुमसे अधिक कौन जान सकता है। मुझसे काम लो और बदले में कुछ दो।'

—तितली, पृ० ७६।

इस कथन से अवश्य ही भारतीय संस्कृति पाश्चात्य संस्कृति से ऊंची ठहरती है।

परन्तु अपनी इस संस्कारगत भावना के होते हुए भी वह भारतीय जीवन की ठोस मेहनत, संतोष से भरी, हंसती खेलती शान्ति से प्रभावित होती हुई, उसको अपनाने के लिए सभी सम्भव प्रयत्न करती है। कार्नेलिया की भाँति वह भी भारत को पवित्रता का देश मानती है—

'कहाँ भारत, कहाँ मैं और कहाँ इन्द्रदेव! और फिर तितली! जिसके कारण

१—चन्द्रगुप्त, पृ० ९८।

२—वही, पृ० १००।

३—तितली, पृ० ११६।

मुझे अपनी माता की उदारता के स्वर्गीय संगीत सुनने को मिले। यह पावन प्रदेश देखने को मिला।'

—तितली, पृष्ठ ७०।

प्रसाद जी ने अपने विदेशी नारी-पात्रों को भारतीय संस्कृति से प्रभावित करने में बड़ी रुचि दिखलाई है। 'कंकाल' की मारगेरेट लतिका बन कर भारतीय ढंग से रहती है। उसे भारतीय गृहिणी का रूप प्रभावित किए हुए हैं। उसका पति भारतीय गृहिणीत्व की सुन्दर योजना को अन्यत्र दुर्लभ मानता है। एक स्थान पर वह कहता है—

'इतना आकर्षक, इतना माया ममतापूर्ण स्त्री-सुलभ गार्हस्थ्य जीवन और किसी समाज में नहीं।'

—कंकाल, पृष्ठ १२१।

इसी प्रकार 'शरणागत', कहानी की एलिस, सुकुमारी के भारतीय ढंग एवं व्यवहार से प्रभावित होती है। उसकी सलज्जता, सेवा भावना, संयम तथा आतिथ्य सत्कार जो भारतीय संस्कृति के मुख्य अंग हैं, उसको लुभा लेते हैं। वह सुकुमारी के घर गाऊन पहने, घोड़े पर बैठ कर आई थी, किन्तु जाते समय वह रेशमी लंहगा और कंचुकी पहने है। अधर पान की लाली से रक्तिम, आंखों में काजल, वेणी-रूप में संवारे गए केश और इन सब से विशेष उसके जाने के लिए घोड़े के स्थान पर पालकी आती है[1]।

भारतीय संस्कृति में नारी के पत्नी और गृहिणी रूप का विशिष्ठ स्थान है। प्रसाद जी के दृष्टिकोण से गृहस्थ नारी की मंगलमयी कृति, भक्ति की वस्तु है। जो साधारण संन्यास से भी दुष्कर और दम्भ विहीन उपासना है[2]। पत्नीत्व का यह रूप ध्रुवस्वामिनी, तितली और श्रद्धा के चरित्रों में व्यक्त हुआ है। रामगुप्त के साथ राक्षस-विवाह कर दिए जाने पर भी आत्म-पीड़न और उपेक्षा से क्षुब्ध ध्रुव-स्वामिनी उस समय तक कोई विरोध नहीं करती, जब तक कि रामगुप्त की नृशंसता तथा उसका क्लीवताजन्य दुर्व्यवहार उसकी मान-हानि तथा पत्नीत्व की मर्यादा का प्रश्न नहीं बन जाता। अपने पत्नीत्व की रक्षा के लिए वह कितनी झुक जाती है। स्वयं को उपहार में दिए जाने की बात सुन कर वह रामगुप्त से कहती है—

'मैं स्वीकार करती हूं कि आज तक मैं तुम्हारे विलास की सहचरी नहीं हुई। किन्तु मेरा वह अहंकार चूर्ण हो गया है। मैं तुम्हारी हो कर रहूंगी।'

—ध्रुवस्वामिनी, पृ० २६।

१—छाया में संकलित, शरणागत कहानी।

२—तितली, पृष्ठ १६८।

यह वास्तव में ही भारतीय संस्कृति का ही प्रभाव है कि जहाँ नारी अपने पत्नीत्व की सीमाओं को समझती है। उसी की रक्षा के लिए वह अपने अस्तित्व को मिटा देने के लिए भी संकोच नहीं करती।

श्रद्धा के चरित्र में भी यही पत्नीत्व की आदर्श-मर्यादा व्यक्त हुई है। मनु के चले जाने पर वह बावली सी भटकती हुई उसे खोज रही है—

'अरे बता दो मुझे दया कर
कहाँ प्रवासी है मेरा
उसी बावले से मिलने को
डाल रही हूं मैं फेरा।'

—कामायनी, पृष्ठ २११।

रूठ गया था अपनेपन से
अपना सकी न उसको मैं
वह तो मेरा अपना ही था
भला मनाती किस को मैं।

कामायनी, पृष्ठ २१२।

पति के लिए पत्नी ही सब कुछ है। पति की सेवा ही पत्नीत्व के आदर्श की कसौटी है। 'चित्रकूट' में सीता जी कहती हैं—

'नारी के सुख सभी पति के साथ रहते हैं।'

—कानन कुसुम, पृष्ठ १०३।

'प्रेम पथिक' में पुतली का विवाह उसके प्रेमी से न होकर किसी अन्य व्यक्ति से हो जाता है। फिर भी वह अपने पति के चरणों पर सम्पूर्ण निष्ठा के साथ समर्पित होती है—

'मैं भी सब-कुछ देकर वेतन-भुक्त पुजारी-सी, उस पत्थर का आराधन दिन-रात किया करती थी।'

—प्रेम पथिक: पृष्ठ २६।

तितली में नारी के गृहिणी रूप का आदर्श मूर्तिमान हो उठा है। अपनी सीमित सुविधाओं के माध्यम, वह अपनी छोटी-सी गृहस्थी का निर्माण करती है। वह उसी में सन्तुष्ट है। और उसको चलाने के लिए उसने एक व्यवस्थित तरीका अपना लिया है, जिसमें किसी भी परिस्थिति में कोई विक्षेप नहीं आ पाता। इन्द्रदेव उसके विषय में सोचते हैं—

'तितली, यही तो है। एक दिन मेरे साथ इसी के ब्याह का प्रस्ताव हुआ था।

उस समय मैं हंस पड़ा था, संभवतः मन-ही-मन। अपना दुर्बलता में, अभावों और लघुता में दृढ़ खड़ी होकर रहने में यह कितनी तत्पर है। यही तो हम खोज रहे थे न।......मैं तो समझता हूं इसके जन्म लेने का उद्देश्य सफल हो गया। तितली वास्तव में महीयसी है, गरिमामयी है। शैला—वह अपने लिए सब कुछ कर लेगी। स्वावलम्ब, हां, वह उसे भी पूरा कर लेगी। किन्तु स्त्री का दूसरा पक्ष—पति। उसके न रहने पर भी उसकी भावना को पूरी करते रहना, शैला से भी न हो सकेगा। वह अपने पैरों खड़ी हो सकती है, किन्तु दूसरे को अवलम्ब नहीं दे सकती।'

तितली, पृ० २४०।

इस प्रकार तितली के चरित्र की पर्वत सी अटलता, सागर-सा गाम्भीर्य और पृथ्वी-सी सहिष्णुता उसे समन्वित रूप से महान् बनाये हुए हैं।

श्रद्धा के स्वरूप में गृहणी भाव का सांस्कृतिक आदर्श प्रस्तुत किया गया है। श्रद्धा गृहस्थी के निर्माण कार्य में संलग्न हो कर अपने निवास के लिए एक छोटा-सा नव-कुटीर रचाती है; और मनु को उसे दिखाती है—

'थे वातायन भी कटे हुए
प्राचीर पर्णमय रचित शुभ्र
आवें क्षण भर तो चले जाएं
रुक जाएं कहीं न समीर, अभ्र'
उसमें था झूला पड़ा हुआ
वेतसी पूर्ण लता का सुरुचिपूर्ण
बिछ रहा धरातल पर चिकना
सुमनों का कोमल सुरभिचूर्ण।

—कामायनी, पृ० १४६।

इतना ही नहीं, श्रद्धा के चरित्र में भारतीय सांस्कृतिक नारी का सम्पूर्ण चित्र उपस्थित हुआ है। वह मानवता का पोषण करना चाहती है, हनन नहीं। मनु का अहेरी रूप उसे तनिक भी नहीं रुचता। वह उससे कहती है—

'मनु! क्या यही तुम्हारी होगी
उज्ज्वल नव-मानवता
जिसमें सब कुछ ले लेना हो
हन्त, बची क्या शवता।'

—पृ० १३०।

'भारतीय संस्कृति की दृष्टि से नारीत्व का चरम विकास उसके मातृत्व रूप में निहित है। विश्व के प्रति पुत्रवत् प्रेम मातृत्व का प्रधान गुण है। साथ ही प्राणी

मात्र के प्रति करुणा की भावना तथा निर्माण की—सृजन की इच्छा—सभी मातृत्व की मान-प्रतिष्ठा में सहायक होते हैं। श्रद्धा का चरित्र इन्हीं गुणों की पार्श्व-भूमि में चित्रित हुआ है। वह अपनी प्रकृति के अनुसार पशु, पाषाण और जीव सभी में नृत्य का नव छन्द देखती है—

पशु कि हो पाषाण, सब में नृत्य का नव छन्द
एक आलिंगन बुलाता, सभी को सानन्द।

—कामायनी, पृ० ८६।

उसके मन में प्राणी मात्र के प्रति दया की अजस्र धारा सतत प्रवाहित होती है। मनु को समझाते हुए वह कहती है—

पर जो निरीह, जी कर भी कुछ
उपकारी होने में समर्थ
वे क्यों न जियें उपयोगी बन
इसका मैं समझ सकी न अर्थ।

—पृ० ११६।

प्रणय के क्षेत्र में भी श्रद्धा भारतीय संस्कृति का ही स्वरूप उपस्थित करती है। प्रसाद जी की प्रेम-भावना 'भारतीय दर्शन और संस्कृति के अनुकूल है। हिन्दू संस्कृति की दृष्टि से वैवाहिक प्रेम एक ऐसा पुनीत असाधारण बन्धन है, जिससे मुक्ति, भारतीय नारी, मृत्यु के अनन्तर, शरीरान्तर में भी नहीं चाहती। भारतीय दृष्टि से व्यष्टि प्रेम एक ऐसा सम्बन्ध-सूत्र है जिसके द्वारा एक अनेक में बंधता हुआ सदा अभेदत्व की ओर बढ़ता रहता है[1]। प्रसाद जी ने श्रद्धा में इसी भाव की अभिव्यक्ति की है। साथ ही कर्त्तव्य के क्षेत्र में भारतीय संस्कृति का अनुगामी, सदैव ही अपना सम्बन्ध विश्वात्मा से जोड़ता है। वह अपने को सभी प्राणियों में और सभी प्राणियों को अपने में देखता है। श्रद्धा अपने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में इसी कर्त्तव्य के आदर्श का आचरण करती दिखलाई पड़ती है[2]। वह जीवन की उपयोगिता उपभोग में नहीं वरन् त्याग में मानती है। मनु जब अपने दो दिन के जीवन में लौकिक सुख को अधिक महत्त्व देने की बात कहते हैं, तब श्रद्धा उनसे कहती है—

'अपने में सब कुछ भर कैसे
व्यक्ति विकास करेगा ?

१—रामलाल सिंह, कामायनी अनुशीलन, पृ० २२५।
२—रामलाल सिंह, कामायनी अनुशीलन, पृ० २७।

यह एकान्त स्वार्थ भीषण है
अपना नाश करेगा।'
—कामायनी, पृ० १३२।

भारतीय संस्कृति में सामंजस्य का विशिष्ट स्थान है। विश्वासमयी श्रद्धा के चरित्र में इस सामंजस्य और समन्वय की पीयूष-मंदाकिनी प्रवाहित हुई है। श्रद्धा का चरित्र सही अर्थों में कोलाहलमय रंगमंच पर शान्ति का विश्राम-स्थल है। उसके अपने ही शब्दों में—

'तुमुल कोलाहल कलह में
मैं हृदय की बात रे मन।'

वास्तव में 'श्रद्धा नाम के अनुसार हृदय की सारी उदात्त वृत्तियों की वह साकार मूर्ति है। नारीत्व की शाश्वत प्रतिमाओं की प्रतीक है। सेवा उसकी साधना है, कर्म उसका साधन। त्याग उसका संकल्प है, विश्व-मंगल उसका व्रत। क्षमा उसका निलय है। सहिष्णुता उसका सम्बल। समरसता उसका सिद्धान्त है, परमार्थ उसका संतोष। अनुराग उसकी निधि है, करुणा उसका आभूषण। प्रकृति की गोद में उसका वास है, सुसंस्कृत जीवन उसका सरल है, पर सिद्धान्त बहुत ऊंचा। हृदय उसका कोमल है पर शरीर स्फूर्ति, दीप्ति और शक्ति से पूर्ण।'

—रामलाल सिंह : कामायनी अनुशीलन, पृ० ७६।

प्रसाद जी की नारी-सम्बन्धी उदात्त भावना अन्य पात्रियों के चरित्र में भी अभिव्यक्त हुई है। जहां वे अपने सामान्य जीवन में भी यह गुण लिए हुए हैं।' 'ममता' कहानी की ममता कुटीर में दुरावस्था के दिन बिताती हुई भी विधर्मी और आततायी का अतिथि-सत्कार करती है। राज्यश्री पति की इच्छा में ही सन्तोष मानती हं। उसकी अनुपस्थिति में सदैव उसी के विषय में सोचती है। उसके स्वरूप में धर्म-भाव से उद्दीप्त उत्साह एवं त्याग-भावना का सम्मिश्रण प्राप्त होता है[1]। उसके चरित्र' का विशेष गुण उदारता हैं। कोई याचक उसके द्वार से निराश और विमुख होकर नहीं जाता। क्षमा का गुण भी उसमें विशिष्ट है। विकट घोष सदृश नीचात्मा तक के प्रति भी वह कोई प्रतिहिंसा का भाव नहीं रखती, वरन् उसे क्षमा करने का अनुरोध करती हुई वह हर्षवर्धन से कहती है—

'आज हम लोगों ने सर्वस्व दान किया है भाई! आज महाव्रत का उद्यापन

१—जगन्नाथ प्रसाद शर्मा : प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन पृ० २२।

है। क्या यही एक दान रह जाय ? इसे प्राण-दान दो भाई[१]।'

महाश्रमण सु-एन चांग उसके चरित्र की इस दृढ़ता से अभिभूत है—

'सर्वस्व दान करने वाली देवी ! मैं तुम्हें कुछ दूँ। यह मेरा भाग्य । तुम्हीं मुझे वरदान दो कि भारत से जो मैंने सीखा है, वह जाकर अपने देश में सुनाऊँ।'

—राज्यश्री पृ० ७३।

निःसन्देह प्रसाद जी ने राज्यश्री के नारीत्व में भारतीय संस्कृति की उदारता का सम्पूर्ण चरित्र उपस्थित कर दिया है।

अजातशत्रु की वासवी का चरित्र क्षमा और वात्सल्य से आपूर्ण है । उसमें ममता की स्निग्धता व्याप्त है। वह अपने सौतेले पुत्र अजातशत्रु की कुटिलताओं से क्षुब्ध न होकर, उल्टे अपनी उदारता से उनका मन जीत लेती है । उसका चरित्र पवित्र उज्जज्वलता से पूर्ण है। प्रेम, दया और अपनत्व उसके जीवन के मन्त्र हैं । वह भारतीय आदर्शों का आरक्षण करने वाली नारी की शुद्ध प्रतिमूर्ति है। माता का स्नेह, सती का उत्तरदायित्व और नारी का गौरव उसमें मिलता है[३] । पति की त्याग तितिक्षा में वह साथ देती है। सन्तोष का गुण उसके चरित्र को वैशिष्ठ्य प्रदान करता है। संतोष-भावना की इस भूमिका के विस्तार में वह कहती है—

'भगवन् ! हम लोगों के लिए एक छोटा-सा उपवन पर्याप्त है। मैं यहीं नाथ के साथ रहकर सेवा कर सकूँगी।'

—अजातशत्रु, पृ० ३२।

अपनी सपत्नी छलना की कटूक्तियों तथा दुर्व्यवहार की उपेक्षा करते हुए वह सदैव ही उनकी कल्याण-कामना करती है। एक स्थान पर अपनी स्वाभाविक सहिष्णुता का परिचय देती हुई वह केवल इतना ही कहती है—

'बहिन, जाओ ! सिंहासन पर बैठकर राजकार्य देखो। व्यर्थ झगड़ने में तुम्हें क्या सुख मिलेगा ? और अधिक तुम्हें क्या कहूं ? तुम्हारी बुद्धि।'

—अजातशत्रु, पृ० ८८-८९।

उसकी सहिष्णुता का चरम उत्कर्ष बिम्बसार के इन शब्दों में व्यक्त हुआ है—

'वासवी, तुम मानवी हो कि देवी ?'

—अजातशत्रु, पृ० १४४

इसी नाटक की अन्य पात्रा मगध की राजकुमारी पद्मावती के चरित्र पर

२—राज्यश्री पृ० ७४।

३—गुलाबराय : प्रसाद जी कला, पृ० १२८।

वासवी के आदर्श गुणों की छाया स्पष्ट अंकित है । उसके चरित्र का प्रधान गुण करुणा है जो उसे गौतम के व्यक्तित्व की देन है । गौतम का अप्रतिभ व्यक्तित्व उसके लिए शुद्ध हृदय से उपासना की वस्तु है। वह विश्व-कल्याण की सद्भावना से प्रेरित अपने व्यक्तित्व में इस उदात्त गुण की स्थापना के लिए सतत प्रयत्नशील है। प्रसाद जी ने उसके चरित्र में सहिष्णुता, कोमलता, पति परायणता तथा विश्व-कल्याण कामना आदि भावों को प्रदर्शित कर उसके व्यक्तित्व को परम श्रद्धास्पद बना दिया है। वह कभी किसी का विरोध नहीं करती । सहनशीलता उसमें प्रभूत मात्रा में है। पति की प्रत्येक इच्छा के सम्मुख उसका सर नत है । उसके हृदय की सरलता और निश्छलता ही उसके हृदय की सबसे बड़ी शक्ति है।

स्कन्दगुप्त' की देवकी अपने उदात्त स्वरूप में महान् है । वह उदार धर्म-परायण, सत्यनिष्ठ और कोमल भावनामयी नारी है । निर्भीकता का गुण भी उसमें विद्यमान है। घोर आपत्तिकाल में उसका धैर्य अनुकरण की वस्तु है । वह विपत्ति के समय भगवान की 'स्निग्ध करुणा का शीतल ध्यान' करती है । जीवन की महान् करुणा के समारोह में भी वह दृढ़ता के साथ सभी विषमताओं का सामना करती हुई आगे की ही ओर देखती है । पुत्र-वियोग में उसका प्राण-त्याग करना उसके वात्सल्यपूर्ण स्वभाव का परिचायक है । धातुसेन के इन शब्दों में देवकी के उदात्त चरित्र की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है—

'आर्य नारी सती ! तुम धन्य हो। इसी गौरव से तुम्हारे देश का सिर ऊँचा रहेगा।'

'ध्रुवस्वामिनी' की कोमा विनम्रता, समर्पण, त्याग, करुणा, दैन्य आदि परम उदात्त गुणों के निदर्शन से भारतीय संस्कृति का स्वरूप अभिव्यक्त करती है । 'वह जीवन-मधु की अनुभूति से संचलित है ।' अभावमयी अपनी लघुता में वह इसीलिए स्वयं को महत्वपूर्ण नहीं दिखाना चाहती क्योंकि वह 'रूठने के सुहाग' से वंचित रही है। प्रणय के पन्थ की अनुगामिनी होकर उसे उत्पीड़न, निराशा और उपहास ही मिला है। फिर भी सब कुछ दैन्य और त्याग के बल पर सहती हुई वह अपने प्रेम का सफल निर्वाह करती है। शकराज के प्रति उसकी एकनिष्ठा अनन्य है, परन्तु उसके राजनीतिक प्रतिशोध का विरोध करना भी वह नहीं भूलती तथा पिता के आत्म सम्मान के लिए अपने प्रणय का त्याग भी कर देती है। परन्तु शकराज की मृत्यु के उपरान्त जिस 'विश्वास भरे दैन्य के साथ वह ध्रुव देवी के पास जाती है, उसी में स्त्रीत्व का शाश्वत रूप प्रकट होता है। इस स्थल पर सम्पूर्ण दार्शनिकता को पराजित करता हुआ उसका अखण्ड नारीत्व जागता दिखाई पड़ता है[1] ।

१—जगन्नाथ प्रसाद शर्मा : प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन, पृ० २२५ ।

इसी प्रकार से विशाख की चन्द्रलेखा स्वाभाविक सरलता एवं प्राणी मात्र के प्रति सहज सहानुभूतिपूर्ण भावना को लिए अवरित होती है। वह महापिंगल और राजा नर देव का आतिथ्य करती है। परन्तु प्रवंचनापूर्ण व्यवहार के विरोध में उसके सतीत्व का तेज भी दृष्टिगत होता है। इसी में घुली-मिली उसकी सम्मान-भावना भी निहित है। सत्यशील के प्रलोभनों को ठुकरा कर वह अपने चरित्र की पवित्रता, उज्ज्वलता को मुखरित करती है। साथ ही प्रेम की अनन्यता भी उसके स्वभाव का एक विशेष गुण बन कर प्रकट हुई है।

—जगन्नाथ प्रसाद शर्मा : प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन, पृष्ठ १६१।

वपुष्टमा शान्त, उदार और न्यायपूर्ण भावनाओं से युक्त सात्विक भावपूर्ण नारी है। भारतीय सती नारी का आदर्श रूप उसके चरित्र में देखा जा सकता है।

इसी प्रसंग में मणिमाला और सरमा के चरित्र भी उपस्थित किए जा सकते हैं। ये दोनों ही जातीय गौरव की साकार उत्साहमयी तेजपूर्ण प्रतिमाएं हैं। मणिमाला नाग-कन्या है, परन्तु आर्य-संस्कृति से विशेष प्रभावित है। उसके चरित्र में करुणा, उदारता, विश्व-मैत्री आदि उदात्त भावनाओं को अभिव्यक्ति मिली है। अतिथि सेवा, विपन्न-रक्षा आदि उसकी साधना के मुख्य विषय रहे हैं। विश्व-मैत्री के महान् आदर्श को लेकर वह अपने पिता को समझाती है—

'पिताजी जब आर्यों ने इधर उपद्रव बन्द कर दिया है, और वे एक दूसरे रूप में सन्धि के अभिलाषी हैं, तब आप फिर युद्ध के लिए क्यों उत्सुक हैं ?'

—जनमेजय का नाग यज्ञ, पृष्ठ ८४।

सरमा कुकुर वंशीया यादवी है जो नाटक में अपनी सम्पूर्ण तेजस्विता और निर्भीकता के साथ प्रकट होती है। नागों की वीरता से प्रभावित होकर वह आत्म-समर्पण कर देती है। परन्तु मनसा के द्वारा किए गये जातीय अपमान को सहन नहीं कर सकती। उसके चरित्र में जातीय अभिमान के साथ साथ पतिपरायणता भी उच्चकोटि की है। जो उसका स्वस्थ सांस्कृतिक रूप प्रस्तुत करती है—

'नाथ, अभिमान से मैं अलग हूं, किन्तु स्नेह से अभिन्न हूं। रमणी का अनुराग कोमल होने पर भी बड़ा दृढ़ होता है। प्राणेश्वर ! इस निर्जन वन में तुम्हारी अप्रत्यक्ष मूर्ति के चरणों पर अभिमानिनी सरमा लोट रही है। देवता ! तुम संकट में हो, यह सुन कर भला मैं कैसे रह सकती हूं। मेरा अश्रु-जल समुद्र बन कर तुम्हारे और शत्रु के बीच गर्जन करेगा। मेरी शुभ कामना तुम्हारा वर्म बन कर तुम्हें सुरक्षित रखेगी।'

—जनमेजय का नाग यज्ञ, पृष्ठ ६६।

भारतीय सांस्कृतिक वातावरण की पृष्ठभूमि में ऐतिहासिक कल्पना के माध्यम

प्रसाद जी ने नारी-सम्बन्धी जिन उदात्त गुणों की अभिव्यक्ति की है, उनकी विवेचना हम उपर्युक्त पंक्तियों में कर आए हैं। नारी-जाति के गौरव को उच्चतर भाव-भूमि प्रदान करने के क्षेत्र में उनकी इस कल्पना का योग स्तुत्य है। समाज की उन्नति के लिए नारी का उदात्त गुणों से पूर्ण होना आवश्यक है, तभी उससे सामाजिक एवं राष्ट्रीय हितों की सुरक्षा और विस्तार की आशा की जा सकती है। प्रसाद जी ने इसी भावना को ध्यान में रख कर उदात्त नारी चरित्रों को ही राष्ट्रीय योजनाओं के क्षेत्र में अवतीर्ण कराया है। दूसरे, संस्कृति के मूलभूत आदर्शों और सिद्धान्तों के आरक्षण के लिए भी इस उदात्त भाव की अभिव्यक्ति और स्थापना आवश्यक हो जाती है। प्रसाद जी का इस दिशा में यह प्रयत्न राष्ट्रीय हित के क्षेत्र में उनकी दूरगामी दृष्टि का परिचायक है।

राष्ट्रीय स्वरूप

प्रसाद-युग वस्तुतः राष्ट्रीय चेतना के विकास का युग रहा है। इस काल में राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्रों में गांधी जी द्वारा नवीन राष्ट्रवादी सिद्धान्तों की स्थापना हो रही थी। उन्होंने ही नारी वर्ग को व्यावहारिक रूप में राष्ट्रीय स्वरूप प्रदान किया और देश ने उनके सहयोग की आवश्यकता समझ उन्हें राजनीतिक क्षेत्र में निमन्त्रण देकर उनकी सेवाओं का लाभ उठाया। गांधी जी द्वारा नारी को राष्ट्रीय स्वरूप प्रदान करने का जो कार्य व्याख्यानों, संस्थाओं और व्यावहारिक योजनाओं द्वारा किया गया, वही कार्य प्रसाद जी ने भी अपने साहित्य के माध्यम द्वारा सम्पन्न किया। एक प्रकार से इस दिशा में प्रसाद जी साहित्यिक क्षेत्र के गांधी हैं। नारी के उदात्त स्वरूप की कल्पना के साथ-साथ उसे राष्ट्रीय रंगमंच पर राष्ट्रीय सेवाओं के लिये अग्रसर करने की योजना प्रसाद जी के साहित्य, विशेषतः नाटक साहित्य की अन्यतम विशेषता है। प्रसाद जी के सभी मुख्य नाटकों में नारी के इस गौरवमय राष्ट्रीय स्वरूप के भव्य दर्शन होते हैं जहां वह देश सेवा के व्रत में तत्पर पुरुष की सहचरी और सहयोगिनी के रूप में राष्ट्रीय योजनाओं में भाग लेती दिखाई पड़ती है। नारी को विस्तृत क्षेत्र में अधिकार देने के विषय को लेकर प्रसाद जी की धारणा में बहुत विकास हुआ मालूम होता है। अजातशत्रु में वे विश्व में सब कर्म सबके लिये नहीं मानते। उनमें वे विभागों की योजना करते हैं, परन्तु अपने उत्तरकालीन नाटकों में उन्होंने नारी को सभी स्थान पर पुरुषों के समान ही समान अवसर और अधिकार प्रदान किये हैं। मूलतः प्रसाद जी नारी और पुरुष के कर्तव्य क्षेत्र को अलग-अलग मान कर चले हैं, परन्तु आवश्यकता और परिस्थिति के समय यदि नारी का सहयोग पुरुष-क्षेत्र में वांछनीय और आवश्यक हो जाता है तो प्रसाद जी उसका सबल समर्थन करते हैं। राष्ट्रीय जागृति और स्वतन्त्रता प्राप्ति के अपने युग में यदि उन्होंने नारी का राष्ट्रीय रूप अपनी पूर्ण उज्ज्वलता के साथ चित्रित किया है, तो उसमें यही

भावना प्रमुख रही है कि इस आवश्यकता के काल में देश को नारी के सहयोग और शक्ति की परम आवश्यकता है और उसे भी राष्ट्र की स्वतन्त्रता प्राप्ति की दिशा में राष्ट्रवादी के रूप में अपने कर्तव्य का निर्वाह करना चाहिए। प्रसाद जी के राष्ट्रीय नारी पात्रियों के चरित्र में इसी भाव की अभिव्यक्ति हुई है।

प्रसाद-साहित्य के नारी पात्रों में राष्ट्रीय भावना का चरम विकास अलका के चरित्र में प्रतिबिम्बित हुआ है। अलका चन्द्रगुप्त और सिंहकिरण की सुनी बातों से प्रभावित होकर राष्ट्रीय सेवा के लिए उद्यत होती है। अपने पिता और भाई आम्भीक को राष्ट्र-द्रोह में हाथ बंटाते देख कर उसका मन विद्रोह कर उठता है। उसका यह विद्रोह इन शब्दों में प्रकट हुआ है—

महाराज ! मुझे दण्ड दीजिए, कारागार में भेजिए; नहीं तो मैं मुक्त होने पर भी यही करूंगी। कुलपत्रों के रक्त से आर्यावर्त की भूमि सिंचेगी। दानवी बन कर जननी जन्म भूमि अपनी सन्तान को खाएगी। महाराज ! आर्यावर्त के सब बच्चे आम्भीक जैसे नहीं होंगे। वे अपनी मान प्रतिष्ठा और रक्षा के लिए तिल-तिल कट जायेंगे।'

—चन्द्रगुप्त पृष्ठ ८८।

देश-प्रेम अलका के जीवन की सर्वप्रथम भावना है। यही उसका प्राण है, और वही स्थिति। सिल्यूकस से वह कहती है—

'मेरा देश है, मेरे पहाड़ हैं, मेरी नदियां हैं और मेरे जंगल हैं। इस भूमि के एक-एक परमाणु मेरे हैं और मेरे शरीर के एक-एक क्षुद्र अंश उन्हीं परमाणुओं से बने हैं।'

—वही, पृष्ठ ९२।

उसका यह देश-प्रेम त्याग और निःस्वार्थ भावना की नीति पर आधारित है। यही उसके कार्यों का संचालक है। इसी के लिए वह नटी बनती है। देशोद्धार के प्रयत्न में ही उसे बन्दी भी बनना पड़ता है। सिंहरण के प्रति आसक्ति के मूल में भी यह राष्ट्र प्रेम की भावना प्रमुख है। वह अपने प्रिय की वीरोचित देशभक्ति पर मुग्ध है। इसीलिए युद्ध में भी उसकी सहायता करती है। उससे प्रेम करती है और जीवन की प्रत्येक स्थिति में उसका साथ देती चलती है। युद्ध में आहत घायलों की सेवा तथा मालव दुर्ग की रक्षा का भार उसके बहु विस्तृत व्यक्तित्व का परिचय देता है। वह सिंहरण के लिए उत्साह और शक्ति बन कर अवतीर्ण होती है—

'मालव वीर, तुम्हारे मनोबल में स्वतन्त्रता है, और तुम्हारी दृढ़ भुजाओं में आर्यावर्त के रक्षण की शक्ति है, तुम्हें सुरक्षित रहना ही चाहिए। मैं भी आर्यावर्त की बालिका हूं मैं आम्भीक को शक्ति भर पतन से रोकूंगी, परन्तु उसके न मानने पर

तुम्हारी आवश्यकता होगी। जाओ वीर।'

—चन्द्रगुप्त, पृष्ठ ६१।

तक्षशिला में राष्ट्रीय उत्साह का विस्तार करती हुई वह नागरिकों के हृदय में देश-प्रेम की प्रेरणा का मन्त्र फूँकती दिखाई पड़ती है—

'असंख्य कीर्ति रश्मियां
विकीर्ण दिव्य दाह सी,
सपूत मातृभूमि के
रुको न शूर साहसी।'
अराति सैन्य सिन्धु में—सुवाड़वाग्नि से जलो,
प्रवीर हो जयी बनो—बढ़े चलो, बढ़े चलो।'

—चन्द्रगुप्त पृ० १६४

इस प्रकार के स्वदेशानुराग, साहस, वीरता, सेवा और चातुर्य भाव से आपूर्ण अलका 'चन्द्रगुप्त' की महीयसी, व्यक्तित्व प्रधान नारी-पात्र के रूप में प्रकट हुई है।

'स्कन्दगुप्त' की जयमाला इस प्रसंग में दूसरा राष्ट्रीय चरित्र है, जिसमें क्षात्र तेज, बल, साहस और देश के प्रति असीम निष्ठा की भावना विकसित हुई है। वह अपने इस गौरव की अभिव्यक्ति प्रदान करती हुई विजया से कहती है—

'श्रेष्ठि कन्ये ! हम क्षत्राणी हैं, चिरसंगिनी खड्ग लता से हम लोगों का चिर-स्नेह है[1]।'

भीम वर्मा से इसी प्रसंग में उसका यह कथन कितना ओजपूर्ण है—

'वीर ! स्त्रियों की, ब्राह्मणों की, पीड़ितों और अनाथों की रक्षा में प्राण विसर्जन करना क्षत्रियों का धर्म है। एक प्रलय की ज्वाला अपनी तलवार से फैला दो। भैरव के शृंगीनाथ के समान प्रबल हुंकार से शत्रु हृदय कँपा दो। वीर ! बढ़ो, गिरो तो मध्याह्न के भीषण सूर्य के समान। आगे, पीछे सर्वत्र आलोक और उज्ज्वलता रहे[2]।'

अपने इस वीरोचित साहस के साथ-साथ वह पुरुष की प्रेरणा और साहस भी बनती है। शकों और हूणों की सम्मिलित वाहिनी से युद्ध करने में अनमयस्क अपने पति पर वीरतापूर्ण व्यंग्य करती हुई वह कहती है—

'नाथ ! तब क्या मुझे स्कन्दगुप्त का अभिनय करना होगा ? क्या मालवेश को दूसरे की सहायता पर ही राज्य करने का साहस हुआ था ? जाओ प्रभु ! सेना

१—स्कन्दगुप्त, पृ० ४६।
२—वही, पृ० ४८।

लेकर सिंह विक्रम से सेना पर टूट पड़ो। दुर्ग रक्षा का भार मैं लेती हूं।'

—स्कन्दगुप्त, पृ० ४५

जयमाला 'महात्मा के स्वर में अपने विशिष्ट व्यक्तित्व का लय करने में' स्वभाव से ही तत्पर है। उसमें उत्साह, स्वावलम्ब और गौरव का विस्तार प्रभूत मात्रा में विद्यमान है। युद्ध उसके लिए गान है, रुद्रमयी महामाया प्रकृति का निरन्तर संगीत है। यह वीरोचित स्वभाव उसके—व्यक्तित्व को श्रेष्ठता प्रदान करता है, जिसके द्वारा वास्तविक रूप में क्षात्र तेज से आलोकित नारी-जीवन का गौरवपूर्ण चित्र प्रस्तुत किया जा सकता है।

'अजातशत्रु' की मल्लिका में उदात्त गुणों की पृष्ठभूमि के मध्य उसके राष्ट्रीय स्वरूप के भी दर्शन होते हैं। पति के प्रति षड्यन्त्र की बात जान कर भी उन्हें कर्त्तव्य विमुख न करने में राष्ट्रीय कर्त्तव्य का निर्वाह करने की भावना भी सामान्य नहीं है।

'स्कन्दगुप्त' की देवसेना आत्म-सम्मान के साथ-साथ देश-प्रेम से ही प्रेरित होकर स्कन्दगुप्त के उस प्रणय प्रस्ताव का विरोध करती है, जिसमें उसने किसी कानन के कोने में, उसे देखते हुए जीवन के दिन व्यतीत करने की इच्छा प्रकट की थी। राष्ट्रीय गगन का एकमात्र नक्षत्र उसके निमित्त अपने कर्त्तव्य निर्वाह का पुनीत आचरण छोड़ दे, इससे बढ़कर हीनता और लज्जास्पद बात उसके लिए और क्या हो सकती है? स्कन्दगुप्त को कर्त्तव्य की प्रेरणा देते हुए वह कहती है –

'मानव का महत्त्व तो रहेगा ही, परन्तु उसका उद्देश्य भी सफल होना चाहिए। आपको अकर्मण्य बनाने के लिये देवसेना जीवित न रहेगी। सम्राट् क्षमा हो।'

—स्कन्दगुप्त, पृ० १४०

देश के कल्याण के लिए राज-त्याग और इससे भी विशेष अपने प्रणय का बलिदान, उसके राष्ट्रीय स्वरूप के साथ-साथ उसके व्यक्तित्व को निर्मल करुणा की चन्द्रिका में भिगो देता है। इसीलिए उसकी यह राष्ट्रीय भावना उदात्त एकान्तिक प्रेम और संगीत कल्पना की भारी भीड़ में नन्हें शिशु सी कहीं खो गई है।

'मालविका' सिन्धु देश की निवासिनी 'चन्द्रगुप्त' की उदात्त पात्री है। स्नेह और सेवा से अभिभूत अपूर्व करुणा उसके चरित्र की विशिष्ट निधि है। उन्हीं में घुला-मिला उसका राष्ट्रीय स्वरूप व्यक्त हुआ है। राष्ट्र के लिए जीवन की आहुति देने वाले वीरों से उसका सम्पर्क है। वह उन्हीं की सेवा में संलग्न होती है। इस सेवा में ही उसकी राष्ट्रीय सेवा प्रच्छन्न रूप से अभिव्यक्त हुई है।

कमला भी इसी कोटि की पात्रा है। जो अपने पुत्र भटार्क के राजद्रोह से

क्षुब्ध है। दूसरे, मातृत्व रूप में ही उसकी राष्ट्रीय भावना को अभिव्यक्ति मिलती है। अपने पुत्र के लिए उसकी यह सत्कामना कितनी भावपूर्ण है—

'सोचा था कि पुत्र देश सेवक होगा, म्लेच्छों से पद-दलित भारत भूमि का उद्धार करके मेरा कलंक धो डालेगा।'

कुम्भा के तीव्र प्रवाह से निकलने पर निरुत्साहित हुए स्कन्दगुप्त को कमला के शब्दों से ही धैर्य मिलता है। वह कहती है—

'कौन कहता है कि तुम अकेले हो। समग्र संसार तुम्हारे साथ है। स्वानुभूति को जागृत करो। तुम्हारे प्रचण्ड और विश्वासपूर्ण पदाघात से विंध्य के समान कोई शैल खण्ड खड़ा होगा, जो इस विघ्न स्रोत को लौटा देगा। राम और कृष्ण के समान क्या तुम भी अवतार नहीं हो सकते? उठो स्कन्द! आसुरी वृत्तियों का नाश करो, सोने वालों को जगाओ और रोने वालों को हंसाओ।'

—स्कन्द गुप्त पृ० १३०

'रमा' अपने पति को उसके दुष्कृत्यों के लिए प्रताड़ित करती है। देवकी के लिए, जिसका नमक खाकर उसके शरीर का पोषण हुआ है, उसका मन असीम निष्ठा और सेवा-भाव से आपूर्ण है। उसकी इस निष्ठा और सेवा-भावना में ही उसके चरित्र का राष्ट्रीय तत्व छिपा हुआ है।

आर्य संस्कृति से प्रभावित नागकन्या—मणिमाला के चरित्र में राष्ट्रीय भावना जातीय उत्साह के रूप में प्रकट हुई है। उसमें युद्धोत्साह है तथा राजनीतिक एवं सांस्कृतिक रूप की भावना को लेकर ही वह जनमेजय के प्रणय में बंधती है।

मनसा में जातीय अभिमान की मात्रा कम नहीं है। यह ठीक है कि इसका चरित्र स्वस्थ भावभूमि पर लोक-कल्याण की कामना से पूर्ण नहीं है, फिर भी जातीय गौरव उसके द्वारा गाये हुए गीत में प्रकट हुआ है। नागवीरों को उत्साहित करती हुई वह कहती है—

धिक्कार और अवहेलना की बलिहारी
सचमुच तुम सब हो पुरुष या कि नारी
चल जाय दासता की न कहीं यह छलना
देखते तुम्हारे लांछित हो कुल ललना
जातीय क्षेत्र में अयश बीज बोते हो
क्यों निज स्वतन्त्रता की लज्जा खोते हो।

—जनमेजय का नागयज्ञ, पृ० ८३

प्रसाद जी ने अपनी कतिपय कहानियों में भी राष्ट्रीय प्रेम की इस भावना

का निदर्शन किया है। 'पुरस्कार' की मधूलिका के चरित्र में यही राष्ट्रीय भावना व्यक्त हुई है। अपने पितामह की भूमि को वह विदेशियों के अधिकार में नहीं देख सकती। चाहे वह विदेशी उसका प्रणयी ही क्यों न हो।

फिर सहसा सोचने लगी—'वह क्यों सफल हो? श्रावस्ती दुर्ग एक विदेशी के अधिकार में क्यों चला जाय? मगध कौशल का चिर-शत्रु। ओह! उसकी विजय! कौशल नरेश ने क्या कहा था—सिंहमित्र की कन्या?'

—आंधी, पृ० १२३

इसी प्रकार से 'सिंदूर की शपथ'[1] में सिगलोर दुर्ग की महिलाएँ अपने दुर्ग की रक्षा के लिए जीवन देकर अपना धर्म अक्षुण्ण बनाये रखती हैं।

उनकी कविता 'प्रेम राज्य' में भी राष्ट्रीय भावना को देखा जा सकता है। सैनिक की पत्नी राष्ट्र और राजा के प्रति अपने पति के कर्तव्य-निर्वाह की इस शिथिलता को नहीं सह पाती और उसे एक अवहेलनापूर्ण पत्र लिखकर स्वयं आत्म-ग्लानि से विदग्ध, आत्म-हत्या कर लेती है—

पढ़यो ताहि, नहिं अहो हो तुम पती हमारे
तुम्हारे सम्मुख महाराज, किमि स्वर्ग सिधारे
तुम आशामय बाला को, लीन्हें हिय पोखों
तुमहि क्षमा हित स्वर्ग-माहि महराजहि तोखौं।

—चित्राधार, पृ० ७८

प्रसाद के नाटकों में विजया और कल्याणी के चरित्र में भी राष्ट्रीय स्वरूप के दर्शन होते हैं। परन्तु इन दोनों में स्वस्थ राष्ट्रीय भावना का अभाव है। विजया स्कन्दगुप्त को प्राप्त करने और स्वार्थ सिद्धि के लिए राष्ट्रीय क्षेत्र में अवतीर्ण होती है। ऐसे अवसर पर उसका महत्त्वाकांक्षामय विलासी रूप एकदम विलुप्त होकर, नया तेजोमय स्वरूप ग्रहण कर लेता है। मातृगुप्त को प्रेरणा देती हुई वह कहती है—

'सुकवि शिरोमणि!.........गा चुके कोमल कल्पनाओं के लचीले गान, रो चुके प्रेम के पचड़े? एक बार वह उद्बोधन गीत गा दो कि भारतीय अपनी नश्वरता पर विश्वास करके अमर भारत की सेवा के लिए सन्नद्ध हो जायें।'

—स्कन्दगुप्त, पृ० १२६

परन्तु विजया की इस भावना में एक स्वार्थपूर्ण आवेग ही है। अपनी असफलता के क्षण में वह निराश होकर आत्म-हत्या करती है, देश के लिये आत्मोत्सर्ग नहीं।

---

१ – छाया में संकलित।

विजया की भांति कल्याणी भी पर्वतेश्वर से प्रतिशोध लेने और चन्द्रगुप्त की भव्य मूर्ति के दर्शन करने की कामना से ही पंचनद के युद्ध में भाग लेती है। अपने पिता नन्द से वह कहती है—

'मैं पर्वतेश्वर के गर्व की परीक्षा लूंगी। मैं वृषल कन्या हूं। उस क्षत्रिय को यह सिखा दूंगी कि राजकन्या कल्याणी किसी क्षत्राणी से कम नहीं।'

—चन्द्रगुप्त, पृ० ७५

इसी प्रकार उसकी अन्य स्वार्थ-कामना भी उसके ही शब्दों में प्रकट होती है। पंचनद युद्ध में चन्द्रगुप्त द्वारा उसके युद्ध में भाग लेने की बात पूछने पर वह कहती है—

'केवल तुम्हें देखने के लिये। मैं जानती थी कि तुम युद्ध में अवश्य सम्मिलित होगे।'

—चन्द्रगुप्त, पृ० ११३

परन्तु अपनी स्वार्थ-परता की दुर्बलता में उसकी कोई भी कामना पूर्ण नहीं हो पाती और उसका राष्ट्रीय स्वरूप मात्र प्रदर्शन की वस्तु से अधिक महत्व नहीं रखता।

इस प्रकार प्रसाद जी के सांस्कृतिक पात्रों में राष्ट्रीयता का गुण कूट-कूट कर भरा हुआ है। आर्य जाति के जीवन में समय-समय पर प्रतिष्ठित आदर्श उनके साहित्य की आकर्षण व्यंजना के विषय बने हैं। जातीय गौरव, राष्ट्रीय प्रेम और विश्व-कल्याण कामना आदि उदात्त वृत्तियों से उनकी नारियां गौरवान्वित हैं। वे अपनी सत्प्रेरणा से पुरुषों का भी प्रोत्साहन और मार्ग-दर्शन करती है[1]। वास्तव में देश प्रेम और राष्ट्रीय गौरव के प्रति प्रसाद जी की चिन्ता इन उपर्युक्त चरित्रों के माध्यम से स्पष्ट भाव-भूमियों में प्रतिष्ठित हुई है। उनका यह राष्ट्रीय प्रेम अन्धा और संकीर्ण प्रेम नहीं है, इसीलिए उसका निदर्शन उदात्त गुणों के परिपार्श्व में किया गया है। उनके सम्पूर्ण साहित्य पर राष्ट्रीय सस्कृति की छाप स्पष्ट है[2]।

१—जगदीश नारायण दीक्षित, प्रसाद के नाटकीय पात्र, पृ० १०।
२—पं० नन्ददुलारे वाजपेयी : जयशंकर प्रसाद, पृ० १९१।

प्रकरण—११

प्रसाद की नारी—दार्शनिक पीठिका

(अ) आरम्भ
(ब) दार्शनिक भाव-भूमि
(स) नवीन आदर्श
(क) प्रेम सम्बन्धी आदर्श
(ख) कर्त्तव्य सम्बन्धी आदर्श
(ग) सेवा-समर्पण का आदर्श
(घ) सौन्दर्य सम्बन्धी आदर्श

आरम्भ

पिछले प्रकरणों में हम सामाजिक, नैतिक, मनोवैज्ञानिक तथा सांस्कृतिक परिपार्श्व में प्रसाद जी के नारी पात्रों की विवेचना कर आए हैं। इन सभी क्षेत्रों में नारी को उच्चतर, सम्मानपूर्ण स्थिति प्रदान करने का प्रयास रहा है। और अनुकूल वातावरण तथा परिस्थिति का निर्माण कर प्रसाद जी ऐसा करने में पूर्ण सफल भी हुए हैं। परन्तु उनकी नारी-भावना का मूल्य और महत्व नारी को दार्शनिक स्वरूप प्रदान करने के क्षेत्र में और भी बढ़ जाता है। वास्तव में प्रसाद जी ने भिन्न भिन्न भाव भूमियों पर नारी पात्रों का चित्रण कर उनकी स्थिति के क्रमिक विकास की योजना की है। उनकी आंखों में नारी को सर्व मंगला, सर्वोच्च, आनन्दवाद की अधिष्ठात्री के रूप में देखने का एक मोहक श्रद्धामय स्वप्न पला था, जिसे उन्होंने उसके दार्शनिक स्वरूप में प्रकट किया है।

और भी एक बात है। प्रसाद जी का युग प्रगतिवादी मान्यताओं से प्रेरित नए चरण के विकास का युग रहा है। इस काल में समाज में स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृ-भाव के आदर्शों की प्रतिष्ठा का प्रयत्न हो रहा था। व्यक्ति की स्वतन्त्रता का मूल्य आंका जाने लगा था और मानवतावाद की भावना बल पकड़ रही थी। मानवतावाद के इस बढ़ते हुए प्रहर में सदियों से उपेक्षित, प्रताड़ित और हताश नारी-वर्ग के प्रति लोगों का ध्यान आकर्षित हुआ और उन्होंने सामाजिक व्यवस्था, राष्ट्रीय योजना तथा साहित्यिक क्षेत्र में नारी की महत्ता का प्रतिपादन किया। साहित्यिक दृष्टि से इस दिशा में नारी का योगदान अपूर्व रहा है। नारी को दार्शनिक स्वरूप प्रदान करने के क्षेत्र में उनके शैव-दर्शन सम्बन्धी अध्ययन का विशेष हाथ रहा है। पहले हम नारी के दार्शनिक स्वरूप की इस प्रेरणा भूमि से सम्बन्धित सामान्य संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत करेंगे।

ऋग्वेद में शिव के रुद्र रूप की चर्चा हुई है। परन्तु अपने रुद्र रूप में वे अनन्त शक्ति से सम्पन्न बताये गए हैं।

—ऋगवेद २।३३

शैव-दर्शन में ३६ तत्वों की विवेचना हुई है। परन्तु सभी का विकास शिव

को माया शक्ति से माना गया है। माया शक्ति के बिना शिव की महत्ता का प्रतिपादन नहीं हो पाता।

इसके अन्य रूप लिंगायत दर्शन में भी शक्ति विशिष्ठ शिव को ही परम सत्य माना गया है। शक्ति विहीन शिव अपूर्ण है।

प्रसाद जी पर शैव दर्शन के अन्य स्वरूप प्रत्यभिज्ञादर्शन का विशेष प्रभाव पड़ा है। इस दर्शन के प्रवर्तक आचार्य वसु गुप्त हैं। इस दर्शन के अनुसार आत्मा अपनी इच्छा पूर्वक स्वतन्त्र रूप से अपनी भीत्ति पर ही विश्व का उन्मीलन करती है। विश्व के इस विकास के विषय को लेकर आत्मा का शक्ति रूप भी माना गया है, जो उस परमात्मा या परम शिव से पूर्णतया अभिन्न है। यह चिद् शक्ति यद्यपि अनन्त रूपा है, फिर भी उसके पाँच रूप प्रमुख हैं—चिद्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया।' जिस तरह स्त्री तत्व और पुरुष तत्व के योग से साधारण संतति की उत्पत्ति होती है, उसी तरह प्रत्यभिज्ञादर्शन में भी आनन्द रूपी शक्ति एवं चित् रूप को सोम तत्व तथा अग्नितत्व एवं नाद तथा विन्दु कह कर दोनों के पारिवारिक सघटनात्मक सामरस्य से सम्पूर्ण विश्व का विकास सिद्ध किया गया है। परन्तु इस आनन्द रूपा शक्ति को, जिससे विश्व की सृष्टि होती है, शैव दर्शन में काम कला के नाम से अभिमत किया गया है। प्रसाद जी ने इसे अपने काव्य में प्रेम-कला का नाम दिया है—

> यह लीला जिसकी विकस चली
> वह मूल शक्ति थी प्रेम कला
> उसका संदेश सुनाने को
> संसृति में आई वह अमला।
>
> —कामायनी, पृष्ठ ७६।

प्रत्यभिज्ञादर्शन में विवेचित ३६ तत्वों में दूसरा तत्व शक्ति है। शक्ति तत्व शिव का अभिन्न अंग है। ये दोनों तत्व शाश्वत हैं और एक रूप होकर साथ रहते हैं। न शिव शक्ति रहित है, और न शक्ति, शिव से पृथक।

—शिव दृष्टि, पृष्ठ ६६।

यहीं पर विशेष दृष्टव्य यह है कि शिव तत्व प्राण रूप में विद्यमान रहता है। शक्ति तत्व उस प्राण पर नियन्त्रण करने वाला या उसमें व्यवस्था को बनाए रखने वाला माना जाता है।

—कश्मीर शैविज्म, पृष्ठ ६५।

प्रत्यभिज्ञादर्शन में शक्ति शिव की सृजन-शक्ति के रूप में अवतरित हुई है। इसी लिए उसमें अभेदत्व का भाव विशिष्ठ है।' शिव प्रकाश रूप है, शक्ति विमर्शरूपिणी।

विमर्श का अर्थ है पूर्ण अकृत्रिम अहम् की स्फूर्ति[१] ।' इसी प्रसंग में आचाय सोमानन्द का कथन है कि शक्ति से सम्पन्न शिव ही अपनी इच्छा से पदार्थों का निर्माण करता है । शक्ति तथा शिव में भेद की कल्पना कदापि नही की जा सकती[२] ।

दार्शनिक भावभूमि

प्रसाद जी ने शिव-शक्ति के उपर्युक्त स्वरूप की भाव-भूमि पर ही नारी की दार्शनिक कल्पना की है । उसे महाचिति कह कर सदैव लीलामयी, आनन्द दायिनी, जगत की निर्मात्री तथा इच्छा, ज्ञान और क्रिया रूपिणी कहा है[3] । उनके इस दर्शन के आधार पर नारी सृष्टि और विश्व बंधुत्व भावना की पोषिका सर्वमंगला, मानवता वाद की अधिष्ठात्री, आनन्द पथ की निर्देशिका, शक्तिमयी, समरसता की प्रचारिका, हृदय और बुद्धि की समन्वयिका, पुरुष की पूर्णता, प्रेरणा तथा उद्धारकर्त्री तथा जीवन का रहस्य बतलाते हुए श्रद्धावाद की स्थापना करने वाली है ।

प्रसाद जी नारी को व्यापक, विशुद्ध और विश्वास मयी स्वरूप में संसृति का रहस्य मानते हैं[४] ।' उसका मूल स्वरूप श्रद्धामय है, जिसके द्वारा जीवन के सुन्दर समतल में पीयूष वर्णन होता है—

नारी ! तुम केवल श्रद्धा हो
विश्वास रजत पग तल में
पीयूष स्रोत सी बहा करो
जीवन के सुन्दर समतल में

—कामायनी ।

वह विश्व की मंगल-कामना करती हुई मानव मात्र के प्रति शान्ति और समृद्धि का संदेश देती है । 'अजातशत्रु' की वासवी विश्व-कुटुम्ब का स्वप्न देखती है ।

'भगवन, क्या कभी वह भी दिन आएगा, जब विश्व भर में एक कुटुम्ब स्थापित हो जाएगा, और मानव-मात्र स्नेह से अपनी गृहस्थी संभालेंगे ।'

—पृष्ठ १३२ ।

मानव-मात्र के प्रति ही नहीं, प्राणी मात्र के प्रति नारी के मन में सुहृदयता का भाव निहित है । श्रद्धा पशु हिंसा का विरोध करती हुई मनु से कहती है—

१—भारतीय दर्शन, पृष्ठ ६०६ ।

२—भारतीय दर्शन, पृष्ठ ६०७ ।

३ – कामायनी, पृष्ठ ६३ ।

४—कामायनी, पृष्ठ १६६ ।

वे द्रोह न करने के स्थल हैं
जो पाले जा सकते सहेतु
पशु से यदि हम कुछ ऊंचे हैं
तो भव-जलनिधि में बनें सेतु।

—पृष्ठ १४७।

व्यक्ति का प्रेम व्यष्टि से आरम्भ होकर विस्तृत भाव-भूमि में विकसित होते हुए समष्टि की ओर अग्रसर होता है। आत्म-विस्तार की इस योजना में एक दिन सम्पूर्ण विश्व कुटुम्बवत् दिखाई देने लगता है, श्रद्धा के चरित्र में इसी व्यष्ठि प्रेम का समष्टि प्रेम में पर्यवसान हुआ है। प्रसाद जी के मत से नारी अपनी उदात्त भावनाओं के विस्तार में 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की आदर्श-स्थापना कर सकती है। स्त्री रूप में वह दया, माया, ममता की मूर्ति है। स्नेह का बल है और इसीलिए प्राणी-मात्र के प्रति उसके मन में सौहार्द और संवेदना की भावना निहित है। इसी संवेदना का विकास उसके मंगलकारी स्वरूप का उद्घाटन करता है। श्रद्धा चेतना का वास्तविक रूप, मातृमूर्ति विश्व-मित्र है, लोक कल्याण की प्रचारिका तथा विश्व मैत्री की संदेशवाहिका है। विश्व बन्धुत्व की कामना से प्रेरित, तभी तो वह मनु से कहती है—

अपने में सब कुछ भर कैसे
व्यक्ति विकास करेगा
यह एकान्त स्वार्थ भीषण है
अपना नाश करेगा।

—कामायनी, पृष्ठ १३२।

वह जीवन के सुखों को सभी में विकसित देखना चाहती है—

औरों को हंसते देखो मनु
हंसो और सुख पाओ
अपने सुख को विस्तृत करलो
सबको सुखी बनाओ।

—कामायनी, पृष्ठ १३२।

और इसी मंगल कामना में वह स्वयं दुख सहने के लिये तत्पर है। परन्तु अन्य प्राणियों को सुखी करना उसका जीवन का चरम लक्ष्य है। उसकी इस उदात्त प्रवति के कारण ही मनु उससे कहते हैं—

'हे सर्व मंगले ! तुम महती
सबका दुख अपने पर सहती'

—पृष्ठ २४९।

उसका यह मंगल रूप इन पंक्तियों में और भी अधिक प्रस्फुटित हुआ है—

'वह कामायनी जगत की
मंगल-कामना अकेली
थी ज्योतिष्मती प्रफुल्लित
मानस तट की बन बेली'

—कामायनी, पृष्ठ २९० ।

इस प्रकार श्रद्धा की प्रत्येक गति मंगल कामना से स्फूर्त है। श्रद्धा के नारीत्व में इस विश्व-कल्याण और विश्व-मैत्री के भाव को अधिष्ठित कर प्रसाद ने नारी की महानता को पुरुष से अधिक ऊंचा उठा दिया है।

प्रसाद जी की नारी के दार्शनिक स्वरूप का दूसरा पहलू उसका मानवतावाद की अधिष्ठात्री होना है। पुरुष (मनु) नारी (श्रद्धा) के संयोग से अभिनव मानव की सृष्टि करता है। उन्होंने नारी को कल्याण भूमि, सर्वमंगला, संस्कृति का व्यापक रहस्य, विश्व-मित्र, सुहाग की वर्षा, अमृत धन आदि विशेषणों से अभिहित कर मानव जीवन की उच्चतम भावभूमि पर प्रतिष्ठित किया है। सृष्टि के मूल कारण, काम की पुत्री होने से वह सृष्टि के विकास और परिचालन का स्वाभाविक कारण बनती है। इसीलिए वह तप से जीवन को अधिक महत्व प्रदान करती है—

'तप नहीं केवल जीवन सत्य
करुण यह क्षणिक दीन अवसाद'

जीवन का उल्लास और आशावाद मानवता की स्वस्थ स्थिति निर्माण करने में सहायक होता है—

'विश्व की दुर्बलता बल बने
पराजय का बढ़ता व्यापार
हंसाता रहे उसे सविलास
शक्ति का क्रीड़ामय संचार'।

—कामायनी, पृष्ठ ५९।

पुरुष को मानवता के प्रसाद की प्रेरणा नारी से ही प्राप्त होती है। उसी की प्रेरणा से वह कर्मक्षेत्र में अवतीर्ण होता है—

'बनो संसृति के मूल रहस्य
तुम्हीं से फैलेगी वह बेल
विश्व भर सौरभ से भर जाय
सुमन के खेलो सुन्दर खेल'

—कामायनी, पृष्ठ ५७।

कामायनी में मनु और श्रद्धा के रूप में आधुनिक पुरुष और नारी का चित्रण हुआ है। यही नहीं शाश्वत पुरुषत्व और नारीत्व भी रही हैं। यहां नारी का स्थान विशिष्ट है। पलायनवादी प्रवृत्ति से आहत, उदासीन चेष्टाओं में विभूषित मनु को कर्तव्य-पथ की प्रेरणा श्रद्धा ही से प्राप्त होती है। उसके द्वारा मनु को सुनाया गया जागृति—संदेश समस्त पथ-भ्रष्ट मानवता का पथ प्रशस्त करने के लिए शाश्वत है—

'यह नीड़ मनोहर कृतियों का
यह विश्व कर्म रंग स्थल है
है परम्परा लग रही यहां
ठहरा जिसमें जितना बल है'

—कामायनी, पृष्ठ ७५।

इलाचन्द्र जोशी के शब्दों में कामायनी की रचना मानवता की उस चिरन्तन पुकार को लेकर हुई है जो आदि काल से चिर अमर-आनन्द और चिर-अमर शक्ति प्राप्त करने की आकांक्षा से व्याकुल है। इस घोर अहम्मन्यता पूर्ण दुर्दम आकांक्षा की चरितार्थता के प्रयत्न में मानव को जिन संकट-संकुल गिरि-पथों, जिन जटिल जाल जड़ित गहन अरण्य प्रान्तरों तथा घोर अन्धाकाराच्छन्न कराल-रात्रियों का सामना करना पड़ता है, उसके संघात की वेदना कामायनी में बिजली के शब्द सी कड़कती हुई बोल उठी है[1]।'

कामायनी की विवेचना के प्रसंग में आचार्य वाजपेयी जी का यह कथन महत्व पूर्ण है—

'शताब्दियों के पश्चात् मानव का ऐसा सुन्दर चरित्र हमें देखने को मिला है। यहां मानवता का कल्याण कारी आदर्श कल्पना की जगह बुद्धि की नींव पर खड़ा किया गया है। और उस नींव में श्रद्धा का रस है। श्रद्धा और बुद्धि से संतुलित जीवन

१—विनय मोहन शर्मा द्वारा 'कवि प्रसाद, आंसू तथा अन्य कृतियां' में पृष्ठ ८६ पर उद्धृत।

की मंगल दृष्टि से कामायनी की हमारे युग की अव्यवस्थित मानवता को बहुत बड़ी देन है[1] ।'

कामायनी में प्रसाद जी ने नारी का दार्शनिक स्वरूप व्यक्त किया है । कामायनी की रचना में शैव-दर्शन के विशुद्ध आनन्दवाद की प्रेरणा और झलक है । प्रसाद जी का विश्वास है कि विश्व की उत्पत्ति आनन्द से होती है । और अवसान भी उसी में । संसार का दुख-सुख मन का मनोविकार है, दृष्टि-दोष के कारण हमें सारा विश्व दुखमय ही दीख पड़ता है । वैसे यदि यथार्थ रूप से देखा जाय तो न तो संसार में आलिप्त होने की आवश्यकता है, न उससे विरक्ति की ही । इसी संसार में रहते हुए निरन्तर साधनाओं द्वारा शिवत्व की—विशुद्ध आनन्दवाद की—प्राप्ति की जा सकती है । और उस निसर्ग आनन्द की प्राप्ति के लिए नारी के पथ-प्रदर्शन की आवश्यकता है ।

प्रसाद जी की नारी पुरुष को पतन की ओर न ले जाकर उच्चता की ओर शीर्ष की, मंगल की ओर ले जाती है । अपनी सत्वृत्ति की प्रेरणा से उसे जीवन की विभीपिकाओं में से निकालती हुई आनन्द के शिखर तक पहुंचा देती है । श्री राम नाथ सुमन ने नारी के इस आनन्द-प्रदायिनी रूप को यों व्यक्त किया है—

'विश्वात्मा के चिर-मंगल का जो तत्व है वही शिव है । इसे यूं भी कह सकते हैं कि शिव ही एक मात्र प्रेम या आनन्द का तत्व है, शक्ति इस आनन्द का स्फुरण है । शिव और शक्ति समुद्र की लहरों के समान एक हैं। शिव आनन्द और शक्ति प्रकृति के रूप में व्यक्त हैं, जैसे शक्ति शिवमय है, वैसे ही प्रकृति भी आनन्दमय है[2] ।'

श्रद्धा (नारी) की प्रेरणा से मनु (पुरुष) शक्ति ग्रहण करता है । और उसके स्वभाव की चंचल प्रवृत्ति में स्थायित्व का भाव आविर्भावित होता है । सृष्टि के सत्त्व तम और रज—ये तीन शक्ति सम्पन्न तत्त्व हैं, जो परस्पर विच्छिन्न होकर अनन्त, वैपम्य का वातावरण उत्पन्न करते हैं । इन तत्वों की पृथकता समाप्त होने पर ही शाश्वत और नित्य आनन्द का अभिषेक हो सकता है ।' मनु को श्रद्धा ही कैलास पर्वत की ओर, जिसे हम आनन्द का प्रतीक मान सकते हैं, ले जाती है । इस आनंद प्राप्ति के मार्ग की बाधाओं का विनाश श्रद्धा द्वारा ही होता है । मनु में इन कठिनाइयों का

१—रामनाथ सुमन द्वारा-प्रसाद की काव्य साधना, पृष्ठ २४० पर उत्कथित ।

२—रामनाथ सुमन 'प्रसाद की काव्य साधना' पृष्ठ २४४ पर ।

सामना करने का साहस तथा धैर्य नहीं है। तभी तो वह हताश से श्रद्धा से पूछते हैं—

'कहाँ ले चली हो अब मुझको
'श्रद्धे ! मैं थक चला अधिक हूं
साहस छूट गया है मेरा
निस्सम्बल भग्नाश पथिक हूं,'

मनु का जीवन इस दशा में आध्यात्मिक असफलता से आपूर्ण है। अतः उनका समस्त मानस नैराश्य और दुर्बलता की भावना से व्याप्त है। इस समय उन्हें स्नेह और आश्वासन की आवश्यकता है। इसी आवश्यकता को समझ कर श्रद्धा उनसे कहती है—

'घबराओ मत यह समतल है
देखो तो हम कहाँ आ गये
मनु ने देखा आँखें खोल कर
जैसे कुछ कुछ त्राण पा गए'

इसके साथ साथ चरम आनन्द का रहस्योद्घाटन भी पुरुषों को नारी द्वारा ही होता है।' पुरुष इच्छा, कर्म और ज्ञान के अंत में लीन रहते हैं, और जब तक वे उसके फेर में हैं, तब तक उन्हें सच्चा आध्यात्मिक आनन्द और शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती। इस त्रिपुर के रहस्यों की तालिका नारी के हाथ में है। वही अपनी स्थिति के माध्यम से इच्छा कर्म और ज्ञान में सामंजस्य द्वारा विश्व की इस मरुभूमि में सुख शान्ति की गंगा प्रवाहित करती है'—

'ज्ञान दूर कुछ, क्रिया भिन्न है
इच्छा क्यों पूरी हो मन की
एक दूसरे से न मिल सके
यह विडम्बना है जीवन की'

—कामायनी, पृष्ठ २७२।

इस विडम्बना पूर्ण स्थिति में—

महाज्योति रेखा सी बन कर
श्रद्धा की स्मिति दौड़ी उनमें
वे सम्बद्ध हुए फिर सहसा
जाग उठी थी ज्वाला जिनमें।'

—वही, पृष्ठ २७३।

इस प्रकार प्रसाद जी ने आध्यात्मिक भाव-क्षेत्र में नारी को पुरुष के साहचर्य को सबसे महत्वपूर्ण आवश्यकता माना है। उसी के द्वारा विश्व में आनन्दवाद की भाव-धारा प्रवाहित हो सकती है।

प्रसाद जी ने आनन्दवाद की प्रतिष्ठा के साथ साथ नारी को विभिन्न तत्वों की समन्वयिका के रूप में भी प्रतिष्ठित किया है। उनका मत है कि विभिन्न विच्छिन्न उपकरणों में समन्वय स्थापित करने से जिस शक्ति का निर्माण होगा, उससे मानवता की विशाल भावना का समृद्धिपूर्ण विकास हो सकेगा—

'शक्ति के विद्युत कण, जो व्यस्त, विकल बिखरे हैं निरुपाय
समन्वय उसका करे समस्त, विजयिनी मानवता हो जाय।'

—कामायनी, पृष्ठ ५९।

संसृति के विकास के लिए पुरुष और नारी का एक दूसरे में लय हो जाना भी आवश्यक है। तभी विश्व-सौरभयुक्त होकर आनन्द की प्रतिष्ठा में संलग्न हो सकेगा। श्रद्धा कहती है—

'दब रहे हो अपने ही बोझ, खोजते भी न कहीं अवलम्ब
तुम्हारा सहचर बन कर, क्या न, उऋण होऊं मैं बिना विलम्ब।'

—वही, पृष्ठ ५६।

दानों का समुचित परिवर्तन जीवन के शुद्ध विकास का कारण बनता है—

'दोनों का समुचित प्रतिवर्तन, जीवन में शुद्ध विकास हुआ।'

—वही पृष्ठ ७६।

बिखरे तत्वों में श्रद्धा द्वारा इसी समन्वय की भावना हम उसके आनन्दवादी रूप में देख आये हैं—जब इच्छा, ज्ञान और क्रिया के लय होने पर मनु श्रद्धामय होकर आनन्द के निनाद में लय हो जाते हैं—

'स्वप्न, स्वाप, जागरण भस्म हो
इच्छा, क्रिया, ज्ञान मिल लय थे
दिव्य अनाहत पर निनाद में
श्रद्धा-युत मनु बस तन्मय थे।'

—वही, पृष्ठ २७३।

इस समन्वय दर्शन के क्षेत्र में प्रसाद जी का विशेष योगदान श्रद्धा और बुद्धि के समन्वय को लेकर है। व्यक्ति श्रद्धायुक्त भावनाओं का तिरस्कार कर तर्क और

बुद्धि के माध्यम सुख और आनन्द की खोज करना चाह रहा है। परन्तु इस प्रयास में उसे अशान्ति, तिक्तता, उपेक्षा, युद्ध, दुख, उद्वेग, तथा क्षोभ ही प्राप्त हो सका। मनु अपनी ईर्ष्या के वश श्रद्धा को तथा अतिवाद के कारण इड़ा को खो देते हैं। दाम्पत्य जीवन में जिस सामंजस्य की अपेक्षा होती है, और जो आवश्यक संयम सदाचार के द्वारा ही प्राप्त है, मनु में उसका अभाव है। इसीलिये वे भटकते रहे। प्रसाद जी का निर्देश है कि मनु को श्रद्धा के नेतृत्व तथा आदेशों में रह कर ही अपने मंगल-पथ पर अग्रसर होना चाहिए। तभी उन्हें शान्ति तथा आनन्द की प्राप्ति हो सकेगी और बुद्धि की प्रतीक इड़ा भी उनके सम्मुख नत सिर हो जायेगी। हृदय की सत्ता का सुन्दर सत्य श्रद्धा द्वारा ही खोजा जा सकता है। श्रद्धा हृदय पक्ष और बुद्धितत्व दोनों का समन्वय करने वाली प्रेरक शक्ति है। अपने पुत्र मानव को इड़ा के पास छोड़ती हुई वह कहती है—

'यह तर्कमयी तू श्रद्धामय
तू मननशील कर कर्म अभय
इसका तू सब संताप निचय
हर ले, हो मानव-भाग्य-उदय।'

—कामायनी, पृष्ठ २४४।

अपने मन की इस उदात्त भावना के कारण ही श्रद्धा विषम वातावरण, परिस्थितियों तथा तत्वों में शान्ति की स्थापना करती है। सत् और असत् के चिरन्तन संघर्ष को, जो वाह्य और आन्तरिक जगत दोनों में विद्यमान है, शान्त करने में श्रद्धा का ही नेतृत्व विशिष्ठ है।

'एक घूँट' में भी प्रसाद जी ने प्रेमलता को इसी प्रकार की समन्वयिका के रूप में उपस्थित किया है। उसके द्वारा ही आनन्द कुमार की बुद्धि का हृदय से सम्मिलन होता है। हृदय की अधिष्ठात्री प्रेमलता को पाकर बुद्धिवादी आनन्द कहता है—

'मेरे कल्पित संदेश में सत्य का कितना अंश था, उसे अलग झलका दिया। मैं प्रेम का अर्थ समझ सका हूं। आज मेरे मस्तिष्क के साथ हृदय का जैसे मेल हो गया है।'

—एक घूँट, पृष्ठ ४३।

प्रसाद जी इस प्रकार से समन्वय-दर्शन को अधिक महत्ता प्रदान करते हैं। वे संघर्षात्मक जीवन दर्शन के अनुगामी नहीं है। साथ ही आदर्शों की दार्शनिक उड़ान में वे धरती के सत्य को भी दृष्टि ओझल नहीं करते। इन दोनों का सामंजस्य और समन्वय ही उनकी लक्ष्य सिद्धि का विषय है। आज की बौद्धिक सभ्यता के युग में

बुद्धिवादी मान्यताओं तथा सिद्धान्तों के विकास की अन्ध उपेक्षा नहीं की जा सकती। वे भी जीवन के सत्य रहस्य का उद्‌घाटन करने मे समर्थ हैं, परन्तु एकांगी होने के कारण अपूर्ण और असफल हैं। इसीलिए उनमें श्रद्धातत्व का होना आवश्यक है। यह कार्य नारी द्वारा ही सम्पन्न हो सकता है, क्योंकि दया, माया ममता और अगाध विश्वास के स्वाभाविक गुण उसके इस महान् कार्य को सहज ही सरल बना देते हैं। इसी उदात्त आदर्श की स्थापना के पश्चात् जीवन में समरसता का विकास हो सकता है। अतः समरसता की प्रतिष्ठा भी नारी द्वारा ही होती है। प्रसाद जी की यही मान्यता है।

-'शैवागमों के प्रत्यभिज्ञादर्शन से प्रसाद जी ने समरसता का सिद्धान्त लिया है। वह शिव शक्ति के सामरस्य से उत्पन्न आनन्द तथा उल्लास का वर्णन है। शिव सूत्र विमर्शिनी में कहा गया है कि शिव-शक्ति मथ्य-मथ्यक भाव से परस्पर संगठित होकर इच्छा कर्म ज्ञान तीनों में सामरस्य लाकर उल्लास या आनन्द का नवनीत उत्पन्न करते हैं[१]।

कामायनी में समरसता की प्रतीक श्रद्धा है। अहम् और इद्‌म का पूर्ण परित्राण उसी के द्वारा होता है—

'शापित न यहां है कोई, तापित पापी न यहां है
जीवन वसुधा समतल है, समरस है जो कि जहां है।'

इसी प्रकार पुरुष और नारी दोनों जीवन तत्वों के बीच में भी समरसता की कल्पना की गयी है। इस सामरस्य के अभाव में प्रेम और विषमता की अवतारणा होती है और जीवन को शान्ति और पूर्णता नहीं मिल पाती। नारी—'निज कोमलता से; मन की माधुरी से[२]' इसी सामरस्य भाव की प्रतिष्ठा करती है। आध्यात्मिक क्षेत्र में ही नहीं, भौतिक तथा मानसिक क्षेत्र में भी श्रद्धा द्वारा ही सामरस्य का सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है। सुख-दुख, बुद्धि-हृदय, भौतिक-अलौकिक, अह्म, इद्‌म, ममत्व-परत्व, व्यक्ति-समाज, गृहस्थ-सन्यासी, शासक-शासित सभी में समरसता का रस प्रवाहित हुआ है। इन सब में विशेष जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं, उन्होंने बुद्धिवाद के साथ श्रद्धावाद का समन्वय करके अथवा तर्कमयी बुद्धि के साथ श्रद्धामय हृदय का समन्वय करके अथवा तर्कपूर्ण बुद्धि और भाव संकलित हृदय का समन्वय करके मानव मात्र के लिए समरसता की योजना प्रस्तुत की है[३]।' श्रद्धा के जीवन

१—रामलाल सिंह : कामायनी अनुशीलन, पृ० १५६-१५७।

२—प्रलय की छाया, पृ० ७१।

३—डा० द्वारिका प्रसाद : कामायनी में काव्य संस्कृति और दर्शन पृ० ४३८।

का लक्ष्य वैषम्यपूर्ण स्थिति में समरसता का प्रचार ही है। वह सब प्राणियों में समरसता की इच्छुक है। इस प्रकार यदि एक ओर आधुनिक समाज में तीव्र वेग में फैली वासना का भारतीय समाधान प्रसाद जी के काव्य में मिलता है तो दूसरी ओर वे सुख-दुख की अनुभूति में समरसता का प्रचार करते हैं। वे जीवन की प्रत्येक परिस्थियों को समान रूप से ग्रहण करने का उपदेश देते हैं। और जीवन की सफलता का उसे महत्वपूर्ण साधन मानते हैं।

इसी प्रसंग में प्रसाद जी नारी को पुरुष की सहयोगिनी, पूर्णता और प्रेरणा के रूप में भी प्रस्तुत करते हैं। वह जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पुरुष की सहायिका बन कर आती है। पुरुष को जीवन के रहस्य उसी से ज्ञात होते हैं। श्रद्धा मनु को जग और जीवन का रहस्य बताती है—

'दुख की पिछली रजनी बीच
विकसता सुख का नवल प्रभात
एक पर्दा यह झीना नील
छिपाये है जिसमें सुख-गात
जिसे तुम समझे हो अभिशाप
जगत की ज्वालाओं का मूल
ईश का वह रहस्य वरदान
कभी मत इसको जाओ भूल'

—कामायनी, पृष्ठ ५३।

वह बतलाती है कि भूमा पूर्णता का ही नाम है। 'भूमा वै सुखम्।' दुख के द्वारा ही जीवन की अमूल्य मणियां प्रकाश में आती हैं—

'व्यथा की नीली लहरों बीच
बिखरते सुख-मणि गण द्युतिमान।'

—कामायनी पृष्ठ ५४।

यह पुरुष को कर्म क्षेत्र के भले बुरे का भी ज्ञान कराती है। यह भावना 'विशाख' की महारानी के इन शब्दों में व्यक्त हुई है। नर देव को कुपथ पर जाता देख कर वह कहती है—

'आपने कुपथ पर पैर रक्खा है और मैं आपको बचा न सकी। परिणाम बड़ा ही भयंकर होने वाला है। वह मैं नहीं देखना चाहती। किन्तु कहे जाती हूं कि अन्याय का राज्य बालू की भीत है।'

—पृष्ठ ७३।

जीवन की पूर्णता के रूप में नारी का सहयोग अतुल है। पुरुष और नारी के सम्मिलन के बिना जीवन अपूर्ण है[1]। मन श्रद्धा के अभाव में नितान्त निष्क्रिय है। नारी पुरुष के लिए सुखों की अजस्र वर्षा है। उसके द्वारा संचालित मन ही आनन्द की परम सिद्धि प्राप्त कर सकता है। वही जीवन की अतृप्ति में संतोष का मधु बन कर कामनाओं के देश में विस्तीर्ण होती है—

'तुम अजस्र वर्षा सुहाग की
और स्नेह की मधु रजनी
चिर अतृप्ति जीवन यदि था तो
तुम उसमें संतोष बनी।'

—कामायनी, पृष्ठ १२६।

प्रसाद जी नारी को हृदय का प्रतिनिधि मानते हैं और इसीलिए वह समस्याओं का उद्रार समाधान तथा प्रश्न का उत्तर है—

'एक गृह पति, दूसरा था अतिथि विगत विकार
प्रश्न था यदि एक, तो उत्तर द्वितीय उदार।'

—वही, पृष्ठ ८१।

नारी के सहयोग से पुरुष-जीवन की समस्त समस्याओं का अन्त हो जाता है। एक शान्त स्निग्ध रिक्तता रहित पूर्णता की भावना जीवन में लहरा उठती है[2]। 'तितली' की नन्द रानी का यह कथन महत्वपूर्ण है—

'मैं कहती हूं कि पुरुष और स्त्री को ब्याह करना ही चाहिए। एक दूसरे के दुःख-सुख और अभाव-आपदाओं को प्रसन्नता में बदलने के लिए सदैव प्रयत्न करता रहे। एक की कमी दूसरे को पूरी करनी चाहिए।'

—पृष्ठ २११।

स्त्री पुरुष जीवन की पूर्णता के विषय में 'प्रतिध्वनि' में संकलित 'प्रलय' में भी यही विचार व्यक्त हुए हैं—

'जैसे मेरा अस्तित्व स्वप्न था, आध्यात्मिकता का मोह था। जो तुमसे भिन्न स्वतन्त्र स्वरूप की कल्पना कर ली थी, वह अस्तित्व नहीं, विकृति थी।'

—पृष्ठ ७१।

१—कामना, देखिए विनोद का कथन, पृष्ठ ४।
२—कंकाल, देखिए पृष्ठ ४६।

नारी पुरुष जीवन में पूर्णता की सहयोगिनी ही नहीं, वरन् उसका उद्धार करने में भी अग्रगण्य है। द्वन्द्व, विभीषिका और जीवन की निराश परिस्थितियों से परितृप्त मनु को श्रद्धा ही आनन्द लोक तक ले जाती है। जहाँ उनका मन मधुमति भूमिका में पहुँच कर ममता और आकर्षण की भावना से शून्य हो जाता है। सम्पूर्ण मानस में समरसता के भाव का प्रसार होकर विराट् आनन्द की धारा प्रवाहित होने लगती है। नारी पुरुष के लिए प्रवृत्ति का संदेश लेकर आती है; कर्तव्य के पथ पर वही प्रेरणा भी बनती है तथा पथ विभ्रष्ट पुरुष के संस्कार भी उसी के द्वारा सम्पन्न होते हैं। पुरुष को मानवीय गुणों से परिचित कराने का कार्य भी वही पूर्ण करती है। यद्यपि प्रसाद जी के नाटकों में जयमाला, कमला, देवसेना, तथा अलका के चरित्रों में इस भावना का प्रस्फुटन हुआ है, परन्तु चरम परिपुष्टि श्रद्धा के नारीत्व में ही हो पाई है। यह प्रसाद जी के बौद्ध दर्शन के अध्ययन का ही फल है कि उन्होंने करुण भाव तथा अहिंसा के साथ-साथ नारी शक्ति के सम्मान की प्रतिष्ठा की। कामयानी सब प्रकार से मनु का उद्धार करती है। प्रसाद जी की नारी-सृष्टि मानो पुरुषों का उद्धार करने के लिए ही हुई है। इस विषय में प्रसाद जी की इतनी अडिग आस्था है कि इस सम्बन्ध में तर्क करना व्यर्थ होगा[1]। नारी के इस आध्यात्मिक उत्कर्ष का चित्रण उसकी आधुनिक वस्तु स्थिति के क्षेत्र में एक नवीन क्रान्ति का सूत्रपात करता है, जिसका पृष्ठभूमि में प्रसाद जी की आंखों में झूलता हुआ अतीत का सुवर्ण स्वप्न और नारी के प्रति असीम श्रद्धा का भाव ही विशिष्ठ है।

प्रसाद जी ने श्रद्धा के रूप में नारी को परात्पर शक्ति के रूप में प्रस्तुत किया है। श्रद्धा के दर्शन से ही मनु को शिव का ताण्डव नृत्य दिखाई पड़ता है। उसके द्वारा ही त्रिपुरों का एकत्व होता है। नारी का इस परात्पर शक्ति के विषय में शैवागमों में कहा गया है—'शक्त्या विना परे शिवे नाम धाम न विद्यते।

जैसा कि हम उपर्युक्त पंक्तियों में कह आये हैं कि शिव प्रकाश रूप है और शक्ति विमर्श रूपिणी। शिव अहमर्थ है तथा शक्ति इदम् अंश। शक्ति के बिना शिव को अपने प्रकाश रूप का ज्ञान नहीं हो सकता इसी तरह शक्ति भी शिव के अभाव में महत्वहीन है। शक्ति और शिव दोनों की सत्ता एक दूसरे पर अवलम्बित है। जिस प्रकार शिव तत्व में शक्ति भाव गौण है, और शिव भाव प्रधान, उसी प्रकार शक्ति तत्व में शिव भाव गौण है तथा शक्ति भाव प्रधान। परन्तु 'तत्त्वातीत दशा में न शिव की प्रधानता है, न शक्ति की, प्रत्युत दोनों की साम्यावस्था है। वहाँ शिव शक्ति

१—आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी—जयशंकर प्रसाद, पृ० ८६।

का सामरस्य है। इस सामरस्य रूप को शैव लोग परम शिव तथा शक्ति लोग पराशक्ति मानते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि कामायनी में श्रद्धा पराशक्ति के अवतार रूप में दिखाई गई है। प्रसाद जी शक्ति अद्वैतवाद के संदेशवाहक हैं, और इसी कारण वे इदम् को अहम् में पर्यवसित करने का समर्थन नहीं करते, प्रत्युत अहम् को इदम् में लीन करने की साधना स्वीकार करते हैं[1]। तभी तो मनु से श्रद्धा के नेतृत्व की याचना कराई गई है—

'यह क्या ? श्रद्धे, बस तू ले चल
उन चरणों तक, दे निज सम्बल
सब पाप-पुण्य जिसमें जल-जल
पावन बन जाते हैं निर्मल
मिटते असत्य से ज्ञानलेश
समरस अखण्ड आनन्द वेश'

—कामायनी, पृ० २५४।

नारी के इस शक्ति-रूप को प्रसाद जी ने अपने उपन्यासों में भी चित्रित किया है। जहां पुरुष के लिए नारी की कल्पना ही बल बनती है। जेल जीवन में तितली की स्मृति मधुबन में आशा का संचार करती है। उसका दिव्यज्योति से भरा मुखमण्डल उसके हृदय में उत्साह को भर देता है[2]। इरावती में भी यही भावना व्यक्त हुई है—

नारी शक्ति स्वरूपा है। अन्तर्निहित आनन्द की अग्नि प्रज्वलित करने पर सब मलिन कर्म उसमें भस्म हो जाते हैं। उस आनन्द के समीप पाप आने से डरेगा।'

—पृ० ५६।

प्रसाद जी ने नारी के इस दिव्य दार्शनिक रूप की प्रतिष्ठा से समाज में श्रद्धावाद की स्थापना करनी चाही है। उनकी दृष्टि में श्रद्धा ही श्रद्धेय है। लौकिकता, द्वैत, बौद्धिकता और अतिचारों के साम्राज्य में श्रद्धामय नारी ही सुमंगल का पुण्य बिखेर सकती है, इसी विश्वास से उन्होंने तर्कमयी इड़ा को विश्वासमयी श्रद्धा के सम्मुख प्रणत किया है। इड़ा अपने नितान्त भ्रम का अनुभव कर, अपनी विफलता को सम्मुख देखती हुई श्रद्धा के सम्मुख क्षमा याचना करती है—

१—रामलाल सिंह : कामायनी अनुशीलन, पृष्ठ १७४।
२—तितली, पृ० २५६।

'मैं आज अकिंचन पाती हूं
अपने को नहीं सुहाती हूं
मैं जो कुछ भी स्वर गाती हूं
वह स्वयं नहीं सुन पाती हूं,
दो क्षमा, न दो अपना विराग
सोई चेतनता उठे जाग ।'

—कामयानी, पृ० १४० ।

+ + + +

नवीन आदर्श

नारी की दार्शनिक प्रतिष्ठा का जो स्वरूप प्रसाद जी ने अभिव्यक्त किया है, उसकी विवेचना उपर्युक्त पंक्तियों में की जा चुकी है । अपनी इस दार्शनिक मान्यता में उन्होंने नारी को पुरुष से सभी क्षेत्रों में महान् और श्रेष्ठ सिद्ध कर दिया है । हृदय की प्रतिनिधि होने के कारण वह अन्तर्भावनाओं में पुरुष के धरातल से स्वभावत: ही ऊंची उठ जाती है । परन्तु व्यावहारिक क्षेत्र में भी वह पुरुष का पथ निर्देश करती है । विश्व का सुमंगल भी उसी की प्रेरणा से होता है, शान्ति की प्रतिष्ठा में भी उसीका योगदान है यह सब हम कह आये हैं । नारी के इस दाशनिक स्वरूप के साथ-साथ प्रसाद जी ने उसके सम्बन्ध में नवीन आदर्शों की सृष्टि भी की है और उन आदर्शों का महत्व भी दार्शनिक स्वरूप के महत्व से कम नहीं है । इन आदर्शों की विवेचना हम प्रेम, कर्त्तव्य,सेवा-समर्पण तथा सौंदर्य सम्बन्धी आदर्शों के अन्तर्गत करेंगे ।

प्रेम सम्बन्धी आदर्श

प्रसाद जी का सम्पूर्ण साहित्य प्रेम के आदर्श को लेकर चलता है । इनकी पात्राएं स्वस्थ सौंदर्य और विश्वासमय प्रेम की आदर्श पात्राएं हैं । उनका प्रेम वासना, आसक्ति और मोह की संकीर्ण सीमाओं से विमुक्त है । हृदय की एक लयता उनके प्रणय की श्रेष्ठ उपलब्धि है, जहां प्राप्ति की आकांक्षा के स्थान पर उत्सर्ग की भावना विशिष्ठ है । 'लहर में उन्होंने गाया है—

'पागल रे ! वह मिलता है कब
उसको तो देते ही हैं सब
आंसू के कन से गिन कर'

—पृष्ठ ३५-३६ ।

प्रसाद जी का प्रेम 'सदा चेतना के प्रकाश से प्रकाशित रहता है जो कायिक सौंदर्य या दृष्टिगत सौंदर्य की भीति पर स्थिर नहीं है[1] ।' नारी के प्रेम की शीतल छाया में पुरुष अपनी क्रूरतायें भूल जाता है। वाजिरा का प्रेम अजात की नृशंसता को शान्त कर देता है[2] । प्रसाद जी प्रम के आदर्श को मन की एकनिष्ठा—अनन्यता के साथ सम्बद्ध करते हैं। उसके प्रचार में उन्हें विश्वास नहीं है। मालविका चन्द्रगुप्त से प्रेम करती रह कर भी अन्त तक उसे अपने तक ही सीमित रखती है और मौन होकर ही अपने प्रणय की प्रतिष्ठा के लिए अपने प्राणों का उत्सर्ग कर देती है। सुवासिनी में यही एकनिष्ठा विद्यमान है। कोमा शकराज से बार बार लांछित होकर भी उसके निधन पर उसका शव मांगने जाती है। प्रेम सम्बन्धी इस आदर्श के संदर्भ में देवसेना का चरित्र बहुत ऊंचा ठहरता है। स्कन्द गुप्त पर उसने अपना सर्वस्व न्योछावर कर दिया है । परन्तु अपने को पराजित पाकर भी वह क्षुब्ध नहीं होती। उसे अपनी प्रतिद्वंद्विनी विजया से न तो ईर्ष्या ही होती है, न उस पर क्रोध ही आता है, वरन् उसे क्षोभ होता है कि विजया अपने भावावेश की शीघ्रता में भटार्क का वरण कर लेती है। दूसरे, स्कन्दगुप्त से प्रेम करते हुए भी वह अपनी प्रेमाकांक्षा को कभी भी उससे प्रकट नहीं करती। उसकी दृष्टि में स्कन्दगुप्त से प्रणय चर्चा करना उसका अपमान करना है।' युवावस्था के उन्माद काल में संगीत की एकान्त साधना में लीन, भाव-विभोर दूर की रागिनी सुनती हुई वह कुरंगी सी कुमारी, चरित्र की यही विशेषता लेकर हमारे सम्मुख आती है[3] ।

प्रसाद जी ने सर्वत्र प्रेम के आदर्शमय स्वरूप का ही उद्घाटन किया है। उनके द्वारा प्रेम का अर्थ हमेशा ही विस्तृत भाव में ग्रहण किया गया है। प्रेम, उसकी दृष्टि में प्रगति का अन्त नहीं, वरन् उसके चरम विकास का साधन है—

'इस पथ का उद्देश्य नहीं है, श्रान्त भवन में टिक रहना
किन्तु पहुंचना उस सीमा पर, जिसके आगे राह नहीं।

—प्रेम पथिक

'प्रेम पथिक' की मूल-भावना प्रणय के सम्बन्ध में यह वक्तव्य कितना अर्थ पूर्ण हो जाता है। 'क्षुब्ध और कुपित आकाश पाताल में आग लगा डालने वाली मानव हृदय की आदि वासिनी यह प्रणय कामना, सौम्य होकर, निखर कर, शालीन होकर मानवात्मा को शुभ्रता, शान्ति और शिवत्व के कितने ऊंचे लोकों में उड़ा ले जाती

१—रामलाल सिंह : कामायनी अनुशीलन।
२—देखिए अजातशत्रु में वाजिरा का चरित्र।
३—परमेश्वरी लाल : प्रसाद के नाटक, पृ० २१५।

है, उसका अनुभव करना हो तो प्रेम पथिक का बार बार पारायण करना कल्याणकारी व आनन्ददायक होगा। ... ... प्रेम को प्रसाद ने अत्यन्त व्यापक धरातल पर प्रतिष्ठित करके मानव-आनन्द और विश्व-कल्याण इन दोनों ही भावनाओं को अमर प्रेम-रस से सन्तुष्ट कर दिया है। क्षुद्र वासना का उबाल या त्वचा का स्पर्श मात्र प्रेम नहीं[1]।'

प्रसाद जी की नारी के प्रणय में एकनिष्ठा के साथ-साथ मानवता के कल्याण की कामना भी निहित रहती है। एकनिष्ठा के लिए वे विश्वास की आवश्यकता का अनुभव करते हैं। विश्वास के अधिष्ठान के लिए स्थूल सौन्दर्य और लौकिक उपादानों की आवश्यकता न होकर अन्तर भावनाओं में सच्चाई और ईमानदारी की अपेक्षा होती है। इसीलिए प्रसाद जी की प्रेम कल्पना में अतीन्द्रियता और निर्मलता का समावेश है। उनके प्रेम-सम्बन्धी आदर्श-पात्र इसी अलौकिकता और निष्ठा को लेकर अपने प्रेम की सुरक्षा और निर्वाह करते हैं। और इससे विमुख होने पर अपनी दुरावस्था को प्राप्त होते हैं। प्रेम का वाणिज्य प्रसाद जी को कभी भी प्रिय नहीं रहा है। इसीलिए दामिनी, विजया आदि पात्रियों को जीवन का वैषम्य भोगना पड़ा है। प्रेम की वास्तविक सफलता उसके विश्व-व्यापी होने में है—

'किन्तु न परिमित करो प्रेम
सौहार्द, विश्वव्यापी कर दो,

—प्रेम पथिक, पृष्ठ ३०।

प्रसाद जी के मत में प्रेम की चरम सीमा दो आत्माओं के मिलन में है। आत्म-समर्पण ही प्रेम की कसौटी है : एक बार समर्पित होने पर फिर कुछ नहीं रह जाता, इसीलिए प्रेम केवल एक के लिए ही होता है। विविधता की स्थिति में प्रेम प्रेम नहीं, स्वार्थ वासना हो सकता है। कार्नेलिया के प्रणय में भी यही समर्पण भावना विद्यमान है। प्रथम दर्शन में वह चन्द्रगुप्त की ओर आकर्षित होती है। रौद्र और शृंगार का संगम—चन्द्रगुप्त का व्यक्तित्व उसके आकर्षण का केन्द्र बनता है, और यह आकर्षण अनन्यता में परिपूर्ण हो, अन्त में फलसिद्धि प्राप्त करता है। 'तितली' में इसी प्रेम की एकनिष्ठा है। मधुबन की अनुपस्थिति में भी वह उसी की स्मृति को सहेजे हुए जीवन के कठोर कर्त्तव्य का निर्वाह किए चलती है। कहानियों में भी इसी प्रेम दर्शन की अभिव्यक्ति नूरी, नेरा, चम्पा, मालिन,[2] चन्दा, मधूलिका, तथा सुजाता आदि पात्रियों में हुई है। 'विशाख' की चन्द्रलेखा में भी यही एकनिष्ठा विद्यमान है। यादवी सरमा जातीय

१—महाकवि प्रसाद, पृ० ४४ व ४६।
२—'अपराधी' कहानी की नायिका,

अभिमान से युक्त होकर भी प्रेम के आदर्श का निर्वाह करती है।

श्रद्धा का चरित्र प्रसाद के प्रेम सम्बन्धी आदर्श की उदार व्याख्या प्रस्तुत करने में समर्थ है। मनु के प्रति श्रद्धा की एकनिष्ठा असीम हैं। वह मनु के चले जाने पर स्वप्न में भी किसी दूसरे का ध्यान नहीं करती। उसे खोजने के लिए वह बावली सी इधर उधर घूमती है। घायल मनु को पाकर वह विश्वस्त हो, अपने प्रणय की सुरक्षा के लिए तत्पर हो उठती है—

श्रद्धा नीरव सिर सहलाती
आंखों में विश्वास भरे
मानो कहती, 'तुम मेरे हो'
अब क्यों कोई वृथा डरे।

—कामायनी, पृष्ठ २१६।

इतने पर भी, मनु के द्वारा आत्म-ग्लानिवश फिर एक वार श्रद्धा को छोड़ देने पर भी उसकी एकनिष्ठा में कोई अन्तर नहीं पड़ता, और वह उसे खोजने के लिए फिर चल पड़ती है—

मैं अपने मनु को खोज चली
सरिता मरु नग या कुंज गली,
वह भोला इतना, नहीं छली
मिल जायेगा, हूं प्रेम पली,

—कामायनी, पृष्ठ २४३।

प्रेम की भावना को प्रसाद जी नारी का जन्मसिद्ध अधिकार मानकर चले हैं। उसे इस भावना का निर्माण नहीं करना पड़ता। उसे मांगना नहीं पड़ता। 'कंकाल' की गाला मंगल से कहती है—

'स्त्रियों का यह जन्मसिद्ध उत्तराधिकार है मंगल। उसे खोजना परखना नहीं होता, कहीं से ले आना नहीं होता। वह बिखरा रहता है असावधानी से। धन-कुवेर की विभूति के समान। उसे संभाल कर केवल एक ओर व्यय करना पड़ता है, इतना ही तो[१]।'

प्रसाद जी ने यहां 'केवल एक ओर व्यय करने' का संकेत देकर प्रणय की

१—कंकाल, पृष्ठ २४६।

एकनिष्ठा का आदर्श ही उपस्थित किया है जो माला की माँ के शब्दों में और भी अच्छी तरह से अभिव्यक्त किया गया है—

'जिसे हृदय देना, उसी को शरीर अर्पण करना। उसमें एकनिष्ठा बनाये रखना। मैं बराबर जायसी की पद्मावत पढ़ा करती हूँ। वह स्त्रियों के लिए तो जीवन-यात्रा का पथ-प्रदर्शक है। स्त्रियों को प्रेम करने के पहले यह सोच लेना चाहिए, मैं पद्मावती हो सकती हूँ कि नहीं।'

संक्षेप में प्रसाद जी का प्रेम सम्बन्धी आदर्श अपने मूल रूप में परम्परा मुक्त होकर हृदयों की स्वच्छन्दता, स्वच्छता, निश्छल आदान-प्रदान, एकनिष्ठा, स्वस्थ माधुर्य तथा सौन्दर्यपूर्ण भावना की पीठिका में विकसित हुआ है। साथ ही आत्मा से संयुक्त भौतिकता की उपेक्षा भी उसमें नहीं है। परन्तु अधोगामी विलास को कहीं भी स्वीकृति प्रदान नहीं की गई है। उदात्त परिष्कृत काम-कला का संतुलित जीवन की रचना के लिए उपयोग ही उनका लक्ष्य रहा है। इस प्रकार उनका 'प्रेम-काव्य उनके एक व्यवस्थित व मौलिक जीवन दर्शन के आधार पर खड़ा हुआ है। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार पीपल के पत्ते के व्यवस्थित स्नायु-जाल पर पत्ते की चिकनी व सरस हरियाली मढ़ी रहती है। प्रसाद ने अपनी मूल रोमान्टिक जीवन दृष्टि, और विविध दर्शनों और शास्त्रों को अपनी मेधा से छानकर प्राप्त की हुई दार्शनिक दृष्टि—इन दोनों के योग से एक व्यापक विचारधारा तैयार की है।'

—महाकवि प्रसाद, पृष्ठ २७३।

कर्त्तव्य सम्बन्धी आदर्श

प्रणय-सम्बन्धी आदर्श के अन्तर्गत हम कह आए हैं कि प्रसाद जी ने नारी को एकान्तिक, विश्व से दूर, प्रणय की सुविधा नहीं दी है। प्रणय उसके मन की स्वाभाविक प्रवृत्ति है, ठीक है, परन्तु वह प्रणय उसके कर्त्तव्य-पथ की बाधा न बन कर साधना बनना चाहिए, प्रसाद जी ने इस बात का पूरा ध्यान रखा है। अतः उनके कर्त्तव्य-सम्बन्धी आदर्श प्रणय की धूप में चमक उठे हैं। वे कर्त्तव्य को उपभोग की वस्तु न मानकर त्याग और सेवा की वस्तु मानकर चलते हैं। श्रद्धा द्वारा मनु को इस तथ्य से परिचित कराया गया है। कर्म से श्रान्त, इन्द्रिय-सुखों से आकम्पित, अतृप्त मनु को श्रद्धा कर्त्तव्य का संदेश देती है—

'रचना मूलक सृष्टि यज्ञ यह
यज्ञ-पुरुष का जो है

संसृति सेवा भाव हमारा
उसे विकसने को है ।'

—कामायनी पृ० १३२ ।

यही कर्त्तव्य-भावना मल्लिका के चरित्र में अभिव्यक्त हुई है। वह अपने पति के कर्त्तव्य-मार्ग में अवरोध उत्पन्न नहीं करना चाहती। अपने प्रेम-पाश से उन्मुक्त कर वह उन्हें कर्त्तव्य निर्वाह के लिए स्वतन्त्र कर देती है। यही मल्लिका के कर्त्तव्य का आदर्श है, जहाँ वह राष्ट्र के लिए अपने व्यक्तिगत सुख की बलि दे देती है। महामाया से वह कहती है—

'मुझे कुछ नहीं, केवल स्त्री-सुलभ संवेदना तथा कर्त्तव्य और धैर्य की शिक्ष मिली है।'

—अजातशत्रु, पृ० ७६ ।

'स्कन्दगुप्त' की रामा इसी कर्त्तव्य-परायणता का आदर्श लेकर अपनी स्वामिनी की रक्षा के लिए, पति का विरोध करते हुए मरने से भी नहीं डरती। वह यह मान कर चलती है कि नारी के कर्त्तव्य की सीमा विस्तृत है। इसीलिए पुरुषों को सन्मार्ग पर लाना भी वह अपना धर्म मानती है। अजातशत्रु में नारी के कर्त्तव्य के आदर्श को यों व्यक्त किया गया है—

'स्त्रियों का कर्त्तव्य है कि पाशव वृत्ति वाले क्रूरकर्मा पुरुषों को कोमल और करुणालिप्त करें। कठोर पौरुष के अनन्तर उन्हें जिस शिक्षा की आवश्यकता है—उस स्नेह, शीतलता, सहनशीलता और सदाचार का पाठ उन्हें स्त्रियों से ही सीखना होगा। हमारा यह कर्त्तव्य है। व्यर्थ स्वतन्त्रता और समानता का अलंकार करके उस अपने अधिकार से हमको वंचित न होना चाहिए।'

—पृ० १२७ ।

कर्त्तव्य की उत्कृष्ट भावना का विकास तितली के चरित्र में देखने को मिलता है। मधुवन के न रहते हुए भी वह अपने कर्त्तव्य का पालन संकोच, सहनशीलता और धैर्य के साथ किए चलती है। अपने प्रिय के अभाव में वह निराश होकर भाग्य के सहारे नहीं बैठ जाती, वरन् उसके लौटने की आशा लेकर संसार से लड़ते हुए अपना अस्तित्व बनाए रखने में विश्वास करती है।

श्रद्धा के नारीत्व में प्रेम की अनन्यता का सुकोमल भाव निहित है। परन्तु इस प्रणय की ममता को वह कभी भी एकान्तिकता या स्थूलता का जामा नहीं पहनाती। उसे किसी भी क्षेत्र में अपने कर्त्तव्य से विमुख नहीं देखा जाता। मनु के प्रति वह सदैव ही प्रेयसी, पत्नी, सहचरी और पथ-निर्देशिका के रूप में अपने कर्त्तव्य का निर्वाह करती है। परन्तु व्यक्तिगत कर्त्तव्य-निर्वाह के इस प्रयास में वह राष्ट्र के

प्रति भी अपना धर्म नहीं भूलती। राष्ट्र-कल्याण के लिए वह मानव को इड़ा के पास छोड़ देती है। श्रद्धा के इस कर्त्तव्य-परायण स्वरूप को देखकर ही मनु को लगता है कि—

> 'कुछ उन्नत थे वे शैल शिखर
> फिर भी ऊँचा श्रद्धा का सिर
> वह लोक अग्नि में तप गल कर
> थी ढली स्वर्ण प्रतिमा बनकर।'
>
> —कामायनी, पृ० २५७।

सेवा-समर्पण का आदर्श

सेवा और समर्पण की भावना नारी की निसर्ग प्रवृत्तियों में से मुख्य है। प्रसाद जी ने निःस्वार्थ सेवा को आदर्श मान कर नारी-चरित्र में उसका अधिष्ठान किया है। मालविका इसी निःस्वार्थ सेवा की मूर्ति बन कर प्रकट हुई है। मालव के युद्ध में घायल वीरों की सेवा उसका मुख्य धर्म बन जाता है। इसी सेवा-व्रत के कारण वह अलका की रक्त की प्यासी छुरी से घृणा करती है, क्योंकि सेवा की भावना में, सहयोग का, संवेदनशीलता का और करुणा का व्रत लिया रहता है—अतः हिंसा, क्रूरता अथवा प्रतिशोध के प्रति वहां केवल उपेक्षा ही विद्यमान रहती है। मालविका के चरित्र में भी यही सेवा-भावना प्रस्फुटित हुई है। रामा के चरित्र में उसकी कर्त्तव्य भावना के साथ घुला-मिला उसका सेवा-भाव भी निहित है। 'ध्रुवस्वामिनी' की मन्दाकिनी सेवा का अनुपम आदर्श प्रस्तुत करती है। ध्रुवस्वामिनी को भाभी कहने के नाते उसका सारा जीवन उसकी सेवा और संकट निवारण में ही बीतता है। 'कंकाल' की घंटी 'धात्री', उपदेशिका, धर्म प्रचारिका और सहचारिणी बन कर सेवा का आदर्श प्रस्तुत करती है। अपने भाषण में वह कहती है—

'संसार में इतनी आवश्यकता अन्य किसी वस्तु की नहीं जितनी सेवा की[१]।'

और स्वयं भी वह सेवा की उदात्त प्रकृति सी बन कर प्रकट होती है। कमला और ममता के चरित्रों में भी यही सेवा-भावना मुखरित हुई है। सालवती अपने अभावों के बीच भी सेवा के आदर्श की उपेक्षा नहीं करती। मैत्रायण से वह कहती है—

'मैं उतनी सम्पन्न नहीं हूं कि आप जैसे माननीय अतिथियों का स्वागत कर सकूं, फिर भी जल-फल-फूल से मैं दरिद्र भी नहीं। मेरे साल कानन में आने के लिए मैं आप लोगों का हार्दिक स्वागत करती हूं। आज्ञा हो, मैं सेवा करूं।'

—इन्द्रजाल, पृ० १३३।

१—कंकाल, पृष्ठ २९७।

श्रद्धा का चरित्र इस सेवा के आदर्श की महानता प्रकट करता है । ईर्ष्यालु मनु के पास आकर वह उनकी कुशल-क्षेम पूछकर, अपनी सहज कोमलता के साथ उनकी उद्विग्नता का कारण पूछती है तो मनु का वह दृप्त स्वरूप नत हो जाता है—

'नत हुआ फण दृप्त ईर्षा का, विलीन उमंग ।'

—कामायनी, पृ० ८५ ।

इसी प्रकार मनु के घायल हो जाने पर वह उनकी सेवा में तत्पर होकर उनके व्यथा भार को अपने मधुर स्पर्श से हर लेती है—

'इड़ा चकित, श्रद्धा आ बैठी
वह थी मनु को सहलाती
अनुलेपन सा मधुर स्पर्श था
व्यथा भला क्यों रह जाती ।'

—वही, पृ० २१५ ।

मनु को आनन्द-मार्ग में ले जाते हुए भी उनके प्रति सेवा के भाव-उदय प्रहर में वह सेवा-मयी मुस्करा उठती है—

'वह विश्वास भरी स्मित निश्छल
श्रद्धा मुख पर झलक उठी थी
सेवा कर पल्लव में उसके
कुछ करने को ललक उठी थी ।'

—कामायनी, पृ० २५६ ।

सेवा के इस आदर्श के अनुरूप ही नारी के समर्पण का आदर्श भी प्रसाद जी की अभिव्यक्ति का विषय बना है । उनकी प्रत्येक आदर्श प्रणयिनी अपने प्रिय पर पूर्णतया समर्पित है । मणिमाला जनमेजय के वीरत्व व्यंजक स्वरूप पर अपना मन वार देती है : इन दोनों का प्रणय राजनीतिक एवं सांस्कृतिक ऐक्य की पृष्ठभूमि में दो प्रणय पूर्ण, समर्पण भावना से परिसिक्त हृदयों का यथार्थ सम्मिलन है । देवसेना के इन शब्दों में समर्पण भावना का ही आदर्श प्रस्तुत हुआ है—

'आह ! कहना ही पड़ा, स्कन्दगुप्त को छोड़कर न कोई दूसरा आया और न वह जायेगा··· ····नाथ, मैं आपकी ही हूं । मैंने अपने को दे दिया है, अब उसके बदले कुछ लिया नहीं चाहती ।'

—स्कन्दगुप्त, पृ० १४० ।

प्रसाद जी का समर्पण सम्बन्धी आदर्श स्वार्थ की प्रवंचनापूर्ण भूमि में न खिलकर त्याग की वाटिका में विहंसता है । तितली शैला को इसी आदर्श का पाठ सिखाती है—

'बहन तुम कहीं भूल तो नहीं कर रही हो। तुम धर्म के बाहरी आवरण में अपने को ढंक कर हिन्दू स्त्री बन गई हो सही, किन्तु उसकी संस्कृति की मूल शिक्षा भूल रही हो। हिन्दू स्त्री का श्रद्धापूर्ण समर्पण उसकी भावना का प्राण है। इस मानसिक परिवर्तन को स्वीकार करो।'

—तितली, पृष्ठ २८९

श्रद्धा इस सेवा और समर्पण की भावना के बल पर ही मनु को सृष्टि-निर्माण-कार्य में नियोजित करने का श्रेय प्राप्त करती है। अपनी अगाध के महत्वपूर्ण समर्पण से मनु का शृंगार करती हुई वह जीवन में आनन्द की अजस्र धारा प्रवाहित करती है। मनु के प्रति उसका समर्पण उसके महान् उत्सर्ग की कहानी है—

'समर्पण लो सेवा का सार, सजल संसृति का यह पतवार,
आज से यह जीवन उत्सर्ग, इसी पद-तल में विगत विकार;'

और इस समर्पण के साथ साथ वह अपना कितना और भी तो समर्पित कर देती है—

'दया माया ममता लो आज
मधुरिमा लो, अगाध विश्वास
हमारा हृदय रत्न निधि स्वच्छ
तुम्हारे लिए खुला है पास,'

—कामायनी, पृष्ठ ५७

प्रसाद जी की नारी का यह समर्पण भाव भी व्यष्टि के लिये नहीं समष्टि के लिए, उसके सौख्य, उसके मंगल और उसकी समृद्धि के लिये है। श्रद्धा मनु को समर्पित होकर उन्हें सृष्टि के विकास के लिए अनुप्रेरित करती है—

'बनो संसृति के मूल रहस्य
तुम्हीं से फैलेगी वह बेल,'

—कामायनी, पृष्ठ ५७

समर्पण की इस आदर्श भावना के साथ साथ प्रसाद जी ने पत्नीत्व की भी आदर्श-प्रतिष्ठा की है। वासवी के चरित्र में पत्नीत्व की इस मर्यादा का विकास हुआ है। वह जीवन की प्रत्येक परिस्थिति में पतिसेवा के व्रत का पूर्ण निर्वाह किए चलती है। उसका जीवन पति सेवा का ही लक्ष्य लेकर आगे बढ़ता है। यही जैसे उसकी साधना है। उसकी सफलता है, उसके जीवन की सार्थकता है। राज्य का परित्याग करने पर बिम्बसार वानप्रस्थ धारण करते हैं, तो वह उन के उस त्याग का समर्थन करती हुई स्वयं भी उन का अनुसरण करती है। इसी प्रकार पद्मावती भी पतिव्रत की कसौटी पर खरी उतरती है। एक स्थान पर वह कहती है—

'मेरे नाथ ! इस जीवन के सर्वस्व ! और पर जन्म के स्वर्ग, तुम्हीं मेरी गति हो और तुम्हीं मेरे ध्येय हो।'

—अजातशत्रु, पृष्ठ ६०

राज्यश्री में भी इसी पति-परायणता का निर्वाह हुआ है। वपुष्टमा मृत्यु के उपरान्त भी पति सेवा के पुनीत कर्त्तव्य से विमुख नहीं होना चाहती। उतंक से वह कहती है—

'आर्य ! आशीर्वाद दीजिये कि पति देवता के कार्य में मैं सहकारिणी रहूं, और मरण में भी पश्चात्पद न होऊं।

—जनमेजय का नागयज्ञ, पृष्ठ ८२

श्रद्धा के चरित्र का यह भाव हम अन्य प्रसंगों में देख आये हैं। प्रसाद जी ने पत्नीत्व के आदर्श में सेवा, समर्पण और गम्भीर भावना के साथ साथ विश्वास और सहिष्णुता की अनुभूतियों को विशेष महत्व दिया है। इन्हीं गुणों से नारी के चरित्र की उदात्तता का विकास होता है और जीवन में उस को श्रद्धातत्व की उपलब्धि हो सकती है।

सौन्दर्य सम्बन्धी आदर्श

प्रसाद जी मूलतः प्रेम यौवन और सौन्दर्य के कवि हैं। वे सौन्दर्य के अधिष्ठान को मुख्य रूप से नारी में मान कर चले हैं। जड़ वस्तुओं की अपेक्षा चेतन पदार्थों में, गतिशीलता का गुण होने के कारण सौन्दर्य भावना अधिक प्रस्फुटित होती है। इन सचेतन पदार्थों में कल्पना शील सचेतन और भी अधिक सौन्दर्यशील लगते हैं। क्यों कि इन में सहज विनम्रता के साथ साथ आत्मा की आभा भी दीप्त होती है। सचेतन कल्पनाशीलों में नारी का स्थान विशिष्ट है। वह निसर्ग से कोमल है, छायापथ में द्युति सी झिलमिल करने की मधुलीला है, और इससे भी अधिक पुरुष के लिए वह शीतल विश्राम है। नारी सौन्दर्य की मूल केन्द्र है। वह कल्पना की प्रत्यक्ष संभावना की साकारता तथा दूसरे अतीन्द्रिय रूप लोक की अपेक्षा अधिक सौन्दर्य शालिनी है।

—कामना, देखिए पृ० ७०

सौन्दर्य यौवन-जीवन के वसन्त में पंचम की सुस्वर पुकार है। यौवन की वाटिका में सौन्दर्य के गतिशील और स्थिर दोनों रूप खिले रहते हैं। जहां प्रत्येक स्पन्दन सजीव और प्रत्येक परिवर्तन अभिनव होता है। सौन्दर्य के द्वारा ही यौवन प्रीति में, प्रीति प्रणय में, और प्रणय स्वर्गीय सुख में ढलता रहता है।

प्रसाद जी की सौन्दर्य दृष्टि वाह्य तथा आन्तरिक दोनों दिशाओं में गहरी

उतरी है। वाह्य सौन्दर्य में उन्होंने तेजोज्ज्वल पवित्रता और तीव्रता के साथ साथ ही दर्शन किए हैं। श्रद्धा के रूप वर्णन में उनकी सौन्दर्य भावना अधिक मुखरित हो उठी है—

'नील परिधान बीच सुकुमार
खुल रहा मृदुल अधखुला अंग
खिला हो ज्यों विजली का फूल
मेघ बन बीच गुलावी रंग,'

—कामायनी, पृष्ठ ४६

परन्तु उसके सौन्दर्य की तीव्रता में नारी के सौन्दर्य वैभव की विमलता अक्षुण्ण बनी रहती है—

'उषा की पहली लेखा कान्त
माधुरी से भीगी भर मोद
मद् भरी जैसे उठे सलज्ज
भोर की तारक, द्युति की गोद,'

—कामायनी, पृष्ठ ४७

इसी विमलता में उन्होंने नारी सौन्दर्य का कोमल भी देखा है—

नई कोंपल पर किरण माला सी
खेलती है वह देव बाला सी,

—झरना, पृष्ठ ७९

उज्जवलता, मधुरता और मनोहरता नारी सौन्दर्य-पक्ष के मुख्य तत्व हैं। 'बभ्रु वाहन' में चित्रागंदा का रूप-वर्णन इन्हीं सामग्रियों के साथ हुआ है—

'उसका यौवन, निविड़ कादम्बिनी में सौदामिनी के समान, अलक पाश में हीर खण्ड के समान, मधुकर निकर अनास्वादित प्रफुल्ल राजीव के समान, उज्जवल, मधुर और मनोहर था।'

—चित्राधार, पृष्ठ ३३

प्रसाद जी इस वात को मान कर चले हैं कि 'सौन्दर्य बोध बिना रूप के नहीं हो सकता।' लेकिन वाह्य अवयवों के सौन्दर्य को ही सौन्दर्य मानना उन्हें कभी भी मान्य नहीं रहा है। मन के सौन्दर्य को महत्व प्रदान करते हुए स्थूल सौंदर्य लोभियों को उन्होंने फटकार भी दी है—

'पर तुमने तो पायी सदैव उसकी सुन्दर जड़ देह मात्र
सौन्दर्य जलधि से भर लाये केवल तुम अपना गरल पात्र,'

—कामायनी

कामायनी के 'लज्जा-सर्ग में अभिव्यक्त अवयवी एवं मानसिक सौन्दर्य का समन्वित रूप प्रसाद जी की सौन्दर्य भावना को वैशिष्ठ्य प्रदान करता है। उनका सौन्दर्य व्यक्ति को आकर्षित ही नहीं करता, वरन् उसमें चेतना का विस्तार कर, उस का पथ निर्देश भी करता है—

'उज्जवल वरदान चेतना का
सौंदर्य जिसे सव कहते हैं
जिस में अनन्त अभिलाषा के
सपने सव जगते रहते हैं,
मैं उसी चपल की धात्री हूं
गौरव महिमा हूं सिखलाती,
ठोकर जो लगने वाली है
उसको धीरे से समझाती,'

प्रसाद जी ने सौन्दर्य सम्वन्धी दार्शनिक विवेचना भी प्रस्तुत की है। वे आनन्द-वादी थे। आत्मा आनन्दमय है। सृष्टि के मूल में आनन्द की ही प्रेरणा है। आनन्द और सौन्दर्य साथ साथ चलते हैं। इसी आनन्दवाद को व्यावहारिक रूप प्रदान करने के लिए शैवागमों में प्रेमकला, या सौन्दर्य कला की प्रतिष्ठा की गई है। विश्व चिति का विशाल स्वरूप है। प्रेम और सौन्दर्य उसके अस्तित्व के आधार हैं। आनन्द का अन्तरंग सरलता है और वहिरंग सौन्दर्य। 'एक घूंट' में उनका यही विचार व्यक्त हुआ है—

'विश्व चेतना के आकार धारण करने की चेष्टा का नाम जीवन है। जीवन का लक्ष्य सौन्दर्य है।'

वे मृत्यु में भी सौन्दर्य का स्वरूप देखते हैं—

'मृत्यु अरी चिर निद्रे
तेरा अंक हिमानी सा शीतल,'

—कामायनी, चिन्ता सर्ग

प्रसाद जी ने नैसर्गिक रमणीयता को ही सौन्दर्य का स्वरूप माना है। जीवन में दिव्यता का संचार भी सौन्दर्य के माध्यम से होता है। रमणीयता अपने मूल रूप में पावित्र्य की धारा है, जहां कलुष धुल जाते हैं—

'भगवती ! वह पावन मधु धारा
देख अमृत भी ललचाए,
वही रम्य सौन्दर्य शैल से
जिसमें जीवन धुल जाए,'

'प्रसाद जी ने अपने नेत्र, अपना हृदय, अपनी कल्पना, अपनी प्रतिभा ज्ञान इन सबका सहारा लिया है सौन्दर्य की अनुभूति में। उनका सौन्दर्य वाह्य अवयवों की सीमा लांघ कर हृदय लोक में आन्दोलित होता है और अन्त में आत्मा की दीप्ति बन जाता है। जिसके बाहर प्रकाश और भीतर रस है।'

—रामनरेश त्रिपाठी : प्रसाद की सौंदर्यानुभूति,
विशाल भारत, जुलाई, १९५०।

प्रकरण १२

आधुनिक भारतीय जीवन में नारी की स्थिति
और
प्रसाद की नारी-कल्पना

(अ) सामाजिक स्थिति का विकास-क्रम
(ब) वस्तु-स्थिति
(स) प्रसाद की नारी कल्पना
(द) सुधार योजना
(य) नारी स्वातन्त्र्य
(फ) प्रेम भावना और विवाह संस्था
(ज] सामाजिक सुव्यवस्था और नीति
(ह) संक्षेप

सामाजिक स्थिति का विकास-क्रम

प्रारम्भिक अध्यायों में हम विभिन्न स्तरों पर नारी-स्थिति सम्बन्धी सुधार, विकास और प्रगति विषयक चर्चा कर आए हैं, जिससे आधुनिक भारतीय जीवन में नारी की वस्तु स्थिति का विकास-क्रम ज्ञात हो जाता है। हम पहले कह आये हैं कि उन्नीसवीं शदी के उत्तरकाल में नारी सम्बन्धी सुधारों का प्रादुर्भाव हुआ। भारत ने सुधारकों की एक लम्बी परम्परा को जन्म देकर, उनके द्वारा विकास का पथ प्रशस्त किया। इन सुधारकों ने तत्कालीन प्रचलित रूढ़िवादिता के विरुद्ध, जिसने नारी को महत्व की दिशा में अग्रसर होने से रोक रखा था, सर्वव्यापी आन्दोलन आरम्भ किया और उसे नये आदर्शों के नये आलोक में अपने 'स्व' को पहचानने के लिये प्रेरणा दी। उन्नीसवीं शती के सुधारकों का अभियान संकीर्ण, जर्जर और अकल्याणकारी परम्पराओं के विरुद्ध ही विशेष रूप से रहा। घर की सीमाओं में आबद्ध नारी में शिक्षा का प्रचार किया गया। सती प्रथा, बाल-विवाह प्रथा, बहु तथा वृद्ध विवाह प्रथा को नष्ट करने के लिए आन्दोलन हुआ। देवदासी प्रथा के विनाश तथा पुन-विवाह की योजना की गई।

सुधारों को सफल और कार्यान्वित करने के लिये सर्व प्रथम सुधार्य वर्ग के मस्तिष्क को प्रबुद्ध करने की अपेक्षा होती है। इसके लिये शिक्षा का प्रचार और प्रसार आवश्यक हो जाता है। प्रारम्भिक सुधारकों ने इस भावना से प्रेरित होकर सबसे पहले महिला समाज में शिक्षा के विकास की बात सोची, और इसीलिए वर्ना-क्यूलर सोसायटी तथा 'एलफिन्सटन इन्स्टीट्यूट' ने नारी शिक्षा को सर्वाधिक महत्व प्रदान किया। इन संस्थाओं से पहिले इसी दिशा में १८४७ में 'बैथ्यून कालेज' की स्थापना द्वारा व्यावहारिक प्रयत्न आरम्भ हो चुका था। १८८२ में हण्टर आयोग से नारी शिक्षा को राजकीय प्रोत्साहन और प्रश्रय प्राप्त हुआ। १९०४ में लार्ड कर्जन ने नारी शिक्षा की ओर सरकार का ध्यान आकर्षित किया और इस तरह नारी शिक्षा के प्रसार में निरन्तर प्रयोग होने आरम्भ हो गये। अभी १९५६ में भी केन्द्रीय सला-हकार समिति की सिफारिश पर शिक्षा मंत्रालय ने प्रादेशिक सरकारों से प्रार्थना की है कि वे ग्राम्य क्षेत्रों में शिक्षा के विकास का प्रयत्न करें।

विवाह नारी के जीवन का एक विशिष्ट प्रसंग है । प्रारम्भिक सुधारकों ने विवाह के संदर्भ में तत्कालीन प्रचलित कुप्रथाओं-जैसे बाल विवाह, वृद्ध विवाह, बहु विवाह आदि का खण्डन किया । उन्होंने यह अनुभव किया कि इन कुप्रथाओं के कारण महिला वर्ग के विकास का अवसर अवरुद्ध हो जाता है, और उनकी वैयक्तिक प्रतिभा समाज को किसी भी विशिष्ट प्रकार का योग देने में समर्थ नहीं रह जाती है । उनकी स्थिति के विकास तथा उनसे सामाजिक एवं राष्ट्रीय क्षेत्रों में सहयोग प्राप्त करने की इच्छा से नारी के विवाह सम्बन्धी प्रश्न पर बड़ी गम्भीरता से सोचा गया । इस दिशा में ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, महादेव गोविन्द रानाडे, मालाबारी, एनी बीसेंट तथा मोहनदास करमचन्द गांधी द्वारा विशेष प्रयत्न किये गये । ये सभी सुधारक यह मान कर चले कि स्वस्थ सामाजिक जीवन की स्थापना के लिए विवाह-आयु में वृद्धि आवश्यक है । बालिकाओं को उनके विकास काल में ही माँ बना देना धर्म संगत नहीं कहा जा सकता । उन्होंने कहा कि बहु-विवाह प्रथा नारी के मूल्य और महत्व को पतन के स्तर पर पहुंचा देती है । वृद्ध विवाह अथवा नारी का करुण चित्र उपस्थित करती है । इन सबने (विवेकानन्द को छोड़ कर) पुनर्विवाह का भी समर्थन किया । वैधव्य की पीड़ा और नारकीय जीवन उनसे अदृष्ट नहीं था । १८५३ में विद्यासागर की एक पुस्तक 'विडो रिमैरिज' प्रकाशित हुई, जिसमें विधवा विवाह का समर्थन किया गया था । उन्हीं के प्रयत्न से १८५६ में 'विडो रिमैरिज' एक्ट पास हो गया । इसी दिशा में १८७२ में 'अन्तरजातीय विवाह अधिनियम' पारित हुआ । बीसवीं शताब्दी के आरम्भिक वर्षों में सयाजी राव गायकवाड़ ने अपने राज्य क्षेत्र में बाल विवाह निषेध सम्बन्धी कानून प्रचलित किया । इस सदी में विवाह क्षेत्र में हर बिलास सारदा के प्रयत्न भी महत्वपूर्ण हैं । १८ मई १९५५ को पारित 'हिन्दू विवाह विधेयक' इस दिशा में विशेष रूप से उल्लेखनीय है । इसी प्रकार नारी वर्ग को अधिक सुविधा देने के क्षेत्र में भिन्न-भिन्न राज्यों में भिन्न-भिन्न अवसरों पर सम्बन्ध-विच्छेद सम्बन्धी नियम भी पारित किए गए हैं ।

विवाह सम्बन्धी उपर्युक्त सुधारों के अतिरिक्त नारी के सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकारों की ओर सुधारकों और सरकार का ध्यान बीसवीं शती में ही आकर्षित हुआ । १९२९ के 'हिन्दू उत्तराधिकार नियम' के अन्तर्गत नारी को संभवतः पहली बार सम्पत्ति सम्बन्धी क्षेत्र में अधिकार मिले । १९३७ में हिन्दू महिला अधिकार सम्बन्धी अधिनियम' के अन्तर्गत विधवा के सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकारों की समुचित व्याख्या की गई ।

दूसरे सुधारों में सती कुप्रथा का अन्त राजा राम मोहन राय द्वारा उन्नीसवीं शती के पूर्वार्द्ध में ही हो चुका था । अब बीसवीं शती में १९२३ से आरम्भ हो कर १९५५ तक विभिन्न राज्यों ने वेश्यावृत्ति निवारण सम्बन्धी नियमों का नियमन

किया तथा इस प्रकार नारी को स्वस्थ मनोभूमि पर सम्मानित करने की दिशा में ठोस और सक्रिय कदम उठाया। नारी को राजनैतिक अधिकारों के क्षेत्र में राष्ट्रीय आन्दोलन की प्रगति से भी प्रोत्साहन मिला। बीसवीं सती के दूसरे दशक में गांधी जी ने राजनीति में प्रवेश किया। इस उदीयमान नेता ने नारी की शक्ति को पहचान कर, राष्ट्रीय आन्दोलन की शक्ति बढ़ाने के हेतु उसका राष्ट्रीय क्षेत्र में आवाहन किया। उसी समय सरोजनी नायडू, एनी बीसेंट तथा हीरा बाई टाटा आदि विदूषियां स्वयं भी राष्ट्रीय जागरण से उत्प्रेरित हो रही थीं। यह १९१७ का समय था। विश्व युद्ध समाप्ति पर था। इसी समय महिलाओं ने मताधिकार की मांग की। यह मांग १९१९ में फिर दोहरायी गई। जिसका फल बम्बई तथा मद्रास राज्य की महिलाओं को १९२९ में मिला। उसके उपरान्त मताधिकार की मांग दूसरे राज्यों की महिलाओं में भी बढ़ती चली गई। और १९२८ तक बहुत से राज्यों की महिलाओं को यह अधिकार प्राप्त हो गया। गाँधीजी द्वारा आरम्भ किए गये आन्दोलनों एवं सत्याग्रहों में नारी ने सक्रिय भाग लिया और १९४२ के 'भारत छोड़ो' आन्दोलन में तो उसकी राष्ट्रीय भावना का उज्जलतम उदाहरण प्रस्तुत हुआ। और १९५० के स्वतन्त्र भारत के सँविधान द्वारा अब नारी को पुरुष के समान अवसर प्रदान करने की घोषणा हो गई हैं।

इस प्रकार आधुनिक भारत में नारी-स्थिति का विकास कुप्रथाओं के विनाश और सुधार कार्य से आरम्भ होकर उन्हें राष्ट्रीय स्थल पर समान कार्य क्षेत्र एवं अधिकार प्रदान करने तक हो चुका है। इस परम्परा में राजा राम मोहन राय से लेकर गांधी जी तक बहुत से सुधारकों, मनीषियों एवं चिन्तकों का योगदान विशेष रूप से रहा है। ये १९वीं शती के पूर्वार्द्ध में सती प्रथा के विरोध का स्वर ऊंचा कर, सुधार-क्षेत्र में आगे आये थे। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने शिक्षा, पुर्नविवाह, कुलीनवाद तथा बहु-विवाह की प्रथा का खण्डन कर, सामाजिक व्यवस्था को स्वस्थ दृष्टिकोण से परिष्कृत करने का प्रार्थनीय परिश्रम किया था। वे बाल-विवाह के परिणाम स्वरूप व्याप्त विधवा की दयनीय दशा से सर्वाधिक पीड़ित थे। उन्होंने 'पराशर संहिता' से तर्क उपस्थित करके पुर्नविवाह का समर्थन किया और उसको धर्ममान्य बताया। शिक्षा-पद्धति में आमूल परिवर्तन करने के विषय को लेकर विद्यासागर जीवन भर परिश्रम-रत रहे। इनके समय बँगाल में प्रचलित कुलीनवाद की परम्परा ने विवाह-क्षेत्र में उत्पीड़न व्याप्त कर रखा था। गरीब ब्राह्मण कुलीनता के जर्जर दम्भ की मान-रक्षा के लिए योग्य वरों को खोज सकने में असमर्थ होकर, वृद्ध कुलीनों से ही बाल और किशोरी पुत्रियों का विवाह कर देते थे। विद्यासागर ने पहली बार इस प्रथा का खुलकर विरोध किया। नारी वर्ग को सम्मान दिलाने के पक्ष में विद्यासागर के प्रयत्न स्तुत्य हैं। बंगाल के विद्यासागर की ही भांति महाराष्ट्र में रानाडे, सुधार क्षेत्र में उन्हीं के समानान्तर चलते हैं। बाल-विवाह की हानियों से विज्ञ उन्होंने इस

कुप्रथा को समाज के लिए अनिष्टकर बतलाया और भारतीय सांस्कृतिक ग्रन्थों से अपने मत की पुष्टि की। इसी प्रकार विद्यासागर की ही भांति उन्होंने भी पुनर्विवाह की वकालत की।

भारतीय संस्कृति की रक्षा और उसी की पृष्ठभूमि में सुधारों के विकास का दृढ़ संकल्प लेकर आने वाले स्वामी दयानन्द का सुधारवादियों की परम्परा में अपना विशिष्ट स्थान है। सुधार कार्य में इनकी योजनायें अधिक व्यावहारिक रही हैं। और उनके द्वारा समाज के एक बड़े वर्ग को लाभान्वित किया गया है। यह हिन्दुओं की संकीर्णता और कट्टरता के विरुद्ध आर्य-संदेश लेकर आये, जिसके द्वारा धर्म की नवीन और विस्तृत व्याख्या की गई। आर्य समाज के द्वारा नारी-शिक्षा पर विशेष बल दिया गया और उनके लिए व्यावहारिक भूमि पर गुरुकुलों की स्थापना की गई। इन्हीं के द्वारा नारी के प्रति पूज्य भावना का वैदिक मन्त्र फिर से भारतीय वातावरण में गुंजरित हुआ। दयानन्द का महत्व निरीह और आक्रान्त हिन्दुत्व को नवीन स्फूर्ति और प्रेरणा देने के विषय को लेकर विशेष हो जाता है।

दयानन्द की ही भांति विवेकानन्द ने भी भारतीय नारी के गौरव की पुनर्स्थापना करनी चाही है। शिकागो तथा पेरिस की धर्म-सभाओं में उन्होंने भारतीय नारी की महिमा प्रतिष्ठित की। वे नारी को धार्मिक शिक्षा देने के पक्ष में थे। बाल-विवाह का विरोध उनके द्वारा भी हुआ, परन्तु पुनर्विवाह को इनके द्वारा समर्थन प्राप्त न हो सका क्योंकि इनका विश्वास था कि ऐसे विवाहों से उत्पन्न सन्तान राक्षसी और दुष्ट प्रकृति की होती है। सुधार-क्षेत्र में विवेकानन्द का विशेष महत्व नारी-स्वातन्त्र्य का प्रबल समर्थन करने में है। उनका कहना था कि नारी को पराधीन बनाये रखना वास्तव में उसकी निष्ठा के प्रति अत्याचार करना है। दयानन्द की भांति विवेकानन्द भी पुनरुत्थानवादी थे। किन्तु दयानन्द की भाँति उनके पास नारी-उत्थान के लिए कोई व्यावहारिक पुरोगम न था। अतः उनके सिद्धान्तों को अधिक सफलता न मिल सकी। दयानन्द का आर्य समाज आज भी जीवित है। परन्तु विवेकानन्द के सिद्धान्तों और आदर्शों को चलाने वाली किसी विख्यात संस्था के विषय में अधिकांश जनता अविज्ञ ही है।

इसी काल के दूसरे सुधारवादी बहराम जी मालाबारी हैं, जिन्होंने बाल-विवाह को वैधानिक रूप से नष्ट करने में विशेष योग दिया। केशवचन्द्र सेन स्त्री-शिक्षा और स्वतन्त्रता के लिए आगे आये। उन्होंने नारी की वैयक्तिकता को महत्व प्रदान किया और उसे पुरुष के समान ही सभी क्षेत्रों में अवसर देने की बात का समर्थन किया। इसी दिशा में बीसवीं शती के आरम्भ में जी. के. देवधर ने युवा और प्रौढ़ महिलाओं में शिक्षा-प्रसार का प्रयास किया। एनी बीसेंट ने बाल-विवाह तथा नारी-शिक्षा पर विशेष बल दिया। अभारतीय होते हुए भी एनी बीसेंट पहली महिला थीं, जिन्होंने भारतीय नारी के अधिकारों की वकालत की। उन्होंने इसीलिए भारतीय

राजनीति में भी भाग लिया और वहां भी नारी के अधिकारों के लिए लड़ी । एनी बीसेंट ने तत्कालीन नारी-वर्ग के सम्मुख अपना उदाहरण प्रस्तुत कर, उन्हें प्रेरणा दी और वैयक्तिक संकीर्णता से बाहर निकल कर सामाजिक एवं राष्ट्रीय स्थल पर अपने अधिकार-क्षेत्र के विषय में सोचने का अवसर प्रदान किया । इनकी समकालीन महिलाओं में सरोजनी नायडू तथा हीराबाई टाटा का नाम विशेष उल्लेखनीय है । सरोजनी नायडू संभवतः पहली भारतीय महिला थीं जिनका सम्पर्क राष्ट्रीय कांग्रेस से था और जिन्होंने राष्ट्रीय हितों में नारी का भाग और अधिकार भी आवश्यक समझा था । महर्षि कर्वे उन्नीसवीं शती के अन्तिम दशक से लेकर आज तक भी नारी-शिक्षा के लिए व्यावहारिक कार्य-क्षेत्र प्रदान करने में श्रम-रत हैं । बम्बई राज्य का महिला-वर्ग उनकी इस शैक्षणिक सेवा से बहुत लाभान्वित हुआ है ।

आधुनिक काल के उत्तर-भाग में नारी-स्थिति-सम्बन्धी समस्यायें और तत्-सम्बन्धी समाधान गांधी जी की सुधार योजना से निकट रूप से सम्बन्धित हैं । उन्होंने नारी-जीवन के प्रत्येक पहलू पर अपने विचार प्रकट किये हैं, तथा उच्चतर सामाजिक, नैतिक, धार्मिक एवं राष्ट्रीय जीवन बिताने की दिशा में, पुनरुत्थानवादी तथा सुधारवादी आदर्शों के समन्वय से नया दिशा-ज्ञान प्रस्तुत किया है । उन्होंने सती-प्रथा, बाल-विवाह, विधवा-विवाह, शिक्षा, पर्दा, देवदासी तथा राजनीति—सभी क्षेत्रों और समस्याओं पर गम्भीरता पूर्वक विचार किया है । उनकी कठिनाइयों को अनुभव किया है तथा अपने समाधान उपस्थित किए हैं । वे नारी को पुरुष के समान ही अवसर देने के पक्ष में हैं । उनका कहना है कि नारी को वैयक्तिक विकास के लिए सामाजिक स्वीकृति मिलनी ही चाहिए । वे नारी के मातृत्व रूप की महानता स्वीकार करते हैं । ऐसा लगता है कि नारी-स्थिति के विकास के प्रश्न को लेकर सामाजिक क्षेत्र के गांधी जी साहित्यिक क्षेत्र में प्रसाद का स्वरूप लेकर अवतरित हुए हैं ।

उपर्युक्त समाज सुधारकों की भांति आधुनिक काल में बहुत सी सुधार-संस्थाओं द्वारा भी नारी-स्थिति को सुधारने विषयक कार्य सम्पन्न किए गए हैं । इन में बहुत सी संस्थायें उन्हीं समाज सुधारकों की प्रेरणा का परिणाम थीं । उन्नीसवीं शती में ही दयानन्द द्वारा स्थापित 'आर्य समाज' प्रारम्भिक सुधार संस्थाओं में सर्वाधिक लोक-प्रिय और मुख्य रहा है । आर्य समाज द्वारा विशेष रूप से वैदिक शिक्षा की प्रतिष्ठा की गई तथा भारतीय संस्कृति के पुनरुत्थान के लिए प्रयत्न किया गया है । १८८७ में रानाडे द्वारा स्थापित 'भारतीय परिषद्' ने सामाजिक कुप्रथाओं के विनाश में विशिष्ठ योग दिया है तथा नारी को विकसित और उन्मुक्त वातावरण में अपनी शक्ति का उपयोग करने के लिए प्रेरित किया है । विद्यार्थी-संघ ने नारी-शिक्षा के विकास-कार्य में जो योग दिया है, उसकी महत्ता को किसी भी प्रकार से दृष्टि-ओझल नहीं किया जा सकता । इस संघ के तत्वावधान में नारी-स्थिति में शिक्षा-प्रचार करने, उनसे सम्बन्धित कुप्रथाओं का निवारण करने तथा उन्हें विस्तृत

कार्य-क्षेत्र प्रदान करने विषयक व्याख्यान हुआ करते थे। इसी भांति की १८७५ में स्थापित 'भारतीय महिलाओं की राष्ट्रीय परिषद्' एक अन्य संस्था थी, जो बम्बई से आरंभ होकर बंगाल, नागपुर, देहली तथा बर्मा तक शाखाओं-उपशाखाओं के रूप में विस्तृत हो गई। ब्रह्म-समाज तथा प्रार्थना समाज भी नारी-सम्बन्धी सुधार कार्यों के लिए प्रसिद्ध संस्थाएं हैं। बीसवीं शती में भी सुधार-संस्थाओं की स्थापना का क्रम महिला परिषद, भारतीय परिषद, स्नातिका संघ तथा समाज कल्याण संस्था के रूप में चलता रहा है। इस शती में सुधार संस्थाओं का अत्यधिक विकास हुआ है। भारत में हर छोटे बड़े नगर में कोई न कोई सुधार संस्था किसी न किसी रूप में, कार्य कर रही है और इस रूप में इन संस्थाओं के दिशा-ज्ञान से नारी जाति लाभान्वित हुई है, इसमें शंका के लिए कोई स्थान नहीं है।

इस प्रकार आधुनिक भारतीय समाज में नारी-स्थिति को सुधारने विषयक सुधार वैधानिक रीति से भी हुए हैं तथा समाज-सुधारक और सुधार-संस्थाओं द्वारा भी। इन सभी माध्यमों ने भारतीय नारी के मस्तिष्क को आन्दोलित किया है, उस को सोचने के लिए सामग्री प्रदान की है तथा उसे इस दिशा में संकेत दिया है कि वह बुद्धि और प्रतिभा में पुरुष से किसी भी क्षेत्र में, किसी भी प्रकार से, कहीं भी कम नहीं है। उसमें भी वह सभी गुण और शक्ति निहित है, जिसके द्वारा पुरुष अपनी वैयक्तिकता का विकास करता चला आ रहा है। नारी भी इसी प्रकार अपने 'स्व' को विकसित कर अधिकारमयी होकर समाज से सम्मान की अपेक्षा कर सकती है तथा समान अधिकारों के लिए पुरुष समाज से अपना अधिकार मांग सकती है।

और उसने—उसके एक वर्ग ने यह किया भी है। सुधारकों की विचारधारा —जैसा कि हम पहले कह आये हैं, नारी-स्थिति के विकास के प्रश्न को लेकर दो विभिन्न विचारधाराओं में बही है। एक तो पुनरुत्थानवादी धारा, जिसके आविर्भावक दयानन्द सरस्वती, विवेकानन्द और मोहनदास करमचन्द गांधी कहे जा सकते हैं। हालांकि गांधी जी दूसरी धारा के अन्तर्गत भी लिए जा सकते हैं, क्योंकि उनके आदर्श दोनों धाराओं का समन्वय उपस्थित करते हैं। दूसरी सुधारवादी धारा—जिसे राजा राम मोहनराय, केशवचन्द्र सेन, मालाबारी, रानाडे तथा देवधर जैसे समाज-शास्त्रियों ने प्रेरित किया है।

आधुनिक नारी जीवन पर इन्हीं सुधारवादी आदर्शों का प्रभाव अधिक पड़ा है। उसकी जीवन दृष्टि अपनी वैयक्तिकता के विकास के लिए, भारतीय संस्कृति से उदासीन हो, पाश्चात्य आदर्शों और मान्यताओं की ओर ही अधिक आकृष्ट रही है। आज वह पश्चिम की नारी की भांति जीना चाहती है और उसी स्तर पर अपनी स्वतन्त्र सत्ता के निर्माण का स्वप्न भी देखती है। हालांकि यह भावना भारतीय वातावरण के प्रतिकूल पड़ती है और इसीलिए इसका विकास एक विशिष्ट वर्ग—

अभिजातीय वर्ग तक ही होकर रुक गया है। हां, स्नातक स्तरीय शिक्षा प्राप्त महिलाओं में भी यदि परिस्थितियां अनुकूल हैं, इस भावना के अणु विकास प्राप्त कर रहे हैं।

फिर भी यह तो कहना ही होगा कि नारी सम्बन्धी इन आन्दोलनों द्वारा भारतीय जीवन में एक नवीन दृष्टि का विकास हुआ है और नारी स्थिति को लेकर लगता है, जैसे युग का परिवेश बदल गया है। आज की नारी सती प्रथा, बाल-विवाह, बाधित वैधव्य तथा वृद्ध विवाह आदि कुप्रथाओं का आहार नहीं है। वह शिक्षित है। उसका मस्तिष्क प्रबुद्ध है। उसमें सामाजिक चेतना है। अपनी योग्यतानुसार राष्ट्रीय योजनाओं में भाग लेती है। जीवन के हर क्षेत्र में उसका सहयोग अपेक्षित है। समाज में उसे सम्मान की प्राप्ति है और इस प्रकार वह सामाजिक सुविधाओं का अपनी सामर्थ्यानुसार उपयोग कर सकने की अधिकारिणी है।

तुलना के लिए आप १८५७ की एक सामान्य महिला का चित्र लीजिए। जिसका बाल्यावस्था में विवाह हो गया है। जो युवा होते होते कई सन्तानों की मां बन गई है। जो निरक्षरा है। जिसका अपना कोई मत नहीं है। जो पति की दासी है। जो विधवा हो जाने पर अपने पति के पारिवारिक सदस्यों के व्यंग्य-बाणों से आहत है। जो एक-एक रोटी के टुकड़े के लिए उन पर आश्रित है। जिसे जीवन भर इसी दयनीयता को गले से बाँधे रखना है। जिससे त्राण का कोई मार्ग उसके पास नहीं है। वह घर की सीमाओं में बन्दिनी है। शेष समाज से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। उसके लिए उपेक्षा, घृणा, पीड़ा और उदासीन जीवन की निराश सांसों को चलाये रखना ही जैसे सब कुछ है।

और उसके बाद १९५७ की जागरुक नारी का रूप, जिसको घर के बाहर भी वैयक्तिक महत्ता प्राप्त है। जिसके व्यक्तित्व का सामाजिक स्तर पर सम्मान भी है। जो अब पुरुष की कठपुतली नहीं, वरन् उसकी सहयोगिनी और कहीं-कहीं उसकी निर्देशिका भी है जो अपने अधिकारों से परिचित है और जिसकी दृष्टि दूर, धीरे धीरे पास आते हुए अपने उज्ज्वल भविष्य पर रुकी हुई है।

राष्ट्रीय जागरण के साथ-साथ भारत में साम्य-भाव की प्रतिष्ठा का आयोजन हुआ। इस समानता के आदर्श की प्रतिष्ठा में भारत की सामन्तवादी प्रथा का अन्त हो गया। इससे परम्परा से चले आये हुये ऊंच-नीच के विश्वास पर प्रहार हुआ। परिणामस्वरूप दलित मानवता ने अपनी प्रतिष्ठा के लिए संघर्ष आरम्भ कर दिया। नारी वर्ग भी पुरुष के अत्याचारों से दलित था, अतः इसका भी उत्थान हुआ और नवीन भूमिका के मध्य इसके नवीन स्वरूप की प्रतिष्ठा की गई।

वस्तु-स्थिति--

इस तरह से विहंगम दृष्टि से देखने पर ज्ञात होता है कि आज के भारतीय नारी जीवन के स्वतन्त्र व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा हो चुकी है और किसी भी क्षेत्र में चाहे वह सामाजिक, धार्मिक या राष्ट्रीय ही क्यों न हो, नारी पुरुष से पिछड़ी हुई नहीं है। परन्तु यदि हम तटस्थ होकर विश्लेषणात्मक दृष्टि से देखें तो ज्ञात होता है कि आज भी नारी की वस्तु-स्थिति कम दयनीय नहीं है। भारत की नारी स्थिति में सुधार और विकास का कार्य पुरुष सुधारकों द्वारा ही सम्पन्न हुआ है और उस सुधार-कार्य में एक प्रकार से उस नारी वर्ग के प्रति दया और करुणा की भावना ही प्रमुख रूप से व्यक्त हुई है। करुणा और दया के माध्यम पाई गई वस्तु पर कभी भी अभिमान नहीं किया जा सकता है। ठीक यही भावना आज की भारतीय नारी के साथ विद्यमान है। उस छोटे से वर्ग को छोड़ दीजिए जो धनी और शिक्षित है। शेष नारी समाज अपनी वस्तु-स्थिति में आज भी हीन भावना से ग्रस्त है। आज की मध्य वर्गीय पत्नी पति को परामर्श देती है, उसके सम्मुख विशेष दशा में तथ्य प्रस्तुत करती है, यह ठीक है, परन्तु यह भी ठीक है कि उसकी बात को मानने या न मानने का अन्तिम अधिकार, व्यावहारिक रूप में, आज भी पति ने अपने लिए ही सुरक्षित रखा है। पुत्री, बहिन या पत्नी के रूप में आर्थिक सुव्यवस्था के लिए वह घर से बाहर नौकरी करती है, लेकिन उसी समय तक, जब तक उसके अभिभावकों का समर्थन और अनुमति उसे प्राप्त है। इसी प्रकार सामाजिक एवं राष्ट्रीय आयोजनों में भाग लेने की बात है। बिना पुरुष की इच्छा के वह आज भी घर से बाहर आ सकने में असमर्थ है। कुछ बड़े नगरों में, ठीक है, कि नारी-स्वातन्त्र्य का व्यावहारिक रूप देखने को मिल सकता है। वह सब जगह विचरण करती दिखलाई पड़ सकती है। कार्यालयों में, शिक्षा-संस्थाओं में, आमोद-प्रमोद गृहों में, सार्वजनिक सभाओं में, सुधारवादी एवं राष्ट्रीय संस्थाओं में सभी स्थानों पर नारी के अपेक्षाकृत स्वतन्त्र रूप के दर्शन हो सकते हैं। लेकिन इसका कारण अभिभावकों की उदारता तथा महिलाओं की शैक्षणिक और सामाजिक जागरूकता से अधिक परिस्थितियां और आवश्यकता है। बड़े नगरों में भी उन परिवारों की महिलायें, जो साधन-सम्पन्न हैं, आज भी--उनकी जागरूकता के बाद भी आज से सौ वर्ष पूर्व का जीवन व्यतीत कर रही हैं। आज भी उनके पुरुष का वाक्य उनके लिए अन्तिम वाक्य है। अपने अधिकारों की बात जान कर भी वे पुरुष का विरोध नहीं कर सकतीं, इस का कारण उनके परम्परागत संस्कार हैं। बड़े नगरों के बहुत थोड़े से परिवार, जो उंगलियों पर गिने जा सकते हैं, ऐसे हैं, जहां महिलाओं को उस अवस्था तक स्वतन्त्रता

मिली हुई है, जैसी पाश्चात्य देश की महिलाओं को। जो न तो सांस्कारिक हीन-भावना से ग्रस्त हैं और न अपने रुचिवाले विषयों के सम्बन्ध में पुरुष पर अवलम्बित ही। जो वास्तविक रूप से स्वतन्त्र हैं, जिनका स्वतन्त्र व्यक्तित्व है, और जो व्यक्तित्व की स्वतन्त्रता पर विश्वास भी करती हैं।

परन्तु ऐसे महिलावर्ग के सम्बन्ध में फिर मन में प्रश्न उठता है कि क्या उनका मार्ग समस्त महिला-वर्ग का योग्य-मार्ग हो सकता है ? हम यहां पर केवल भारतीय महिलाओं की चर्चा कर रहे हैं। क्या उसके माध्यम देश और जाति के उन्नयन की आशा की जा सकती है ? क्या पाश्चात्य सभ्यता से आलोक में भारतीय संस्कारों की सीमा को लिए हुए यहां का महिला वर्ग सफलता पूर्वक अपने पथ को प्रशस्त कर सकने में समर्थ हो सकता है।

इतना ही नहीं, क्या वे महिलायें भी जो अपनी साधन-सम्पन्नता के दर्प में इस स्वतन्त्र व्यक्तित्व का लाभ अर्जन कर रही हैं, वास्तव में, अपने इस कृत्य के प्रति एक दम आश्वस्त हैं ? क्या संशय का—इस संशय का कि कहीं उनका यह कृत्य भारतीय मिट्टी में अतिवाद के अंकुर तो नहीं उपजा रहा है—कोई भी अंश उनके चेतन या उपचेतन मस्तिष्क को उनके अकेले क्षणों में नहीं झकझोरता ? हमारे विचार से अपनी गतिविधि में पूर्णतया स्वतन्त्र होकर भी वे सुखी और शान्त नहीं हैं। इसका कारण भारतीय संस्कार और मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है जो अतिवाद के विरुद्ध समन्वय पर अधिक विश्वास करती है।

इसी वर्ग में लम्बी अवस्था तक अविवाहित रहने की एक परम्परा धीरे धीरे बल पकड़ रही है। विवाह योग्य आयु तक तो यह वर्ग अपनी स्वतन्त्र वैयक्तिकता के दर्प में पुरुष के आधीन रहने में विश्वास नहीं करता। (इनके कोष में 'विवाह' शब्द का अर्थ महिला वर्ग पर पुरुष जाति का अनुशासन और अधिपत्य होता है, इसीलिए।) और आयु निकल जाने के उपरान्त आकांक्षाओं के अप्राकृतिक शमन के कारण उनका मन और मस्तिष्क कुंठाओं को जन्म देने लगता है। इस वर्ग की महिलाओं की सबसे बड़ी भूल विवाह को पुरुष की आधीनता मानने में होती है। प्राकृतिक आकांक्षायें अपना शाश्वत महत्व रखती हैं। सत्य तो यह है कि स्त्री विवाह के बिना भी जीवित रह सकती है, परन्तु पुरुष के बिना भी वह जीवित रह जायेगी, सामान्यतः इस पर विश्वास करने के लिए एक हिचक सी होती है। और पुरुष जब अनिवार्य आवश्यकता के रूप में प्रकट होता है, (ठीक उसी तरह, जिस तरह नारी भी पुरुष के लिए अनिवार्य आवश्यकता बनी हुई है) तो विवाह-सम्बन्ध के अभाव में व्यक्ति की पाशविक वृत्ति और कुंठा को प्रोत्साहन ही नहीं मिलता बल्कि उसका विस्तार भी होता है। बड़े नगरों के इस विशिष्ठ नारी वर्ग की भारतीय समाज को यही

देन है। इन्होंने पाश्चात्य आदर्शों को भारतीय मिट्टी में अंकुरित और पल्लवित करने की जो भूल की है, हमारे विचार से वह स्वयं इन्हीं के लिए हानिकर बन गई है। हम यह नहीं कहना चाह रहे हैं कि नारी को पौराणिक काल की भांति पारिवारिक सीमाओं में आबद्ध कर दिया जाय बल्कि हमारा यह विचार है कि स्वतन्त्रता के इस भाव को पाश्चात्य आलोक में देख कर इसे 'सैक्स' की स्वतन्त्रता तक न घसीट ले जाया जाय। इससे हमारी सांस्कृतिक भावना का हनन होता है। दुर्भाग्य से उपर्युक्त विशिष्ठ वर्गीय नारी की स्वतन्त्रता इस बिन्दु का स्पर्श कर चुकी है।

अब मध्य वर्ग की नारी को लीजिए। वह आज भी अपने अस्तित्व में दयनीय तथा अधिकार क्षेत्र में असमर्थ है। माना, कि वैधानिक और सैद्धान्तिक रूप में वह अपने कृत्यों के लिए पूर्ण स्वतन्त्र है। लेकिन व्यवहार में उसकी स्वतन्त्रता का कितना महत्व और अर्थ रह जाता है। पारिवारिक छुट-पुट आयोजनों के अतिरिक्त सार्वजनिक क्षेत्र में उसे कौन, कहां, कितना महत्व देता है। अपनी उर्जस्वित कामनाओं को वह मन की घुटन में घोल कर विष बना देती है। विवशता की एक करुण छाया सदैव ही उसके साथ लगी रहती है। आर्थिक समस्याओं से ग्रस्त और कुंभलाये हुए पति का रोष उसे ही सहन करना होता है। जीवन की विभीषिका से संघर्ष करते-करते वह उसकी अभ्यस्त हो जाती है। जड़ मशीन की भांति उसका उदासीन जीवन निरपेक्ष भाव से चलता रहता है। और फिर हर कठिनाई के सम्मुख वह अपनी मूक वाणी में जैसे तटस्थ, निलिप्त भाव से कहती है—'यह तो होता ही रहता है।'

मध्य वर्गीय नारी अपनी वस्तु स्थिति में जीवन के उच्चतर मूल्यों को कोई स्थान नहीं दे पाती। यदि वह धनोपार्जन करती है, तो उसके उपयोग में वह स्वतन्त्र नहीं है। सार्वजनिक आयोजनों में, यहां तक कि मताधिकार के क्षेत्र में भी उसे भाग लेने के लिए पुरुष के निर्देशों पर निर्भर रहना पड़ता है। जिस प्रकार पाश्चात्य संस्थाओं ने नारी को सार्वजनिक क्षेत्रों में कुछ सम्मानपूर्ण स्थितियां प्रदान की हैं, उस प्रकार का कार्य भारतीय संस्थाओं द्वारा नहीं किया गया। मध्य वर्गीय नारी में लोकभय और शंका की मात्रा अधिक है, इसीलिए वे अपने उपलब्ध अधिकारों का भी उपयोग कर सकने में असमर्थ है। हां, इस वर्ग में शिक्षा के विकास ने उन की आर्थिक स्थिति को किसी सीमा तक प्रभावित किया है। मध्य वर्गीय परिवारों में नारी को देवी के सम्मानपूर्ण पद पर शोभित किया गया है। वह गृहिणी का आदर्श रूप प्रस्तुत करती है। सारी आदर्शवादिता, नैतिकता और धार्मिकता नारी के मन की पाप-पुण्य की भावना पर आधारित है। सिद्धान्त रूप में नारी को इतना महत्व दे दिया गया है कि वह कभी-कभी इस पृथ्वी से ऊपर का जीव लगती है।

और इस लोकोत्तर रूप की कसौटी है, उस का सैक्स सम्बन्ध में पवित्र और निर्मल होना। इस प्रकार से पुरुष ने मध्य वर्गीय नारी को सामाजिक तथा नैतिक नियमों की अर्गला में इतनी बुरी तरह जकड़ दिया है कि उसके जरा से हिलने-डुलने से भी सामाजिक मर्यादाओं के क्षय होने की आशंका वनी रहती है। सम्मानित होकर भी वह असम्मान पूर्ण बन्धन में बद्ध जीवन जी रही है। यह उसके भाग्य और उसकी स्थिति की सबसे बड़ी विडम्बना है।

विशिष्ठ वर्गीय तथा मध्य वर्गीय नारी के बीच में एक अन्य वर्ग का भी उल्लेख आवश्यक हो जाता है। इस वर्ग को हम सुविधा के लिए अपरिष्कृत वर्ग कह सकते हैं। यह वर्ग उन महिलाओं का है जो विशिष्ठ वर्ग की भांति जीवन निर्वाह का आदर्श अपनाना चाहती हैं, लेकिन जिनमें मध्य वर्गीय संकोच विद्यमान है और इसलिए उनका व्यवहार बड़ा कृत्रिम तथा जीवन निर्वाह की प्रक्रिया बड़ी अस्वाभाविक सी लगती है। (यह सत्य है कि इस वर्ग की भावना अपरिष्कृत संस्कार के कारण उद्भूत हुई है और कुछ विशिष्ठ जातीय महिलाओं में ही इस भावना का विस्तार हुआ है।) उनकी आंखें पाश्चात्य आलोक से चमत्कृत होती हैं। परन्तु रूढ़िवादिता की सीमा-रेखा को लांघने के लिए न तो उनके संस्कारों में क्रान्ति ही हो सकी है और न उनमें समाज के विरुद्ध चलने का खुला साहस ही है। विशिष्ठ वर्गीय नारी तो स्पष्ट रूप से अपनी स्वतंत्रता का प्रतिपादन करती है। और व्यवहार में उसका उपयोग भी। उसकी दृष्टि में पुरुष के प्रति एक उपेक्षा की भावना होती है। वह खुल कर उसकी अवहेलना भी कर सकती है। वह अपने व्यवहार की बुराई को छिपाना नहीं चाहती। वह जो है, सब देखें। न तो उसे किसी से भय ही है और न वह किसी की चिन्ता ही करती है। लोक-व्यवहार की भी नहीं। परन्तु इस अर्ध-परिष्कृत वर्ग को समाज से भय है। इस वर्ग की नारी अपने मान-सम्मान की चिन्ता करती है। लेकिन इसके साथ ही उस स्वतन्त्रता का उपभोग भी करना चाहती है जो विशिष्ठ वर्गीय नारी को प्राप्त है। इसीलिए इस स्वतन्त्रता का उपभोग वे छिप कर करती हैं। दिखाने के लिये, वे दिखाना चाहती हैं कि वे भारतीय आदर्शों की रक्षिता हैं, परन्तु मन से वे पाश्चात्य समाज से अधिक प्रभावित प्रतीत होती हैं। 'सैक्स की स्वतन्त्रता' के विषय में भी इनका यही रवैया होता है। जो समाज में गुप्त रूप से व्यभिचार-भावना को फैलाता है और इनके चरित्र का थोथापन समाज की नींव को खोखला और निर्वल वनाने में योग देता है। (हालांकि इस प्रकार का नारी वर्ग भारत के केवल दस-पन्द्रह वड़े वड़े नगरों में ही विकसित हो रहा है। एक तरह से हम कह सकते हैं कि भारत विभाजन के पश्चात् ही इस अपरिष्कृत वर्ग का जन्म हुआ है।)

जहां तक सामान्य वर्गीय नारी का प्रश्न है, उसकी स्थिति का विश्लेषण दो स्वरूपों में किया जा सकता है। वह व्यावहारिक रीति से सामाजिक क्षेत्र में मध्य वर्गीय नारी की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्र है। वह गृहस्थी की देख-भाल के अतिरिक्त बाहर भी पुरुष के साथ कार्य करती है। इसका कारण आर्थिक पीड़न है। वह अशिक्षित होती है और उसका पुरुष भी। इसलिए अपने भरण-पोषण के लिए, दोनों को परिश्रम करना पड़ता है। शायद इसी अर्थ समस्या के कारण इस वर्ग में मध्य वर्ग की भांति सैक्स-सम्बन्धी 'संकीर्णता' भी अधिक नहीं है। वह अपने पुरुष को निर्देश देती है, जिसका मूल्य होता है। पारिवारिक तथा सामाजिक दोनों क्षेत्रों में उसे समान अधिकारों की स्वीकृति होती है। निरक्षरा होने के कारण उसके कार्यों में अधिक व्यवस्था नहीं हो पाती। प्रबुद्ध मस्तिष्क के अभाव में वह भावुक और वाचाल होती है।

दूसरा स्वरूप उसकी अतिशय दीनता की कहानी उपस्थित करता है। उसे दिन रात अपने पति की प्रताड़ना सहनी पड़ती है। वह पुरुष की सम्पत्ति समझी जाती है और उसके साथ सभी प्रकार की पाशविकता के व्यवहार किये जाते हैं। उसका जीवन तिल-तिल जलती हुई दीपक की वर्त्ती के समान होता है जो अपने करुणा में ही, अन्त में जीवन की सार्थकता मान लेता है। आज भी नये युग के परिवर्तित होते हुए परिवेश से वह अनभिज्ञ है। उसका जीवन पारिवारिक वातावरण के अतिरिक्त अपने खेत, खलिहान, मिल और फैक्टरी तक ही सीमित है। नव्य युग, किस दिशा में प्रगतिशीलता का पथ ग्रहण कर रहा है, इस प्रसंग में वह सामान्यतः उदासीन है। क्योंकि उसका अधिकांश समय अपनी उदर पूर्ति की समस्या को ही हल करने में चला जाता है। इस प्रकार से सामान्य वर्गीय नारी, जीवन के व्यवहार में अपेक्षाकृत स्वतन्त्रता और दुर्भाग्यपूर्ण विडम्बना—दोनों का फल साथ-साथ भोग रही है।

हां, ग्रामीण क्षेत्रों में जमींदारी के उन्मूलन के पश्चात् नारी की दशा में सुधार के चिन्ह दिखाई पड़ने लगे हैं। उनके 'सैक्स' का पावित्र्य अब अपेक्षाकृत सुरक्षित है। वहां पुरुष और महिला, दोनों के मस्तिष्क का स्तर लगभग समान ही होता है। महिलायें पुरुष से अधिक परिश्रमी होती हैं अतः उसी अनुपात में उनका सम्मान भी है। यह ठीक है कि भारतीय संस्कृति का व्यापक प्रभाव होने के कारण पति आज भी देवता है। लेकिन पत्नी को भी नारायणी का पद मिला हुआ है। हम स्त्री-पुरुष के सामंजस्यपूर्ण जीवन की झांकी किसी सीमा तक एक खेतिहर-दम्पति में देख सकते हैं। लेकिन उसका अर्थ यह नहीं हो जाता कि वहां महिला जीवन-क्षेत्र में वैषम्य का अभाव है। अशिक्षा, कुप्रथाओं की प्रचलित परम्परा-तथा

साधनों के अभाव के कारण महिला-जीवन की स्वाभाविक श्रेष्ठता को नहीं समझा जा सका है और इसीलिए किसी निरीह जीव की भांति ज्ञान-विज्ञान से अविज्ञ, मानसिक विकास से दूर विभ्रष्ट, अभाव जनित कुंठाओं को लिए हुए भारत की सामान्य वर्गीय नारी अपना जीवन निर्वाह करती चल रही है।

प्रसाद की नारी-कल्पना—

उपर्युक्त पंक्तियों में हम भारतीय जीवन में नारी-स्थिति का संवैधानिक तथा सामाजिक विकास और विभिन्न वर्गीय महिलाओं की वस्तु-स्थिति का विश्लेषण कर आए हैं। हम कह आये हैं कि इन सुधार-आन्दोलनों एवं सुधारकों और विचारकों की नवीन दृष्टि ने उनके सामाजिक परिवेश को परिवर्तित और प्रभावित किया है। इसी बदले हुए परिवेश में प्रसाद ने किस प्रकार की नारी कल्पना को प्रसूत किया है, अब अगली पंक्तियों में हमें इस विषय पर विचार करना है।

प्रसाद का साहित्यिक उद्भव बीसवीं शती के द्वितीय दशक से होता है। सामाजिक पृष्ठभूमि के रूप में उन्होंने नवीन-सुधार भावना प्रस्फुटित होते देखी थी। और पिछली परम्परायें भी एक दम नष्ट नहीं हो गई थीं। अतः उनके लिए तुलनात्मक अध्ययन का भी क्षेत्र विद्यमान था। भारतीय सांस्कृतिक एवं दार्शनिक ग्रन्थों के गम्भीर अध्ययन ने उनके सम्मुख प्राचीन वैदिक भारत के कुछ उज्ज्वल तथ्य प्रकट किए थे, और उनका विश्वास था कि देश की उन्नति आज भी उन्हीं आदर्शों के माध्यम से सम्भव हो सकती है। हां, परम्पराओं के बहुल उपयोग से जिस संकीर्णता का विस्तार हुआ है, उसका व्यक्ति और समाज के हितों की रक्षा के लिए अन्त होना ही चाहिए। इसीलिये उनकी सुधार योजना—क्योंकि वह बहुत सी प्रचलित प्रथाओं के विरुद्ध, जिनकी प्राण—शक्ति नष्ट हो गई है—पड़ती है, एक क्रान्ति का सा आभास देती है। परन्तु वास्तव में वह भारतीय आदर्शों, मान्यताओं और स्वस्थ विश्वासों से ही पोषित है। इस पर किसी प्रकार का सन्देह नहीं किया जा सकता।

प्रसाद जी ने भारतीय नारी की अधः पतित वस्तु-स्थिति को देखा था, जो उनके युग में सुधारकों एवं सुधार संस्थाओं की करुणा और दया पर आश्रित हो, सामाजिक क्षेत्र में मान्यता प्राप्त करने के लिये उठ रही थी। सामाजिक असमानताओं के संघर्ष में उसका कुचला हुआ व्यक्तित्व उसको उन्नति और सम्मान विषयक किसी प्रकार की सुविधा दे सकने में असमर्थ था। विभिन्न प्रकार की इन विषमताओं से प्रपीड़ित नारी प्रसाद की दृष्टि में जैसे मात्र आघात सहने की क्षमता लेकर ही उत्पन्न हुई है। कंकाल की गाला 'नारी जाति के निर्माण को विधाता की एक झुंझलाहट' कहती है। नारी की वस्तु-स्थिति 'ध्रुवस्वामिनी के स्वरूप में प्रकट की गई है। वहां उसका नारीत्व आमोद-प्रमोद और समय पड़ने पर उपहार में देने की

वस्तु बना दिया जाता है। 'इरावती' के सम्राट इरावती को अपने मनोविनोद के लिये अपनी रंगशाला की नर्तकी के रूप में देखना चाहते हैं। इस प्रकार से नारी के सामाजिक अधिकारों, नैतिक निष्ठा और आत्मिक शक्ति का उपहास किया गया है। प्रसाद ने अनुभव किया है कि इसका कारण पुरुष की नारी पर परम्परागत आधिपत्य भावना है। सामाजिक नियमों का नियमन सदैव पुरुष वर्ग के द्वारा ही होता आया है। अपनी श्रेष्ठता को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए वह सदैव ही सतर्क रहा है। उसने नारी के अधिकारों की व्याख्या इसलिए नहीं की है कि कहीं इस प्रकार उसकी सार्वभौम सत्ता की नींव न हिल जाये, और सामाजिक नेतृत्व के उसके अन्य सिद्ध अधिकार का हनन न हो जाये। प्रसाद जी भी पुरुष थे परन्तु उनका मानवत्व स्वार्थ की संकीर्ण सीमाओं में बद्ध न होकर महान् युग द्रष्टाओं की भांति विस्तृत भाव-भूमि में प्राणी-मात्र के लिए समान सुविधाओं को उपलब्ध करने के आदर्श को लेकर चला था। इसीलिए उनकी नारी-कल्पना अपने साहित्यिक स्वरूप में तत्कालीन समाज का पथ निर्देश करती हुई जान पड़ती है। सबसे पहले उनके सुधार कार्यों की चर्चा करेंगे, जो तत्कालीन परिस्थितियों, आवश्यकताओं और मांगों के अनुकूल थे, और जिनकी प्रेरणा उन्हें भारतीय संस्कृति के अध्ययन के अतिरिक्त अपने समय के सुधारकों और सुधार संस्थाओं से भी मिली थी।

सुधार योजना—

तत्कालीन समाज सुधारकों की भांति प्रसाद जी भी इस बात को मान कर चलते थे कि नारी-वर्ग की उन्नति के लिए सबसे पहली आवश्यकता उनको शिक्षित करने की है। शिक्षा और उसके परिणामस्वरूप प्रबुद्ध मस्तिष्क के अभाव में नारी अपनी स्थिति के विकास कार्य में स्वयम् तत्पर नहीं हो सकती। वे चाहते थे कि नारी स्वयम् इस बात को सोचने के योग्य बने कि वह किस प्रकार अपनी सामाजिक स्थिति का विकास कर सकती है। और इसके लिए यह अनिवार्य है कि वह शिक्षित हो। शिक्षा के क्षेत्र में दयानन्द जी, गांधी जी और प्रसाद जी के विचार मेल खाते हैं। ये सब नारी को भारतीय संस्कृति की पृष्ठभूमि में ही शिक्षा देने के पक्ष में थे। उनके लिए ऐसी शिक्षा की आयोजना करना चाहते थे, जो उन्हें उनके अपने क्षेत्र में सहायक हो सके। प्रसाद ने अपने सांस्कृतिक नाटकों के नारी-चरित्रों को सुशिक्षित एवं प्रबुद्ध ही चित्रित किया है। लेकिन उपन्यासों में उन्होंने शिक्षा की समस्या को उठाया है। एक विशिष्ट बात, जो प्रसाद जी ने नारी शिक्षा के विषय में उठाई है, वह है ग्रामीण क्षेत्रीय महिलाओं में शिक्षा का प्रचार। प्रसाद के समय तक नगरों में शिक्षा का विकास हो चला था। उनके लिए उच्चतर शिक्षा-प्राप्ति के अवसर

और साधन उपलब्ध होने लगे थे। परन्तु अभी तक के सुधारकों एवं सुधार संस्थाओं का ध्यान ग्रामीण महिलाओं में शिक्षा के प्रचार तक नहीं पहुंच सका था। प्रसाद जी ने सुधारकों की सुधार योजना में इस अभाव का अनुभव किया था और इसीलिये अपनी औपन्यासिक कृतियों में इस आशय की योजना भी की। 'कंकाल' में मंगल गाला को स्त्री-शिक्षा के प्रचार की प्रेरणा देता है और इसीलिए वह ग्राम्य-वालिकाओं में शिक्षा का प्रचार करती हैं। महिला-जाति में शिक्षा-प्रचार की प्रेरणा पश्चिम से ही प्राप्त हुई है, इसमें दो मत नहीं हो सकते। इसीलिए वाथम की लतिका को नारी-शिक्षा के विकास के लिए अपना सर्वस्व दान कर देने की व्यवस्था लेखक का एक प्रशंसनीय प्रयास कहा जा सकता है। लतिका इस प्रकार शिक्षा-प्रसार से महिलाओं को जीवन के अनुभवों से अवगत कराना चाहती है और जिसके आधार पर वे सामाजिक वातावरण में 'क्रियात्मक प्रेरणा का प्रकाश' प्रस्तुत करने में सफल हो सकें। तितली भी इसी तरह की जागरूक ग्राम्य महिला है, जो पाठशाला का संचालन करती है। उपर्युक्त पंक्तियों से एक बात और उभरती है, और वह यह कि प्रसाद जी ने शिक्षा-विस्तार की आयोजना महिलाओं के द्वारा ही कराई है। संभव है कि उनका विश्वास रहा हो कि नारी अपनी नैसर्गिक कोमल और उदार तथा सहानुभूति पूर्ण प्रवृत्तियों के कारण पुरुष की अपेक्षा स्वयम् शिक्षा के क्षेत्र में अधिक सफल हो सकती है, और इसीलिए शिक्षा-प्रचार में महिला-शिक्षिकाओं की व्यवस्था मनोविज्ञान के विशेषज्ञ प्रसाद जी की अपनी विशेष देन कही जा सकती है।

प्रसाद जी की अन्तर्दृष्टि ने प्रचलित विवाह परम्परा के एकांगीपन और विवाह-संस्थाओं को अपने उद्देश्य में निपट असफल होते देखा था। उन्होंने अनुभव किया था कि जिस आत्मिक एकता के पवित्र उद्देश्य को लेकर विवाह संस्था का प्रादुर्भाव हुआ था, आज उसे वह पूर्ण कर सकने में असमर्थ है। इससे पूर्व कि हम विवाह संस्था विषयक प्रसाद के दृष्टिकोण को समझने का प्रयास करें, हम उनके दृष्टिकोण के संदर्भ में विवाह-सम्बन्धी प्रचलित कुप्रथाओं की विवेचना करना चाहेंगे।

वैधव्य से प्रपीड़ित नारी को प्रसाद जी की अश्रुल आंखों ने 'ग्राम गीत' की रोहिणी और 'ममता' की ममता में देखा है। जिनका जीवन तिरस्कार और उपेक्षा-पूर्ण व्यवहार की विडम्बना से ग्रस्त है। प्रसाद के मत में समाज द्वारा किसी ऐसी नारी का तिरस्कार उसे अपने भरण-पोषण के लिये अनैतिक कर्तव्यों की ओर उन्मुख करता है। इसी संदर्भ में उन्होंने पुनर्विवाह की समस्या को भी लिया है। विद्यासागर और रानाडे ने भी पुनर्विवाह का समर्थन किया है। गांधीजी थोड़ा-सा बचकर विधवा-विवाह की अनुमति देते हैं। उनकी दृष्टि में वाल-विधवाओं का विवाह ही श्रेयस्कर है। पूर्ण युवती विधवा को पुनर्विवाह का अधिकार गांधीजी द्वारा नहीं

दिया गया है, परन्तु प्रसाद इससे आगे हैं । पहले वे गांधीजी की भांति ही वैधव्य जीवन की पवित्रता पर ही विश्वास करते थे । इसीलिये अपनी प्रारम्भिक रचना 'प्रेम पथिक' की पुतली और किशोर केवल आत्मिक रूप से ही मिल पाते हैं । यहां उनका भोला आदर्शवाद अभिव्यक्त हुआ है । परन्तु बाद में, जब उनकी सामाजिक मान्यताओं को सुदृढ़ विचार-पटल का आधार मिला तब उन्होंने समाज की सुरक्षा के लिए, उसकी स्थिति को स्वस्थ बनाये रखने के लिये किसी भी अवस्था में उसको पुर्नविवाह का अधिकार दिया है। 'विजया' की विधवा सुन्दरी कमल के साथ प्रणय सूत्र में बंधती है। 'चित्तौड़-उद्धार' में भी विधवा विवाह को समर्थन प्राप्त हुआ है। लेकिन 'ध्रुवस्वामिनी' में ध्रुवस्वामिनी का विवाह कुछ दूसरे प्रकार का है। यहां उनके प्रगतिशील विचारों का चरम विकास प्रतिलक्षित होता है । पति के रहते हुए भी नारी पुर्नविवाह कर सकती है, यदि उस विवाह के द्वारा विवाह की शर्तों का आरक्षण नहीं होता। प्रसाद जी ने ध्रुवस्वामिनी में भी ऐसा ही किया है । ऐतिहासिक तथ्यों की पृष्ठभूमि में पल्लवित यह नाटक सामाजिक क्षेत्र में इस युग की महान् क्रान्ति को लेकर उपस्थित होता है । सम्बन्ध-विच्छेद का यह अधिकार अभी तक पुरुष-वर्ग की ही बपौती है। प्रसाद ने समानता का आदर्श प्रस्तुत करते हुये नारी को भी यह अधिकार दिया है । इस विषय में प्रायः सभी सुधारक, सुधार संस्थायें तथा नारी-जाति के कल्याण के बड़े-बड़े विद्वत्-भाषी मौन रहे हैं। गांधीजी ने नारी-आन्दोलन को एक नवीन स्वरूप दिया है। परन्तु कहीं भी नारी द्वारा सम्बन्ध-विच्छेद विषयक चर्चा नहीं की गई है । संवैधानिक रूप से भी इस आशय के कानून १९३६ के उपरान्त ही बनना आरम्भ हुये हैं । १९३६ में पहली बार 'पारसी विवाह एवं विच्छेद अधिनियम' के अनुसार कुछ विशेष अवस्थाओं में पत्नी पति से सम्बन्ध-विच्छेद कर सकती थी।

प्रसाद जी की ध्रुवस्वामिनी सहन-शक्ति की अन्तिम सीमा तक अपने पति का विरोध नहीं किया चाहती । वह अपनी नारी की अवशता और लघुता को जानती हुई रामगुप्त के पैरों को पकड़ कर उससे प्रार्थना करती है—

'राजा ! आज मैं शरण की प्रार्थिनी हूं, मैं स्वीकार करती हूं कि आज तक मैं तुम्हारे विलास की सहचरी नहीं हुई, किन्तु वह मेरा अहंकार चूर्ण हो गया है। मैं तुम्हारी होकर रहूंगी।'

—ध्रुवस्वामिनी, पृ० २६ ।

परन्तु क्लीव रामगुप्त उसे केवल उपहार में देने की ही वस्तु मानता है। तब ध्रुवस्वामिनी अपने नारीत्व के गौरव में फुंकार कर उठती है । वह रामगुप्त की

भर्त्सना ही नहीं करती, उसे त्याग ही नहीं देती वरन् चन्द्रगुप्त का, रामगुप्त के रहते हुये भी वरण कर लेती है। प्रसाद की यही क्रान्ति दलित नारीत्व को प्रेरणा देती है, उसको पुरुष की पाशविकता से निकल कर स्वयं अपना पथ-प्रशस्त करने का साहस देती है। यहीं पर प्रसाद जी की यह स्पष्ट घोषणा भी पठनीय है—

'धर्म का उद्देश्य इस तरह पददलित नहीं किया जा सकता। माता और पिता के प्रमाण के कारण से धर्म-विवाह केवल विद्वेष से नहीं टूट सकते, पर यह सम्बन्ध उन प्रमाणों से भी विहीन है''''''यह रामगुप्त मृत और प्रवजित तो नहीं, पर गौरव से नष्ट, आचरण से पतित और कर्मों से राज-किल्विषी क्लीव है। ऐसी अवस्था में रामगुप्त का ध्रुवस्वामिनी पर कोई अधिकार नहीं।'

—ध्रुवस्वामिनी, पृ० ६२

स्वामी विवेकानन्द ने अपनी सुधार योजना में अन्तर्जातीय विवाह को उचित नहीं ठहराया है। ऐसे विवाहों से उत्पन्न सन्तान सद्वृत्ति की नहीं होती, ऐसा उनका विश्वास है। प्रसाद जी की दृष्टि भी इस विषय पर ठहरी। अपनी प्रारम्भिक रचनाओं में उन्होंने इस समस्या को उठाया तो अवश्य, परन्तु फिर लोकभय या अपनी आदर्शवादिता के कारण वे उसका समर्थन न कर सके। 'मदन-मृणालिनी' ऐसी ही कथा है, जिसके नायक-नायिका अन्तर्जातीय तथा अन्तर्वर्गीय हैं। वे वर्षों साथ-साथ रहते हैं, लेकिन फिर भी विवाह नहीं हो पाता। लेकिन समय के साथ-साथ प्रसाद जी का अध्ययन बढ़ता गया और अन्त में वे यह मानकर चले कि प्रेम एक निसर्ग स्वाभाविक भावना है और 'हृदय का सम्मिलन ही तो विवाह' है और उसके लिये देशकाल, जाति की मर्यादा का ध्यान रखना अनावश्यक है। इसीलिये उन्होंने अपनी उत्तर-कृतियों में मंगल और गाला, इन्द्रदेव और शैला के विवाह की—जो अन्तर्जातीय और अन्तर्देशीय हैं—आयोजना की है। 'जनमेजय का नागयज्ञ' की सरमा भी नाग का परिणय स्वीकार करती है। यह ठीक है कि इस विवाह की पृष्ठभूमि में दो परस्पर विरोधिनी जातियों के एकीकरण की भावना विशिष्ट थी। स्वयं जनमेजय मणि-माला के साथ विवाह-सूत्र में बंधता है। चन्द्रगुप्त और कार्नेलिया का विवाह दो संस्कृतियों के सम्मिलन का स्तुत्य प्रयास है। इन सभी विवाह आयोजनों के मूल में जाने पर ज्ञात होता है कि प्रसाद जी प्रेम-भाव को विशिष्ठ मान कर चले हैं और प्रेम के साम्राज्य में जातिवादिता की दीवार खड़ी नहीं रह सकती है। क्योंकि मानव की इस शाश्वत प्रवृत्ति में बहुत बल होता है। जो निसर्ग से ही प्राप्त है। अतः समाज द्वारा आयोजित अर्गलाएं उसको बांधे रखने में, अपेक्षाकृत हीन-शक्ति होने के कारण समर्थ नहीं हैं।

प्रसाद जी ने इसी संदर्भ में वेश्या-वृत्ति की समस्या को भी उठाया है । इस नारी-वर्ग के प्रति उनकी करुणा इन शब्दों में व्यक्त हुई है—

'परन्तु मैं तो आज तक यही नहीं समझा, कि सुन्दरी स्त्रियां क्यों वेश्या बनें ।' वेश्या-वृत्ति और देवदासी प्रथा के विरोध में आधुनिक समाज सुधारकों का ध्यान आकर्षित हुआ है । सभी एक स्वर से इस प्रथा का उन्मूलन करना चाहते हैं, परन्तु किसी ने भी इस विषय को लेकर कोई समुचित समाधान प्रस्तुत नहीं किया है । प्रसाद जी ने वेश्यावृत्ति निवारण के लिये मालवती में जिस योजना को निश्चित किया है, वह देश के शुभचिंतक नवयुवकों की एक महान् परीक्षा के रूप में अभिव्यक्त हुई है । उनके मत में नारी जाति के इस दयनीय रूप से पतित हुये वर्ग की उन्नति और सम्मान की दिशा देने का केवल एक ही उपाय है कि समाज के प्रतिष्ठा प्राप्त नवयुवक उनसे कुल-पुत्रों की भांति विवाह-सूत्र में आबद्ध हो जायें । केवल तभी इस पतित वर्ग के उत्थान की आशा की जा सकती है ।

अनमेल विवाह की प्रथा भी प्रसाद जी को पीड़ित किये हुये है । हम वृद्ध पति की युवा पत्नी पर दुराचार का आरोप लगाते हैं । ठीक है, उसे ऐसा नहीं करना चाहिये । परन्तु साथ ही यह भी तो देखना है कि उसमें उसका अपना कितना दोष है और साथ में समाज उसकी आचरण-हीनता के लिये कितना उत्तरदायी है । युवा पत्नी के मन में युवा आकांक्षाओं का होना स्वाभाविक है और उन आकांक्षाओं की पूर्ति बूढ़े सन द्वारा कदापि नहीं हो सकती । तब पत्नी क्या करे ? सभी तो सती और संयमी मनस्वी नहीं हो सकते । इसीलिये वह कुपथ पर चलती है । यह बुरा है । लेकिन उसे बुरा बनाने में समाज का भी हाथ है । बस, प्रसाद जी इतना ही कहना चाहते हैं कि अनमेल विवाह की प्रथा का, जो पत्नी को पाप-संग का अवसर देती है, अन्त होना ही चाहिये । 'जनमेजय का नागयज्ञ' की दामिनी का चरित्र इसी आशय का विचार प्रस्तुत करता है ।

साथ ही उन्होंने सपत्नी प्रथा को भी लिया है । सपत्नी प्रथा से पहले तो नारी-सम्मान का हनन होता है । एक पति को जब एक से अधिक पत्नियों का संसर्ग प्राप्त होता है तो स्वाभाविक है कि पत्नी के पद की महत्ता कम हो जायेगी । दूसरे सपत्नियों के परस्पर संघर्ष से घर की शान्ति भंग हो जाती है । 'अजातशत्रु' की छलना और वासवी, 'स्कन्दगुप्त' की देवकी और अनन्त देवी आदि के परस्पर संघर्ष को दिखा कर प्रसाद जी एक विवाह के आदर्श की प्रतिष्ठा करना चाहते हैं ।

नारी-स्वातन्त्र्य—

उपर्युक्त पंक्तियों में हम सामाजिक परिस्थितियों के आलोक में प्रसाद जी की सुधार योजना की चर्चा कर आए हैं। नारी जीवन की पीड़ा ने प्रसाद जी को उसकी हीनावस्था के मूल रहस्य खोजने के लिये प्रेरित किया है और उसमें वे सफल भी हुए हैं। उन्होंने अनुभव किया है कि भारतीय नारी की वैयक्तिकता को संकीर्ण रूढ़िगत परम्पराओं की शृंखला में जकड़ दिया गया है और उस सीमित-सी परिधि के भीतर वह पुरुष की इच्छा के विरुद्ध कुछ भी कर सकने में असमर्थ है। उसका स्त्रीत्व पुरुष के आदेशों तथा इंगितों पर अपने कार्यक्रमों की आयोजना करता है और इसीलिये उसके विकास के सभी अवसर नष्ट हो गये हैं। नारी का इस दयनीय अवस्था से उद्धार करने के हेतु प्रसाद का साहित्य उसकी वैयक्तिक स्वतन्त्रता का संदेश लेकर आता है। नारी की स्वतन्त्रता, उसका स्वतन्त्र व्यक्तित्व और अपने हिताहित के विषय में स्वतन्त्र रूप से सोचने का उसका अधिकार—प्रसाद साहित्य की वे नवीन विधाएं हैं जो नारी-वर्ग में प्रचलित परम्परा के विरुद्ध नये आलोक की दिशा में अभियान की प्रेरणा देती हैं। प्रसाद जी ने अपने साहित्य द्वारा नारी के स्वातन्त्र्य आन्दोलन का समर्थन किया है। श्रद्धा और इड़ा का स्वतन्त्र व्यक्तित्व इसका प्रमाण है। सरमा अपने पति के सम्मुख अपनी स्वतन्त्रता को अक्षुण्ण रखने की बात कहती है—

'आपको और सब अधिकार है। पर मेरी सहज स्वतन्त्रता के अपहरण का नहीं। मैं आपके साथ चलूंगी, पर अपमानित होने के लिये नहीं।'

—जनमेजय का नागयज्ञ, पृ० ३६

लेकिन स्वतन्त्रता का अर्थ अबाध स्वतन्त्रता या उच्छृंखलता नहीं है। यहां पर प्रसाद जी गांधी जी के निकट लगते हैं। वे नारी की सर्व-क्षेत्रीय योग्यता को तो स्वीकार करते हैं, परन्तु फिर भी यह मानते हैं कि महिलाओं के शारीरिक एवं प्राकृतिक विकास में ही एक परिवर्तन है, जिसके कारण उनका कार्य-क्षेत्र पुरुष के कार्य-क्षेत्र से अलग हो जाता है। वे मानते हैं कि नारी साधारणतया अपने को अपने कार्य-क्षेत्र—पारिवारिक आयोजनों तक ही सीमित रखे। परन्तु साथ ही अवसर पड़ने पर सामाजिक एवं राष्ट्रीय योजनाओं में भी पीछे न रहे। उन्होंने पश्चिमी आदर्शों के समानान्तर भारतीय नारी में गर्व पूर्ण अधिकार एवं स्वातन्त्र्य भावना को बद्ध-मूल होते देखा है। उसके परिणामों से वे चिन्तित थे। अतः उन्होंने भारतीय पृष्ठभूमि में भी नारी के व्यक्तित्व के विकास की प्रतिष्ठा की है। तितली और शैला के चरित्रों

के माध्यम से उन्होंने अपने मत को स्पष्ट किया है । गांधीजी की भांति उन्होंने भी भारतीयता के आदर्शों से पोषित स्त्रियों को ही, जिसके लिये परिवार का महत्व ही सर्वाधिक है, आदर्श रूप में प्रकट किया है । शैला का नारीत्व पश्चिमी आदर्शों से पोषित है, इसीलिये उसका पथ अनुकरणीय नहीं बतलाया गया है, क्योंकि उसके मन में द्वैत की भावना बद्ध-मूल है । वह पत्नी बनकर पति में एकलय नहीं हो सकती, क्योंकि अपने व्यक्तित्व के प्रति वह आवश्यकता से अधिक जागरूक है और इस जागरूकता के अहं में पुरुष और स्त्री के मध्य किसी सामंजस्य की सम्भावना नहीं रह जाती । लेकिन इसी सामंजस्य के परिणाम-स्वरूप जिस एकलयता की प्रतिष्ठा होती है वह केवल स्त्री का ही पुरुष में लय नहीं, वरन् पुरुष का भी नारी में लयना है । पुरुष में अपने व्यक्तित्व के विलीनीकरण से नारी जो कुछ खोती है, उतना ही पा भी लेती है । यही नारी का भारतीय आदर्श है और स्वतन्त्रता के संदर्भ में इसी तथ्य की प्रतिष्ठा प्रसाद जी ने भी करनी चाही है ।

प्रेम-भावना और विवाह-संस्था—

स्वतन्त्रता के इसी प्रसंग में प्रसाद जी ने नारी-पुरुष की प्रेम-भावना पर भी विचार प्रकट किये हैं । वे यह मानकर चलते हैं कि प्रणय की भावना नारी पुरुष के मन की शाश्वत, स्वाभाविक भावना है और इसका दमन नहीं किया जा सकता और किया भी नहीं जाना चाहिये, वे नारी को प्रेम करने की स्वतन्त्रता देते हैं । उनका कहना है कि प्रेम की स्वतन्त्र सत्ता के अधिष्ठान में नारी को पुरुष के समान ही अधिकार प्राप्त होने चाहिएं । यदि नारी को प्रेम करने की सुविधा प्राप्त हो गई है, तो उसे अन्य सभी स्वतंत्रताएं अनायास ही उपलब्ध हो जाती हैं । प्रसाद जी की यह क्रांतिकारी भावना उनके साहित्यिक जीवन के उत्तर-काल में परिपुष्ट हुई है । वे इस स्वतन्त्रता के साथ-साथ मन की निष्ठा तथा व्यक्तित्व की एकान्तता को भी प्रमुख मानकर चलते हैं । इसके अभाव में, हो सकता है कि समाज में प्रेम की स्वतन्त्रता के नाम पर अनाचार की सृष्टि और विस्तार हो और जिससे समाज के स्थायित्व की नींव पर आघात पहुंचने का भय उत्पन्न हो जाये । इसी स्थायित्व की रक्षा के लिये प्रसाद विवाह को आवश्यक मान कर चलते हैं । विवाह से सामाजिक मर्यादा के उल्लंघन होने का भय कम हो जाता है । हालांकि विवाह-संस्था का खोखला-पन भी उन्हें ज्ञात है । 'कंकाल' के पटल पर विवाह-संस्था अपने आयोजनों को सफल बनाने की दिशा में पूर्ण असफल है । इसी असफलता को देखकर उन्हें कहना पड़ा है—

'घंटी, जो कहते हैं अविवाहित जीवन उच्छृंखल है, वे भ्रान्त हैं । हृदय का

सम्मिलन ही तो विवाह है । मैं स्वतन्त्र प्रेम की सत्ता को स्वीकार करता हूं ...... मैं सर्वस्व तुम्हें अर्पण करता हूं, और तुम मुझे, इसमें किसी मध्यस्थ की आवश्यकता क्यों ? मन्त्रों का महत्व कितना ?'

संक्षेप में, प्रसाद जी स्वतन्त्र प्रेम की सत्ता स्वीकार करते हैं । उसे मन की शाश्वत, स्वयं उद्भूत होने वाली भावना के रूप में मानते हैं और नारी को भी प्यार करने की सुविधा देते हैं । साथ ही प्रणय के क्षेत्र में निष्ठा पर बल देकर चलते हैं और समाज के सुरुचिपूर्ण अस्तित्व को बनाये रखने के लिये उस स्वतन्त्र प्रेम की परिणति विवाह में करना चाहते हैं, भले ही वह किसी प्रचलित आडम्बर पूर्ण व्यवहार द्वारा सम्पन्न न हो । इस प्रकार से प्रसाद जी की नारी आत्मिक दर्शन (प्रणय) के साथ भौतिक जीवन का सामंजस्य बनाकर चलती है, जो उसकी सबसे महान् उपलब्धि है ।

सामाजिक सुव्यवस्था और नीति—

सामाजिक व्यवस्था के मध्य प्रसाद जी ने एक बात और भी अनुभव की है । यदि किसी कारण वश या परिस्थितियों के कारण नारी को नैतिक मर्यादा के शीर्ष से नीचे उतरना पड़ा है, और इस तरह से विभ्रष्ट पथ पर चलने के लिये बाध्य होना पड़ा है तो समाज के पास उसके लिये क्षमा की भावना नहीं है । समाज कभी भी उसके पतन के नैतिक कारणों की खोज नहीं करता है । वह तो इतना ही देखता है कि अमुक नारी अपने शील से च्युत हो गई है । बस, अब उसके लिए सामाजिक मान्यता और सम्मान के सभी अवसर समाप्त हो जाने चाहियें । परन्तु प्रसाद नैतिक पतन की गहराइयों में जाकर कारणों की खोज करते हैं । वे इस बात को जानना चाहते हैं कि समाज उसे जो दण्ड दे रहा है, वह कहीं उस पर अतिचार तो नहीं है । नैतिक पतन की पृष्ठभूमि में उसकी अपनी इच्छा क्या है ? क्या उसने जानबूझ कर पतित और उच्छृंखल जीवन बिताने की दिशा में कदम उठाया है ? और यदि ऐसा है, तो प्रसाद जी उसे क्षमा नहीं करते, उसे अपने किये के लिये दण्ड स्वीकार करना ही पड़ेगा । अनन्तदेवी, विजया, मागन्धी, दामिनी, सुरमा, छलना, कमला, मंगला आदि पात्र इसके उदाहरण हैं । परन्तु जो व्यक्ति परिस्थितियों के कुचक्रों में फंस कर नैतिक मर्यादा का उल्लंघन करने के लिये विवश हो गया है, प्रसाद जी की दृष्टि में वह पूर्ण रूप से क्षम्य है । सुवासिनी, तारा, घंटी आदि सभी इसी वर्ग की पात्राएं हैं । ये सामाजिक आदर्शों के अनुकूल अर्थ देने वाले 'शील' शब्द की सीमाओं का अतिक्रमण कर, उस जीवन को भोगती हैं जो नैतिक मर्यादा की दृष्टि से उच्छृंखल है

लेकिन इनके प्रति कहीं भी प्रसाद जी का क्षोभ प्रकट नहीं हुआ है। उनका क्षोभ प्रकट हुआ है उस वातावरण के प्रति, उन परिस्थितियों के प्रति जिन्होंने उनको इस तरह का जीवन बिताने के लिये विवश कर दिया है। प्रसाद जी आचरण की शुद्धता पर ज़ोर देते हैं, यह ठीक है, लेकिन इसका यह अर्थ नहीं हो जाता कि जिसका सदाचरण, परिस्थितियों की आँधी में कहीं भटक गया हो, वह उनकी दृष्टि से हेय हो गया है। उनके विचार से शील और नैतिकता के एक बार भंग हो जाने से वह सदा के लिये ही कुंठित नहीं हो जाती, उसमें सुधार किया जा सकता है। इस प्रकार उनका संकेत है कि नारी के विषय में कोई निर्णय देने से पहले सम्बन्धित अपराध के मूल कारणों की खोज होनी चाहिये। यह व्यवस्था स्वस्थ सामाजिक साम्य-भावना को जन्म दे सकेगी, ऐसा विश्वास किया जा सकता है।

संक्षेप

समाज में परम्पराओं के बहुत प्रयोग से उनकी प्राण-शक्ति नष्ट हो जाने के उपरान्त उनमें किसी प्रकार का जीवन-तत्व नहीं रह जाता। प्रसाद जी व्यक्ति के व्यक्तित्व को कुचल कर ऐसी परम्पराओं का आदर्श बनाये रखने में विश्वास नहीं करते। वे रूढ़ियां, जिनसे प्रबुद्ध मस्तिष्क के विकास तथा जाति के उत्थान की सम्भावना नहीं होती, प्रसाद जी के मत से नष्ट होनी चाहियें। परम्पराओं के विकृत रूप का स्थायित्व प्रसाद जी को सह्य नहीं है। उनकी नारी-सम्बन्धी सुधार-योजना में उनकी इस भावना को भली-भांति देखा जा सकता है। उनकी नारी इसीलिये नवीन परिवेश में अभिव्यक्त हुई है, जहां उसे सम्मान की प्राप्ति है। उसका अपना सांस्कृतिक, पारिवारिक तथा सामाजिक व्यक्तित्व है, जिसके लिये स्वतन्त्रता की आयोजना की गई है। उन्होंने समाज के उस प्रत्येक बन्धन पर आघात किया है, जो नारी के विकास-क्रम में गतिरोध उत्पन्न करता है। नारी को अपने व्यक्तित्व के विकास की पूर्ण अभिव्यक्ति प्रसाद-साहित्य में ही मिली है। उसकी स्वतन्त्रता समाज को स्वस्थ वातावरण प्रदान करती है और वह सामाजिक तत्वों के संकलन में सहयोग देती है। परन्तु कहीं उसकी स्वतन्त्रता अबाध बनकर सामाजिक हितों का हनन-कार्य न कर बैठे, इसीलिये उसके अधिकार-क्षेत्रों की व्याख्या करना भी प्रसाद जी नहीं भूले हैं। तितली और श्रद्धा का चरित्र उनके नारी-आदर्श को अभिव्यक्ति प्रदान करता है, जो अपने अधिकारों के प्रति जागरूक है, जिनमें सामाजिकता है लेकिन इतने पर भी जो यह अनुभव करती है कि उनका मुख्य कार्य-क्षेत्र पारिवारिक सीमाओं के भीतर ही निहित है। पारिवारिक वातावरण के मध्य उन्होंने पत्नीत्व के आदर्श की ही स्थापना की है। लेकिन उनका पत्नीत्व अनाचार के विरुद्ध विरोध का स्वर ऊंचा उठाना

है। उनकी नारी में एकनिष्ठा की भावना प्रमुख रूप से विद्यमान है, जो समाज के स्थायित्व के लिये अनिवार्य है। यहीं पर प्रसाद जी ने पाश्चात्य आलोक से प्रभावित भारतीय नारी के लिये भी सन्देश दिया है। ऐसी महिलाओं में जो द्वैत की दर्पपूर्ण भावना वद्धमूल हो रही है, उसे प्रसाद जी भारतीय समाज के लिये हानिकर मानते हैं। इड़ा और शैला के चरित्र इस तथ्य की पुष्टि के लिये उपस्थित किये जा सकते हैं। स्वतन्त्रता के अतिरेक में सीमा-उल्लंघन करती हुई नारी की ओर भी प्रसाद जी का ध्यान गया है। इस सीमातिक्रमण को उन्होंने बुरा माना है। साथ ही उन्होंने नीति की भी नवीन व्याख्या प्रस्तुत की है। वे उस व्यवस्था को 'नीति' का नाम नहीं देना चाहते, जो मनुष्य की वैयक्तिकता को परिबद्ध कर उसके विकास के अवसरों को नष्ट कर देती है। नीति की परिभाषा परिस्थिति, युग और अवस्था के अनुसार बदलती है। इस तरह से प्रसाद जी नैतिकता की जड़ीभूत व्याख्या में विश्वास नहीं करते। वे आचरण की शुद्धता पर बल देते हैं, लेकिन यदि परिस्थिति वश आचरण पथ-विभ्रष्ट होकर चलाना पड़ा हो, तो प्रसाद जी उस विभ्रष्टता के कारणों की खोज करते हैं। इस प्रकार से प्रसाद जी की नारी-कल्पना भारतीय सामाजिक जीवन में जहां एक ओर तत्कालीन सुधारकों, सुधार संस्थाओं तथा वैधानिक प्रगति से प्रेरित और अनुप्राणित हुई है, वहाँ दूसरी ओर इस विषय में उनकी कुछ मौलिक अनुभूतियां और उद्भावनायें भी हैं, जो प्रबुद्ध सामाजिक का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करती हैं।

प्रकरण—१३

आधुनिक हिन्दी साहित्य में नारी-सम्बन्धी साहित्यिक सृष्टियों में प्रसाद की नारी सृष्टि का मूल्य और महत्व

(अ) आधुनिक हिंदी साहित्य में नारी—संक्षेप

(ब) प्रसाद की नारी-कल्पना—नवीन आदर्श

(क) सांस्कृतिक स्वरूप

(ख) राष्ट्रीय स्वरूप

(ग) दार्शनिक व्याख्या

(घ) मनोवैज्ञानिक पीठिका

आधुनिक हिन्दी साहित्य में नारी—संक्षेप

भारतीय सामाजिक पुनरुत्थान की नवीन धारा ने, जिस का आरम्भ हमने १८५७ से माना है, हिन्दी साहित्य को भी प्रभावित किया है। आधुनिक हिन्दी साहित्य के विभिन्न कालों के अन्तर्गत नारी चित्रण की विवेचना करते हुए नारी-स्थिति सम्बन्धी विकास-क्रम को लक्ष्य कर, हम कह आये हैं कि सुधार-भावना का प्रादुर्भाव भारतेन्दु को लेकर होता है। भारतेन्दु से पूर्व रीतिकारों की परिबद्ध और कुंठाग्रस्त परम्परा में जकड़ी हुई नारी-भावना के प्रति मांसल और स्थूल दृष्टिकोण ही अपनाया गया है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र नवीन उत्थानोन्मुख युग के पहले साहित्यकार थे, जिन्होंने नारी की दयनीय दशा, उसकी अशिक्षित, परिष्कृत संस्कारों से विहीन अवस्था और विषम वस्तु-स्थिति को साहित्यिक रचना का विषय बनाया था। नवीन चेतना और सामाजिक जागृति से अनुप्राणित भारतेन्दु तथा समकालीन साहित्यकारों ने अब प्रणय की लीलाभूमि को छोड़कर, नारी सम्बन्धी सामयिक समस्या के उद्घाटन द्वारा साहित्यिक कोण की दिशा परिवर्तित कर दी थी। और पुनरुत्थानवादी तथा सुधारवादी सुधारकों तथा सुधार-संस्थाओं के कार्यक्रम को बल देना आरम्भ कर दिया था। नारी-स्थिति और नारी-समस्या को लेकर इन साहित्यकारों ने भी प्रायः समाज-सुधारकों वाली दिशा में ही अग्रसर होना आरम्भ किया। क्योंकि साहित्यिक-दिशा-परिवर्तन की यह नवीन दृष्टि और प्रेरणा उन्हें इन्हीं सुधारकों के कार्य-क्रमों, आयोजनों तथा आदेशों से प्राप्त हुई थी।

भारतेन्दु-साहित्य में हमें प्राचीन और नवीन की संधि दृष्टिगत होती है। उन के काव्य में रीतिकारिता भी पूर्ण उल्लास के साथ मुखरित हुई है, और रूढ़ परम्पराओं के प्रति क्षोभ और आक्रोश भी उसी उत्साह से व्यक्त किया गया है। लेकिन भारतेन्दु के साहित्य का महत्व इन रूढ़ परम्पराओं में सुधार-भावना के दृष्टिकोण को ही लेकर है। अशिक्षा, सती प्रथा तथा बाधित वैधव्य के प्रति उनकी प्रतिकारात्मक भावना यत्र-तत्र देखी जा सकती है। बालकृष्ण भट्ट, प्रेमघन, राधा कृष्णदास तथा श्रीधर पाठक भारतेन्दु के समकालीन साहित्यकार रहे हैं, और इनमें से लगभग सभी ने साहित्य सृजन के क्षेत्र में भारतेन्दु से ही प्रेरणा प्राप्त की है।

इसलिए यह स्वाभाविक था कि इनकी लेखनी भी भारतेन्दु की ही भांति सामाजिक विषमता के विरोध में विष उगलती। आगे चल कर किशोरीलाल गोस्वामी तथा प्रताप नारायण मिश्र आदि साहित्यकारों में भी इसी सुधार भावना को बल मिला है। इस काल के हिन्दी साहित्यकारों की रचना में एक बात बड़ी स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है और वह यह कि इन सभी लेखकों के मन में नारी की वस्तु-स्थिति के प्रति एक महान करुणा की भावना विद्यमान थी, अतः इनकी नारी कल्पना, नारी को असहाय, अशिक्षित, दीन और निराश्रय ही देख पाई। और उनके द्वारा किये गये सुधारों का आयोजन जैसे उसकी दशा पर दया कर के उसे उत्थित करने के लिए ही किया गया। इस उत्थानकालीन साहित्यिक नारी का अपना कोई व्यक्तित्व स्पष्ट दृष्टिगत नहीं होता। केवल एक ऐसी नारी का चरित्र उभरता है, जो अपनी स्थिति में एकदम निश्चेष्ट है। परम्पराओं और संस्कारों की मार से जो शून्य-मस्तिष्क हो गई है, जो अशिक्षा के अन्धकार में अपने हित की किसी भी बात को सोच सकने में असमर्थ है। जिसे सांसारिक प्रगति का कुछ भी ज्ञान नहीं है। ऐसी स्थिति में कुछ सुधारक और संवेदनशील साहित्यिक उस के पास खड़े, उस पर दया करते हुए, उसे फिर से प्राण देने का आयोजन और प्रयत्न करते हैं। वह अपनी स्थिति में सुधार और अपने व्यक्तित्व के उन्नयन के लिए पूर्णतया इन्हीं लोगों पर आश्रित है। अपने विषय में उसका न अपना कोई मत है, न अधिकार और न अधिकार प्राप्त करने की कोई शक्ति ही। और इसीलिए इन साहित्यकारों द्वारा उसकी स्थिति को सुधारने सम्बन्धी उत्थानवादी दृष्टिकोण को ही विकसित किया गया।

इसके अतिरिक्त उत्थान-काल की नारी-भावना का एक अन्य स्वरूप भी अभिव्यक्त हुआ है। उसे परम्परावाद का संकीर्ण प्रभाव ही मानना चाहिए। इसके अन्तर्गत नारी रीतिकालीन नायिका के रूप में विलास-युक्त वातावरण और परिस्थिति के मध्य चित्रित की गई है। भारतेन्दु तथा प्रेमघन की काव्य-कृतियों से ऐसे तथ्य की पुष्टि में उद्धरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं, किन्तु नारी का यह स्वरूप नवोत्थान के आलोक में सशक्त हो सकने में असमर्थ रहा है और इसके मध्य में नारी की वस्तु-स्थिति का चित्रण, जिस की विवेचना इससे पूर्व की पंक्तियों में की गई है, सांस्कृतिक पुनरुत्थान की अभिव्यक्ति करता हुआ सा प्रतीत होता है।

द्विवेदी काल, जिसे हमने प्रस्तुत प्रबन्ध में जागृति-काल का नाम दिया है, भारतेन्दु युग की इसी स्थूल शृंगारिकता की प्रतिक्रिया के रूप में, नारी सम्बन्धी कठोर नैतिक आदर्शों की स्थापना करता है। नारी कल्पना के क्षेत्र में यह युग क्रियात्मक कम तथा प्रतिक्रियात्मक ही अधिक रहा है। प्रतिक्रिया के कारण ही

चरित्र-कल्पना में स्वाभाविकता नहीं आ पाई है। इस काल के साहित्यकारों ने नारी के जिस स्वरूप की कल्पना की, वह उत्थान-काल की नारी-कल्पना के एकदम विपरीत पड़ती है। महावीर प्रसाद द्विवेदी, मैथिलीशरण गुप्त, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' तथा रामनरेश त्रिपाठी इस काल के प्रतिनिधि साहित्यकार रहे हैं, उन्होंने नारी के व्यक्तित्व में साहस, शौर्य, प्रेरणा और प्रबुद्धता की कल्पना की, जो तत्कालीन समाज में नारी वर्ग की वस्तु-स्थिति से किसी भी क्षेत्र में मेल नहीं खाती। यह ठीक है कि इस काल के अन्तिम चरण तक आते-आते सुधारकों तथा सुधार संस्था के माध्यम से नारी-वर्ग को अपनी प्रगति-विषयक दिशा-ज्ञान हो चला था और राष्ट्रीय कार्यक्रमों में सहयोग कर, एक विशिष्ठ नारी-वर्ग अपने अधिकारों को प्राप्त करने की दिशा में तत्पर हो रहा था। लेकिन सामान्य नारी-वर्ग में किसी भी प्रकार की जागृति उत्पन्न न हो सकी थी और उनकी वास्तविक दशा के संदर्भ में इन साहित्यकारों का यह नवीन आदर्श बड़ा अजीव सा लगता था। इस का एक कारण है, इन्होंने नारी-वर्ग के क्रमिक-विकास को अभिव्यक्त नहीं किया, वरन् उसे सीधे शीर्ष पर ले जाकर पूजा की वस्तु वना दिया। इससे अस्वाभाविक और कृत्रिमता का अनुभव ही अधिक हुआ। परन्तु नारी के इस अव्यावहारिक रूप से एक लाभ अवश्य हुआ। अब आधुनिक युग में पहली वार नारी को भी आदर्शमयी बनने की संभावना स्वीकार की गई और उसके प्रति रीतिमुक्त परम्परा के विरुद्ध एक नवीन आदर्शात्मक नीति पूर्ण दृष्टिकोण का विकास हुआ। इस नवीन आदर्श की प्रस्थापना के संदर्भ में एक नवीन वात हुई और वह है राधा का स्वरूप-विकास। राधा की सृष्टि में 'हरिऔध' जी के भावों को एक नवीन अभिव्यक्ति मिली।

रीतिकारों ने भक्तिकालीन वल्लभ-सम्प्रदाय की जिस राधा को विलास-भवन के रंग-मंच पर और शृंगारिकता की उद्भावना करने वाली नायिका का स्वरूप प्रदान किया था, उस का परिष्कार आधुनिक हिन्दी साहित्य में पहली वार 'हरिऔध' जी की लेखनी से हुआ। उनकी राधा 'स्व-दुख कातरता' का 'पर-दुख कातरता' में पर्यवसान कर, संकीर्ण व्यक्तिगत प्रणय विनिमय का स्वस्थ भाव-भूमि पर विस्तार कर लेती है। वह लोक-सेविका तथा लोक-निर्देशिका के रूप में प्रस्तुत होती है। उसका यह रूप निश्चित रूप से स्वस्थ साहित्यिक रचना की ओर दिशा-संकेत करता है। इसी प्रकार त्रिपाठी रचित 'मिलन' की विजया आनन्द कुमार के अभाव में, गांव-गांव में जाकर देश-प्रेम और जागृति का मन्त्र फूंकती है। नवयुवकों को प्रेरित करती है और विषमता तथा अत्याचार के विरुद्ध विरोध करने के लिये उन्हें प्रोत्साहित करती है।

'मिलन' में व्यक्त त्रिपाठी जी का यह स्वप्न आगे चलकर गांधी आन्दोलनों में पूर्ण हुआ है, इसमें कोई सन्देह नहीं। लेकिन जिस काल में (१९१८) इसकी रचना हुई थी, तब इस का ध्येय केवल नारी को रीतिकालीन वासना की दुर्गन्ध से उबार कर उसके स्वरूप को राष्ट्रीय स्थल पर सामाजिक सम्मान की पृष्ठभूमि में प्रस्थापित करना तथा उनके लिए भविष्य में उन्नत एवं स्वस्थ संभावनाएं प्रस्तुत करना था। द्विवेदी जी की प्रेरणा से इस काल के साहित्य का निर्माण हुआ है, अतः उनका नैतिकतावादी दृष्टिकोण सभी दिशाओं में व्याप्त है। नारी में भी इसीलिए, इस युग के साहित्यकारों ने उच्चतम नैतिक-आदर्श की प्रतिष्ठा करनी चाही है। हम कह सकते हैं कि नैतिकता पर सबसे अधिक बल पिछले सौ वर्षों के साहित्य में, केवल इसी काल में दिया गया है। नैतिक आदर्शों की स्थापना से विविध सम्बन्धों के अन्तर्गत पत्नीत्व की निष्ठा को प्रमुख माना गया है। प्रेमचन्द, मैथिलीशरण गुप्त तथा 'हरिऔध' जी की तत्कालीन रचनाओं में यही भावना प्रमुख रूप से अभिव्यक्त हुई है। 'पति परमेश्वर' का आदर्श इस युग की महती देन है। चारित्रिक पवित्रता को इसी कारण महत्ता प्राप्त हो सकी है। श्रीधर पाठक तथा भगवानदीन की रचनाओं में जागृतिकाल की राष्ट्रीय भावना के दर्शन किए जा सकते हैं। नारी आदि जाति की प्रेरणा के रूप में प्रस्तुत की गई है। उसे विश्व की अजेय शक्ति कहा गया है। वह आर्यकुल की पुण्य-पताका तथा गृह की स्वामिनी मानी गई है। राष्ट्रीय जातीय प्रेम के इस उत्साह काल में नारी ने स्वयम् भी अपनी पद-प्रतिष्ठा का प्रयत्न किया है और उस के इस कार्य-व्यापार को पुरुष द्वारा स्वीकृति भी मिली है। इस काल के साहित्यकारों ने इन नवीन आदर्शों की स्थापना के साथ-साथ उत्थान-काल के साहित्यकारों की भांति जर्जर रूढ़ परम्पराओं तथा पिछड़ी मान्यताओं के विरुद्ध भी स्वर उठाया है तथा नये सुधारों की आयोजना की है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि इस काल के साहित्यकार शारीरिक और मानसिक पवित्रता को प्रधानता देकर चले हैं। नैतिक आदर्शों का पालन बड़ी कठोरता से किया गया है तथा नारी में प्रेरणा तथा शक्ति साहस के दर्शन किये गये हैं। नारी को विभिन्न सम्बन्धों में देखने की बात भी इसी काल से प्रारम्भ हुई है। इस विषय में श्री मैथिलीशरण गुप्त का नाम उल्लेखनीय है। उन्हीं के द्वारा नारी के विभिन्न सम्बन्धों की व्याख्या मिली है। सुधार-भावनाओं का विकास इस काल की नारी-स्थिति में सुधार प्रस्तुत करता है। नारी की सत्-असत् रूपों में भी व्याख्या हुई है, परन्तु असत् रूप के प्रति कहीं भी ललक की भावना विकसित नहीं हो पाई है। नारी का सक्रिय राष्ट्रीय रूप महिला-वर्ग को प्रेरित करता है और इन सबसे विशेष, इस

काल की साहित्यिक नारी-सृष्टि पुरुष से बहुत ऊंची है, सम्मान के शीर्ष पर पूजा की वस्तु बनी हुई, आराध्या के रूप में दृष्टिगत होती है । इस प्रकार इस काल में नारी-भावना पर एकपक्षीय विचार किया गया । उसके आदर्श-रूप को जिस प्रकार की अभिव्यक्ति मिली, वह उसकी व्यावहारिक स्थिति के एकदम प्रतिकूल थी और उसका स्वरूप सामाजिक क्षेत्र में विजया और नवीन अभिव्यक्ति प्राप्त राधा के रूप में कहीं भी विद्यमान नहीं था ।

हिन्दी साहित्य के तृतीय विकास चरण में गांधीजी की प्रेरणा से नारी सामाजिक समारोहों में भाग लेने लगी थी और उसका राष्ट्रीय स्वरूप मुखर होने लगा था । अब स्वयं नारी अपनी स्थिति के कंचन-विहान की कल्पना करने लगी थी । तोरन देवी लली की इन पंक्तियों में नारी उत्साह की झलक प्रतिलक्षित होती है—

'मैं नहीं चाहती संध्या के
युग युग का जर्जर गान
हां, मधुर उषा आगमन सुना
कैसा होगा कंचन-विहान ।'

नारी को राष्ट्रीय भावनाओं से अनुप्राणित होने का अवसर इस विकास-काल में ही प्राप्त हुआ । अब नारी सामाजिक कार्य-व्यापारों में अपने अधिकारों की मांग करने के लिये अग्रसर हुई । प्रथम और द्वितीय महायुद्धों के बीच का यह काल भारत के लिये औद्योगिक, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा साहित्यिक—सभी दृष्टियों से महत्वपूर्ण रहा है । इस युग की साहित्यिक क्रांति पश्चिमी आदर्शों—विशेषतया स्वच्छन्दतावाद से प्रभावित हुई है । जहां सामाजिक मान्यता और उत्कर्षों से दूर, नितान्त वैयक्तिकता के वातावरण में नारी के सत्-सौंदर्य की कल्पना की गई । इस काल की नारी भी प्रणय करती है, वह यहां भी पुरुष के विश्रमित मन के लिये शीतल छाया का उपचार बनती है, परन्तु उसमें रीतिकालीन नायिका का-सा आवेग और मांसलता नहीं है और न वह पुरुष की वासना पूर्ति के साधन मात्र के रूप में ही प्रस्तुत होती है । इसके विपरीत उसका निर्मल, सौम्य, प्रेरक तथा प्रणयिनी रूप अभिव्यक्त हुआ है ।

इस काल में भी नारी सम्बन्धी नवीन आदर्शों की सृष्टि हुई है । उसे दया की मूल मूर्ति के रूप में प्रस्तुत किया गया है । पुरुष उसकी कृपा के लिये उसके सम्मुख नत सिर है । गोपा का चित्रण ऐसी ही महिमामयी नारी-चरित्र की अभिव्यक्ति करता है—

'दीन न हो गोपे, सुनो
हीन नहीं नारी कभी
भूत दया मूर्ति वह मन से शरीर से ।'

—यशोधरा, पृ० १८५

इस काल में नारी ने जागृति के आलोक में अपनी स्थिति को हीन मानना भी अस्वीकार कर दिया है और अपने उन्नयन के लिए वह स्वयं भी आगे बढ़ी है। यशोधरा एक स्थान पर कहती है—

'तुच्छ न समझो मुझको नाथ
अमृत तुम्हारी अंजलि में तो भाजन मेरे हाथ ।'

नारी को मांसल स्वरूप देने के पूर्व-प्रयासों का विनष्टीकरण इस काल की सबसे बड़ी विशेषता है। उसके शुद्ध, सुचि रूप को घर और बाहर—दोनों क्षेत्रों में प्रतिष्ठित कर, इस काल के साहित्यकार ने सामंजस्यवाद का नवीन आदर्श प्रस्तुत किया है। इसी आदर्शवादिता के प्रसंग में विकास-कालीन नारी-सृष्टि की कल्पना, कर्तव्य परायणता की पृष्ठभूमि में भी की गई है। 'स्वप्न' की सुमना पुरुष को कृष्ण की भांति ही कर्मशील बनने का उपदेश देती है। उसे अब पुरुष की वासना अपने कर्तव्य से विमुख नहीं करा पाती। प्रेमचन्द और मैथिलीशरण गुप्त तथा पन्त और निराला आदि के साहित्यकारों में नारी-पद को सम्मान और प्रतिष्ठा मिली है।[1]

छायावादी प्रवृत्ति के विकास ने नारी के मूल्य, महत्त्व और स्वरूप में एक क्रांति ला दी है, यह स्पष्ट है। इसीलिये उसको स्वच्छतर भावभूमि पर अभिव्यक्ति प्रदान की गई है। लेकिन इसके साथ ही उसकी वस्तु-स्थिति की भी उपेक्षा नहीं हुई है। नारी के प्रति पुरुष का अत्याचार, कुप्रथाओं की लम्बी आती हुई परम्परा और पुरुष-वर्ग द्वारा उसके लिये संकीर्ण सीमाओं का निर्धारण सभी दिशाओं को साहित्यकार ने दृष्टिगत किया है। उसने छायावादी कोमल व्यंजक शैली में इस बात का विरोध भी किया है। शिक्षा प्रचार के विषय को लेकर इस काल में अपेक्षाकृत कम कहा गया है, क्योंकि इस पक्ष में नारी-वर्ग अब तक जागरूक हो चुका था और उसमें विद्याध्ययन की कभी समाप्त न होने वाली अजस्र परम्परा चल पड़ी थी। कुप्रथाओं और सामाजिक रूढ़ियों की अभिव्यक्ति प्रेमचन्द साहित्य में सबसे अधिक हुई है। उन्होंने सामान्य कुप्रथाओं के साथ-साथ विभिन्न वर्गों में प्रचलित परम्पराओं पर, जो प्राणहीन हो, सामाजिक वातावरण को शैथिल्य प्रदान कर रही थीं, कुठाराघात किया। विधवा समस्या और वेश्यावृत्ति को उन्होंने विशेष रूप से लिया है। मध्य-

वर्गीय और सामान्यवर्गीय नारी की वस्तु-स्थिति का मर्मान्तक चित्रण उनकी अपनी लेखनी का वैशिष्ठ्य है। महादेवी वर्मा ने 'शृंखला की कड़ियां' में सामान्य नारी के मर्म-स्पर्शी चित्र उपस्थित किये हैं।

अधिकार-प्राप्ति के इस नवोदित प्रहर में एक विशिष्ठ नारी-वर्ग में अधिकारों को प्राप्त करने,के सफल प्रयास स्वरूप, दर्प-भावना का प्रस्फुटन हो चुका था। हालांकि इसका विकास नव्य-युग में ही हुआ है। सामयिक साहित्यकारों ने उस अंग पर भी दृष्टि-पात किया है और उसको भारतीय वातावरण के बीच अशुभ बताते हुए उसके प्रति चिन्ता प्रकट की है। शिक्षा के विकास के साथ-साथ अब इस काल की नारी में तर्क-बुद्धि का विकास देखने को मिलता है। वह पूर्व-काल की भांति पुरुष की सभी बातें चुपचाप रह कर ही नहीं सह लेती परन्तु अब उसके लिए तर्क करती है तथा अपने अधिकारों की सुरक्षा के लिए स्वयं भी प्रयत्नशील होती है। इस काल में हम उसे स्वयं विकास और उन्नयन के पथ पर प्रशस्त होते हुये देख सकते हैं। इस काल की नारी-सृष्टि को लेकर सबसे महत्त्वपूर्ण बात उसके वाह्य संघर्ष के चित्रण को लेकर है। सामाजिक और कौटुम्बिक जीवन की विषमताओं में उसे किस प्रकार अपनी स्थिति को बनाये रखना होता है तथा सभी प्रकार के अनाचारों को सहते हुये भी जीवन के लिये प्रत्याशी होना पड़ता है—यह सब इस काल की साहित्यिक सृष्टियों में विद्यमान है। प्रेमचन्द जी के नारी-चरित्र अधिकतर इसी स्वरूप को लेकर चलते हैं।

इस प्रकार से आधुनिक नारी साहित्य में सुधार योजनाओं को प्रमुखता देते हुये नारी-स्थिति के उन्नयन की दिशा में विशेष प्रयत्न किया गया है। उसे रीति-कालीन नायिका के पद से अलग कर, विभिन्न सम्वन्धों में सत्-स्वरूप की स्वीकृति प्रदान की गई है। द्विवेदी-काल में उस पर नैतिक आदर्शों का आरोपण कर उसकी स्थिति में पावित्र्य और शील को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है और सामाजिक स्वीकृति तथा राष्ट्रीय स्वरूप में उपस्थित करने के प्रयत्न का आरम्भ भी इसी काल से हुआ है। आगे, विकास-काल में, इस भावना को दृढ़ भित्ति प्राप्त हुई है।

छायावादी काल में वह कवियों द्वारा उस प्रणयिनी के रूप में प्रस्तुत की गई है, जो अपने शील-सौंदर्य और कोमल भावुकता में महान है, जहां पुरुष के मन की वासना नहीं ठहर पाती और उसके सात्विक रूप पर मुग्ध हो, जहां वह उसे आराध्या और पूज्या के पद पर प्रतिष्ठित कर देता है। दूसरे, उसका राष्ट्रीय स्वरूप भी इसी काल में विकसित हुआ। गांधीवादी राष्ट्रीय आंदोलनों में अब वह व्यावहारिक रूप से भी भाग लेने लगी थी, एक नवीन जागृति का चिन्ह उसके व्यक्तित्व में दृष्टिगोचर

होने लगा था और उस जागृति के आलोक में वह अपने अधिकार-क्षेत्र की पहिचान करने लगी थी। छायावादी-कालीन यह स्वरूप, द्विवेदी युग की राष्ट्रीय जागृति से, जो 'मिलन' आदि रचनाओं में अभिव्यक्त हुआ है, भिन्न है। इस स्वरूप के साथ एक परम्परा और इतिहास-सा जुड़ा हुआ लगता है जो उसको व्यावहारिकता और स्वाभाविकता की ठोस और समझ में आने योग्य भाव-भूमि पर प्रतिष्ठित कर देता है।

छायावादी काल भारत के आर्थिक पक्ष के ह्रास का काल था। अतः व्यक्ति के सम्मुख जीने की समस्या ही मुख्य थी। जीने के लिए संघर्षों की विस्तृत भूमिका को पार करना पड़ा था। अतः इस काल में अन्य वाह्य संघर्षों के साथ-साथ नारी-सम्बन्धी वाह्य संघर्षों का भी चित्रण हुआ। प्रसाद जी इसी छायायुग के साहित्यकार हैं जिन्होंने तत्कालीन साहित्यकारों की ही भांति नारी-स्थिति का अध्ययन कर, उसके उन्नयन के लिए साहित्यिक अभिव्यक्ति प्रदान की है। अगली पंक्तियों में हम नारी-स्थिति विषयक उनके नवीन आदर्श और नव्य-कल्पना की चर्चा करेंगे।

प्रसाद की नारी-कल्पना—नवीन आदर्श

प्रसाद जी की साहित्य-साधना सामाजिक जागृति तथा जागृति-कालीन साहित्य-आलोक में प्रदीप्त हुई है। उन्होंने भी अपने काल की उन सभी प्रचलित समस्याओं को उठाया है, जिनकी अभिव्यक्ति उनके साथी साहित्यकारों द्वारा की जा रही थी। परन्तु प्रसाद जी में समकालील साहित्यिकों की अपेक्षा अधिक संवेदना विद्यमान थी और इसीलिए उन्होंने नारी-जीवन की विषमताओं को अधिक बारीकियों से देखा तथा वास्तविक कलाकार की प्रकृति के अनुकूल नारी-आदर्श को नवीन क्षितिज भी प्रदान किए। उन्होंने अपने युग की सामाजिक परिस्थितियों के अनुकूल नारी की राष्ट्रीय कल्पना की स्थापना की, दूसरे साहित्यिकों की भांति नारी के विभिन्न सम्बन्धों की व्याख्या की तथा पत्नीत्व के आदर्श को प्रतिष्ठित किया, किन्तु अन्य लेखकों के विपरीत उन्होंने नारी को पुरुष के अनाचार का सशक्त विरोध करने की भी अनुमति दी है। उन्होंने उसे सांस्कृतिक पीठिका पर अधिष्ठित किया है। उसको दार्शनिक भूमि पर भी सर्वप्रथम प्रसाद जी ने ही अवतरित किया है और इन सब से विशेष वाह्य संघर्ष-चित्रण के इस युग में आन्तरिक संघर्षों की झांकी सबसे पहले विशेष रूप से प्रसाद साहित्य में देखने को मिलती है। इस तरह चरित्रों के मनोवैज्ञानिक विकास को पहले पहल इन्हीं से अभिव्यक्ति प्राप्त हुई है। आधुनिक साहित्य की पृष्ठभूमि में प्रसाद की नारी-सृष्टि का मूल्य और महत्व निम्नलिखित

शीर्षकों के अन्तर्गत आंका जा सकता है—

(क) सांस्कृतिक स्वरूप
(ख) राष्ट्रीय स्वरूप
(ग) दार्शनिक व्याख्या
(घ) मनोवैज्ञानिक पीठिका

सांस्कृतिक स्वरूप

प्रसाद जी की सांस्कृतिक नारी की विवेचना करते समय हम कह आए हैं कि संस्कृति के अन्तर्गत व्यक्ति की चेष्टाओं, उसके द्वारा सीखे गये व्यवहारों तथा सामाजिक परम्पराओं का सन्निवेश होता है। प्रसाद जी ने भारतीय दर्शन, संस्कृति तथा साहित्य का गम्भीर अध्ययन किया था, अतः अपने देश की संस्कृति पर—जिसमें विश्व मैत्री, राष्ट्र-प्रेम, नारी-सम्मान, दया, क्षमा, शील, सौजन्य, समन्वय, संतोष, सहयोग, औदार्य, निस्वार्थता, संयम तथा मानवतावादी प्रवृति का समावेश है—वे विशेष रूप से अनुरक्त थे। अपनी इसी भावना की अभिव्यक्ति उन्होंने अपनी साहित्यिक नारी में की है तथा सांस्कृतिक धारा के अवरुद्ध प्रवाह को फिर से साहित्यिक क्षेत्र में विस्तीर्ण किया है। आधुनिक काल में सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर साहित्यिक नारी-सृष्टि का आरम्भ वास्तविक रूप से 'हरिऔध, और गुप्त जी को लेकर होता है। गुप्त जी ने यशोधरा और उर्मिला के चरित्रों में जिस उज्ज्वल पक्ष पर बल दिया है, उसका पोषण भारतीय नारी की परम्परागत सहनशीलता, त्याग, एकनिष्ठता तथा दुःख और कष्ट सहन करने की क्षमता के माध्यम ही हुआ है। 'प्रिय प्रवास' की राधा सेवा के उस आदर्श को लेकर आई है, जिसने उसे सांस्कृतिक आयोजनों के मध्य गौरव प्रदान किया है और इसीलिए वह हिन्दी साहित्य का अमर चरित्र बन गई है। अपने प्रिय की अवस्था में कलपने की अपेक्षा दुःखी जीवों के प्रति सहायता का हाथ बढ़ाना, उनके दुख को सुख में परिवर्तित कर स्वयं भी सुखी और शान्त हो लेना अधिक श्रेयस्कर है। भारतीय संस्कृति, विषमताओं के मध्य उनसे प्रपीड़ित हो, दुखी होने का निर्देश नहीं देती, उसकी मान्यता में तो वही महान् है जो उन का सामना अधरों पर हास लेकर कर ले। लेकिन सांस्कृतिक व्याख्या में दुःख सहन करते रहने की क्षमता रखने का अर्थ अपने 'स्व' को भूल जाना नहीं होता। राधा की तुलना में प्रसाद की देवसेना को लीजिए। वह चन्द्रगुप्त से प्रेम करती है। चन्द्रगुप्त उसके सम्मुख कई बार आता है लेकिन प्रेम की बात को अपने मुंह से कह कर वह न तो अपने प्रेम का ही अपमान करना चाहती है और न अपने प्रिय की श्रेष्ठता को कम ही। वह अपने प्रिय तक कोई सन्देश भी तो नहीं भेजती। उसके लिए तो इतना

ही पर्याप्त है कि वह किसी को अपने मन से, अपनी सम्पूर्ण निष्ठा के साथ प्यार करती है। और तब वह अपने उस निष्ठावान प्रणय का प्रदर्शन कर, क्यों उस की महत्ता को कम करे ? यहां पर हमारे विचार से नारी का उज्ज्वल रूप व्यक्त हुआ है। प्रणय के क्षेत्र में देवसेना आत्म-स्वाभिमान के प्रसंग में राधा से पीछे नहीं रह जाती वरन् कुछ आगे ही बढ़ी हुई दृष्टिगोचर होती है। हां, राधा का लोक-सेविका रूप देवसेना की कर्त्तव्य-परायणता की बराबरी कर सकता है। लेकिन इसी राधा को यदि मालविका के साथ रख कर देखें तो मालविका के मौन प्रणय साधना के सम्मुख राधा का पवन सन्देश कुछ हलका सा लगता है। मालविका अपने प्रिय की रक्षा के लिए अपने प्राणों की आहुति देने के लिए भी तत्पर हो जाती है। वह जानती है कि वह रात उसके जीवन की अन्तिम रात है। लेकिन फिर भी चन्द्रगुप्त पर अपने प्रणय को प्रकट करने की, या यह भावना प्रकट करने की—कि कोई अब तक उससे मन ही मन प्यार करता रहा है और आज उसी की प्राणरक्षा हेतु अपने प्राणों की आहुति देने चला है—कोई जिज्ञासा नहीं होती। यह भारतीय संस्कृति का ही उच्चतम आदर्श है, जहां त्याग की भावना का इतना स्वस्थ विकास हो चला है। इस आदर्श-प्रतिष्ठा में प्रसाद अपने साथी लेखकों से काफी आगे बढ़ गये लगते हैं।

राष्ट्रीय कवि मैथिलीशरण गुप्त सांस्कृतिक कवि कहे जाते हैं, क्योंकि उनके द्वारा भारतीय संस्कृति की पृष्ठभूमि में ही साहित्य-रचना हुई है और अपने पात्रों के माध्यम से उन्होंने देश की प्राचीन संस्कृति के उन्नयन और आदर्श की बात कही है। उन का नारी-सम्बन्धी सांस्कृतिक आदर्श सीता, यशोधरा और उर्मिला के चरित्रों में व्यक्त हुआ है। सीता का गृहिणी रूप, यशोधरा का पत्नीत्व तथा उर्मिला का 'विरह-वैधुर्य' सभी को भारतीय संस्कृति की पृष्ठभूमि पर ही चित्रित किया गया है जो अपने स्वरूप को व्यक्त करने में सफल भी हैं। अब इन्हीं की तुलना में प्रसाद की श्रद्धा, तितली और मल्लिका को लीजिए। श्रद्धा का चित्रण सृष्टि के विकास की कहानी के प्रसंग में हुआ है। उसमें कितनी दया है। उसने कहीं भी 'मुझे फूल मत मारो' कह कर अपनी अतिशय दयनीयता और परवशता प्रकट नहीं की है। वह सहनशीलता की प्रतिमा का स्वरूप लेकर उपस्थित हुई है। उसमें सांस्कृतिक स्वस्थता अधिक और स्वाभाविक मात्रा में प्रतिलक्षित होती है। तितली अपनी सीमित सुविधाओं में भी सतेज है। उसमें दुःखों का सामना करने के लिए पर्वत सी अटलता, सागर सी गम्भीरता और पृथ्वी सी सहिष्णुता विद्यमान है। उसके जीवन की विषमतायें सामान्य वर्ग के मध्य, व्यावहारिक भाव-भूमि पर प्रदर्शित की गई हैं और तब भी उसके चरित्र में सांस्कृतिक निखार स्पष्ट है। इसके विपरीत यशोधरा और उर्मिला इन दोनों का वर्ग राजसी है, और वहां उनके चरित्र को लेकर

जो कुछ भी कहा गया है, लगता है जैसे उसके द्वारा उनके चरित्रों की स्वाभाविकता का अंकन कम तथा आदर्श-प्रतिष्ठा का प्रयत्न ही अधिक हुआ है। आदर्श-प्रतिष्ठा का प्रयत्न श्रद्धा के चरित्र में भी कम नहीं है किन्तु फिर भी कहीं कृत्रिम सा नहीं लगता। इस का कारण प्रसाद का मनोवैज्ञानिक अध्ययन हो सकता है। यहां मनोवैज्ञानिक स्वाभाविकता के मूल में ही आदर्श-प्रतिष्ठा का प्रयत्न किया गया है। इसीलिए व्यावहारिकता की भूमि पर चरित्रांकन के साथ साथ सांस्कृतिक आदर्शों की रक्षा भी जैसे स्वयं ही हो गई है। उनकी एक अन्य सृष्टि मल्लिका अपनी उदारता, सहिष्णुता, निष्कपट पति परायणता, करुणा, स्नेह और विश्व-मैत्री भावनाओं में महान् है। अपने शत्रुओं को भी वह आचरण की शुद्धता और सौजन्यता की शिक्षा देती है। उसमें भावावेश और आक्रोश है ही नहीं और न अपनी शीलता में कहीं वह दयनीय ही दिखाई पड़ती है। सांस्कृतिक मर्यादाओं के मध्य उसके जीवन का संयमित क्रम चलता है। न्याय, सहनशीलता और संवेदन जैसे उसके सांस्कृतिक स्वरूप को और भी उज्ज्वल बना देते हैं।

उपर्युक्त पात्रों के अतिरिक्त कार्नेलिया, शैला, ध्रुवस्वामिनी, वासवी, पद्मावती, कोमा, मणिमाला और सरमा आदि नारी चरित्रों में उसी उदात्त स्वरूप के दर्शन हुए हैं जिस से भारतीय संस्कृति की मर्यादा का सम्मान बढ़ता है और अपनी संस्कृति के प्रति आस्था उत्पन्न होती है। प्रसाद जी ने इन सांस्कृतिक चरित्रों के लिए उस देश-काल को चुना है जिसे भारतीय संस्कृति का उत्कर्ष काल कहा जा सकता है। गुप्त-काल धर्म, राजनीति, सामाजिक चेतना और वैभव—सभी दृष्टियों से महान् है। उस महानता के मध्य, जिस व्यावहारिक दृष्टिकोण को ध्यान में रख कर प्रसाद जी के चरित्रों का नियमन हुआ है वह अपनी उच्चतर शालीनता एवं विशिष्टता के साथ-साथ तत्कालीन भारतीय समाज की परिस्थितियों तथा राष्ट्रीय योजनाओं की प्रगति के मध्य स्वाभाविक सा भी लगता है। ठीक है कि प्रसाद जी से पूर्व भी सांस्कृतिक पीठिका पर नारी चरित्रों का अंकन किया गया है और सफलतापूर्वक किया गया है। परन्तु प्रसाद जी में एक विशिष्ट प्रकार की गहन अनुभूति है। उनकी लेखनी प्रतिभाशाली कलाकार की लेखनी है। साथ ही उनका अध्ययन भी उसी प्रकार गम्भीर है। उन्होंने विस्तृत भाव-भूमि पर कल्पना और व्यवहार का सफलतापूर्वक समन्वय किया है। प्रसाद जी की मनोरम कल्पना देश और परिस्थितियों की व्यावहारिकता में समन्वित हुई है। और इसीलिए उनकी सांस्कृतिक नारी-सृष्टि अपने स्वरूप में विशिष्ट प्रतीत होती है। एक बात और है, प्रसाद जी ने विविध नारी-चरित्रों के माध्यम से विविध प्रसंगों की पृष्ठभूमि में सांस्कृतिक निरूपण की योजना की है। इनके चरित्र इतने

बहुल हो गये हैं कि दूसरे साहित्यिकों के चरित्रों का महत्व निश्चय ही कुछ हल्का सा हो जाता है। फिर किसी अन्य साहित्यकार द्वारा कामायनी जैसा सशक्त चरित्र भी उपस्थित नहीं किया जा सका है और इसीलिए इनके सांस्कृतिक नारी चरित्र आधुनिक हिन्दी साहित्य में अभी तक भी अपनी विशेष स्थिति पर बने हुए हैं।

राष्ट्रीय स्वरूप

प्रसाद जी की नारी सृष्टि की अन्य विशेषता उनके राष्ट्रीय स्वरूप को लेकर है। वैसे प्रसाद काल में राष्ट्रीय भावनाओं को लेकर काफी लिखा गया है तथा नारी को भी समग्र रूप से उसमें भाग लेने और सहयोग देने,के लिए प्रेरित करने का प्रयास भी हुआ है। प्रसाद के अतिरिक्त अन्य लेखको में प्रेमचन्द और राम नरेश त्रिपाठी द्वारा ही राष्ट्रीय नारी चरित्र उपस्थित किए गये हैं। किन्तु प्रेमचन्द के राष्ट्रीय चरित्रों का विकास सामाजिक विषमता की धारा के अन्तर्गत ही हुआ है। उनके शायद ही किसी पात्र में शुद्ध राष्ट्रीय रूप का विकास हुआ हो। हां, रामनरेश त्रिपाठी के 'मिलन' और 'स्वप्न' में जो स्वरूप उपस्थित किया गया है, उस का उद्देश्य वास्तव में महिला-वर्ग के मध्य, राष्ट्रीय स्वरूप का विकास करना रहा है। हमें 'मिलन' की विजया के चरित्र में परिस्थितिवश विकसित राष्ट्रीय भावना का विस्तार देखने को मिलता है। अपने प्रिय आनन्द को मृत जानकर वह उसकी इच्छा को पूर्ण करने का उद्देश्य लेकर, नगर-नगर, गांव-गांव अनाचारी शासक के विरुद्ध जन-जागरण करती है, देश के नवयुवकों को उस क्रान्ति के मंगल-समारोह में भाग लेने के लिए प्रेरणा देती है और स्वयं भी 'अवला और अनाथिनी' के स्वरूप को वीर वाला के रूप में परिवर्तित कर लेती है। उस के गीतों में ओज होता है, जो देश प्रेम की भावना को वल प्रदान करता है। 'स्वप्न' की नायिका भी अपने विलासी पति के अन्तर्संघर्ष और क्षय-पौरुष चेष्टाओं से ऊब जाती है। वह देश की क्षुधित और वुभुक्षित जनता को देखती है, उसकी इस दयनीय दशा के कारणों की खोज करती है, और स्वयम् इस समस्या के निदान में अपनी सेवाओं को प्रस्तुत करने के लिए दृढ़ प्रतिज्ञ होती है। वह भी विजया की ही भांति शत्रु का सामना करने के लिए प्रस्तुत होती है, अपने प्रिय को प्रेरणा देती है और अन्त में अपने लक्ष्य में सफल होती है। मैथिलीशरण गुप्त की नारी का राष्ट्रीय स्वरूप भी 'सिद्धराज' में इसी प्रकार अभि-व्यक्त हुआ है। इसी प्रकार सोहन लाल द्विवेदी के 'भैरवी' में संकलित 'दण्डी यात्रा' जैसी कतिपय कविताओं में इसी राष्ट्रीय उद्वोधन के दर्शन होते हैं।

उपर्युक्त लेखकों की भांति दूसरे साहित्यकारों ने भी राष्ट्रीय भावना को

अभिव्यक्त किया है। किन्तु किसी नारी सृष्टि को राष्ट्रीय वातावरण में अधिष्ठित कर, देश के लिए सर्वस्व न्यौछावर कर देने के विषय को लेकर उल्लेखनीय प्रयत्न नहीं किए गये हैं। इस प्रसंग में प्रसाद जी की राष्ट्रीय नारी इसीलिए बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाती है। प्रसाद जी अपने समय की सामाजिक गतिविधियों और साहित्यिक सृष्टियों से परिचित थे। उन्होंने दूरगामी अलौकिक दृष्टि पाई थी। परन्तु अपने साहित्यिक जीवन के आरम्भ-काल में वे प्रचलित प्रथाओं के प्रति एक सुधार-भावना लेकर ही उपस्थित हुए हैं। उसमें क्रांति करते हुए, उन्हें लगता है जैसे पहले हिचक हुई थी। नारी को घर से बाहर कब और कितना अवसर देना अपेक्षित है, इस विषय में वे अपने पूर्व साहित्य में बहुत प्रगतिशील नहीं कहे जा सकते। 'अजातशत्रु' में उन्होंने नारी और पुरुष के कार्य-क्षेत्रों की अलग-अलग व्याख्या की है। क्योंकि उनका विश्वास है कि संसार के सब कर्म सबके लिए नहीं होते। परन्तु बाद में देश की बढ़ती हुई राष्ट्र-भावना ने उनके संकोच को कम कर दिया और तब उनके साहित्य में नारी-चरित्रों का जो राष्ट्रीय स्वरूप ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर चित्रित किया गया, वह मौलिक तो था ही, साथ ही उसने राष्ट्रीय चेतना को विकसित करने में भी महत्त्वपूर्ण योग दिया। उनकी मान्यता थी कि नारी में सार्वजनिक जागृति तो होनी ही चाहिये और अवसरानुकूल उसकी तत्संबंधी योग्यता का उपयोग भी। उनकी अलका के चरित्र को लीजिये। वह देखती है कि उसके पिता तथा भाई राष्ट्र के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं कर रहे हैं और इस तरह से राष्ट्रीय हितों के विनाश की आशंका है, तो वह महाराज और आम्भीक के स्थान पर स्वयं राष्ट्रीय सेवाओं के लिये तत्पर हो जाती है। उसका तेज, सेवा और कर्त्तव्य की अपूर्व भावना और उत्साह से भरा हुआ रमणी रूप निःस्वार्थ भाव की भीत्ति पर और भी देदीप्यमान हो जाता है। वह अपने इन शब्दों में अकर्मण्य भाई के लिए कितना बड़ा व्यंग्य और राष्ट्र के प्रति कर्त्तव्य-निर्वाह की कितनी महान् सन्नद्धता प्रस्तुत करती है—

'महाराज, मुझे दण्ड दीजिये, कारागार में भेजिये, नहीं तो मैं मुक्त होने पर भी यही करूँगी······महाराज आर्यावर्त के सब बच्चे आम्भीक जैसे नहीं होंगे। वे अपनी इस मान-प्रतिष्ठा और रक्षा के लिए तिल-तिल कट जायेंगे।'

—चन्द्रगुप्त, पृ० ८८

अलका के चरित्र का राष्ट्रीय वैशिष्ट्य एक अन्य बात को लेकर भी है: वह विजया की भांति स्कन्दगुप्त पर मोहित होकर, उसे प्राप्त करने की आकांक्षा को लेकर, राष्ट्रीय योजना में दीक्षित नहीं होती। विजया में प्रेम मुख्य है, राष्ट्रीयता गौण। इसके विपरीत अलका सिंहरण से इसलिए प्यार करती है कि वह राष्ट्रीय

भावनाओं की प्रतिमूर्ति है। उसके अंग का एक-एक अणु राष्ट्र के उपयोग के लिए, उसकी सुरक्षा और उन्नयन के लिए सुरक्षित है। अलका के प्रणय में राष्ट्रीय-प्रेम वैयक्तिक प्रेम पर हावी हो गया है। दूसरे शब्दों में इसी बात को इस प्रकार भी कह सकते हैं कि अलका के राष्ट्रीय प्रेम की पृष्ठभूमि में ही उसकी वैयक्तिक प्रणय-भावना का विकास हुआ है। उसमें राष्ट्रीयता की काल्पनिक भावना ही नहीं है परन्तु उस क्षेत्र में वह कर्मशील भी है। स्वयं भी वह देश-सेवा के लिए कार्य करती है, रण-क्षेत्र जाती है और साथ ही सिंहरण की प्रेरणा भी बनती है। सिंहरण को ही क्यों, तक्षशिला के नागरिकों में भी उन्हें प्रेरित करने के लिये उसका राष्ट्रीय गान गूंज उठता है। अलका की ही भांति जयमाला का चरित्र भी इसी राष्ट्र-भावना को पुष्ट करता है। वह अपने पति की उदासीनता पर व्यंग्य करती है और उन्हें देश की रक्षा के लिये प्रेरणा देती है। उसका राष्ट्रीय स्वरूप विकसित है। वह सर्वात्मा के स्वर में अपने विशिष्ट व्यक्तित्व को लय करने में तत्पर है। युद्ध उसके लिये गान है, जिसमें उसे जीवन का संगीत सुनाई पड़ता है।

इसी प्रकार प्रसाद के अन्य ऐतिहासिक चरित्रों—देवसेना और मल्लिका में भी राष्ट्रीय स्वरूप के दर्शन होते हैं, जो अपनी-अपनी सामर्थ्य के अनुसार अपनी इच्छा से देश-हित को ध्यान में रखते हुए राष्ट्रीय योजनाओं में भाग लेती हैं। मालविका, कमला और रामा भी इसी कोटि की नारियां हैं, जिनमें राष्ट्रीय तत्वों का सन्निवेश उनके व्यक्तित्व को वैशिष्ट्य प्रदान करता है। 'पुरस्कार' की मधूलिका अपने देश-गौरव की रक्षा के लिए अपने प्रणय को बलिदान कर देने के लिए सन्नद्ध हो जाती है। सांस्कृतिक चरित्रों की भांति उनके राष्ट्रीय चरित्र भी अनेकरूपता और बहुरंगी भावनाओं से पोषित हुए हैं। उनके व्यक्तित्व की विविधता उनकी महत्ता को और भी गम्भीर और आकर्षक बना देती है। प्रसाद जी के ये राष्ट्रीय चरित्र ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर अनुकूल वातावरण के मध्य चित्रित किए गए हैं। दूसरे, भारतीय परि-स्थितियों के अन्तर्गत ये अनुकूल पड़ते हैं और इसीलिये साहित्यिक सृष्टियों में उनका स्थान अपनी विशिष्टता को प्राप्त हो गया है।

दार्शनिक व्याख्या

द्विवेदी काल तक हिन्दी साहित्य सुधार भावनाओं तथा आदर्श स्थापना की प्रतिष्ठा की चेष्टा में ही मुख्य रूप से अभिव्यक्त होता रहा है। नारी-सम्बन्धी भावना भी मुख्य रूप से इन्हीं दो दिशाओं में अभिव्यक्त हुई। छायावादी काल के आरम्भिक वर्षों में प्रथम महायुद्ध की समाप्ति पर युग की विषमताओं से ग्रसित और अभावों से पीड़ित साहित्यकार ने समाज से दूर, काल्पनिक लोक में अपनी दमित कामनाओं की

पूर्ति का प्रयत्न किया। प्रकृति का सौंदर्य उसके लिए विलास, वैभव और सुख का निमन्त्रण लेकर आया। इस प्रवृत्ति के विकास के आरम्भ में कवि को प्रकृति के सौन्दर्य के प्रति जिज्ञासा उत्पन्न हुई। पन्तजी की 'मौन निमन्त्रण' जैसी प्रारम्भिक कवितात्रों में इस भावना की अभिव्यक्ति भली प्रकार हुई है। जड़ पर चेतन का आरोप, इसी युग के कवि द्वारा पहले-पहल सत्-रूप की अभिव्यक्ति के साथ किया गया। प्रकृति से—जो जीव-विहीन, गति-शून्य और जड़ थी, कवि की आस्था प्रत्युत्तर के अभाव में कम होने लगी और वह अन्ततः नारी पर जाकर रुक गया। उसने नारी में सत्-सौंदर्य, यौवन, प्रेम, और सलज्ज शालीनता के दर्शन किए। उसके स्वरूप को पूज्या और आराध्या के रूप में स्वीकार किया। पूर्वोक्त छायावादी साहित्यकारों ने इसी दिशा में साहित्यिक-प्रणयन किया। इन साहित्यकारों ने नारी को जगत की स्वामिनी और प्रकृति के मुकुर के रूप में प्रतिष्ठा प्रदान की, क्योंकि इस आदर्श रूप की प्रेरणा उन्हें प्रकृति की महाशक्ति एवं विविध-रंगी स्वरूपों से ही प्राप्त हुई थी। 'पल्लव' की कविताओं में पन्त ने इसे स्नेहमयी, सुन्दरतामयी आदि के विशेषणों से विभूषित किया है। उसके चरित्र में शक्ति, पूजा, सम्मान और पावनता की भावनाओं को सज्जित किया है। उसका शांत, सौम्य स्वरूप पुरुष के सन्तप्त मन के लिए शीतल विश्राम की आयोजना-सी करता है। इस प्रकार से विकास काल, जिसे साहित्य-समीक्षकों द्वारा प्रसाद-काल का भी नाम दिया गया है, नारी को शक्ति, प्रेरणा, सौम्यता, पावित्र्य और आदर्श रूप में देखने का काल है। प्रसाद-काल इसे इसलिए कहा गया है कि नवीन चेतना के उत्सर्ग में प्रसाद जी का योगदान सबसे अधिक और विशिष्ट रहा है तथा अन्य साहित्यिक देनों के साथ उनकी यह देन भी महत्वपूर्ण है कि उन्होंने छायावादी नारी के इस प्रस्तुत एवं प्रचलित स्वरूप की दार्शनिक व्याख्या प्रस्तुत की है, जिससे नारी के दमित कुचले हुए कुंठित स्वरूप से भिन्न एक महान्, प्रेरक और मार्ग दर्शक स्वरूप की कल्पना होती है। वहां नारी पुरुष से ऊंची, सम्मानित शीर्ष पर बैठी हुई प्रतीत होती है। ऐसा लगता है जैसे सृष्टि का संचालन पुरुष से नहीं वरन् नारी के निर्देशों पर ही आधारित हो गया है।

प्रसाद जी को नारी के दार्शनिक स्वरूप की प्रेरणा दर्शन-शास्त्र के अध्ययन से मिली है। वह शैव थे, प्रत्यभिज्ञा-दर्शन के समर्थक। उसके अनुसार आत्मा अपनी इच्छा-पूर्वक स्वतन्त्र रूप से अपनी भीत्ति पर ही विश्व का उन्मीलन करती है। विश्व के इस विकास प्रसंग में आत्मा के शक्ति रूप को शिव से पूर्णतया अभिन्न माना गया है। यह शक्ति रूप अनन्त है। शिव तत्व प्राण रूप में विद्यमान रहता है। शक्ति तत्व इस प्राण पर नियन्त्रण करने वाला या उसमें व्यवस्था बनाये रखने वाला माना जाता है। प्रत्यभिज्ञा-दर्शन के अनुसार शक्ति शिव की सृजन शक्ति के

रूप में अभिव्यक्त की गई है। शिव तथा शक्ति में भेद की कल्पना कदापि नहीं की जा सकती।

शिव-शक्ति का उपर्युक्त आदर्श ही प्रसाद जी की नारी-कल्पना को दार्शनिक भाव-भूमि पर अभिव्यक्ति प्रदान करता है। उन्होंने उसे महाचिति, लीलामयी और आनन्ददायिनी सिद्ध किया है। वे नारी के व्यापक, विशुद्ध और विश्वासमय स्वरूप को सृष्टि के विकास का रहस्य मानकर चलते हैं। वह सर्वमंगला है। प्राणी-मात्र के प्रति उसके मन में अजस्र दया और स्नेह का स्रोत प्रवाहित होता रहता है।

प्रसाद जी ने नारी द्वारा व्यक्ति का समष्टि में विकास दिखाया है, जो व्यापक भाव-भूमि की सृष्टि करता है। वह विश्व-मैत्री और विश्व-बन्धुत्व के आदर्श निर्माण में नारी की ही विशिष्ट शक्ति और प्रेरणा को मान कर चले हैं। एक स्थान पर श्रद्धा मनु से कहती है—

'औरों को हँसते देखो मनु
हँसो और सुख पाओ
अपने सुख को विस्तृत कर लो
सब को सुखी बनाओ।'

—कामायनी, पृ० १८२।

इसी दार्शनिक स्वरूप की व्याख्या के अन्तर्गत प्रसाद जी की अन्य उपलब्धि नारी के द्वारा मानवतावाद की स्थापना करने में है। पुरुष केवल श्रद्धा के संयोग से ही अभिनव मानव की सृष्टि करता है। श्रद्धा ही पुरुष को मानवतावाद के प्रसाद की प्रेरणा देती है। प्रसाद जी की नारी में चारित्रिक श्रेष्ठता की इस विशिष्टता के साथ-साथ पुरुष को उच्चतर भावभूमि में ले जाकर उसे आनन्दमय बनाने की क्षमता भी विद्यमान है। उसी की प्रेरणा से पुरुष शक्ति ग्रहण करता है तथा शक्तिवान् कहलाता है। पुरुष को आध्यात्मिक जीवन की प्राप्ति, आश्वासन और सद्भावना नारी से ही प्राप्त होती है। वह तो हमेशा ही इच्छा, कर्म और ज्ञान के त्रैत में फूला हुआ होता है और इस त्रिपुर रहस्य की कुञ्जी नारी के हाथ में रहती है। उसकी इच्छा से ही इन परस्पर विच्छिन्न शक्तियों में सामंजस्य की स्थापना होती है और उसकी स्मृति मात्र से ये विच्छिन्न शक्तियां एकाकार हो विश्व में आनन्दवाद की स्थापना करती हैं। साथ ही वह अन्य विविध शक्तियों की समन्वयिनी भी है, तभी मानव-जीवन की सफलता की अपेक्षा की जा सकती है। प्रसाद जी संघर्ष को प्रदीप्त करने वाले आदर्शों की स्थापना के पक्षपाती नहीं रहे हैं। वे जीवन में सामंजस्य और समन्वय की प्रतिष्ठा करना चाहते हैं। यहां पर भी उन पर प्रत्यभिज्ञा-दर्शन का प्रभाव स्पष्ट

है और इसी के आधार पर उन्होंने समरसता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। शिव और शक्ति (पुरुष और नारी) के सामरस्य से ही आनन्दवाद और उल्लास की स्थापना हो सकती है। इसीलिए सामरस्यपूर्ण स्थिति के मध्य ही विश्व की स्थिति को सुखपूर्ण बताया गया है। इसी प्रसंग में प्रसाद जी नारी को पुरुष की सहयोगिनी, निर्देशिका, पूर्णता और प्रेरणा के रूप में भी प्रस्तुत करते हैं। पुरुष के जीवन के लम्बे रहस्यों का उद्घाटन नारी द्वारा ही कराया गया है। वह पुरुष को जीवन के दुःख-सुखों की लम्बी परम्परा की पृष्ठभूमि में सुख का रहस्य बताती है। पुरुष उसकी अनन्त शक्तिका अनुभव कर उसके द्वारा आनन्द प्राप्ति की आकांक्षा को लेकर, उससे अपने जीवन का नेतृत्व करने के लिए कहता है।

प्रसाद की उत्तर-कालीन कृति 'कामायनी' में नारी के इसी दार्शनिक स्वरूप की व्याख्या प्रस्तुत की गई है जो नारी-स्थिति को सामाजिक संकीर्णता की उमस और घुटन से उबार कर स्वस्थ मनोभूमि पर अधिष्ठित करने के लिए मंगल-संदेश देती है। उन्होंने नारी को दिव्य-शक्ति के रूप में प्रस्तुत किया है, जहां पुरुष की पार्थिव उच्चता एवं श्रेष्ठता उसकी महानता के सम्मुख बड़ी सामान्य सी लगने लगती है। इस दार्शनिक नारी-सृष्टि की कल्पना प्रसाद जी की अपनी है तथा हिन्दी के विकास-कालीन साहित्य को, जिसमें नारी की अतीन्द्रियता पर विशेष बल दिया जाने लगा था, एक विभिन्न प्रकार की स्वस्थ, प्रेरणादायक और इन सबसे विशेष समझ में आ सकने योग्य अपूर्व देन है।

मनोवैज्ञानिक पीठिका

आधुनिक साहित्य की कुछ प्रमुख विशेषताओं में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का विकास भी प्रमुख है। जीवन में भौतिक द्वन्द्व होते हैं उन्हीं के कारण मानसिक संघर्ष होता है। मानसिक संघर्ष की स्थिति में ही मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की स्थिति उत्पन्न होती है। भारतेन्दु से लेकर द्विवेदी काल तक की रचनाओं में सामाजिक विषमताओं के परिणाम स्वरूप बाह्य संघर्षों का चित्रण तो बहुल मात्रा में होता रहा है। जीवन की विषमताओं को बढ़ा-चढ़ा कर चित्रित किया जाता रहा, किन्तु मानव मन की अन्तर्प्रवृत्तियां का चित्रण बहुत कम साहित्यकारों द्वारा किया गया। प्रेमचन्द-साहित्य में, जो सामयिक समस्याओं की पृष्ठभूमि में लिखा गया है, बाह्य विषमताओं का संघर्ष सामाजिक चेतना उत्पन्न करने में सफल है। उनके द्वारा समाज के उन रूढ़ परम्पराओं के उद्घाटन और हनन की चेष्टा की गई है जिन्होंने विशृंखला की अवस्था उत्पन्न कर रखी है। परन्तु इस दिशा में भी उन के पुरुष चरित्रों का ही अधिक विकास हो पाया है। उनके नारी पात्र अपनी दयनीय दशा से ही पीड़ित है।

हीं, जालपा, धनिया आदि पात्रियों की भाँति जो कुछ मुखर हो पाई हैं, उन के द्वारा वहाँ उनके मानसिक संघर्ष की समुचित अभिव्यक्ति नहीं मिल पा सकी है। उनकी रूपमणि, निर्मला, रतन, पुष्पा आदि अन्य पात्र भी अपने भाग्य की दुर्दशा की कहानी ही कहते हैं। उनमें भी अन्तर्वृत्तियों का संघर्ष कम ही विद्यमान है। प्रसाद कालीन दूसरे साहित्यकार, जिन्होंने इस दिशा में अधिक चेष्टा की है, जैनेन्द्र कुमार हैं। उन्होंने नारी पात्रों को मनोविश्लेषण की पृष्ठभूमि में ही चित्रित करने का प्रयत्न किया है। परन्तु उनकी पकड़ को किस सीमा तक स्वाभाविक तथा सफल कहा जा सकता है, यह विवादग्रस्त विषय है। हमारे विचार से जैनेन्द्र के नारी चरित्रों की मनःस्थिति का चित्रण कुंठित काम और असित आकांक्षा के परिवेष्ठन में तथा कथित नैतिकता की भाव-भूमि पर आदर्श स्थापना के नितान्त अनगढ़ उद्देश्य को लेकर हुआ है। उनके चरित्रांकन में कहीं भी यह स्पष्ट नहीं होता कि उन्हें नारी स्वभाव के स्थायी गुणों का वैज्ञानिक ज्ञान है और इसीलिए उन के नारी चरित्रों का मनोवैज्ञानिक विकास, जिनमें मृणाल, सुखदा, सुनीता आदि के नाम लिए जा सकते हैं, एक असाधारण (जो अस्वाभाविक ही है) किन्तु आकर्षक भाव-पीठिका पर हुआ सा लगता है। उनकी साहित्यिक कृतियों को थोड़ा सा और खुल कर देखें, तो लगता है कि 'सैक्स'-प्रसंगों में ही उनकी 'मनोविश्लेषणात्मक'—प्रतिभा को अभिव्यक्ति मिल सकी है। इसी प्रसंग में भगवती चरण वर्मा की 'चित्रलेखा' और 'तीन वर्ष' को भी लिया जा सकता है। यहां भी अन्तर्वृत्तियों का संघर्षात्मक विकास एकांगी ही है। इस प्रकार से इन प्रमुख साहित्यकारों द्वारा मनःस्थिति चित्रण का आरम्भ ही किया जा सका है। इसका विकसित और प्रौढ़ रूप हमें विकास काल में केवल प्रसाद की कृतियों में ही देखने को मिलता है और इसीलिए सारे काल में उनकी साहित्यिक श्रेष्ठता और भी सिद्ध हो जाती है।

प्रसाद जी ने व्यक्ति की अन्तर्भावनाओं के विकास के मूल रूप को पहचाना है। वे व्यक्ति के मनोवैज्ञानिक विकास में शारीरिक और मानसिक गठन को विशेष मानकर चलते हैं। नारी और पुरुष के शारीरिक गठन और प्रक्रिया में अन्तर है, अतः उनकी मनःस्थिति, उनके सोचने का ढंग तथा कार्यकलापों की स्थिति भी भिन्न ही होनी चाहिए। उन्होंने नारी के स्थायी गुणों की विशद व्याख्या प्रस्तुत की है और उसके आधार पर उनकी मनःस्थिति को अभिव्यक्ति प्रदान की है। यहां प्रस्तुत प्रक्रिया एक रूप से गम्भीर अध्ययन के उपरान्त उपस्थित की गई है। अतः वह स्वाभाविक लगती है। उन्होंने अपने विभिन्न पात्रों में नारी मन के अन्तर्संघर्ष तथा स्थायी गुणों की स्थिति मानी है। उदाहरण के लिए, नारी पुरुष में शक्ति देखना चाहती है। अपनी भविष्य की सुखद कल्पना, उसकी कल्पना का विशेष अंश होता है। समर्पण के साथ साथ उसमें आत्म सम्मान की भावना भी उसी मात्रा में होती

है। वह सर्वस्व देकर कुछ लिया भी चाहती है, वह वस्तुओं का, घटनाओं का, वातों का विश्लेषण करती है। अन्तर्संघर्ष की भावना उसमें प्रमुख है—इन सभी का अध्ययन, अनुशीलन और स्पष्टीकरण प्रसाद ने किया है, और क्योंकि उनका मनोवैज्ञानिक अध्ययन स्वाभाविक सहज गुणों की भीत्ति पर स्थित है, इसीलिए चरित्रों का सूक्ष्म, गम्भीर और सही मूल्यांकन हो सका है । कहीं भी अस्वाभाविकता नहीं लगती। जैसा कि इस युग के दूसरे लेखकों में जहां कुछ असाधारण चरित्रों को अभिव्यक्ति मिली है वहां भी नारी के असमान्य मनोविज्ञान की झांकी प्रस्तुत की गई है। नारी की मनःस्थिति की असाधारणता विशेष रूप से प्रेम-प्रसंगों में भी अभिव्यक्त हुई है। ऐसे चरित्र निश्चित रूप से असाधारण हैं किन्तु अस्वाभाविक नहीं क्योंकि उनके चरित्रांकन में मनोवैज्ञानिक विकास-क्रम की उपेक्षा नहीं की गई है।

इसी मनोविश्लेषण के प्रसंग में प्रसाद जी ने नारी के मन की दुर्भावनाओं को भी दृष्टिओझल नहीं किया है। असत् प्रवृत्तियां जो विशिष्ठ प्रवृत्तियों में प्रस्फुटन का विकास पाती हैं, प्रसाद जी की लेखनी से निःसृत हुई हैं। नारी के कोमल स्वभाव में कोमलता के स्थान पर कठोरता का निरूपण लेखक के सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विश्लेपण प्रस्तुत करने की प्रतिभा की पुष्टि करता है। नारी के मन के अन्तर्संघर्ष, महत्वाकांक्षा की तीव्र भावना, वैभव के प्रति ललक—सभी प्रसंगों का प्रसाद जी ने संस्पर्श किया है । इसके साथ ही विभिन्न वर्गीय नारी-मनोवैज्ञान का चित्रण, विभिन्न परिस्थितियों तथा संस्कारों के संदर्भ में भी प्रसाद जी द्वारा सफलतापूर्वक चित्रित किया गया है।

इस प्रकार प्रसाद जी ने अपने युग को नवीन दृष्टिकोण और नवीन अनुभूतियां प्रदान की हैं। सामाजिक पृष्ठभूमि में प्रचलित साहित्यिक विचार-विधाओं में उनके नवीन आदर्श , सृष्टि और विचार-क्षेत्र की मौलिकता अपना विशेप महत्व रखती है। उनके द्वारा राष्ट्रीय नारी-चरित्रों की योजना का व्यावहारिक रूप गांधी-आन्दोलनों एवं सार्वजनिक कार्य-क्षेत्रों में उनके बाद भी अधिक प्रचलित हुआ है। अन्तर्संघर्ष चित्रण का जो सूत्र-पात प्रसाद जी से हुआ, वही आगे चल कर जैनेन्द्र, यशपाल और इन सब से विपेप 'अज्ञेय' की रचनाओं में देखने को मिलता है। वास्तव में प्रसाद जी की रचनायें नव्य-काल के साहित्य की आधार-भूमि के रूप में आंकी जानी चाहिएं, क्योंकि इस प्रकार से उनकी कृतियों का मूल्य और महत्व विशेप हो जाता है।

प्रकरण—१४

नारी-सम्बन्धी आधुनिक भारतीय तथा पाश्चात्य अदर्शों में अन्तर और प्रसाद की तत्सम्बन्धी धारणाएँ

(अ) पाश्चात्य समाज में नारी : २०वीं शती

(ब) पाश्चात्य साहित्य में नारी : २०वीं शती

(स) भारतीय तथा पाश्चात्य आदर्श—अन्तर

(द) प्रसाद की धारणाएं

पाश्चात्य समाज में नारी [२०वीं शती]

यदि हम सम्पूर्ण विश्व के नारी-स्थिति सम्बन्धी विकास-क्रम को देखें तो पता चलता है कि प्राय: सभी देशों में नारी आन्दोलन १९ वीं और २० वीं शताब्दी में ही हुए हैं। इसी काल में उन्हें अपनी स्थिति का ज्ञान हुआ है, और वे उसे सुधारने के क्षेत्र में अग्रसर हुई हैं। भारतवर्ष में जिस नारी आन्दोलन का सूत्रपात और विकास हुआ, उसमें पुरुषों का भाग ही अधिक था। किन्तु इसके विपरीत पाश्चात्य नारी आन्दोलन में नारी पुरुषों की अपेक्षा अग्रगण्य है। उसने स्वयं भी अपने अधिकारों की प्राप्ति के लिए प्रयत्न किया है और इसीलिए वह भारतीय नारी से अधिक सफल दिखाई पड़ती है। वैसे इन आन्दोलनों के आरम्भ होने से पूर्व पाश्चात्य समाज में भी नारी की वही दयनीय दशा थी, जैसी हम उस काल के भारतवर्ष में देखते हैं। पुरुषों के अतिचार, उनके द्वारा निर्धारित किए हुए नियम तथा महिला वर्ग को अपने से हीन समझने का भाव—इन सब ने उसकी स्थिति को यथेष्ट रूप से प्रपीड़ित कर दिया था। और, जैसे अपने ऊपर लादी गई विषमताओं के विरोध में ही खड़ी होकर पश्चिमी नारी ने अपने अधिकारों के लिए संघर्ष किया और विजय पाई। लेकिन सभी देशों में नारी की स्थिति में विकास नहीं हुआ। जर्मनी और इटली में वह २० वीं शती में अपने दुर्भाग्यपूर्ण जीवन से छुटकारा नहीं पा सकी, और नाजियों तथा फासिस्टों की एकाधिकार राज्य शासन प्रणाली में उसे अपनी स्थिति को सुधारने का अवसर ही प्राप्त न हो सका।

पश्चिम में नारी आंदोलन का आरम्भ जिसे वहां 'सफरैजिस्ट मूवमेन्ट' की संज्ञा दी गई है, अमेरिका से होता है। १८४८ में सबसे पहले इसका आरम्भ न्यूयार्क में हुआ। इस आन्दोलन के द्वारा नारी ने अपने राजनीतिक अधिकारों की मांग की। २०वीं शती में इस आन्दोलन का विकास हुआ। प्रथम विश्व युद्ध के समय तक अमरीकी वातावरण में इसने गम्भीर रूप धारण कर लिया था और विशिष्ट राजनीतिज्ञों का ध्यान इसकी ओर आकृष्ट होने लगा था। १९१५ के वैधानिक सुधारों में इस विषय को फिर से उठाया गया। किन्तु यह प्रयास असफल रहा। तब महि-

लाओं ने इस प्रश्न को उसी वर्ष फिर से उपस्थित करने की याचना की। इसी समय नारी आन्दोलन का चरम विकास हुआ। १९१५ में इस आन्दोलन में भाग लेने वाली सदस्या-महिलाओं की संख्या केवल न्यूयार्क में ही ५ लाख थी और इतनी ही देश के शेष भाग में भी। अब लगभग १०१५,००० वयस्क महिलाओं ने मताधिकार की मांग की, और उन्हें सफलता मिली। इसके साथ-साथ मिचिगन, साउथ डाकटा तथा ओकलाहोमा में भी मताधिकार प्रदान किए गए। १९१७ में एरकन्सस और १९१८ में टैक्सास में नारी को मताधिकार की प्राप्ति हुई। १९१९ में उन्होंने राष्ट्रपति के चुनाव में भी भाग लिया। २६ अगस्त १९२० में अमेरिका के संघात्मक संविधान में सुधार करके नारी के मताधिकार को संवैधानिक मान्यता प्रदान की गई[1]।

इस नारी आन्दोलन का आविर्भाव और विकास ग्रेट ब्रिटेन और आयरलैंड में १८६६ से होता है। उसके बाद बड़े बड़े सामाजिक एवं राजनैतिक नेताओं और शिक्षा-शास्त्रियों द्वारा इसे हमेशा ही स्वीकृति मिलती गई है। २० वर्ष के उपरान्त १८८६ से इस आन्दोलन में तीव्रता आई। १९१८ में उन्हें कुछ अनिवार्यताओं के साथ मत देने का अधिकार मिला। उन में से एक शिक्षा तथा आयु सम्बन्धी अनिवार्यता ही थी, कि वह स्नातिका हो तथा कम से कम ३० वर्ष की आयु की हो। किन्तु २ जुलाई १९२८ के संवैधानिक सुधार द्वारा आयु तथा शिक्षा सीमा सम्बन्धी प्रतिबन्ध हटा लिए गए और उसे पुरुष के समान ही मत देने का अधिकार प्राप्त हो गया। इंग्लैंड के साथ साथ उसके अधीन दूसरे उपनिवेशों में भी (भारत तथा दक्षिणी अफरीका को छोड़कर) महिलाओं को मताधिकार प्रदान किया गया।

कनाडा में सफरेजिस्ट आन्दोलन को वहां की दो मुख्य सस्थाओं—'नेशनल सफरेज एसोसियेशन' तथा 'नेशनल कौंसिल आफ वीमन' द्वारा प्रोत्साहित किया गया। वहां १९०५ में पहली बार विधान सभा के सम्मुख नारी के मताधिकार के प्रश्न को उपस्थित किया गया। जोहन बिल ने इस दिशा में १९०७ तथा १९०८ में प्रयत्न किए। १९०९ में नारी मताधिकार सम्बन्धी बिल को फिर उपस्थित किया गया, लेकिन सफलता न मिली। अब तक लोग नारी मताधिकार की बात को लेकर गम्भीरता से सोचने लगे थे। इसी वर्ष 'टोरोंटो' में 'अन्तरराष्ट्रीय महिला संघ' की चौथी सभा हुई, जिसमें नारी के मताधिकारों को लेकर ही सबसे अधिक विचार विनिमय हुआ और १९१२ में इसी दिशा में फिर चेष्टा की गई[2]। परिणाम स्वरूप १९१६ की २६ मार्च को श्री हर्बर्ट ने नारी के मताधिकार सम्बन्धी विधेयक को

१—द एनसाइक्लोपीडिया अमेरिका, २९वां भाग, पृष्ठ ४५४।

२—क्लेवरडन : द वीमन सफरेज मूवमेन्ट इन कनाडा, पृ० ३१।

विधान सभा में उपस्थित किया तथा उनके परिश्रम से चार अप्रैल १९१६ को यह अधिनियम बन गया। इसके अनुसार ओन्टेरियो में नारी को प्रांतीय तथा नागरी चुनावों में भाग लेने का अवसर मिला। प्रेरिल प्रान्त में इस आन्दोलन का आरम्भ १९१२ से हुआ तथा १९१४ की संसद-सभा में तत्सम्बन्धी पहली याचिका उपस्थित की गई। इसी प्रकार १८८० के लगभग ब्रिटिश कोलम्बिया में भी नारी मताधिकार सम्बन्धी आन्दोलन का आरम्भ हुआ तथा १९३१ में नारी को पुरुष के समान ही सभी प्रकार के अधिकार प्रदान कर दिए गए। परन्तु अशिक्षा तथा राजनीतिक एवं सामाजिक पृष्ठ भूमि के अभाव में कनाडा की महिलायें अपने अधिकारों का समुचित प्रयोग नहीं कर पा रही हैं और इसीलिए सामाजिक जीवन में उन्हें अभी यथेष्ठ व्यावहारिक स्वीकृति नहीं मिल सकी है[1]।

इन मुख्य देशों के साथ साथ दूसरे देशों में भी इस आन्दोलन का प्रभाव यथेष्ट रूप से पड़ा। १९०६ में फिन्लैंड की सरकार ने कुछ अनिवार्यताओं के साथ महिला मताधिकार का समर्थन किया। पुर्तगाली महिलाओं को यह अधिकार १९४५ में मिला। चीन और जापान को १९४६ में तथा बेल्जियम को १९५० में। भारतवर्ष, बर्मा और फिलिपाइन में नारी को पुरुष की भांति समान अधिकारों की स्वीकृति १९४७ में ही प्राप्त हुई। फ्रान्स और स्वीट्जरलैंड नारी आन्दोलनों के इस विकास से प्रभावित नहीं हुए। फ्रान्स में दूसरे महायुद्ध के पश्चात् ही जनरल डी. गोल ने प्रथम निर्वाचन के अवसर पर नारी को पुरुष के समान ही मताधिकार प्रदान किया। इसी समय इटली की महिलाओं को भी यह अधिकार प्राप्त हुआ। इन सभी देशों में इस अधिकार का उपयोग किया गया और नारी अपनी वैयक्तिकता को प्राथमिकता और महत्व देती हुई सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रों में अवतीर्ण होने लगी। इस प्रकार से नारी आन्दोलन के इतिहास में 'सफरेजिस्ट मूवमेन्ट' एक महत्वपूर्ण घटना है जिसमें पश्चिमी नारी का जीर्ण जर्जर पुरातन विश्वासों, संकीर्ण मान्यताओं तथा प्रपीड़न से उद्धार कर उसे सामाजिक स्वीकृति और वैयक्तिक महत्व प्राप्ति के राजपथ पर ला खड़ा कर दिया है। इस आन्दोलन की सफलता के कारण ही पश्चिमी देशों में आधुनिक युग के नारी आदर्शों में जो परिवर्तन हुए उन्होंने वहां के नारी समाज को प्रबुद्ध वातावरण और जागरुक पृष्ठभूमि प्रदान की है, जो उन को भारतीय नारी की स्थिति और भारतीय समाज द्वारा मान्य नारी आदर्शों से पृथक कर देती है। भले ही इन दो परस्पर विच्छिन्न समाजों के नारी आदर्शों में कोई मौलिक अन्तर न दिखाई पड़े किन्तु व्यावहारिक भाव भूमि पर भारतीय नारी तथा पश्चिमी नारी सम्बन्धी मान्यताओं एवं वस्तु स्थिति के मध्य एक स्पष्ट रेखा खींची जा सकती है।

\+ \+ \+

१—क्लेवरडन : द वोमन सफरेज मूवमेंट इन कनाडा, पृष्ठ २७१।

२० वीं शती में पाश्चात्य नारी अपने पारिवारिक क्षेत्र से बाहर निकल कर औद्योगिक तथा व्यावसायिक क्षेत्रों में अवतीर्ण हुई है। सामाजिक जीवन की कुछ अपरिहार्य आवश्यकताओं ने, विशेष रूप से आर्थिक विषमताओं ने उन्हें पुरुषके साथ सभी स्थानों पर प्रतिस्पर्धा के लिए विवश किया है। अपने दमित व्यक्तित्व के उत्थान की प्रेरणा लेकर, स्वतन्त्र प्रेम और मताधिकार का अधिकार प्राप्त करने के उद्देश्य से योरूपीय देशों में नारी आन्दोलन का आरंभ हुआ है। अमेरिका इस दिशा में अग्रगण्य रहा है। गृह-युद्ध काल में इस देश की महिलाओं को अपनी शक्ति तथा क्षमता दिखाने का अवसर प्राप्त हुआ। उन्होंने अध्यापक, नर्स, क्लर्क आदि के रूप में पुरुषों के समान अपनी योग्यता का परिचय दिया तथा बड़ी तेजी के साथ प्रगति के पथ पर अग्रसर हुईं। अब वे 'स्टोव' से चल कर टाइपराइटर तक, आगे बढ़ आई थीं। १८७० में जहां केवल ७ अमरीकी महिलायें सेक्रेट्री के रूप में कार्य करती थीं, वहां १९५० में १०००, ००० महिलायें इसी रूप में सेवा-रत थीं। यह भारी संख्या केवल अमेरिका के बढ़ते हुए व्यवसाय और उद्योगों की ही कल्पना नहीं देती वरन् लैंगिक मान्यताओं में क्रान्ति की अभिव्यक्ति करती है[1]। इस नवीन शती में अमेरीकी नारी के जीवन में कुछ महत्वपूर्ण दिशाओं में परिवर्तन हुआ है। सर्व प्रथम वैज्ञानिक आविष्कार तथा बौद्धिक विकास के परिणाम स्वरूप उसके सामाजिक एवं गार्हस्थ्य स्वरूप को नवीन भाव-भूमि प्राप्त हुई। औद्योगिक क्षेत्र की सेवाओं में उसके कार्य और क्षमता को स्वीकृति मिली। नारी संस्थाओं का विकास हुआ तथा पुरानी संस्थाओं की सदस्य संख्या में भारी उन्नति हुई। इस काल में नारी वर्ग ने अपने अधिकार क्षेत्र को बढ़ाने, अपने लिए अधिक सुविधायें प्राप्त करने, धार्मिक, नैतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक सुधारों का विकास करने तथा सबसे विशेष सामाजिक समता की भावना को अधिक से अधिक विकसित करने की दिशा में प्रयत्न किए। नारी-संस्थाओं के अतिरिक्त इन महिलाओं ने सामान्य संस्थाओं में भी अपना महत्वपूर्ण स्थान बना लिया। इन संस्थाओं का सम्बन्ध विशेष रूप से कल-कारखानों तथा सामाजिक विकास के आदर्शों से था। महिला वर्ग के इस विकास कार्य में कुछ अनुदार पंथियों ने नारी अधिकारों का विरोध भी किया है। उदाहरण के लिए कारडिनल गिबन्स ने 'लेडीज़ होम जनरल' (जनवरी १९०२) में एक स्थान पर कहा है—

'जैसा कि मैंने पहिले भी कहा है कि नारी के अधिकार तथा नारी का नेतृत्व उसकी उन्नति की दिशा में उस के अपने सबसे बड़े शत्रु हैं[1]।'

१—अर्नेस्ट आर. ग्रोव्ज़ (द अमेरिकन वीमन, पृष्ठ ३२८ पर उल्कथित)।

परन्तु नारी की प्रगति इस प्रकार के अवरोधों एवं आलोचना से प्रभावित न होकर दिन-प्रतिदिन तीव्रतर होती गई और प्रथम विश्व युद्ध तक उसकी स्थिति में बड़ा अन्तर उत्पन्न हो गया। उसे औद्योगिक क्षेत्र में मान्यता मिली। सार्वजनिक सेवाओं में उसे अवसर मिलने लगे। नवीन विचारों एवं आदर्शों के आलोक में उसकी परम्परागत हीन भावनाएं विलुप्त हो गईं तथा सामाजिक क्रान्ति ने उसकी वैयक्तिकता को विकास का अवसर प्रदान किया। अब उसने सभी सेवाओं में पुरुष के समान ही अपनी महत्ता और आवश्यकता को सिद्ध कर दिया और थोड़े ही समय में अमेरिकी महिलायें सामाजिक जीवन का एक विशिष्ठ अंग बन गईं। अपने व्यक्तित्व की मान-प्रतिष्ठा के उपरांत वे भिन्न-भिन्न संस्थाओं में दिखाई पड़ने लगीं। सेवा-कार्य की ओर वे प्रवृत्त हुईं। इसके विषय में कुछ कारण दिये जा सकते हैं। प्रथम विश्व-युद्ध में अमरीकी जीवन पर आर्थिक दबाव इतना अधिक आ पड़ा था कि महिला को अपने पुरुष साथी की सहायता करने तथा घर के खर्च को चलाने के लिए नौकरी करनी ही पड़ती थी और अब भी उसकी मृत्यु अथवा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाने के परिणाम-स्वरूप अपने बच्चों की देख-रेख अथवा गृहस्थी के भार को सम्भालने के लिये भी तत्पर रहना पड़ता है। दूसरे, अविवाहित महिलाओं के सम्मुख भी नौकरी करने के अतिरिक्त कोई अन्य मार्ग नहीं है, क्योंकि लौकिक जीवन से आकर्षित और प्रभावित वे वैभवपूर्ण साथी पाने के लिए अपने सामाजिक स्तर को उन्नततर करने का प्रयत्न करती हैं और उसके लिए धनोपार्जन के साधनों की ओर उन्मुख होती हैं। कहीं-कहीं पुत्री को अपने माता-पिता की सेवा के लिये भी धनोपार्जन करना पड़ता है। फिर भी पुरुष की अपेक्षा उन्हें सेवा के कम ही अवसर मिलते हैं। पुरुष के समान कार्य करने पर उन्हें उसके लिए कम वेतन मिलता है। समाज में पुरुष का सम्मान आज भी अधिक है। परम्पराओं से चालित जीवन-धारा के कारण आज भी पुरुष उनकी अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है।

सामाजिक और आर्थिक स्वीकृति के साथ-साथ अमरीकी नारी की प्रेम और विवाह के क्षेत्र में भी कम उपलब्धि नहीं है। वह अपने वैयक्तिक महत्व को अधिक मान्य मानकर चलती है। वह 'सेक्स' का उदार अर्थ ग्रहण करती है तथा अपने लिए भी उन्हीं अधिकारों की योजना करती है जो पुरुष ने अपने लिए सुरक्षित कर लिये हैं। नारी और पुरुष के परस्पर सेक्स-सम्बन्धों में पूर्वकालीन सीमा रेखा, संयम तथा संकीर्णता— जो कुछ भी कहिये, अब अमरीकी नारी में [illegible] नहीं होती। धर्म के क्षेत्र में उसकी प्रगति को देखकर यह विश्वास ही नहीं होता कि वे कभी पुरुष वर्ग से प्रताड़ित रही होंगी। धार्मिक नेतृत्व का अधिकार पुरुष के समान ही उनको भी प्राप्त है। जिसका वह समुचित उपयोग कर रही है। इस प्रकार सामाजिक

जीवन से लेकर राजनीतिक जीवन के छोर तक अमरीकी नारी सभी क्षेत्रों में पुरुष की समानता कर रही है। जीवन की नवीन परिस्थितियों में वह पुरुष की सहयोगिनी है और सामाजिक आदर्शों की रचना में उसका अपना विशेष महत्व है। परन्तु इतनी उपलब्धियों के बाद भी अमरीकी नारी अन्तर्संघर्ष से मुक्ति नहीं पा गई है। वह अपने नवीन नैतिक वातावरण के अनुकूल नहीं हो पा रही है। अभी कुछ समय पूर्व अमेरिका में एक जांच हुई थी, जिसमें पूछा गया था कि स्त्री-पुरुष अगले जन्म में क्या बनना चाहेंगे। तब ९१.५ प्रतिशत पुरुषों ने पुरुष ही बनने की इच्छा प्रकट की थी[1]। अमरीका की विशिष्ठ समाज शास्त्री मार्गरेट मीड का कहना है कि अमरीकी महिलाओं का चतुर्थांश अपने नारीत्व के परिणाम-स्वरूप उत्पन्न हुए अन्तर्संघर्षों से परेशान है तथा उनमें एक नैराश्यपूर्ण भाव का विस्तार हो रहा है और सबसे विशेष यह कि वह किसी भी स्थिति से सन्तुष्ट नहीं है। घर से बाहर सार्वजनिक क्षेत्र में कार्य-रत नारी अपने एकाकी क्षण में यह सोचती हुई प्रतीत होती है, कि यह जीवन अपना कर कहीं वह अपने पति तथा बच्चों के प्रति अन्याय तो नहीं कर रही है, दूसरी ओर घर के भीतर रहने वाली महिला के मन में कई बार यह विचार उठता है—'मैं ही क्यों हमेशा इन फर्शों को साफ करती रहूं, क्यों न सामाजिक जीवन में अपने योग्य कार्य-क्षेत्र चुनूं।' इस प्रकार दोनों ही प्रकार के नारी-वर्ग अपनी-अपनी स्थिति से असन्तुष्ट हैं[2] और सामंजस्यपूर्ण स्थिति को खोज निकालने के लिए मानसिक संघर्षों से प्रपीड़ित हैं तथा सेक्स प्रसंग में भी, वे कोई स्वस्थ दृष्टिकोण नहीं अपना सकी हैं। सेक्स की स्वतन्त्रता का अर्थ उन्होंने वैभव और विलास की सुखपूर्ण स्थिति माना था। किन्तु नीति और व्यवहार में अन्तर होता ही है। अपनी मान्यताओं के व्यावहारिक रूप से जैसे वे चिन्तित हो उठी हैं और जैसे उनकी स्थिति के भविष्य की सुरक्षा किसी संकट में पड़ गई है।

अमरीका की भांति इंग्लैंड में नारी जाति इन्हीं समानान्तर परिस्थितियों का सामना कर रही है। वहाँ नारी-आंदोलन ने नारी में जिस वैयक्तिकता का अनुष्ठान किया है, उससे वहाँ के समाज में एक विच्छिन्न भावना का विस्तार हुआ है। जिसके कारण सामंजस्यपूर्ण स्थिति के लिए अनुकूल वातावरण नहीं बन पा रहा है। औद्योगिक क्रान्ति से पूर्व नारी का स्थान परिवार था। वह गृह-उद्योगों में पुरुष का हाथ बंटाती थी। उसका सम्मान था। लेकिन औद्योगिक क्रान्ति के बाद, विस्तृत समाज में पदार्पण करने से उसके सम्मान की हानि ही हुई है। मशीन युग में उसकी आवश्यकता

१—जैनसन : द रिवोल्ट आफ अमेरिकन वीमन।

२—लन्डबर्ग तथा फोर्नहम : माडर्न वीमन—द लास्ट सेक्स, पृ० ११७।

कम हो गई है। पहले बच्चों की शिक्षा का भार मां पर ही होता था। अब उसके बाहर कार्य-रत रहने से—बच्चों की देखभाल करने के परिणाम-स्वरूप उसे जो सम्मान मिलता था—वह समाप्त-प्रायः हो गया है[1]। पुरुष ने घर के बाहर अपने मनोविनोद के साधनों को एकत्र कर लिया है। नया समाज महिला के बिना आ रहा है। औद्योगिक समाज पुरुषों का समाज है और नारी इस क्षेत्र में मात्र प्रतिद्वन्द्विनी के रूप में अवतरित हुई है। पुरुष के लिए घर एक अनिवार्यता है और घर में गृहिणी का होना आवश्यक है। गृहिणी के अभाव में पुरुष की घर पर आस्था नहीं रह जाती और महिला गृहिणी के स्वरूप को त्याग कर सुखी और निश्चिन्त नहीं हो सकती। इसीलिए आज उसके जीवन में इतनी अस्थिरता और आकुलता व्याप्त है[2]।

इंगलैंड में नारी-आंदोलन के विकास ने उसकी सामाजिक असमानता को समाप्त कर दिया है। उसमें शिक्षा का प्रचुर प्रचार हुआ है तथा वैधानिक क्षेत्र में उन्हें पुरुष के समान ही अधिकार प्राप्त हो गये हैं। नीति और पवित्रता के क्षेत्र में उसका कहना है—'यह मेरा अपना दृष्टिकोण है। चाहे मैं किसी भी प्रकार की जीवन-निर्वाह की विधि को अपनाऊँ।' इस प्रकार उसमें ईश्वर, समाज, भावी पति तथा यहां तक कि अपने प्रति भी किसी तरह की ईमानदारी नहीं रह गई है। विवाह में आत्मिक भावना की प्रमुखता न होकर शारीरिक आकर्षण का भाव अधिक है। सन्तानोत्पत्ति के लिए विवाह-प्रथा के जिस आदर्श का आरम्भ गत युगों में हुआ था, अब उसकी मान्यता शिथिल पड़ गई है। विवाह एक सामान्य-सी बात, परस्पर समझौते की बात मात्र रह गई है और उसी प्रमाण में विच्छेद भी बहुत सामान्य हो गया है। सैक्स की स्वतन्त्रता ने उसकी नीति-सम्बन्धी मान्यताओं को बहुत नीचे तक ला दिया है। यहां भी उसने पुरुष के समान ही स्वतन्त्र बने रहने की भावना को महत्व प्रदान किया है किन्तु इस अधिकार से उसकी अपनी ही अधिक क्षति हुई है। यह वास्तव में करुणाजनक स्थिति है, क्योंकि शारीरिक पावित्र्य तथा पतिव्रत हमेशा से सांस्कृतिक उन्नयन की पृष्ठभूमि के रूप में महत्वपूर्ण रहे हैं[3]।

इस शती में नारी सम्बन्धी जिस समाजवादी दृष्टिकोण की स्थापना रूस में हुई है, वह अमरीका तथा इंगलैंड के आदर्शों से कुछ भिन्न बैठती है। १९वीं शताब्दी की मान्यता के अनुसार रूस की नारी जैसे सन्तान उत्पन्न करने के लिए ही उत्पन्न हुई है। अधिक सन्तान उत्पन्न करने वाली नारी को सरकार की ओर से सम्मानित

१—लन्डबर्ग तथा फार्नेहम : माडर्न वोमन—द लास्ट सेक्स, पृ० १९१।

२—जान फिट्जसीमन्स : वोमन टु डे।

३—सर ए. अब्राहम : वीमन-मैन्स ईक्वल, पृ० १११।

उपाधि और पुरस्कार दिये जाते थे और उसकी स्वीकृति मात्र सन्तानोत्पत्ति पर ही निर्भर करती थी। इस काल में विवाह करना तथा सम्बन्ध-विच्छेद करना एक बड़ी सामान्य सी बात थी। किसान लोग कार्य की अधिकता के कारण किसी महिला से विवाह कर लिया करते थे और कार्य के पूर्ण हो जाने पर सम्बन्ध-विच्छेद कर लेते थे[१]। वेश्यावृत्ति मूलतः आर्थिक कारणों से ही होती थी। महिलाओं की रक्षा राज्य द्वारा की जाती थी। परन्तु २०वीं शती में औद्योगिक विकास के फलस्वरूप नारी को पुरुष के साथ समान रूप से प्रतिष्ठित करने के क्षेत्र में प्रयत्न किया गया। १६१७ की क्रांति में महिलाओं द्वारा किया गया योग महत्वपूर्ण है। अब उनके लिए पुरुषों के समान ही सभी सुविधायें उपलब्ध हो गई हैं। यहाँ की नारी में प्रतिस्पर्द्धा की भावना नहीं है। स्त्री और पुरुष दोनों दिन में बाहर कार्य करते हैं। यदि सोवियत नारी स्वतन्त्र है, तो भी पति के प्रति उसका प्रेम सुरक्षित है। वह प्रेम और विवाह के क्षेत्र में स्वतन्त्र है। यह उसका व्यक्तिगत मामला है। विवाह में दोनों पक्षों के स्वतन्त्र होने से बहु-विवाह की प्रथा प्रचलित है। किन्तु एक विवाह का आदर्श राज्य भर में माना जाता है। निकट सम्बन्धियों के मध्य विवाह-सम्बन्ध स्थापित नहीं किए जाते। विच्छेद भी बड़ी सामान्य बात है। किसी एक पक्ष की इच्छा से विच्छेद हो सकता है। समाजवादी आदर्शों की प्रतिष्ठा के परिणाम स्वरूप सोवियत नारी का जागृत रूप दूसरे देशों की नारियों की अपेक्षा अधिक स्वस्थ और सुनिश्चित है। अमरीका तथा इंगलैंड के महिला वर्ग की भाँति इस देश की नारी को मानसिक संघर्ष का उतना सामना नहीं करना पड़ता। यह वैधानिक, राजनीतिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक सभी क्षेत्रों में स्वतन्त्रता का लाभ अर्जन करती है[२]। सोवियत रूस के श्रमिक-संसार में काम करने वाली महिलाओं को मातृत्व सुविधायें प्रदान की गई हैं। उन के कार्य का समय निश्चित है। गर्भवती महिलाओं से रात के समय कल-कारखानों में काम नहीं लिया जाता, तथा उनके स्वास्थ्य और भावी बच्चे के विषय में पूर्ण सावधानी बरती जाती है। अब बढ़ती हुई जनसंख्या की समस्या में गर्भ-निरोध प्रोत्साहित किया गया है। विशेष परिस्थितियों में गर्भपात के लिए भी प्रमाण पत्र दिया जाता है। मातृत्व का अब भी आदर होता है। बच्चे जीवन के पुष्प समझे जाते हैं तथा उनकी रक्षा का पूर्ण ध्यान रखा जाता है[३]। इस तरह से सोवियत महिला अधिक स्वस्थ भावभूमि

१—हैरी वेस्ट : द सोवियट स्टेट एण्ड इट्स इन्सपेक्शन।

२—हैरी वेस्ट : द सोवियट स्टेट एण्ड इट्स इन्सपेक्शन, पृष्ठ २६४।

३—फेनिना हाली—वीमन इन सोवियट रशिया।

पर अपने अधिकार क्षेत्र का प्रयोग करती है। वह आज जीवन की नवीन परिस्थितियों के मध्य से होती हुई अपनी वैयक्तिक महत्ता की स्थापना में प्रयत्नशील है।

इसी प्रकार से अन्य पश्चिमी देशों में भी २०वीं शती की नारी अपनी महत्ता-स्थापना की दिशा में विशेष रूप से सतर्क है। फ्रान्स में सेक्स सम्बन्धी स्वतन्त्रता ने बड़ी उम्र तक विवाह न होने की समस्या खड़ी कर दी है। वहां सभी क्षेत्रों में नारी और पुरुष के अधिकार व्यक्तिगत भूमिका पर अभिव्यक्त होते हैं। वहां की नारी के लिए स्वतन्त्रता सर्व-प्रमुख है। सार्वजनिक जीवन में उन्हें पुरुष के समान स्वीकृति मिली हुई है। वे सुशिक्षित हैं तथा अपने अधिकारों तथा हितों को सोच सकने में समर्थ हैं। परन्तु जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण लौकिक अधिक है अतः लौकिक सुखों का अधिक से अधिक भोग उनका लक्ष्य है। अब से बहुत पहले १७वीं शताब्दी में भी एक संभ्रान्त कुल की महिला अपने स्तर से निम्न व्यक्ति से विवाह नहीं करती थी क्योंकि ऐसा करने से उसका पद या उपाधि समाप्त हो जाती थी। उस समय भी सामाजिक सम्मान की प्राप्ति के लिए जैसे उपाधि ही विशिष्ठ वस्तु थी[1]। इस प्रकार आरम्भ से ही फ्रांस की नारी अपनी वैयक्तिकता में महत्वपूर्ण रही है और समाज में उसका एक विशिष्ठ स्थान रहा है।

दूसरे विश्व युद्ध से पूर्व तक पोलैण्ड की नारी अशिक्षा, उपेक्षा और हीन भावना से ग्रस्त रही है। यह ठीक है कि इस देश में नारी के अधिकारों की चर्चा को सब देशों से अधिक सहानुभूति प्राप्त हुई है और इस देश के लेखकों, राजनीतिज्ञों तथा समाज शास्त्रियों ने नारीत्व की मान रक्षा के लिए आरम्भ से ही कठिन प्रयत्न किए हैं। परन्तु नाजियों के प्रभाव में रहते हुए वहां के नारी वर्ग का उत्थान सम्भव नहीं था। १९४५ में देश के स्वतन्त्र होने ही नारी को सबसे पहले उसका महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया। आज देश की प्रत्येक योजना में वह पुरुष के समान अधिकारिणी है। उसको अपने 'स्व' के विकास के लिए समान अवसर प्राप्त हैं। वे अपना मत दे सकती हैं, किसी वस्तु पर निर्णय ले सकती है तथा किसी भी योजना को कार्यान्वित करने के लिए अग्रसर हो सकती है। पोलिश संविधान में संवैधानिक रूप में वहां की नारी को सार्वजनिक, राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन में समान अवसर प्रदान किए हैं। उसे समान कार्य के लिए समान वेतन मिलता है। उसकी सामाजिक सुरक्षा, शिक्षा, सम्मान, रक्षा तथा विश्राम आदि में संविधान ने उसकी समानता घोषित कर दी है[2]। इससे भी आगे माता के

१—ह्यूगो पी. थीम : वीमन आफ मार्डन फ्रांस, पृष्ठ ७५।

२—द वीमन इन पोलैण्ड, पृष्ठ ८।

रूप में उसकी देखभाल का विशेष ध्यान रखा जाता है। मां बनने के बाद उसको सवेतन अवकाश मिलता है। मां बनने के बाद मातृ-गृह उसकी सेवा के लिए खुले हुए हैं तथा उसके बच्चों की शिक्षा के लिए नर्सरी शालाओं की स्थापना की गई है। उसे निर्वाचन के सभी अधिकार प्राप्त हैं। विवाह तथा कुटुम्ब की सुरक्षा पोलिश सरकार द्वारा होती है। द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त पोलिश नारी में काम करने की, सार्वजनिक योजनाओं में भाग लेने की तथा विश्व को नये दृष्टिकोण से देखने की भावना का विकास हो रहा है। पोलिश गणतन्त्र के संविधान ने वहां की नारी को कार्य, शिक्षा तथा उन्नति करने के जिन अस्त्रों को प्रदान किया है, उनसे वह वास्तविक अर्थों में लाभान्वित हुई है, इसमें कोई सन्देह नहीं। इसीलिए उसका कार्य क्षेत्र आज ग्राम्य क्षेत्रों से लेकर देश की राजनीति तक है[1]। प्रगति का विस्तृत पथ उसके लिए खुला है और वे उस पर आत्मविश्वास के साथ तेजी से अग्रसर हो रही हैं।

उपर्युक्त देशों के अतिरिक्त फासिस्ट इटली और नाजी जर्मनी में नारी स्थिति के दयनीय वर्णन मिलते हैं। मुसोलिनी के नेतृत्व में फासिस्ट शासन के अपने सिद्धान्त रक्तपात और भीषणता की पृष्ठ भूमि पर आधारित थे, जिनमें सर्व शक्ति सम्पन्नता का आदर्श ही सम्मानित था और नारी पुरुष से बहुत निम्न स्तर पर फेंक दी गई थी। फासिस्ट शासन अधिनायकवाद की घोषणा करता है। अतः व्यक्ति की परस्पर समानता पर विश्वास नहीं करता। वहां व्यक्ति का अस्तित्व राज्य की कृपा पर निर्भर है। व्यक्ति राज्य के लिए है, राज्य व्यक्ति के लिए नहीं है। व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रता का उपभोग केवल राज्य की कृपा द्वारा ही कर सकता है। तर्क और बुद्धि से विचार विनिमय करने की बात फासिस्ट सिद्धान्त के प्रतिकूल है। नायक की आज्ञा ही सर्वश्रेष्ठ और इसीलिए सर्वमान्य है। प्रथम विश्व युद्ध के बाद इटली में इसी अधिनायकवाद का आविर्भाव हुआ और ऐसी शासन प्रणाली के विकास में नारी की स्थिति उन्नति और प्रगति के अवकाश न पा सकी। जिस शासन प्रणाली में पुरुष स्वयं दयनीय हो, जहां उसकी इच्छा का, उसकी प्रतिभा का कोई मूल्य न हो, वहां नारी किस प्रकार उन्नति कर सकती है। फासिस्ट शासन की नारी केवल सन्तान उत्पन्न करने के योग्य ठहराई गई। क्योंकि युद्ध भूमि में वीरों की आवश्यकता होती थी और इसीलिए वहां नारी का अधिक से अधिक उपभोग संतानोत्पत्ति के लिए ही ठहराया गया। किन्तु मुसोलिनी के पतन के उपरान्त अब जर्मनी नये विश्वासों और आदर्शों का विकास कर, आगे बढ़ रहा है और उसका नारी वर्ग अपनी प्रतिभा का कौशल्य दिखा सकने में समर्थ

१—द वीमन इन पोलेण्ड, पृष्ठ २१-२२

होकर, अब सभी क्षेत्रों में पुरुष वर्ग का सहयोगी बन गया है। सभी स्थानों में उसे स्वीकृति प्रदान की गई है और वह सभ्यता के विकास के नये चरणों की खोज में निरन्तर संलग्न है।

द्वितीय विश्व युद्ध से पूर्व हिटलर के अभ्युदय-काल में जर्मनी की भी कुछ ऐसी ही स्थिति थी। इस देश में अधिनायक वादी शासन प्रणाली का विकास व्यक्ति के अधिकारों के ह्रास की कहानी प्रस्तुत करता है। फासिस्ट इटली की भांति नाजी जर्मनी में भी इसी 'हिरोइज्म' की आदर्श स्थापना के कारण व्यक्ति का मूल्य बहुत कम हो गया। केवल युद्ध भूमि के रक्त-रंजित प्रांगण में ही उसके पुरुष होने का कौशल देखा जा सकता था। परन्तु जर्मनी की नारी प्रथम विश्व युद्ध के पूर्व से ही सार्वजनिक कार्यों में पुरुष का सहयोग देती रही थी। उसने कभी भी अपने पुरुष को धोखा नहीं दिया[1]। पुरुष का सहयोग देने के साथ-साथ उसकी काम करने की अयोग्यता के समय उसने गृहस्थी का भार भी चलाया। मिलों, फैक्ट्रियों, रेलवे कार्यालयों, शिक्षण संस्थाओं, बसों तथा दुकानों—सभी जगह उसने कार्य किया। १९१६ में प्रकाशित एक रिपोर्ट के अनुसार महिलाओं की बहुत बड़ी संख्या रात्रि में बारह घंटे काम करती थी तथा १००, ००० महिलायें रेलवे कर्मचारी थीं। यह उन की प्रकृति के प्रतिकूल कार्य था। परन्तु प्रथम विश्व युद्ध में जर्मनी की पराजय ने जर्मन महिलाओं को निराश्रय कर दिया। वे अब बिना पति, बिना प्रिय तथा बिना पुत्र के रह गईं। कंकाल, अपाहिज, भग्न अंगी, उपेक्षित पुरुषों से समस्त देश भर गया। तब भी जर्मन महिलाओं ने उत्साह से काम लिया। युद्ध-समाप्ति के बाद 'वीमन-गणतन्त्र' की स्थापना हुई। इसके द्वारा नारी के मातृत्व पद की रक्षा के लिए नियम बनाये गये। इसी समय उसे न्यायाधीश का पद भी प्रदान किया गया। परन्तु नाजी शासन प्रणाली में नारी के महत्व और सम्मान की उपेक्षा की गई। हिटलर ने १९३३ में कहा था—'मैं नारी द्वारा अपराध किए जाने को बुरा नहीं मानता, लेकिन उसे किसी पद पर प्रतिष्ठित हुए नहीं देख सकता हूँ[2]।' उसने १९३२ में यह भी कहा कि नारी परिवार की अभिभावक है और जो महिला देश के लिए अपने बच्चों का दान कर रही है, वह वास्तव में सम्माननीय है[3]। इस काल के विचारकों ने सभी स्थानों पर यही कहा है कि 'पुरुष आविष्कार, शोध, नवीन अनुष्ठानों तथा रचनात्मक कार्यों के क्षेत्र में नारी से अधिक महत्वपूर्ण है और नारी

१—वीमन इन नाजी जर्मनी १९४३ में प्रकाशित।

२—वीमन इन नाजी जर्मनी, पृष्ठ २०।

३—वही, पृष्ठ २६।

का कार्य-क्षेत्र केवल रक्त और जाति की सुरक्षा का निर्वाह करते रहना है[1]। इस काल के समाज शास्त्रियों का यह भी विश्वास रहा है कि महिला को राजनीतिक अधिकार देना युग-पतन का आह्वान करना है। यहाँ की नारी-स्थिति में एक बात विशेष रूप से दृष्टव्य है कि प्रेम शब्द यहाँ के नारी वर्ग में उन अर्थों में अज्ञात और अव्यक्त है जिन अर्थों में इसका प्रयोग फ्रांस, अमरीका तथा इंग्लैंड में होता है। अलफ्रेड रोजेनबर्ग—नाजीवाद का प्रवर्तक—लिखता है कि अमरीकी राष्ट्र के सांस्कृतिक पतन में ही वहाँ के महिला समाज को सभी क्षेत्रों में प्रमुख स्थान प्रदान किया है[2]।

परन्तु नाजीवाद के पतन के पश्चात् अब जर्मन-नारी फिर से अपनी सम्मान-पूर्ण पूर्व स्थिति की दिशा में अग्रसर हो रही है, आज उसे, फिर सामाजिक स्वीकृति प्राप्त है और वह राष्ट्र निर्माण के हित कार्य में पुरुष के समान अपना सहयोग प्रदान कर रही है।

पाश्चात्य साहित्य में नारी [२०वीं शती]

आधुनिक युग में पश्चिमी समाज की महिला-उत्क्रान्ति ने वहाँ के साहित्यिक जीवन को यथेष्ट रूप से प्रभावित किया है। जैसे जैसे पाश्चात्य महिला वर्ग सामाजिक स्वीकृति एवं समान सुविधाएं प्राप्त करने की दिशा में अग्रसर होता गया, वैसे ही उसे साहित्यकारों द्वारा भी अनुमोदन और प्रोत्साहन की उपलब्धि होती गई। १९वीं शती की नारी पारिवारिक सीमाओं में आबद्ध होकर पुरुष वर्ग की क्रूर दमनात्मक दुर्व्यवहार से पीड़ित हो चुकी थी और उसके मन की घुटन जैसे विद्रोह करने के लिए किसी अवसर की प्रतीक्षा में थी। सामाजिक क्षेत्र में उसकी इस विद्रोहात्मक भावना का विस्फोट 'सफ्रेजिस्ट मूवमेन्ट' द्वारा अभिव्यक्त हो रहा था और देश के समाज शास्त्री, शिक्षा शास्त्री, तथा चिन्तनशील विचारक नारी अधिकारों के विषय में रुचि लेने लगे थे। इधर साहित्यिक क्षेत्र में भी नारी की मुक्ति के प्रश्न पर विचार प्रकट होने लगे और उनकी पुरुष की क्रूरताओं से सुरक्षा के उद्देश्य को लेकर साहित्यिक क्षेत्र में नारी सम्बन्धी नये दृष्टिकोण का विकास होना प्रारम्भ हुआ। आधुनिक युग में नारी स्वातन्त्र्य के प्रथम व्याख्याता के रूप में आङ्ग्लिश लेखक इब्सन का नाम सर्व प्रथम लिया जाता है।

१—वीमन इन नाजी जर्मनी, पृष्ठ २९ पर उद्धृत।

२—वही, पृष्ठ २९ पर उद्धृत।

इब्सन का काल विशेष रूप से १९ वीं शती के अंतिम वर्षों का काल है। उसने व्यावहारिक जीवन में वैवाहिक विषमता में जीने वाली महिला वर्ग की दुर्भाग्य पूर्ण स्थिति तथा उस पर पुरुष वर्ग के अत्याचारों को दृष्टिगत किया। पत्नी के रूप में नारी की स्थिति कितनी गौण है, इसका सुन्दर और स्पष्ट स्वरूप 'द डौल्स हाउस' तथा 'घोस्ट्स' में व्यक्त हुआ है। नारी अपने पति से स्वेच्छा से शासित होती है. प्रत्येक क्षेत्र में उसकी आज्ञा का पालन करती है, उसकी सेविका है और अपनी एकनिष्ठा के साथ पूर्ण रूप से उसी पर समर्पित है। वह बीमार पड़ता है तो अवैध रूप से उसके लिए धन का भी प्रबंध करती है। लेकिन इतने पर भी जब उसे पति की प्रताड़ना सहनी पड़ती है और अपमानित होना पड़ता है, तो उसका 'स्व' जागृत होता है और वह अपनी वस्तु-स्थिति को पहचानती है। पति-पुरुष के अत्याचारों से मुक्ति के लिए उसका प्रयास होता है और वह उस पुरुष को; जिसे कभी उसने अपनी पूर्ण निष्ठा समर्पित की थी, जिसकी सेवा में वह दिन रात लगी थी, जिसको उसने अपना सर्वस्व माना था, अब छोड़ देती है। क्योंकि उसे आत्म सम्मान की रक्षा करनी है, अपने मस्तिष्क का विकास करना है और समाज में अपनी स्वीकृति की आवाज को ऊंचा उठाना है। 'द डौल्स हाउस' इस प्रकार वैवाहिक जीवन की अपूर्णता तथा असफलता पर व्यंग्य प्रस्तुत करता है। दूसरे उपन्यास 'घोस्ट्स' में भी विवाह की परम्परागत मान्यताओं पर कुटिल व्यंग्योक्ति की गई है। इस दूसरे नाटक की नायिका श्रीमती एलविंग को विवाहित जीवन की विभीषिकाओं के मध्य से निकलना होता है। उसे पति कहलाने वाले पुरुष के असीम अत्याचार सहन करने पड़ते हैं। इब्सन ने इन रचनाओं द्वारा विवाह संस्था के उन थोथे आदर्शों की धज्जियां उड़ाई हैं, जिसने थोथे नारी की वैयक्तिकता को अन्धविश्वासों और स्वार्थों के घेरे में परिसीमित कर रखा था। इब्सन वस्तुवादी है। उसके साहित्य से व्यक्तिवाद की आदर्श स्थापना हुई है। वह व्यक्ति को व्यक्ति होने के नाते वैयक्तिक सम्मान की प्रतिष्ठा के लिए प्रेरित करता है। नारी के माध्यम से वह उस विवाह संस्था का खण्डन करता है जो व्यक्ति की वैयक्तिकता के दमन कार्य में सहायक होती है। नारी में शक्ति है, वह पुरुष से विच्छेद करके भी जीवित रह सकती है परन्तु एलविंग की भांति कमजोर होकर नारी का कोई भी हित नहीं हो सकता। इब्सन का संकेत है कि 'साहसी' बनो, स्वतन्त्र बनो और सबसे ऊपर अपने 'स्व' को पहिचानो[1]। इब्सन की ही भांति ब्रिओ के नाटक 'द थ्री डाटर्स आफ एम. डुपान्ट' में विवाह पक्ष की व्याख्या से [illegible]

१—हेन्डरसन, एस्पेक्ट्स आफ माडर्न ड्रामा, पृष्ठ १६।

सिद्धि के उद्देश्य को लेकर किया गया है। जो विवाह संस्था के खोखलेपन को प्रदर्शित कर नारी को इस परम्परा का विद्रोह करने की प्रेरणा देता है। ब्जोर्नसन की कृति 'द न्यूली मैरीड' में परस्पर सामंजस्य की कठिनाइयों का उल्लेख हुआ है। पिनरो की 'लेडी बाउन्टीफुल' पुनर्विवाह की समस्या पर विचार प्रस्तुत करती है। स्ट्रिन्डवर्ग के 'द डान्स आफ डैथ' में वैवाहिक जीवन की 'सेक्स' समस्या को उठाया गया है और अतिरिक्त सेक्स की प्रतिक्रिया को प्रदर्शित किया गया है। इब्सन के सिद्धान्त को विल्ड और सुडरमेन्स की कृतियों से भी परिपक्वता प्राप्त हुई है। प्राचीन विश्वास की नारी का सम्मान विवाहित जीवन का यापन करने में ही है (चाहे ऐसे जीवन का निर्वाह करने में उसे एलविंग की ही भांति अपने अस्तित्व को नष्ट कर डालना पड़े)। इस नवीन सिद्धान्त के मध्य अपनी स्थिति को बनाये रख सकने में असमर्थ रहा है। विल्ड की कृति 'ए वीमन आफ नो इम्पारटेंस' की नायिका श्रीमती आरबुथनाट तथा सुडरमेंस के 'डाइ हैमेट 'की मैगडा विवाहित जीवन की अनिवार्यता को अस्वीकार कर देती है और स्वतन्त्र जीवन यापन का दिशा में अग्रसर होती है। इब्सन का यह व्यक्तिवादी आदर्श जार्ज वर्नार्ड शा के नारी चरित्रों में पूर्ण रूप से विकसित हुआ है। शा में वैचारिक एवं वैज्ञानिक पक्ष की प्रधानता है। उनका मत है कि जब नारी और पुरुष का परस्पर प्रेम भी एक दूसरे को विवाह बन्धन में बांधने में सफल नहीं हो सकता, तब विवाह की महत्ता ही नहीं रह जाती। उन का नायक डान जान एक स्थान पर कहता है कि नीतिपूर्ण विवाह के थोथे आदर्श ने मनुष्य जाति की आत्मा का हनन् कार्य किया है[१]। शा एक विवाह का समर्थन करते हैं और उनका विश्वास है कि यदि विवाह सम्बन्ध दोनों पक्षों को सन्तुष्ट कर सकने में समर्थ हो और दोनों एक दूसरे से अधिक अपेक्षा न करें तो उसे मान्यता मिलनी चाहिए उनकी कृति 'गैटिंग मैरीड' में यही भावना व्यक्त हुई है।

'फिलैन्डरर' में शा उन लोगों पर व्यंग्य करते हैं, जो विवाह को नारी की पराधीनता मानना अस्वीकार करते हैं। और प्रेम करने के उपरान्त विवाह की आवश्यकता पर जोर देते हैं। शा का विश्वास है कि प्रेम एक उन्मुक्त भावना है। विवाह के बन्धनों से उसे परिपक्व नहीं बनाया जा सकता। इसीलिए उसने विच्छेद की भी योजना की है। उन दो व्यक्तियों को, जिन में एक दूसरे के प्रति प्रेम भाव का अभाव हो गया है, साथ साथ बांधे रखना शा की दृष्टि में अनैतिक है[२]।

१—केन्डलर : एस्पेक्ट्स आफ माडर्न ड्रामा, पृष्ठ ८१३ पर उत्कथित।

२—केंडलर : एस्पेक्ट्स आफ माडर्न ड्रामा, पृष्ठ ४१४।

इब्सन ने प्रेम, विवाह और नैतिकता के प्रचलित सामाजिक आदर्शों पर गहरी चोट की थी। उसके साहित्य से तत्कालीन समाज तिलमिला उठा था और प्रतिक्रिया स्वरूप नैतिक पृष्ठभूमि पर जिस साहित्य की रचना हुई थी वह प्राचीन परिपाटी को बनाये रखने की दिशा में ही एक उपक्रम कहा जा सकता है। हेनरी आर्थर जान्स ने 'माइकल एण्ड हिज़ लास्ट एंजिल' तथा 'सेन्ट्स एण्ड सिनर्स' में इसी नीति स्थापना की योजना की है। 'डान्सिग गर्ल' में पथ-विभ्रष्ट नायिका के चरित्र और परिणाम को अभिव्यक्ति देकर इसी भाव को परिपुष्ट किया गया है। वेडकिन्ड् ने नीति विभ्रष्ट लुलू की हत्या की आयोजना करके उच्छृंखल जीवन का दारुण चित्र उपस्थित किया है। हाप्ट मैन की उच्छृंखल नायिकायें भले ही वेडकिन्ड की नायिकाओं की समानता न कर सकें परन्तु फिर भी उनकी चारित्रिक दुर्बलता उनके पतन का कारण बनती है। उदाहरण के लिए 'रोज़ बर्नड' की रोज़ को लीजिए। वह निर्धन कृषक बालिका है जो सुन्दर है और जिसे अपनी सुन्दरता पर गर्व भी है। एक जिल्द बांधने वाला उससे प्रेम करता है। परन्तु अपने सौन्दर्य दर्प में वह उसकी ओर आकर्षित नहीं होती। कालान्तर में वह दूसरे लोगों द्वारा विभ्रष्ट की जाती है, उसका जीवन दयनीय जीवन की यातनाओं को सहते हुए दुर्भाग्य पूर्ण परिस्थितियों के चक्र में घूमता रहता है। इसी प्रकार प्रमुख साहित्यकार गाल्सवर्दी कृत 'द फ्यूजिटिव' की नायिका क्लेयर अपने पति को छोड़ देती है। उसे भी पथ-विभ्रष्ट होना पड़ता है और अन्त में प्रपीड़ित होकर उसे आत्म हत्या करनी पड़ती है। गाल्स-वर्दी ने इस नाटक में समाज का पक्ष लिया है। उसे क्लेयर जैसी महिलाओं के प्रति उपेक्षा दिखानी पड़ी है जो सौन्दर्य और मोहकता के माध्यम से अपनी जीविका चलाना चाहती है। उसका कहना है कि ऐसी चरित्र विभ्रष्ट महिलायें जब अपनी स्थिति में दयनीय होकर असफल हो जाती हैं तो समाज को दोषी ठहराया जाता है। जो तर्क संगत नहीं है। इसी परम्परा में पिनरो अपनी नायिका आइ-रिस की चारित्रिक दुर्बलताओं के माध्यम, उस नीति पूर्ण सामञ्जस्य की स्थापना का संदेश देना चाहता है, जो नारी जीवन में पथ-विभ्रष्टता के इस बढ़ते हुए दौर पर रोक लगा सके। इब्सन की व्यक्तिवादिता की प्रतिक्रिया [illegible] रह गयी है। कुछ साहित्यकारों ने विच्छेद को अनावश्यक तथा नैतिक मान-दण्डों से गिरा हुआ ठहराया है। इस संदर्भ में कैनन का 'द [illegible]' [illegible] का 'द [illegible]' पिनरो का 'द बेनीफिट आफ द डाउट' उल्लेखनीय है। [illegible] 'द लिंक' में, [illegible] ने 'द [illegible]' में तथा [illegible] ने '[illegible]' में [illegible] की हानियों का उल्लेख किया है। परन्तु इब्सन-स्कूल द्वारा प्रतिपादित [illegible] की प्रबल धारा को इन प्रतिक्रियावादियों द्वारा प्राचीन धार्मिक विश्वासों एवं नैतिक आदर्शों

का ढूढ़ना फिर रोक सकना सम्भव न था। इब्सन के बाद उसके नीति सम्बन्धी विचारों को बर्नार्ड शा, डी. एच. लारेन्स, एच. जी. वेल्स, समरसेट माम, मार्ले, अल्बर्टो मोराविया, हेमिंग्वे तथा स्टीफन ज्वीग के विचारात्मक साहित्य में पुष्ट होने का अवकाश मिला है। 'मिसेज़ वारेन' में शा ने समाज के मर्यादा के रक्षकों की धृष्टताओं, समाज में प्रचलित कुप्रथाओं और अनैतिकताओं का पर्दा-फाश किया है.... "इस नाटक में उन्होंने वेश्या वृत्ति और वेश्याओं के जीवन का अत्यन्त कलात्मक और मार्मिक चित्रण किया है। वे सिद्ध करना चाहते हैं कि स्त्रियां किसी स्वभावजन्य कामुकता, नैतिक पतन या पुरुषों की लोलुपता के कारण वेश्या-वृत्ति नहीं अपनातीं, बल्कि इस कारण कि हमारे तथाकथित सभ्य समाज में मेहनत मजदूरी करके जीविका कमाने वाली साधारण स्त्रियों को पर्याप्त वेतन नहीं मिलता। अधिक परिश्रम, कम वेतन और स्त्रियों के प्रति असम्मान का भाव—ये सब मिल कर स्त्री को वेश्यावृत्ति के लिए प्रेरित करते हैं।'

इसी प्रकार 'मैन एण्ड सुपरमैन' में शा ने इस बात का प्रतिपादन किया है कि जीवन-शक्ति, नारी को, पुरुष को अपना आहार बनाने के लिए विवश करती है। वह उसे आकर्षित करती है तथा विवाह करके अपने में बांध लेती है। इस तरह शा के मत में नारी सक्रिय है, पुरुष उदासीन। प्रेम का आरम्भ नारी के द्वारा होता है और पुरुष केवल एक साधन मात्र के रूप में ही प्रतीत होता है। शा ने नीति के मान-दण्डों को बदलने की बात का, उसमें क्रान्तिकारी परिवर्तन की भावना का विन्यास किया है। अपने द्वारा अभिव्यक्त नवीन नारी आदर्शों की अभिव्यक्ति के कारण ही बर्नार्ड शा का महत्व अंग्रेजी साहित्य में सिद्ध हो जाता है। 'गेटिंग मैरीड' में नारी की पारिवारिक स्थिति की दयनीयता का चित्रण हुआ है। संकीर्ण मान्यताएं, अपरिपक्व बौद्धिक बचपन तथा स्वार्थ युक्त दृष्टिकोण से वस्तुओं के मोल की परम्परायुक्त भावना नारी जीवन में विष घोल रही है, शा ने इस नाटक से यही सिद्ध करना चाहा है।

एच. जी. वेल्स ने शा की इसी भावना का विस्तार किया है। शा का उद्देश्य बौद्धिक, सामाजिक तथा नैतिक समस्याओं का उद्घाटन करना और उन के लिए समाधान प्रस्तुत करना था, परन्तु वेल्स ने परिवर्तित होते हुए इंग्लैंड की वास्तविकता तथा नवीन आदर्शों की स्थापना की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित करना है। इसमें शा के विचारों की प्रतिक्रिया नहीं होती वरन् उन्हें सहयोग और समर्थन मिलता है। उसने भी व्यक्ति की स्वतन्त्रता को ही प्राथमिकता प्रदान की है। एच. जी. वेल्स की

मिसेज़ वारेन : अनुवादक—शिवदान सिंह चौहान, भूमिका से।

महत्ता सैक्स सम्बन्धी विषयों की उदार व्याख्या करने को लेकर है। 'मैरिज' तथा 'एन्न वैरोनिका' में इसी सम्बन्ध में विचार प्रकट किए गए हैं। और नारी को भी पुरुष की भांति (किसी भी रूप में उससे कम नहीं) सैक्स व्यवहार में समान अवकाश प्रदान करने की योजना की है । 'द न्यू मैच्यैवली' में भी सैक्स सम्बन्धों की मनोवैज्ञानिक विवेचना हुई है। इसी परम्परा में एच. जी. लारेन्स का 'नाम' लेडी चेटरलीज् लवर' और 'वीमन इन लव' को लेकर उल्लेखनीय है। इन दोनों रचनाओं में नारी की स्वतन्त्र सत्ता का प्रतिपादन किया गया है।

प्रेम-सम्बन्धी आदर्शों की व्याख्या में शा ने क्रान्ति ला दी है। उनकी मान्यता है कि प्रेम के क्षेत्र में नारी ही नेतृत्व करती है[1]। यद्यपि यह कोई नया आदर्श नहीं है। शेक्सपियर की अधिकांश नायिकायें प्रणय क्षेत्र में पुरुषों का पीछा करती हैं। पियरे लुई की 'एफ्रो डाइट' की नायिका क्राइसिस की भी यही स्थिति है। परन्तु शा का महत्व इस आदर्श की स्थापना के विषय को लेकर इसलिए हो जाता है कि उन्होंने इस मान्यता को प्रस्थापित किया और इसका अनुमोदन तथा अनुकरण करने वालों का एक स्कूल ही तैयार कर लिया। सार्त्रे, समरसेट माम, ज्वीग, मोराविया तथा हैमिंग वे द्वारा इसी मान्यता का अनुमोदन हुआ है। आज का योरूपीय साहित्यकार प्रेम की भावना को शाश्वत और नैसर्गिक मान कर चलता है और इसीलिए स्त्री पुरुष दोनों को समान अवकास की प्राप्ति हुई है। स्टीफेन ज्वीग की कहानी 'लैपोरेल्ला' में इस भाव की सुन्दरतम अभिव्यक्ति देखने को मिलती है। क्रेसेन्शिया अन्ना एक निम्न जाति की कुरूप महिला है जो अनाथ और ईमानदार है। वैरन उसे अपने घर में नौकरानी रख लेता है। इस घर में आने से पूर्व वह भावना-शून्य, निस्पन्द और संवेदनहीन ही चित्रित की गई है। वैरन के सहृदय व्यवहार से उसमें परिवर्तन होता है और उनके संसर्ग में उसकी दमित आकांक्षाएं आन्दोलित होने लगती हैं। अन्त में वैरन की उपेक्षा उसे आत्म हत्या करने पर विवश कर देती है। इस कहानी के माध्यम प्रेम के शाश्वत भाव की प्रतिष्ठा की गई है। इसी प्रकार दूसरी कहानी 'गवर्नेस' की 'मिस मान' अपने स्वाभाविक प्रणय प्रवृत्ति की असफलता पर आत्म हत्या कर लेती है। एक अन्य उपन्यास 'बिवेयर आफ पिटी' की एडिथ अपंग होने पर भी प्रणय भावना से आविभूत होती है। वह अपनी पंगुता पर दया की इच्छुक न होकर कप्तान से प्रेम करती है और प्रेम का प्रतिपादन चाहती है।

स्वतन्त्र प्रणय भावना की आदर्श स्थापना के उपरान्त इन्हीं मूर्धन्य लेखकों द्वारा सेक्स सम्बन्धी दृष्टिकोण को लेकर नारी और पुरुषों के सम्बन्धों का विवेचन

१—केन्डलर एस्पैक्ट्स आफ माडर्न ड्रामा, पृ० ४१० ।

किया गया है। हैमिंग वे की महत्वपूर्ण कृति 'द टोरेंट्स आफ स्प्रिंग' में मैन्डी के चरित्रांकन में सेक्स सम्बन्धी स्वतन्त्र भाव का प्रतिपादन हुआ है। मैन्डी के लिए एकनिष्ठा, प्रेम का स्थायित्व तथा अपने प्रेमी के प्रति संवेदनशील व्यवहार—सभी कुछ अपरिचित है। जिस प्रकार से उपन्यास के नायक 'स्क्रिप्स' के लिए महिलाओं और उनसे सेक्स सम्बन्ध महत्वपूर्ण नहीं है और जिस प्रकार वह डायना की उपेक्षा केवल इसीलिए कर देता है कि मैन्डी उसकी अपेक्षा सुन्दर और कम अवस्था की है। उसी प्रकार मैन्डी कब तक उसके साथ रह सकेगी, इसके विषय में भी वह विश्वास-पूर्वक कुछ नहीं कह सकता। क्योंकि मैन्डी का अपना इतिहास है और वह भी स्क्रिप्स की भाँति ही सेक्स की स्वतन्त्रता पर विश्वास करती है। इसी प्रकार समरसेट माम अपनी कृति 'द वेसल आफ रेथ' में इसी अस्थिर प्रेम तथा बन्धनहीन उच्छृंखल सेक्स का चित्रण करता है। टैड का जीवन महिलाओं के शरीरों से खेलता हुआ बीतता है। माम की महिलायें अधिकांश में साहस और स्वतन्त्र वैयक्तिक सम्मान की भावना से पूर्ण हैं। मिस जान्स इसका उदाहरण है। उसमें मनोवैज्ञानिक संघर्ष की विषम भावना भी स्पष्ट प्रतिलक्षित होती है। मिसेज़ ए कोलॉबी के प्रसिद्ध उपन्यास: 'लव इन थ्री जैनेरेशन्स' में शैन्या के चरित्र-चित्रण में प्रेम के मांसल स्वरूप को ही व्यक्त किया गया है। शैन्या एक स्थान पर कहती है—

'मेरे लिए लैंगिक जीवन शारीरिक आनन्द के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। मैं अपनी रुचि के अनुसार अपने प्रेमियों को बदलती हूं। इस समय भी मैं गर्भवती हूं किन्तु मैं नहीं जानती कि मेरे शिशु का पिता कौन है। मैं इसकी चिन्ता भी नहीं करती।'

—वीमन इन सोवियट रशिया, पृष्ठ १०९ पर उत्कथित।

इसी प्रकार मोराविया की नायिकायें हैं। 'द वीमन आफ रोम' की पात्री एक बार पथ-विभ्रष्ट होकर अन्त तक पुरुषों का आखेट ही करती रहती है। एच० जी० वेल्स के 'मैरिज' में भी इसी स्वतन्त्र सेक्स सम्बन्ध का प्रतिपादन हुआ है। आन्द्रे ने भी प्रेम की शाश्वत भावना पर बल दिया है और वैयक्तिक स्वतन्त्रता का प्रतिपादन किया है।

इस प्रकार आधुनिक काल का सम्पूर्ण साहित्य नारी-सम्बन्धी आदर्शों में एक क्रांति का विस्तार करता है। वहां की नारी के लिए व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की भावना सबसे विशिष्ट है। वह सभी क्षेत्रों में स्वतन्त्र है। नीति सम्बन्धी नये आदर्शों ने उसकी स्थिति का सामाजिक विकास करने में सहायता प्रदान की हैं क्योंकि वह स्वयं ही अधिकार और सम्मान प्राप्ति की दिशा में अग्रसर और सफल हुई है। इसीलिए वह अपनी सफलता की दर्पपूर्ण भावना के विस्तार में बहुत आगे बढ़ गई मालूम होती

है। ऐसा लगता है कि जैसे उसने अपनी भूल अनुभव की है। यहां से उसके अन्तर्संघर्ष का आरम्भ होता है। आधुनिक साहित्य में यह भावना प्रभूत मात्रा में देखने को मिल सकती है। अपनी नैतिक स्वतंत्रता से भी पाश्चात्य नारी घबड़ा गई प्रतीत होती है। ज्वीग की कहानियों में इस बात की पुष्टि मिलती है[1]। इसी प्रसंग में शॉ की नारी की आदर्श भावना को भी देखा जा सकता है। उनकी नायिका 'कैन्डिडा' का व्यक्तित्व आदर्श पत्नी का स्वरूप प्रकट करता है। वह किसी की सुरक्षा करना चाहती है। किसी की सहायता करना चाहती है और किसी के लिए कार्य करना चाहती है[2]। शॉ की मान्यता है कि प्रत्येक पत्नी में मातृत्व भाव होता है और एक समय आता है कि वह अपने पति को प्रेम के स्थान पर वात्सल्य प्रदान करती है। शॉ का यह भी मत है कि नारी का हीन निराश्रय प्रणय-प्रसंगों में अभिव्यक्त निष्क्रिय रूप वास्तविकता से भिन्न है। वह किसी भी रूप में पुरुष से हीन, उससे कम समर्थ और अयोग्य नहीं है।

भारतीय तथा पाश्चात्य नारी आदर्श—अन्तर

उपर्युक्त पंक्तियों में पश्चिमी नारी के सामाजिक व साहित्यिक आदर्शों की विवेचना की गई है। इस विवेचना के निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि पाचात्य नारी क्योंकि अपने प्रयासों से सामाजिक, राजनीतिक तथा वैयक्तिक अधिकारों की उपलब्धि में सफल हुई है, इसी कारण उसमें अपने वैयक्तिक मूल्यों को महत्व देने की भावना प्रमुख है। सामाजिक क्षेत्र में समता का आदर्श विद्यमान है। वह पुरुष से पृथक अपनी सत्ता की स्वीकारोक्ति को बल देती है। और सभी प्रकार के कार्यक्षेत्रों में पुरुष के समान अपनी योग्यता का आदर्श स्थापित करती है। पश्चिमी आदर्श लौकिक सुखों की ओर उन्मुख है। अतः नीति सम्बन्धी मान्यताएँ शिथिल या स्वस्थ शब्दों में कहिए स्वतन्त्र हैं। इसीलिए नीति की व्याख्या और आदर्श रूढ़िवादी परम्परा से पृथक जान पड़ते हैं। वहाँ की परिभाषा में शरीर की पवित्रता का शैथिल्य नीति-विरुद्ध नहीं कहा जा सकता। सैक्स की संयमता वहां की नारी के लिए विशेष महत्वपूर्ण नहीं है। सभी क्षेत्रों में अवकाश प्राप्त होने के कारण पश्चिमी नारी का उत्तरदायित्व भी विस्तीर्ण हो चला है। उत्तरदायित्व के विस्तृत होने से वैचारिक संघर्ष की प्रधानता होती है। संघर्ष की रूपरेखा के मध्य सामंजस्यपूर्ण निर्वाह के लिए कठिनाई पड़ती है और इस प्रकार सामाजिक क्षेत्र में अशान्ति का विस्तार होता है। आज की पाश्चात्य नारी इन्हीं संघर्षों के मार्ग से निकल रही है। भारतीय

१—देखिए चौहान दम्पति द्वारा अनुदित-'स्टीफेन ज्वीग की कहानियां'।

२—एस्पैक्ट्स आफ माडर्न ड्रामा, पृष्ठ ४१५-४१६।

नारी आदर्शों से पाश्चात्य नारी आदर्शों की तुलना करते समय यह नहीं लगता कि इनमें कोई मौलिक अन्तर विद्यमान है। दोनों समाज की नारियों की चेष्टा अपने 'स्व' के विकास के लिए अपनी प्रगति और उन्नयन के लिए रही है। परन्तु इस 'स्व' की प्रतिष्ठा में जिन परस्पर विरोधी आदर्शों को प्रतिष्ठित किया गया है। उसका कारण अपने अपने समाज की भिन्न भिन्न परम्पराओं और नीति सम्बन्धी आदर्शों का होना है। भारतीय दृष्टिकोण में नारी की जातिगत पवित्रता की रक्षा प्रधान है। भारतीय नारी का आदर्श नीति सम्बन्धी मान्यताओं की पीठिका में ही अभिव्यक्त हो सका है। उससे बाहर स्वतन्त्र वैयक्तिकता की प्रतिष्ठा के प्रयास से नहीं। भारतीय नारी को अर्धांग के रूप में स्वीकृत किया जाकर उसे समान सम्मान की प्राप्ति हुई है। उसका गृहिणी रूप ही प्रधान है। इसके विपरीत पाश्चात्य नारी उस पवित्रता को जिसे भारतीय नारी की मान प्रतिष्ठा के लिए सर्वस्व' समझा गया है, अधिक महत्वपूर्ण मान कर नहीं चलती। दूसरे, पुरुष के समान उससे अलग स्वतन्त्र व्यक्तित्व की प्रस्थापना के प्रयास में पश्चिमी नारी का गृहणी रूप विनष्ट हो गया है। उसमें द्वैत की भावना विद्यमान है। वह भारतीय नारी के आदर्शों के विपरीत व्यक्तित्व का विलय कर, पूर्णता प्राप्त कर लेने के सिद्धान्त का समर्थन नहीं करती। भारतीय नारी द्वारा सामंजस्य की प्रतिष्ठा करने वाली प्रवृति से पारिवारिक जीवन को जो पुष्टता और स्वास्थ्य प्राप्त होता है और जिसके कारण अभी भी सम्मिलित कुटुम्ब का आदर्श-परम्परा का निर्वाह हो रहा है, पश्चिमी समाज में उसका अभाव है। वहां वैयक्तिक व्यवस्था के परिणाम स्वरूप पुरुष और नारी अपनी स्थिति में परस्पर विच्छिन्न हैं और इसीलिए मानवीय भावनाओं से सिक्त स्नेह पूर्ण सामंजस्य की स्थापना और विकास वहां नहीं हो पा रहा है।

पश्चिमी नारी की अधिकार-सीमा विस्तृत है। इसीलिए उसका दायित्व भी बढ़ गया है और दायित्व के बढ़ने से उसके वैचारिक संघर्ष भी बढ़ गए हैं इसके कारण स्वयं उसकी अन्तर्भावनाओं में सामंजस्य नहीं हो पाता। और अशांति की रूपरेखा विस्तृत होती है। पाश्चात्य नारी आज इसी वैचारिक अन्तर्द्वन्द का सामना कर रही है और अपने वैयक्तिक महत्ता की स्वतन्त्र कल्पना की स्वीकृति के सम्बन्ध में उसके मन में बहुत सी शंकाएं उठ खड़ी हुई हैं। इसीलिए आज के पश्चिमी साहित्यकार फिर से नारी की इस स्वतन्त्र वैयक्तिकता के विषय में, जो अबाध स्वतन्त्रता और उच्छृंखलता का स्वरूप लेकर अपनी स्थिति के मूल भाव को खो बैठी है, नवीन वैचारिक दृष्टि प्रदान कर रहे हैं। परन्तु हम यहाँ सामान्यतः सामंजस्य पूर्ण जीवन की स्थिति की आदर्श प्रतिष्ठा के क्षेत्र में ही आगे बढ़ रहे हैं और इसीलिए यहाँ इस प्रकार की किसी चिन्ता की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। हमारा नारी वर्ग भले ही

भौतिक विषमताओं से ग्रस्त होकर उदासीन और अपनी स्थिति में हीन सा लगने वाला प्रतीत होता हो, किन्तु वस्तुतः उसके संघर्ष अधिकतर लौकिक ही हैं जो पाश्चात्य नारी के वैचारिक संघर्षों के अनुपात में अपेक्षाकृत कम पीड़ा देने वाले होते हैं। वहाँ की नारी मनोवैज्ञानिक भूमिका पर अधिक संघर्ष-रत रही है किन्तु पौर्वात्य नारी के लिए सामान्य रूप से हम कह सकते हैं, अभी ऐसी स्थिति नहीं आई है।

उपर्युक्त विभिन्नताओं के साथ साथ एक बात और भी है। भारतीय और पाश्चात्य नैतिक आदर्श भिन्न भिन्न रहे हैं। हमारे देश में नारी के भौतिक अवयवों को अधिक महत्व नहीं दिया गया है। यहाँ नैतिक आदर्शों के आधार पर नारी की श्रेष्ठता को अभिव्यक्ति प्रदान करने की परम्परा रही है। इसीलिए कभी कभी लगता है कि भारतीय नारी नैतिक नियमों की शृंखला में आबद्ध होकर अपने व्यक्तित्व का विकास कर सकने में असमर्थ है। उसका जीवन पुरुष वर्ग से प्रचालित और निर्देशित है, और वह अपनी स्थिति में मात्र अबला है। पुरुष वर्ग द्वारा जिन आदर्शों की स्थापना उसके लिए हो गई है, और जिन आदर्शों की कसौटी पर उसके व्यक्तित्व और आचरण को आंका जाता है, उसका विरोध करने की शक्ति से वह विहीन है। आज का युग भौतिक और व्यक्तिवाद का युग है। बौद्धिक दृष्टिकोण से ही सब वस्तुओं की माप होती है। और यही कारण है कि भौतिकवाद के इस बढ़ते हुए युग में भारतीय नारी पाश्चात्य नारी से पिछड़ी हुई या हीन लगती है। इसका कारण भारतीय नारी वर्ग में शिक्षा का, परिष्कृत संस्कारों का अभाव है। प्राचीन परम्पराओं पर से उसका विश्वास अभी भी कम नहीं हुआ है। इसी लिए उसकी स्थिति पारिवारिक सीमाओं में आबद्ध हुई सी लगती है। इसके विपरीत पश्चिमी नारी को विस्तृत क्षेत्र में अपने मत की अभिव्यक्ति और पुष्टि का अवकाश प्राप्त है और वह प्रगतिशील समाज में अपना निज का महत्वपूर्ण स्थान रखती हुई प्रतीत होती है। भारतीय समाज में भी नारी को समान-स्वीकृति की दिशा में वैधानिक, सामाजिक एवं साहित्यिक प्रयास हो रहे हैं। उत्तराधिकार, सम्पत्ति सम्बन्धी कानूनों द्वारा उसकी स्थिति को बल प्राप्त हो रहा है और वह समाज के नये आलोक की प्रेरणा से अपने भविष्य की सुरक्षा में दृढ़-प्रतिज्ञ हो संलग्न है। अन्त में नारी आदर्शों की इस विवेचना में इतना कहना और शेष रह गया है कि पाश्चात्य समाज की दृष्टि मूलतः भौतिक होने के परिणाम स्वरूप वहां की नारी के शारीरिक पक्ष को प्रधानता मिली है। वहां का आदर्श इसी बिन्दु तक आकर सीमित हो जाता है। आत्मा की बात वहां विशिष्ट नहीं है, इसीलिए सामान्य व्यवहार की बातों में जिनका सम्बन्ध दैनिक जीवन से होता है, वहां आत्मा और दर्शन तथा नीति सम्बन्धी आदर्शों का समावेश नहीं किया जाता। किन्तु भारतीय आदर्श इससे कुछ भिन्न हैं। वहां व्यक्ति के

शरीर की अपेक्षा उसके आन्तरिक व्यक्तित्व को श्रेष्ठता प्रदान की जाती है। इसीलिए भारतीय मान्यता में नारी का दैहिक सौन्दर्य नहीं, वरन् उसका आत्मिक सौन्दर्य, उसके गुणों का प्राबल्य ही विशिष्ट है और इसीलिए उसके व्यक्तित्व के प्रति सम्मान की भावना प्रकट की जाती है। निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि एक ओर जहां पश्चिमी नारी सम्बन्धी आदर्श बौद्धिक भाव-भूमि पर, लौकिक दृष्टिकोण को महत्व प्रदान करते हुये, व्यक्तित्व की स्वतन्त्र स्थापना के उद्देश्य से प्रतिष्ठित हुए हैं, वहां दूसरी ओर भारतीय नारी के स्थूल सौंदर्य की अपेक्षा उसके आन्तरिक व्यक्तित्व को श्रेष्ठता प्रदान की गई है तथा उसे नैतिक मान्यताओं की पृष्ठभूमि में अभिव्यक्ति प्रदान करके, आदर्शात्मक भावभूमि पर चित्रित करने का प्रयत्न किया गया है।

प्रसाद की धारणाएं

हम भारतीय तथा पाश्चात्य नारी आदर्शों का उल्लेख कर आये हैं। इन्हीं के संदर्भ में प्रसाद जी की तत्संबंधी धारणाओं की विवेचना करनी शेष है। प्रसाद जी मूलतः नारी स्वातंत्र्य के आदर्श को लेकर चले हैं। नारी सम्बन्धी 'सामाजिक दृष्टिकोण' के अन्तर्गत इस कथन को भली भांति विवेचित कर दिया गया है। नारी को अपने 'स्व' का विकास तथा अपने व्यक्तित्व की सम्मान प्रतिष्ठा के दृष्टिकोण से भी प्रसाद जी प्रगतिशील तथा उदार रहे हैं। वे भारतीय नारी को उसकी दयनीय वस्तु-स्थिति से उठाकर उसे सम्मानपूर्ण स्थान प्रदान करने के पक्ष में हैं। जिससे उसके संस्कारों में परिष्कार हो, अपने अधिकारों के प्रति वह जागरूक हो और जिससे उसमें सामाजिक चेतना विकसित हो। प्रसाद जी नारी को संकीर्ण सीमाओं के घेरे में बन्दी बना कर उसके व्यक्तित्व का गला घोंटने के पक्ष में नहीं रहे हैं, यह ठीक है। लेकिन इसके साथ-साथ यह भी ठीक है कि वे नारी की स्वतन्त्रता को उस सीमा तक खींच ले जाने के पक्ष में भी नहीं रहे हैं जहां वह अपने व्यक्तित्व के प्रति पश्चिमी नारी की भांति दर्पपूर्ण भावना से युक्त हो, पुरुष से पृथक् अपने अस्तित्व को महत्व देना आरम्भ कर दे। प्रसाद जी की कल्पना मुख्य रूप से भारतीय है। उनकी धारणा है कि नारीत्व का अर्थपूर्ण विकास सामंजस्य की आदर्श स्थापना में है, व्यक्ति की स्वतन्त्र सत्ता की प्रतिष्ठा के प्रयास में नहीं। पश्चिम में नारी की स्वतन्त्रता का अर्थ है, उसको सभी क्षेत्रों में स्वतंत्रता। और सभी क्षेत्रों की स्वतंत्रता के कारण उसका नैतिक महत्व नष्ट हो गया है। भारतीय आदर्श के अनुसार, क्योंकि नारी मां है, अतः उसका विकास नैतिक मान्यताओं के अंतर्गत ही हो सकता है और भारत की परम्परा के अनुकूल यहां की नैतिक मान्यताओं के अनुसार, नारी में जातिगत पवित्रता का होना अनिवार्य है। इसीलिए प्रसाद के नारी चरित्रों में व्यक्तित्व की स्वतंत्रता की मान्यता तो प्रदान की गई है, लेकिन उच्छृंखलता, अबाध स्वतंत्रता तथा नैतिक नियमों के अतिक्रमण की स्वच्छन्दता को स्वतन्त्रता का पर्याय नहीं माना गया है। साथ ही व्यक्तित्व की द्वैतता को भी प्रसाद-साहित्य में प्रोत्साहन नहीं मिल

सका है। उनके आदर्श नारी चरित्रों में स्वतन्त्र व्यक्तित्व का संस्कार उच्छृंखलता की सीमा का स्पर्श नहीं करता है। शैला के चरित्र में भी भारतीय और पश्चिमी आदर्शों के समन्वय की चेष्टा रही है। परन्तु पाश्चात्य नारी के अनुकूल शैला में स्वतन्त्र व्यक्तित्व का संस्कार इतना अनुकूल है कि वह चाह कर भी भारतीय आदर्शों और वातावरण के अनुकूल बनने में बड़ी कठिनाई का अनुभव करती है। उसके चरित्र में प्रसाद जी ने समन्वय और सामंजस्य की चेष्टा तो की है, किन्तु वह इसीलिए पूर्ण सफल नहीं हो पाई है अतः उसे आदर्श रूप में ग्रहण नहीं किया गया है। प्रसाद जी का चरित्र—आदर्श चरित्र—तितली है। जो मुख्य रूप से गृहिणी है और उस पद का निर्वाह करने के साथ अपने व्यक्तित्व को सामाजिक परिस्थितियों के मध्य भी उन्मुक्त करती है। मधुवन की अनुपस्थिति में भी जो उसी के प्रति निष्ठावान रहकर अपने गृह कार्य का संचालन भी करती है तथा अपनी सीमाओं के भीतर समाज सेवा भी। जिसके व्यक्तित्व में निष्ठा है। कर्त्तव्य के प्रति जागरूकता है तथा परिस्थितियों से संघर्ष करने की क्षमता भी। उसके गुणों में स्नेह, त्याग तथा सेवा की भावनाएं प्रबुद्ध हैं, जो उसके नारीत्व को उजलावना देती हैं। तितली के चरित्र में—उसके चरित्र के साथ साथ उसकी तुलना में शैला के चरित्र को रखा गया है, जो सामंजस्य के अभाव में अनुकूल वातावरण बना सकने में असमर्थ रहती है। परिणाम स्वरूप इन्द्रदेव के प्रति उसके स्नेह की भीत्ति दृढ़ नहीं हो पाती।

पाश्चात्य आदर्शों के अन्तर्गत नारी के श्रद्धापक्ष पर अधिक बल नहीं दिया गया है। बौद्धिक विकास ने तर्क पूर्ण अभिव्यक्ति को ही प्राथमिकता प्रदान की है। परन्तु भारतीय आदर्श अनुभूतियों को विशिष्ट मान कर चले है और इसीलिए हृदय पक्ष के संदर्भ में नारी का मूल्यांकन उचित ठहराया गया है। प्रसाद जी इसी भारतीय आदर्श के पोषक है। उनके मत से नारी श्रद्धा का स्वरूप है। जिसके द्वारा जीवन के मरुस्थल में निर्मल स्रोतवाहिनी प्रवाहित होती है। परन्तु प्रसाद जी ने बुद्धिगत वैचारिकता का विरोध नहीं किया है। समाज के स्वस्थ परिचालन के लिए वे बौद्धिक जागरूकता का भी समर्थन करते हैं। इसीलिए उन्होंने उस नारी आदर्श की कल्पना की है कि जिसमें श्रद्धा और बुद्धि के सामंजस्य की चेष्टा निहित है। प्रसाद की अमर पात्री श्रद्धा इसी सामंजस्य का आदर्श प्रतिष्ठित करती है। प्रसाद जी की नारी सम्बन्धी ये धारणाएं वैयक्तिक प्रबुद्धता के साथ साथ भारतीय जीवन के स्वस्थ संस्कारों का पोषण भी करती हैं। उनकी नारी कल्पना मानवता के विकास की पृष्ठभूमि में अवतरित हुई है तथा उसके अधिकार और कर्त्तव्य की व्याख्या में समन्वयात्मक प्रवृत्ति का—परस्पर सामंजस्य भाव का—ध्यान रखा गया है, जिससे उसके व्यक्तित्व को उच्च स्तरीय नवीन अभिव्यक्ति प्राप्त हो सकी है।

प्रकरण १५

[उपसंहार]

प्रसाद के नारी-चरित्र—कतिपय निष्कर्ष

[अ] सांस्कृतिक स्वरूप

[ब] विविधता

[स] पूर्ववर्ती नारी-कल्पना से विभिन्नता

[द] समन्वयात्मक चित्र

आरम्भ

प्रसाद जी संवेदनशील अनुभूति के व्याख्याता तथा सौन्दर्य और प्रेम की अन्तर्भावनाओं के सुहृदय साहित्यकार रहे हैं। अपनी रोमान्टिक प्रवृति के कारण ही नारी चित्रण में उनकी विशेष अभिरुचि रही है। उनकी तूलिका से विविध रंगी नारी चरित्रों के विभिन्न स्वरूपों को सज्जा मिली है, और इसीलिए उनकी साहित्य-गत विशेषताओं में उनके नवीन नारी-अंकन की विवेचना भी महत्वपूर्ण हो जाती है। प्रस्तुत प्रबन्ध में प्रसाद के नारी चरित्रों को एक विशिष्ठ दृष्टिकोण से देखने की चेष्टा की गई है, जिससे प्रसाद जी की नारी-सम्बन्धी सामाजिक, नैतिक, मनोवैज्ञानिक, सांस्कृतिक एवं दार्शनिक दृष्टियों का भी अवलोकन किया जा सका है। वैसे यह कहना तर्क संगत नहीं है कि प्रसाद जी ने इन विभिन्न दृष्टियों को उपस्थित करने के उद्देश्य से ही विभिन्न नारी चरित्रों के अंकन में साहित्यिक कौशल को अभिव्यक्ति प्रदान की है। साहित्यकार व्यक्तित्व की स्वतन्त्रता में विश्वास करता है। साहित्य की रचना क्षणिक अनुभूतियों से प्रेरित होती है, और विदग्ध साहित्य की रचना के लिए पूर्व-लक्ष्य बनाने की अपेक्षा नहीं होती। लक्ष्यपूर्ण-साहित्य की रचना का आयो-जन तो निबन्ध, समीक्षा आदि के स्वरूप में होता है, जहां पर मन की अनुभूतियों के स्थान पर वैचारिक दृष्टि की प्रधानता होती है। प्रसाद जी के साहित्यकार ने साधारणतया अपने मत की पुष्टि का, अपने विचारों को सामाजिक भाव भूमि में जानबूझ कर प्रतिष्ठित करने का, और इस उद्देश्य से कि दूसरे लोग उनकी रचनाओं से प्रभावित हों, साहित्य सृजन का आयोजन नहीं किया है। विभिन्न अवसरों में विभिन्न परिस्थितियों के मध्य विभिन्न घटनाओं की क्रिया प्रतिक्रिया के अनुभवों को अपनी भाषा में, अपनी शैली में कहने का प्रयास ही उन्होंने किया है। हां, अपने अध्ययन, मनन् और सामाजिक परिपार्श्व से प्राप्त अनुभवों का अनुष्ठान स्वाभाविक रूप से ही, बिना किसी प्रयास के उनके साहित्य में हो गया है; यह भी असत्य नहीं है। मूलतः उनके भावुक मन की संवेदन शक्ति ने ही उनकी साहित्यिक पीठिका निर्मित की है और उसी संदर्भ में उनका साहित्य विविध रंगी हो गया है। नारी

चरित्रों के निरूपण में भी इसी विविधता की बहुलता है। समग्र रूप से नारी सम्बन्धी कतिपय निष्कर्षों की विवेचना निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत की जा सकती है—

(अ) सांस्कृतिक स्वरूप
(ब) विविधता
(स) पूर्ववर्ती नारी कल्पना से विभिन्नता
(द) समन्वयात्मक चित्र

सांस्कृतिक स्वरूप

प्रसाद साहित्य में, विशेष रूप से उनके नाटकों में भारतीय संस्कृति का निदर्शन हुआ है। इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि वे सांस्कृतिक ग्रन्थों के अध्ययन से प्रभावित रहे हैं और इसीलिए समय-समय पर उनके तत्सम्बन्धी संचित भावों की अभिव्यक्ति होती रही है। प्रसाद जी पर भारतीय संस्कृति का प्रभाव यथेष्ट रूप से पड़ा था, अतः नारी के चित्रांकन में भी भारतीय संस्कृति की स्पष्ट रेखायें उभर आई हैं। सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर नारी की आदर्श स्थापना का प्रयत्न यद्यपि प्रसाद की आधुनिक हिन्दी साहित्य को मौलिक देन नहीं कही जा सकती फिर भी उनका महत्व इस विचारधारा को परिपक्व और आदर्श रूप देने में कम महत्वपूर्ण नहीं हो जाता। प्रसाद जी से पूर्व, उनके साथ-साथ और उनके बाद भी श्री मैथिलीशरण गुप्त द्वारा साहित्यिक अभिव्यक्ति होती रही है। नारी के जिस सांस्कृतिक स्वरूप को—उसकी उदात्त भावनाओं को—श्री गुप्त द्वारा अभिव्यक्ति प्रदान की गई है, उसका उत्कर्ष प्रसाद साहित्य में ही लक्षित होता है। वैसे सांस्कृतिक निरूपण, यशोधरा, सीता और उर्मिला के चरित्र में भी कम नहीं है। परन्तु प्रसाद जी की अपेक्षाकृत परिमार्जित भाषा, अनुभूतियों की तीव्रता तथा उनकी अभिव्यक्ति की काव्य-युक्त शैली ने देवसेना, मालविका, श्रद्धा, तितली, वासवी और पद्मावती आदि के व्यक्तित्व में एक निखार सा ला दिया है और इसीलिए प्रसाद के चित्र अधिक रंगीन और चटकीले जान पड़ते हैं। हम यहां पर दो सिद्ध कवियों की तुलना नहीं करना चाह रहे हैं। कहना केवल इतना है कि प्रसाद की नारी कल्पना जो सांस्कृतिक भाव भूमि पर चित्रित की गई है, नवीन न होकर भी अपने में महत्वपूर्ण है। उसने नारी की सांस्कृतिक प्रतिष्ठा के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योग देते हुए इस भावना को परिवर्धित और परिष्कृत किया है। हां, एक क्षेत्र में प्रसाद जी अवश्य ही आगे बढ़े हुए प्रतीत होते हैं। वह है उन की नारी का राष्ट्रीय स्वरूप। राम नरेश त्रिपाठी की रचनाओं में जिस राष्ट्रीय स्वरूप के दर्शन होते हैं, वह स्वरूप सोद्देश्य चित्रित किया हुआ, और इसीलिए अस्वाभाविक लगता है। मैथिलीशरण गुप्त ने भी नारी के हाथ में खड्ग देने की योजना की है, परन्तु प्रसाद जी द्वारा नारी का राष्ट्रीय स्वरूप ऐसे वातावरण और ऐसी परिस्थिति के मध्य चित्रित किया गया है कि सोद्देश्य होते हुए भी वह

अस्वाभाविक नहीं लगता। उसके इस नवीन स्वरूप पर विश्वास करने को मन करता है। इसकी स्वाभाविकता कहीं भी नष्ट नहीं दिखती। वास्तव में यह प्रसाद जी की अभिव्यक्ति और शैली का चमत्कार है। जहां पर वैचारिक दृष्टि से यह भी द्रष्टव्य है कि प्रसाद जी सांस्कृतिक नारी के इस निरूपण में तत्कालीन सामाजिक प्रभाव से अछूते नहीं रहे हैं। भारत की राष्ट्रीय जागृति और उनके अपने समय की जागरूक सामाजिक परिस्थितियों ने उन्हें प्रेरणा दी थी, भले ही बाद में उनके साहित्य के माध्यम से भारतीय जीवन के प्रेरित होने की बात कही जा सकती है। इस प्रकार, प्रसाद साहित्य नारी के सांस्कृतिक पुनरुत्थान की दिशा प्रशस्त करता है, और इस उल्लिखित आदर्श द्वारा नारी जीवन को भारतीय ढंग से समझने और उस के प्रति तद्-नुरूप व्यवहार करने का निर्देश देता है।

विविधता

प्रसाद जी को मानव मनोविज्ञान का सुन्दर ज्ञान था। विभिन्न परिस्थितियां के मध्य विभिन्न आचरण और व्यवहार तथा मनोवैज्ञानिक क्रिया-प्रक्रिया किस प्रकार कार्य-रत रहती है, इसके विश्लेषणात्मक निष्कर्ष उपस्थित करने में प्रसाद जी की उपलब्धि महत्वपूर्ण है। उनकी कहानियां तथा उपन्यासों में विभिन्न प्रकार के मनोवैज्ञानिक चित्र चित्रित हुए हैं, दूसरी ओर उनके नाटकों की पात्रियां स्नेह की विविध मनोभूमि, राष्ट्रीय भावनाओं एवं सांस्कृतिक स्वरूपों को व्यक्त करती हैं। उनके काव्य में श्रद्धा जैसी पूर्ण मानवी का भारतीय चित्र रचा गया है। इस प्रसाद साहित्य में नारी चरित्रों को लेकर विविध दृष्टियों का सन्निवेश हुआ है। उनकी नारी कहीं अधिकारों के लिए संघर्षरत है, तो कहीं प्रणय की आकांक्षा से भरी-पूरी। कहीं वह सामाजिक कर्त्तव्य की प्रतिनिधि के रूप में अवतरित होती है, तो कहीं उसका ज्योतिर्मय राष्ट्रीय स्वरूप झलकता दिखाई पड़ता है। कहीं वह अन्तर्द्वन्द्व और वैचारिक संघर्षों से जूझती प्रतीत होती है, तो कहीं पूर्ण समर्पण भावना से युक्त वह अपना सब कुछ खोकर प्रणय की छाया में भर-नींद सोयी रहना चाहती है। कहीं उसका आत्म सम्मान जागृत होता दिखाई पड़ता है तो कहीं वह पूर्ण त्याग की प्रतिमूर्ति बनी दृष्टिगत होती है। इसी प्रकार यदि कहीं वह प्रणय को मोल लेने की चेष्टा करते दिखाई पड़ती है, तो कहीं छिप छिप कर, सबसे छिपा कर किसी को अपने अन्तस्थल के सुरक्षित कक्ष में लुकाती हुई नजर आती है। कहीं उसका औदार्य, उस की सहनशीलता और ;उसकी संवेदनशीलता प्रतिलक्षित होती है तो कहीं उसका असत्-रूप दृष्टिगत होता है। कहीं मानवी धरातल पर उसकी वैचारिक दृष्टि के दर्शन होते हैं, तो कहीं वह समाज के शीर्ष पर चढ़ी हुई आदर्शमयी का स्वरूप प्रस्तुत करती है। इस प्रकार प्रसाद जी की कृतियों

में नारी के विविध चित्रों का समावेश हो गया है। इन सभी विविध और बहुरंगी चित्रों की विस्तृत विवेचना हम पूर्व प्रकरणों में कर आए हैं। इतनी विविधता शायद ही अन्य किसी समकालीन हिन्दी साहित्यकार की कृतियों में दिखाई पड़ सके। यह विविधता मूलतः उनकी तेजस्विनी काल्पनिक शक्ति तथा उससे भी अधिक उनके मन की परिवर्तनशीलता का परिणाम है। महिला चरित्रों की इस विविधता में उनके मनोवैज्ञानिक ज्ञान का भी पता चलता है, वे सौन्दर्य और प्रेम के कवि होने के साथ-साथ मानवीय भावनाओं के गायक भी थे, इसीलिए अपनी द्वन्द्व विविधताओं में भी उनके चरित्र श्रेष्ठ बन पड़े हैं।

पूर्ववर्ती नारी कल्पना से विभिन्नता

नारी विविधता के इस प्रसंग में जो महत्वपूर्ण बातें उभरती हैं, वह है प्रसाद जी की पूर्ववर्ती नारी कल्पना से विभिन्नता। मैथिली शरण गुप्त और प्रेमचन्द जी प्रसाद जी के समकालीन रहे हैं। मैथिलीशरण गुप्त की नायिकाएं एक 'टाइप' हैं। लगभग सभी एक प्रकार की हैं। मानवीय उदात्त गुणों से विभूषित। जिन्हें जीवन के सुख दुख, आशा निराशा और परिवर्तनशील भावनाओं के उतार चढ़ाव में व्यस्त और विचारशील रहने वाली। शूर्पणखा अपवाद है। कैकेयी के चरित्र की उज्ज्वलता उत्तर भाग में, इतनी स्वस्थ भाव भूमि पर चित्रित हुई है कि उसके प्रति उपेक्षा की भावना उत्पन्न ही नहीं होती। उनकी अधिकांश नायिकाएं पत्नियां हैं, अतः गार्हस्थ्य धर्म में प्रवीण और पतिव्रत धर्म के आदर्श का पालन करने वाली हैं। सांस्कृतिक निष्ठा की सुरक्षा और विकास के लिए गुप्त जी के नारी चरित्र 'माडेल' के रूप में उपस्थित किए जा सकते हैं। चरित्र चित्रण के प्रयास में उनके भाव पक्ष के साथ साथ वैचारिक पक्ष का प्राबल्य भी कम नहीं रहा है। अतः कहीं कहीं रूक्षता की स्थिति उत्पन्न हो गयी है। इसीलिए उनका साहित्य काव्य होते हुए भी प्रसाद काव्य की भी उत्कर्ष-स्थिति को नहीं पहुंच सका है। इसीलिए उनमें सांस्कृतिक निरूपण की भावना अधिक स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त हो गयी है और इसीलिए उनकी नारी भारतीय गृहिणी के आदर्श की ही प्रतिष्ठा करती हुई प्रतीत होती है। गुप्त जी के साहित्य में विविधता का समावेश अपेक्षाकृत कम हुआ है। हां, भारतीय आदर्शों की प्रतिष्ठा में उन के चरित्र महान् है, इसमें कोई सन्देह नहीं किया जा सकता।

प्रेमचन्द जी मुख्य रूप से किसानों और मजदूरों के अभिव्यक्ता थे। उनके स्त्री पात्र सामाजिक समस्याओं से ग्रस्त हैं। वैधव्य, बाल विवाह आदि रूढ़िगत संकीर्णता एवं पुरुष के पाशविक व्यवहार मुख्य रूप से उनकी विवेचना के विषय रहे हैं। गुप्त जी ने जहां सांस्कृतिक पीठिका पर भारतीय नारी को चित्रित किया है, वहां प्रेम चन्द का प्रयास समाजगत वस्तु स्थिति तथा उसके वैषम्य पूर्ण जीवन के निदर्शन तथा साथ ही निदान को लेकर रहा है। उनकी प्रथम कृति 'प्रतिज्ञा' में

विधवा समस्या के प्रश्न को उठाया गया है। पूर्णा के जीवन की करुणा बाधित वैधव्य का करुण चित्र उपस्थित कर सकने में पूर्ण रूप से समर्थ है। इसी प्रकार 'वरदान' की वृजरानी, 'निर्मला' की कल्याणी और रुक्मणी तथा 'कर्मभूमि' की रेणुका इसी प्रकार के वैधव्य-दुखों से पीड़ित है। उनका कहना है कि पुरुष का नारी पर प्रभुता का भाव कभी भी नारी को पुरुष के गर्हित स्वार्थ से मुक्त नहीं होने देगा। 'वरदान' की विरजन का सुहाग छिनते ही उसके जीवन में विभीषिका विस्तीर्ण हो जाती है, और अन्त तक उसे उसमें अपनी भावनाओं का होम करते रहना पड़ता है। प्रेमचन्द ने वैवाहिक संस्थाओं पर भी गहरा व्यंग्य किया है। इस प्रसंग में उनका 'वरदान' प्रसाद जी के 'कंकाल' के बहुत निकट जान पड़ता है। 'वरदान' में उन्होंने कहा है—

'हृदय का मिलाप सच्चा मिलाप है। सिंदूर का टीका, ग्रन्थि-बन्धन और भांवर ये सब संसार के ढकोसले हैं।'

—पृ० १५३-१५४।

प्रसाद जी ने 'कंकाल' में कहा है—

'हृदय का सम्मिलन ही तो विवाह है। मैं सर्वस्व तुम्हें अर्पित करता हूं और तुम मुझे। इसमें किसी मध्यस्थ की आवश्यकता क्यों—मन्त्रों का महत्व कितना।'

परन्तु प्रेमचन्द विवाह प्रसंग में हृदय के मिलाप की बात कहते हुए धर्म की अवहेलना नहीं करते। धर्म और प्रेम दोनों के आधार पर ही विवाह की आयोजना होनी चाहिए, ऐसा उनका विश्वास था। 'काया कल्प' में इसी भावना को अभिव्यक्ति मिली है। 'सेवा सदन' में दहेज प्रथा का विरोध हुआ है। विच्छेद की समस्या भी उनके द्वारा उठाई गई है। 'कर्मभूमि' में विच्छेद को समर्थन प्राप्त हुआ है। 'गोदान' में भी वे इसी भाव की मान्यता प्रतिष्ठित करते हैं। इसी संदर्भ में दाम्पत्य जीवन की असफलता पर भी प्रकाश डाला गया है। उनकी मान्यता है कि पति की पत्नी के प्रति उपेक्षा, उसकी अधिकार भावना, पत्नी के प्रति अविश्वास, गृह कलह, कटु व्यवहार और इन सबसे विशेष नवीन और प्राचीन मान्यताओं के संघर्ष ही वैवाहिक जीवन की असफलता के कारण हैं। वे पतिव्रत के एकांगी आदर्श को मानकर नहीं चलते। उनकी दृष्टि में सामंजस्यपूर्ण व्यवहार ही गृहस्थी की सुख पूर्ण पीठिका प्रस्तुत कर सकने में समर्थ हो सकती है। इस प्रकार से प्रेमचन्द जी के नारी पात्र बाह्य संघर्षों की ही अभिव्यंजना करते हैं। अन्तर्संघर्ष की उद्भावना करने वाले चरित्र प्रेमचन्द साहित्य में अधिक नहीं बन सके हैं।

हिन्दी लेखकों की ही भांति तत्कालीन बंगाली साहित्यकारों द्वारा भी नारी सम्बन्धी लगभग वैसी ही अभिव्यक्ति प्राप्त हुई है। रवींद्रनाथ ठाकुर, मैथिलीशरण गुप्त जी के अधिक पास ठहरते हैं। उनकी पात्रियां भी अधिकांश में पत्नियां ही

है। उनका सांस्कृतिक स्वरूप उज्ज्वल एवं स्पष्ट है। साथ ही सामाजिक विषमताओं और कुप्रथाओं पर तीव्र व्यंग्य भी किया है। 'घर और बाहर' की विमला का एकनिष्ठ पति प्रेम उसके व्यक्तित्व को बहुत ऊंचा उठा देता है। परन्तु उसके सामाजिक व्यक्तित्व को निखिलेश अधिक उदारतापूर्वक नहीं देख सका है। नारी की सामाजिक स्वतन्त्रता की समस्या को उपस्थित करने में यह उपन्यास सफल रहा है। 'नष्ट-नीड़' की चारुलता बाल-विवाहिता है। पारिवारिक सीमाओं में वह बन्दिनी है। उसको साहित्यकार के रूप में प्रतिष्ठित करने का उद्देश्य महिला-समाज में शिक्षा का प्रचार करना है। उसमें पति भक्ति की भावना विद्यमान है। उसका प्रेम अन्तर्मुखी है। अमल के प्रति चारु की रागात्मक-प्रवृत्ति का विकास उपन्यास में मनोवैज्ञानिक संवेदनाओं को प्रकट करता है। 'मध्यवर्तिनी' कहानी में पार्वती का पति के लिए त्याग महान् उदात्त भावना से निरत है। वह अपनी सेवाओं के कारण ही स्तुत्य है। पड़ोसिन' कहानी में बाल-विधवा के करुण चित्र का अंकन हुआ है—

'मेरी पड़ोसिन बाल-विधवा है। वह मानो शिशिर के आंसुओं से भीगी हुई कुन्द कली के समान डंठल से अलग हो गई है। और किसी की सुहाग रात के लिए नहीं, बल्कि केवल देव-पूजा के लिए ही उत्सर्ग कर दी गई है।'

—रवींद्र कथा-कुञ्ज, पृ० १५

'दो बहनें' उपन्यास में नारी के मातृत्व को तथा उसके प्रणयिनी रूप को स्थिर किया गया है। शशांक अपनी पत्नी में स्नेहमयी सावधान माँ की छाया देखता है। अतः उसका पुरुष अतृप्त रह जाता है। उर्मी उस अभाव को पूर्ण करती है। रवींद्र का मत है कि 'स्त्री जहां स्त्री है, पुरुष को वहीं यथार्थ पौरुष के लिए अवकाश मिलता है।'

—रवींद्र साहित्य, भाग १, पृ० २।

संक्षेप में रवींद्रनाथ जी के नारी चरित्रों के विषय में यह कहा जा सकता है कि उनके अधिकांश चरित्र पारिवारिक जीवन की पृष्ठभूमि पर अवतरित हुए हैं। उनकी नारी में प्रणय भाव की अपेक्षा वात्सल्य और ममता का भाव ही अधिक है। वे पूर्ण रूप से घरेलू चित्र हैं। रवींद्र नाथ ने नारी को पुरुष से स्पर्धा करने वाली न मान कर उसको पूर्णता के रूप में ग्रहण किया है। नारी की आत्मा जीवन को सौंदर्य प्रदान करने वाले उपकरणों से संतुष्ट नहीं होती। वह सौंदर्यमयी है, इसीलिए सौंदर्यपूर्ण वातावरण ही उसका अपना क्षेत्र है[1]। उसके जीवन का ध्येय पुरुष का अनुकरण करना, उसके समानांतर चलना या उससे प्रतिस्पर्द्धा करना नहीं है। उसकी प्रकृति भिन्न है, अतः उसका कार्यक्षेत्र भी भिन्न होना चाहिए। वह पुरुष की सहायिका है, उसकी निर्देशिका भी। परन्तु सहयोग और निर्देश का अर्थ नकल करना, अनुकरण करना और उससे विरोध स्पर्धा करना कदापि नहीं है। उसे अपना सही स्थान खोजना

१—दिलीप कुमार राय : एमांग द ग्रेट, पृ० १७५।

है, दूसरे के स्थान की पूर्ति नहीं करनी है। उसके द्वारा समाज का कल्याण अपने धर्म के प्रति निष्ठावान रह कर ही किया जा सकता है। प्रेम और पारिवारिक जीवन नारी के यथार्थ क्षेत्र हैं। इन्हीं की पीठिका में उसके व्यक्तित्व का विकास होना श्रेयस्कर है।

जिस प्रकार से रवींद्र जी के नारी चरित्र मैथिलीशरण जी की नारी-कल्पना के अधिक निकट प्रतीत होते हैं, उसी प्रकार शरतचन्द्र तथा बंकिमचन्द्र के नारी पात्र प्रेमचन्द जी के नारी पात्रों के समान सामाजिक विषमताओं की पृष्ठभूमि में चित्रित हुए हैं। बंकिम जी की कृति 'रजनी' में वृद्ध विवाह की कुरीति पर प्रहार किया गया है। ललित लवंग का कैशोर्य राम सदय के वृद्धत्व से बांध दिया जाता है। पुरुष नारी को सामान्य सम्पत्ति के रूप में ग्रहण करता है, जिससे नारी के व्यक्तित्व का हनन होता है। शरत् के उपन्यासों में यह भावना अधिक विस्तार से प्रेमचन्द के विस्तार की भाँति प्रकट होती है। 'बड़ दिदि' की माधवी बाल-विधवा है। सुरेन्द्र के प्रति वह निसर्ग भावना से आकृष्ट होती है। उसका रूप, उसका यौवन, उसकी निराश्रयावस्था में उसके लिये अभिशाप बनता है। वह गाँव छोड़कर चली जाती है। उसमें संयम की गहन गम्भीरता विद्यमान है, इसीलिये उसका चरित्र उच्छृंखल नहीं हो पाया है। उसका चरित्र उदात्त गुणों से पूर्ण है तथा उसकी शुभ्रता श्रद्धास्पद है। 'रामेर सुमति' की नारायणी में भी इसी सद्वृत्ति का विकास दिखाया गया है। वह अपने चरित्र की उच्चता में 'हिमालय से भी महान्' है। उसका व्यक्तित्व वाह्य संघर्षों के बीच घिस कर कण-कण बिखरता प्रतीत होता है। फिर भी कहीं अति मानवीय गुणों को प्रतिष्ठित करने की चेष्टा नहीं की गई है। 'चन्द्रनाथ' में विधवा-विवाह की समस्या को उठाया गया है। विधवा को विवाह की स्वीकृति प्रदान करने में सबसे बड़ा भय समाज का है, इस कथन की पुष्टि की गई है। 'बिदुर छेले' की बिंदो भी इसी प्रकार का दुर्भाग्यपूर्ण जीवन बिताती है। 'विराज बहू' में भारतीय गृहिणी का आदर्श प्रतिष्ठित किया गया है। उसकी संकल्प शक्ति एवं चारित्रिक दृढ़ता इस कृति की मूल संवेदना है। 'परिणीता' की ललिता के मानसिक संस्थान में शरत् के नारी पात्रों में स्वाभाविक मूलभूत गहराई का अभाव है। उसका जीवन विराज-बहू की अपेक्षा अधिक सरल और सुलझा हुआ है। 'चरित्रहीन में फिर से विधवा-विवाह के प्रश्न को उठाया गया है। सावित्री इसी कारण, कि वह विधवा है, सतीश को अपना सकने में असमर्थ रही है। परंतु यहां शरत् की नारी का विद्रोह मुखरित होता है। उसमें बौद्धिक जागृति का सम्पूर्ण उन्मेष पहली बार शरत् साहित्य में प्रतिलक्षित हुआ है। यहां से उनकी नारी 'सावित्री' के समान पतिभक्त और 'भगीरथी' के समान पवित्र नहीं रह जाती। वह अटल पति-भक्ति पर

भी विश्वास नहीं करती । यहीं से मानसिक संघर्षों का आरम्भ होता है और शरत् प्रेमचन्द जी से हट कर प्रसाद जी के निकट प्रतीत होने लगते हैं । 'चरित्रहीन' की किरण को समाज के विधान से भय नहीं है । धार्मिक ग्रन्थों को वह जीवन के सत्य से बड़ा नहीं मानती । किरणमयी के चरित्रांकन से शरत् रूढ़ि जर्जर परम्पराओं एवं अकल्याणकारी विश्वासों का ध्वंस कार्य करते दीख पड़ते हैं, जैसा आगे चलकर प्रसाद जी के साहित्य में प्रचुर मात्रा में दृष्टिगत होता है । किरण प्रेम-भाव की स्वतंत्र प्रतिष्ठा का आदर्श लेकर उपस्थित होती है । उसके चारित्रिक अवयवों में प्रेम ही सर्व-प्रमुख है । उसकी स्थूल भावनाओं का उभार उसकी अर्ध-दमित वासना का परिणाम है । वह मनोविश्लेषण-प्रवृत्ति शरत् में किरण से ही आरम्भ होती है । शरत् इस चरित्र के माध्यम से यह घोषणा करते प्रतीत होते हैं कि नारी जीवन का पर्याय प्रेम ही है । पति प्रेम के अभाव में वह सतीश, दिवाकर और उपेंद्र से प्रेम करती है और मुख्य बात तो यह है कि वह इसे बुरा भी नहीं मानती । 'चरित्रहीन' में प्रेम का दुहरा संघर्ष प्रतिलक्षित होता है । किरण की व्यभिचार बुद्धि के पीछे एक सामाजिक कारण है । वह स्वयं इस उच्छृंखलता के लिये उत्तरदायी नहीं है । समाज भी समान रूप से जिम्मेदार है । नारी के स्वतंत्र प्रेम के आदर्श को 'शेष प्रश्न' में व्यवस्थित अभिव्यक्ति प्राप्त हुई है । इस कृति में एकनिष्ठा के आदर्श को इस प्रकार नितांत निराधार घोषित कर दिया गया है—

'स्रोत के खिंचाव से कौन कब पास आ जाता है और कब दूर चला जाता है, इसका हिसाब कोई नहीं जानता[1] ।'

'शेष-प्रश्न' की कमल प्रणय भावना को शुद्ध मनोविज्ञान की पीठिका पर प्रस्थापित करती है । उसके विवाह सम्बन्धी सिद्धांत प्रचलित मान्यताओं के प्रतिकूल बैठते हैं । वह विवाह संस्था की असफलता और खोखलेपन पर व्यंग्य करती है—

'वह तो अनभिज्ञ यौवन का पागलपन नहीं है । दूरदर्शी गुरुजनों द्वारा किया गया कार्य है । सपने का मूलधन नहीं है—आंखों से देखी हुई पक्के आदमियों द्वारा जांच पड़ताल की हुई शुद्ध वस्तु है[2] । वह प्रणय प्रसंग में जातिगत एवं साम्प्रदायिक भेद-भाव पर भी विश्वास नहीं करती तथा हृदय के सम्मिलन को ही महत्व प्रदान करती है ।

शरत् की दूसरी कृतियों में एक ओर यदि नारी का शांत, उदात्त स्वरूप चित्रित हुआ है, तो दूसरी ओर उनकी विवशता की, अभावों की और उसके प्रति अपार दयनीयता की कहानी भी प्रस्तुत की गई है । 'श्रीकांत' की राजलक्ष्मी दया,

---

१—राम स्वरूप चतुर्वेदी : शरत् के नारी पात्र, पृ० ७५ पर उद्धृत ।
२—वही, पृ० २४३ पर उद्धृत ।

ममतामय है, साथ ही स्पष्टवादिनी और सहज अभिमानपूर्ण भी। वेश्या का जीवन व्यतीत करने पर भी वह व्यभिचार बुद्धि से रहित है। उसे भारतीय सतीत्व के आदर्श पर गर्व है और जब उसे इस प्रकार रहने का अवकाश मिलता है तो वह उसका पूर्ण निर्वाह भी करती है। इसी प्रकार भागीरथी अपनी चारित्रिक शुद्धता और उदात्त गुणों में बड़ी महान् प्रतीत होती है। 'देवदास' की पारो एवं गृहदाह की मृणाल भी इसी कोटि की सद्वृत्तिपूर्ण महिलाएं हैं। दूसरी ओर, 'पंडित मा शाइ' की कुसुम, 'पल्ली समाज' की रमा तथा 'अरक्षणीया' की दुर्गा अपने दुर्भाग्य की विस्तृत, कभी समाप्त न होने वाली कहानी सुनाती है।

'गृह-दाह' की अचला का चरित्र-निर्माण मनोवैज्ञानिक पीठिका पर हुआ है। अचला में मानसिक संघर्ष की विस्तृत भूमिका निर्मित हुई है। यहां भी एकनिष्ठ प्रेम की लोक मान्यता पर कुठाराघात किया गया है और नारी के स्वतंत्र व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा की गई है।

'नारी का मूल्य' में शरत् ने नारी के प्रति की गई सामाजिक क्रूरताओं पर कठोर व्यंग्य किए हैं। उनका मत है कि यह विश्वास है कि नारी का सतीत्व पुरुष के लिए उपादेय है, नारी पर पुरुष की क्रूरता है[1]। देवत्व की आड़ लेकर पुरुष ने नारी की दुर्दशा की है[2]। वेश्यावृति और सम्बन्ध विच्छेद पर भी उनके विचार बहुत ही स्पष्ट हैं। बंगाल में वेश्या-गणना के आधार पर कुछ तथ्य प्रकट हुए हैं। वेश्या-वृति अपनाने वाली महिलाओं में ७० प्रतिशत सधवा हैं तथा ३० प्रतिशत विधवा। इसका कारण आर्थिक दारिद्र्य अथवा पति या कुटुम्बियों के अत्यधिक अत्याचार और उत्पीड़न है।

शरत् समाज का अर्थ नर और नारी के रूप में लेते हैं। उनकी मान्यता है कि समाज में नारी के पतन से नर और नारी दोनों का ही अनिष्ट होता है। उन्होंने नारी के सामाजिक अधिकारों की जोरदार वकालत की है। उसे पुरुष के समान सामाजिक स्वीकृति देने का प्रयास किया है। सामाजिक रूढ़िवादिता पर जिसने उसके व्यक्तित्व का हनन् कार्य कर डाला है, व्यंग्य उपस्थित किये हैं और नारी के प्रणय-भाव को मनोवैज्ञानिक भाव-भूमि पर अभिव्यक्त किया है। इस सम्बन्ध में वे नारी और प्रेम को पर्याय मान कर चले हैं तथा उसको भी पुरुष के समान ही प्रणय की सुविधा प्रदान करने का समर्थन करते हैं। 'पथेर दावी' में भारती के चरित्रांकन में राष्ट्रीय भावना का भी समावेश किया गया है। और इस प्रकार से उन्होंने नारी-सम्बन्धी उन सभी प्रसंगों को अपने साहित्य में स्थान दिया है, जिन्हें प्रसाद जी अपने साहित्य में लेकर चले हैं।

१—नारी का मूल्य, देखिए पृष्ठ ४।
२—नारी का मूल्य, देखिए पृष्ठ १०।

आधुनिक मराठी लेखकों में ना० सी० फड़के, वि० स० खाण्डेकर, मामा वरेरकर तथा शि० चौगुले का नाम उल्लेखनीय है। चौगुले जी की साहित्यिक पृष्ठ-भूमि प्रेमचन्द जी की ही भांति ग्रामीण है। अतः ग्रामीण नारी जीवन की समस्याओं पर प्रकाश डालने का प्रयास इनके साहित्य में अधिक हुआ है तथा साथ ही आदर्श स्थापना की चेष्टा भी रही है। 'जमींदार की बेटी' में मुन्नी को शिक्षा में प्रवीण विवेकशील और विचार पूर्ण बतलाया है। इस उपन्यास की कथा-वस्तु अन्तर्जातीय विवाह तथा शिक्षित एवं आयु में अधिक युवतियों के विवाह की समस्या पर विशेष रूप से प्रकाश डालती है। मामा वरेरकर के 'हक के गुलाम' में बहु-विवाह प्रथा पर व्यंग्य हुआ है। सामाजिक संकीर्णता तथा नारी के वैधव्यपूर्ण जीवन की विषम्मताएं इस उपन्यास का विषय रही हैं। ना० सी० फड़के तथा वि० स० खाण्डेकर की प्रवृत्ति मूलतः रोमान्टिक रही है। स्त्री और पुरुष के स्वाभाविक निसर्ग सम्बन्धों पर विश्लेषणात्मक निष्कर्ष लेने तथा अन्तर्भावनाओं के संघर्ष को प्रस्तुत करने का प्रयास ही अधिकरहा है। 'झुलसी-मंजरी' (खाण्डेकर) की कुसुम इसी संघर्ष का शिकार है। इसी कृति की नमुताई के चरित्र में बर्नार्ड शा की नारी सम्बन्धी भावना अभिव्यक्त हुई है, जो पुरुष को अपना भोज्य बनाती है। मनोवैज्ञानिक संघर्षों के चित्रण के साथ-साथ, रूढ़िवादिता पर कठोर व्यंग्य एवं सामाजिक नैतिक मान्यताओं के खोखले पन का यथार्थ चित्रण खाण्डेकर जी की कहानियों में दृष्टिगत होता है, जो उनके साहित्यिक विस्तार को महत्वपूर्ण बना देता है।

उड़िया उपन्यासकार फकीर मोहन सेनापति प्रेमचंद की परम्परा में आते हैं। 'छः बीघा जमीन' में भगिया या जीवन 'गोदान' की धनिया के समानान्तर चलता है। मलयालम भाषा का चेम्मीन (मछुवारे : ले० तकषी शिव शंकर पिल्ले) तटवर्ती प्रदेशों के निवासियों की कहानी प्रस्तुत करता है। करुतम्मा का प्रणय मनोवैज्ञानिक मनोभूमि पर चित्रित हुआ है तथा विभिन्न रूढ़िवादिता एवं विश्वासों के होते हुए भी मनोविश्लेषण-विज्ञान की पृष्ठभूमि ही अधिक सुदृढ़ बन पड़ी है।

तो, हम प्रसाद की नारी कल्पना के वैभिन्य की बात कह रहे थे। जहाँ तक समकालीन हिन्दी साहित्यकारों का प्रश्न है, हम इतना अवश्य कहना चाहेंगे कि गुप्त जी के नारी पात्रों में अंकित सांस्कृतिक और पारिवारिक रूप के अतिरिक्त भी प्रसाद जी की नारी कल्पना में कुछ और है। जो नया है और जिसकी अभिव्यक्ति प्रसाद जी ने अपने मौलिक ढंग से की है। प्रसाद जी की नारी-कल्पना गुप्त जी की अपेक्षा अधिक विस्तृत भाव-भूमि पर अभिव्यक्त हुई है। गुप्त जी में अन्तसंघर्ष पूर्ण चित्र नहीं मिलते, प्रसाद जी का कथा-साहित्य इससे आपूर्ण है। गुप्त जी के साहित्य में विभ्रष्ट चरित्र अपवाद रूप में ही आ सके हैं, उनकी सांस्कृतिक लेखनी असत् भाव का स्पर्श करने से जैसे हिचकती रही है, इसके विपरीत प्रसाद जी ने सत्-असत् व्यव-

हार-आदर्श, कल्पना-यथार्थ आदि सभी पक्षों को अपनी साहित्यिक चर्चा का विषय बनाया है। प्रेमचन्द में सामाजिक पक्ष की प्रधानता है। सामाजिक स्तर पर प्रेमचन्द जी ने नारी-वर्ग के बाह्य संघर्ष को प्रसाद जी से अधिक और खूब बारीकी तथा खूब विस्तार के साथ चित्रित किया है। प्रसाद जी ने भी नारी की समाजगत स्थिति के चित्र उपस्थित किए हैं, परन्तु प्रेमचन्द जी की अपेक्षा बहुत कम। विशेष रूप से कुछ कहानियों में ध्रुवस्वामिनी, जनमेजय का नाग यज्ञ और कंकाल में। तितली में भी इससे सम्बन्धित वर्णन मिलते हैं, परन्तु प्रसंगवश ही। यदि सामाजिक विषमता के चित्रण में प्रेमचन्द जी प्रसाद जी से बहुत आगे हैं तो नारी के सांस्कृतिक एवं राष्ट्रीय स्वरूप के संदर्भ में प्रसाद जी प्रेमचन्द को काफी पीछे छोड़ देते हैं।

अन्य भारतीय साहित्यकारों के विवेचन में बंगाली लेखकों के नाम सर्व प्रथम आते हैं। रवीन्द्र की नारी-कल्पना में सामाजिक सुधारों की योजना तो है लेकिन नारी के प्रति वे एक पूर्व निर्मित दृष्टिकोण लेकर चले प्रतीत होते हैं। उनके सभी नारी-पात्र अच्छे हैं, सत् हैं और यदि बुरे हैं तो मात्र समाज की क्रूरता के कारण ही। रवीन्द्र की नारी-कल्पना श्रद्धास्पद रही है। दूसरी बात, उन्होंने नारी के पारिवारिक आदर्श को प्रसाद से अधिक महत्व दिया प्रतीत होता है। इतना अधिक कि उनकी नारी-भावना कहीं कहीं पर एकांगी सी लगती है। प्रसाद जी रवीन्द्रनाथ जी से अधिक प्रगतिशील हैं। उन्होंने भारतीय संस्कृति का आदर्श तो माना है, परन्तु सामाजिक जागृति और क्रान्ति की अवहेलना नहीं की है। उस आलोक में नारी के अधिकारों के प्रति उपेक्षा का भाव प्रकट नहीं होने दिया है। उन्होंने भी सुधार-योजना पर विश्वास किया है। परन्तु विशेष परिस्थितियों में क्रान्ति को भी उचित ठहराया है। रवीन्द्र इतना नहीं बढ़ सके हैं। यह क्रान्ति तो शरत् के परवर्ती साहित्य में प्रतिलक्षित होती है। शरत् के नारी पात्रों की प्रसाद के नारी पात्रों से अच्छी तुलना हो सकती है। शरत् प्रसाद जी से किसी भी क्षेत्र में (नारी के राष्ट्रीय स्वरूप के अतिरिक्त) कम नहीं है। उन्होंने प्रसाद जी से अधिक नारी की वस्तु स्थिति को समझने, समझाने और सुलझाने की चेष्टा की है। सामाजिक रूढ़िवादिता पर उनके प्रहार प्रसाद जी से कम कठोर नहीं रहे हैं। तथाकथित नैतिकता की उन्होंने भी धज्जी उड़ाई है। उनकी नारी प्यार करने के अधिकार की माँग पेश करती है। वह साहसशीला है। रूढ़ि की बाधाओं को, जिसने उसके व्यक्तित्व का विकास अवरुद्ध कर दिया है, वह तोड़ डालने के लिए तत्पर है। उनके 'चरित्रहीन' की किरण १९१४ की (चरित्र हीन के प्रकाशन की तिथि) नारी न लग कर १९६४ की नारी लगती है, और उस समय ऐसी नारी का चित्रांकन और उसका पक्ष-समर्थन लेखक के अमित साहस का ही परिचायक कहा जा सकता है। शरत् निश्चित रूप से नारी-चित्रण के विविध पक्षों में प्रसाद जी के समान और कहीं नहीं उनसे अधिक प्रगतिशील एवं साहस युक्त जान पड़ते हैं। उनका दृष्टिकोण प्रसाद जी की अपेक्षा अधिक यथार्थवादी

रहा है। परन्तु अलका और श्रद्धा को लेकर प्रसाद जी निश्चित रूप से आगे निकल आते हैं। अलका का राष्ट्रीय-स्वरूप 'पथेर दाबी' की भारती से अधिक स्पष्ट, उज्ज्वल और प्रांजल बन पड़ा है। श्रद्धा उनकी नारी सम्बन्धी आदर्श स्थापना के प्रयास का चरम उत्कर्ष है। सामाजिक जीवन के व्याख्याता शरत् ने आदर्श-स्थापना की कोई चिन्ता नहीं की है। ब्रह्म विद्या-समाज, ब्रह्म समाज तथा दूसरे समाज-सुधारकों एवं सुधार संस्थाओं का प्रभाव ही उन पर अधिक रहा है और इसीलिए दार्शनिक पक्ष को अधिक महत्व देने की उन्होंने कोई आवश्यकता नहीं समझी है। संक्षेप में शरत् को छोड़ कर शेष साहित्यकारों के मध्य हम प्रसाद जी की उपलब्धि और उनकी विभिन्न कल्पना को उपर्युक्त पंक्तियों में देख सकते हैं, जहां प्रसाद जी निश्चित रूप से नवीन दृष्टिकोणों का निर्माण और विकास करते प्रतीत होते हैं। कम से कम हिन्दी साहित्य में तो उन्होंने नवीन दृष्टियों का समावेश किया ही है।

मराठी, उड़िया और मलयालम साहित्य की जो बहुत ही संक्षिप्त मात्र परिचयात्मक विवेचना ऊपर की गई है, उसमें अधिकतर लेखक प्रसाद के उत्तर काल तथा उसके उपरान्त के ही हैं। अतः सामाजिक विषमताओं के साथ साथ मनोविश्लेषणात्मक चित्र भी उभारे गए हैं। प्रसाद जी की कृतियों में भी इस भाव और दृष्टिकोण की न्यूनता नहीं है। अन्तर्संघर्षों का चित्रण प्रसाद साहित्य की अपनी विशेषता है, जो अपने प्रौढ़ रूप में दृष्टिगत होती है।

समन्वयात्मक चित्र

प्रसाद जी प्रगतिशील साहित्यकार थे। वे जीवन की यथार्थ प्रवृत्ति के व्याख्याता और जीवनी शक्ति के प्रणेता थे। वैयक्तिक स्वतन्त्रता पर उनकी आस्था थी। वे चाहते थे कि व्यक्ति में प्राण हों, और प्राणों में रचनात्मक कर्त्तव्यों की ओर उन्मुख होने की प्रेरणा हो, जिससे सामाजिक, जातिगत एवं मानवतावादी भूमि पर स्वस्थ स्थिति का निर्माण हो और जिससे व्यक्ति को 'स्व' के विकास का अवसर प्राप्त हो सके। प्रसाद की नारी-कल्पना भी इसी विचार स्वातन्त्र्य तथा स्वतन्त्र व्यक्तित्व की पीठिका पर चित्रित हुई है, यह कथन असंगतिपूर्ण नहीं कहा जा सकता। दूसरे, उनके सम्मुख आज का समाज था। जीवन के विषम संघर्ष उन्होंने दृष्टि-ओझल नहीं किए थे। बाह्य संघर्ष और बुद्धिवादी युग के विकास से अन्तर्संघर्ष का विस्तार करती हुई प्रवृत्ति भी उनसे छिपी नहीं थी। उन्हें यह भी ज्ञात था कि अन्तर्संघर्ष और बाह्य संघर्षों के इस विकास से सामाजिक जीवन असंतुलित हो उठता है, और व्यक्ति सामाजिक संतुलन खोकर अपने व्यक्तित्व का विकास कदापि नहीं कर सकता। इसके साथ ही एक बात और भी है। एक ओर प्रसाद जी ने सामान्य और निम्न वर्गीय परिवार की नारी को सामाजिक रूढ़िवादिता में ग्रस्त, पीड़ित और छटपटाते देखा था और

दूसरी ओर विशिष्ट वर्गीय नारी-वर्ग पर भी (अपनी संख्या में बहुत ही कम) जो अर्थ और वैचारिक विकास के बल पर पहले प्रकार की नारी से एक दम विपरीत दिशा में अग्रसर हो रहा था, उनकी दृष्टि पड़ चुकी थी। सामाजिक स्वास्थ्य के लिए यह आवश्यक था कि इन दो विपरीत दिशाओं में जाने वाले नारी-वर्ग के बीच एक सामंजस्य पूर्ण आदर्श की प्रतिष्ठा हो। इन दो विपरीत आदर्शों के मध्य एक समझौता हो, जिससे समाज के सुगमतापूर्ण विकास में कोई बाधा उत्पन्न न हो सके। प्रसाद जी ने ऐसा ही किया है। पिछले पृष्ठ पर हम कह आए हैं कि मनोवैज्ञानिक पीठिका पर उन्होंने संघर्षात्मक चित्र प्रस्तुत किए हैं। परन्तु अन्त में इन विषम चरित्रों में सामंजस्य पूर्ण स्थिति का निर्वाह भी हुआ है। प्रसाद जी की नारी अपने वैचारिक पक्ष में भी भावनामयी है। उसमें बौद्धिक पक्ष प्रधान नहीं है। व्यभिचार बुद्धि सदा असत् की ओर प्रेरित करती है। अनंतदेवी, मागन्धी, तथा विजया के चरित्र इसी बात को पुष्ट करते हैं। उधर देवसेना, मालविका तथा श्रद्धा आदि उदात्त चरित्र अपनी संघर्षात्मक परिस्थिति में भी उदात्त गुणों से युक्त होकर जीवन में सामरस्य की आदर्श-स्थापना करते हैं। इसी सामंजस्य पूर्ण स्थिति की प्रतिष्ठा प्रसाद का आदर्श रहा है, जो आधुनिक समाज की संघर्षरत नारी के लिए स्वस्थ निर्देश है। कोरी बौद्धिकता से सत् भाव का विकास नहीं हो पाता, इसके लिए भावात्मक पृष्ठभूमि की महती आवश्यकता है। प्रसाद जी ने, मानव को इड़ा के पास छोड़ती हुई श्रद्धा के इन शब्दों में इसी समन्वय भाव को अभिव्यक्ति प्रदान की है—

'यह तर्कमयी तू श्रद्धामय
तू मनन शील कर कर्म अभय
इसका तू सब संताप निचय
हर ले, हो मानव भाग्य उदय।'

—कामायनी, पृष्ठ २४४।

संदर्भ ग्रन्थ

प्रसाद-साहित्य

काव्य—

कामायनी, आंसू, लहर, झरना, महाराणा का महत्व, प्रेम-पथिक, करुणालय, कानन-कुसुम ।

नाटक—

स्कन्दगुप्त, अजातशत्रु, चन्द्रगुप्त, ध्रुवस्वामिनी, विशाख, कामना, जनमेजय का नागयज्ञ, राज्यश्री, एक घूंट ।

उपन्यास—

कंकाल, तितली, इरावती ।

कहानी-संग्रह—

आकाशदीप, इंद्रजाल, प्रतिध्वनि, आंधी, छाया ।

विविध विषय—

काव्य और कला तथा अन्य निबंध, चित्राधार ।

अन्य साहित्यिक कृतियां

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

प्रिय प्रवास, अधखिला फूल, कल्पलता ।

अमृतराय

कस्बे का एक दिन, कठघरे, भोर से पहले ।

अमृता प्रीतम

पिंजर, डा० देव ।

अज्ञेय

शेखर : एक जीवनी (भाग १ व २), नदी के द्वीप, जय दोल ।

उपेंद्रनाथ 'अश्क'

अलग-अलग रास्ते, कैद और उड़ान, जय पराजय, पक्का गाना, काले साहब, पत्थर अल पत्थर, कहानी लेखिका और जेहलुम के सात पुल ।

किशोरीलाल गोस्वामी

आदर्श सती, राजकुमारी, स्वर्गीय कुसुम, सुख-सर्वरी, मालती माधव।

किशोर साहू

नागिनें और बुलबुलें।

गुरुभक्त सिंह

कुसुम कुञ्ज, नूरजहां, वनश्री।

जैनेंद्र कुमार

त्याग पत्र, सुनीता, परख, वातायन।

धर्मवीर भारती

गुनाहों का देवता, सूरज का सातवां घोड़ा।

नरेंद्र शर्मा

मिट्टी और फूल, प्रवासी के गीत, प्रभात फेरी।

नीरज

विभावरी, नीरज की पाती, दर्द दिया है, दो गीत।

प्रेम घन

प्रेम घन सर्वस्व (भाग १)।

प्रताप नारायण मिश्र

प्रताप नारायण मिश्र ग्रन्थावली (भाग १)।

प्रेमचंद

वरदान, प्रतिज्ञा, निर्मला, काया कल्प, कर्मभूमि, रंगभूमि, ग़बन, गोदान, मंगलसूत्र, सेवा सदन।

बलदेव प्रसाद मिश्र

शृंगार शतक।

बाबू छेदीलाल

अवलोन्नति पद्यमाला।

बाबा भगवानदीन

पंच रत्न।

बच्चन

सतरंगिनी, मिलन, यामिनी, धार के इधर-उधर।

बालकृष्ण भट्ट

माधवी-माधव, नल-दमयंती, सौ अजान एक सुजान, भट्ट निबंधावली (भाग १, २)।

भगवती प्रसाद वाजपेयी

निर्यातन, दो बहनें, उतार-चढ़ाव।

भगवतीचरण शर्मा

तीन वर्ष, आखिरी दांव, अपने खिलौने, इंस्टालमेंट, दो बांके, राख और चिंगारी।

भारत भूषण अग्रवाल

ओ अप्रस्तुत मन।

भारतेंदु हरिश्चंद्र

भारतेंदु ग्रंथावली (भाग १ व २)।

मैथिलीशरण गुप्त

भारत भारती, किसान, पंचवटी, जयद्रथ वध, द्वापर, साकेत, यशोधरा, वैदेही वनवास, सिद्धराज।

महादेवी वर्मा

अतीत के चलचित्र, पथ के साथी, शृंखला की कड़ियां, सांध्य गीत।

मार्कण्डेय

पान-फूल, हंसा जाई अकेला।

यशपाल

देशद्रोही, दादा कामरेड, मनुष्य के रूप, दिव्या, उत्तमी की मां, तुमने क्यों कहा था मैं सुन्दर हूं।

राजेंद्र यादव

खेल-खिलौने, उखड़े हुए लोग।

राम विलास शर्मा

रूप-तरंग।

रामधारी सिंह 'दिनकर'

रश्मि रथी।

रामानंद तिवारी

पार्वती।

रामकुमार वर्मा

रूप-राशि, रजत-रश्मि।

राधाकृष्ण दास

महारानी पद्मिनी, दुखिनी बाला, निस्सहाय हिंदू।

रामचरित उपाध्याय

राम चरित चिंतामणि।

रामनरेश त्रिपाठी

मिलन, पथिक, स्वप्न।

लक्ष्मीनारायण मिश्र

सिंदूर की होली, मुक्ति का रहस्य, वत्सराज।

लक्ष्मीनारायण लाल

बया का घोंसला और सांप ।

वृन्दावनलाल वर्मा

मृगनयनी ।

विनोद रस्तोगी

नया, हम और रोटी ।

सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला'

अनामिका, परिमल ।

सुमित्रानंदन पंत

पल्लव, ज्योत्स्ना, युग वाणी, ग्राम्या, पांच कहानियां ।

सोहनलाल द्विवेदी

हुंकार, चित्रा, वासंती, कुणाल ।

सियाराम शरण गुप्त

गोद ।

श्रीधर पाठक

भारतीय वीणा ।

हरिकृष्ण प्रेमी

रक्षाबंधन, छाया ।

अनूदित कृतियां

बर्नार्ड शा	मिसेज वारेन	अंग्रेजी से अनूदित
	स्टीफेन ज्वीग की कहानियां	" "
रवीन्द्र साहित्य, भाग १, २, ५, ६ और ८ ।		बंगला से अनूदित
मि० जोगुले	जमींदार की बेटी	मराठी से अनूदित
मामा वरेरकर	हक्क के गुलाम	" "
ना० सी० फड़के	घर नं० बारह	" "
वि० स० खांडेकर	तुलसी मंजरी	" "
	दो मन	" "
	प्रीति की खोज	" "
फकीर मोहन सेनापति	छः बीघा जमीन	उड़िया से अनूदित
तकषी शिव शंकर पिल्ले	मछुवारे	मलयालम से अनूदित
समरसेट माम	मैदान में खुदा	अंग्रेजी से अनूदित

प्रसाद सम्बन्धी समीक्षा ग्रंथ

नंद दुलारे वाजपेयी	जयशंकर प्रसाद
रामलाल सिंह	कामायनी अनुशीलन

गुलाबराय	प्रसाद जी की कला
इंद्रनाथ मदान	जयशंकर प्रसाद : चिंतन व कला
परमेश्वरीलाल गुप्त	प्रसाद के नाटक
जगन्नाथ प्रसाद शर्मा	प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन
विनय मोहन शर्मा	कवि प्रसाद—आंसू तथा अन्य कृतियां
प्रेमशंकर	प्रसाद का काव्य
फतेहसिंह	कामायनी सौंदर्य
रामरतन भटनागर	प्रसाद साहित्य और समीक्षा
रामनाथ सुमन	प्रसाद की काव्य साधना
विनोद शंकर व्यास	प्रसाद और उनका साहित्य
खण्डेलवाल : स्नातक	महाकवि प्रसाद
सुधाकर पाण्डेय	कामायनी समीक्षा; प्रसाद की कविताएं
महावीर अधिकारी	जयशंकर प्रसाद, जीवनी कला और कृतित्व
जगदीश नारायण दीक्षित	प्रसाद के नाटकीय पात्र
द्वारिका प्रसाद	कामायनी में काव्य, संस्कृति और दर्शन
शम्भुनाथ पाण्डेय	ध्रुवस्वामिनी और प्रसाद
	प्रसाद जी की नाट्य कला और अजातशत्रु
सुशीला कुमारी, विमला कुमारी	प्रसाद के उपन्यास और कहानियां
प्रसाद परिषद द्वारा संकलित	प्रसाद का साहित्य

अन्य समीक्षा ग्रंथ

शैल कुमारी	आधुनिक हिंदी साहित्य में नारी भावना
लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय	आधुनिक हिंदी साहित्य
सुधींद्र	हिंदी कविता में युगांतर
रामचंद्र शुक्ल	हिंदी साहित्य का इतिहास
रामरतन भटनागर	भारतेंदु हरिश्चंद्र
किशोरीलाल गुप्त	भारतेंदु तथा अन्य सहयोगी कवि
राजेंद्र प्रसाद शर्मा	हिंदी गद्य के निर्माता—बालकृष्ण भट्ट
गंगा बख्श सिंह	द्विवेदी युगीन निबंध साहित्य
उदय भानु सिंह	महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग
श्री कृष्ण लाल	आधुनिक हिंदी साहित्य का विकास
नगेंद्र	आधुनिक हिंदी कविता की प्रमुख प्रवृत्तियां

डा० देवराज	आधुनिक हिंदी कथा साहित्य में मनोविज्ञान
राम स्वरूप चतुर्वेदी	शरत् के नारी पात्र
भोलाशंकर व्यास	संस्कृति कवि दर्शन
महेंद्र भटनागर	समस्या मूलक उपन्यासकार प्रेमचंद
कैंडलर	एस्पेक्ट्स आफ माडर्न ड्रामा
आर. ए. स्काट	फिफ्टी ईयर्स आफ इंग्लिश लिटरेचर
डब्ल्यू. एच. हडसन	कीट्स एण्ड हिज पोयट्री
जान एम. पुरी	कीट्स एण्ड शेक्सपियर
ला सिमफोनीपेस्टोरेल	आंद्रे गिड

समाज शास्त्र

ए. एस. अल्तेकर	द पोजिशन आफ वीमन इन हिंदू सिवली-जेशन
नीरा देसाई	वीमन इन माडर्न इण्डिया
सी. वाई. चिंतामणि	इण्डियन सोशल रिफार्म
मार्गरेट ई. कजिन्स	इण्डियन वीमन हुड टु डे
चंद्रकला हाते	हिंदू वीमन एण्ड हर फ्यूचर
एच. सी. ई. जकारिया	रिनेसेंट इण्डिया
एनी बीसेंट	वेक अप इण्डिया
	विल्डर आफ न्यू इण्डिया
	फार इण्डियाज अप-लिफ्ट
मोहनदास करमचंद गांधी	वीमन
थामस	वीमन एण्ड मेरिज इन इण्डिया
इक़बाल सिंह, राजाराव	व्हीदर इण्डिया
क्लेवरडन	द वीमन सफरेज मूवमेंट इन कनाडा
जैनसन	द रिवोल्ट आफ अमेरिकन वीमन
अर्नेस्ट ग्रोव्ज	द अमेरिकन वीमन
लण्डबरी तथा फोर्नहम्	माडार्न वीमन—द लास्ट सैक्स
जान फ़िट्ज़सीमन्स	वीमन टु डे
सर ए. अब्राहम	वीमन—मैन्स इक्वल
हैरी वेस्ट	द सोवियट स्टेट एण्ड इट्स इन्सपैक्शन
ह्यूगो पी. थीम	वीमन आफ माडर्न फ्रांस
	द वीमन इन पोलैंड

	वीमन इन नाजी जर्मनी
	वीमन इन सोवियट रशिया
वाई. एम. रेगे	व्हीदर वीमन
ए. आर. देसाई	सोशल बैक ग्राउण्ड आफ इण्डियन नेशनलिज्म
विवेकानंद	भारतीय नारी
धर्मदेव शास्त्री	हिमाचल प्रदेश की आदिम जातियां
संकलित	वीमन आफ इण्डिया
संकलित	वसंतलाल मुरारका स्मृति ग्रंथ

इतिहास

स्मिथ, मूजी तथा लायड	वल्ड हिस्ट्री
स्मिथ	द आक्सफोर्ड हिस्ट्री आफ इण्डिया
ए. बी. कीथ	द कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया
बेनी प्रसाद	हिंदुस्तान की पुरानी सभ्यता
जवाहरलाल नेहरू	ग्लिम्प्सस आफ वर्ल्ड हिस्ट्री
पनिक्कर	ए. सर्वे आफ इण्डियन हिस्ट्री
रति भानुसिंह नाहर	प्राचीन भारत का राजनीतिक व सांस्कृतिक इतिहास

राजनीति

ए. एम. बुच	राइज एण्ड ग्रोथ आफ लिबरइज्म
बी. पी. सीतारमैया	हिस्ट्री आफ द इण्डियन नेशनल कांग्रेस (भाग १ व ४)
लाला लाजपतराय	यंग इण्डिया
सी. वाई. चिंतामणि	इण्डियन पालिटिक्स द म्यूटिनी

संस्कृति, दर्शन, मनोविज्ञान, अर्थशास्त्र

'दिनकर' रामधारी सिंह	संस्कृति के चार अध्याय
देवराज	संस्कृति का दार्शनिक विवेचन
बेलवेंकर तथा रानाडे	हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी
बल्देव उपाध्याय	भारतीय दर्शन
यदुवंशी	शैव मत
दीवानचन्द	पश्चिमी दर्शन

स्टाउट — मैनुअल आफ साइकलोजी
सिन्हा — मनोविज्ञान
जाथर एण्ड बेरी — इण्डियन इकानोमिक्स
शाम शास्त्री — कौटिल्य का अर्थशास्त्र
देवदत्त शास्त्री — कौटिलीय अर्थशास्त्र

जीवनी तथा विविध

मोहिनी मोहन गोस्वामी — विवेकानंद चरित्र
हरिश्चंद्र विद्यालंकार — महर्षि दयानंद सरस्वती
चित्राव शास्त्री — चरित्र कोष (मराठी में)
एच. कुंजरू — जी. के. देवधर
कालिदास — अभिज्ञान शाकुन्तलम्
दिलीप कुमार राय — एमांग द ग्रेट
द एनसाइक्लोपीडिया अमेरिका

पत्र-पत्रिकाएं आदि

आलोचना अंक २५ व २६
कल्याण (नारी विशेषांक)]
वनस्थली विद्यापीठ विवरण पत्रिका
मरुधर बालिका विद्यापीठ का संक्षिप्त संविधान
मरुधर महिला शिक्षण-संघ का संविधान।
सरस्वती (१९०६—१९५८)
चांद (१९२५—१९४२)
विशाल भारत (१९३०—१९५१)
माधुरी (१९२३—१९४७)
साहित्य संदेश (१९५०—१९५९)

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२०	११	समस्या	सदस्या
२१	२०	वेयक्तिक	वैयक्तिक
२१	२०	जागरुकता	जागरूकता
२१	३२	प्रतिगा	प्रतिभा
२६	१	कालीन	पूर्व कालीन
३२	१४	थी	है
३२	१७	ग्रोर	ग्रोर
३३	२८	ग्रन्तविरोघ	ग्रन्तर्विरोध
७३	२	वेधानिक	वैधानिक
८८	६	गिरिदिहहश	गिरिदिह
८८	१०	संख्या	संस्था
८६	२५	निर्माण के	निर्माण में
६०	१	मालावारी	मालाबारी
६०	१	विववाह	विवाह
६७	१	की	को
६७	३०	निपेद	निषेध
६७	३०	विशेद	विशेष
६७	३०	परिस्थितियों	परिस्थितियों
६७	३३	ग्रावश्यकना	ग्रावश्यकता
६८	२५	संक्रातम	संक्रामक
६६	१०	वेध	वैध
१०१	२	नामक	नायक
१०१	१४	सिफारिस	सिफारिश
१०१	२१	उच्छंरखलता	उच्छृंखलता
११३	६	शैणिक	शैक्षणिक
११३	१४	वेशिष्ठ्य	वैशिष्ठ्य
११६	६	जागरुक	'जागरूक
११७	१६	घ्यान	ध्यान
११६	३	पारीवारिक	पारिवारिक
११६	२७	निरुमण	निरूपण
१२६	१	संस्थाग्रों	संस्थाएँ
१३८	१४	स्वीकृति	स्वीकार
१३६	१०	प्रवेश कर	प्रवेश कर बता
१४५	४	धुमिल	धूमिल
१४६	४	का	—
१४७	७	की	के
१४७	१५	वरी	घरी
१४६	१६	भयो	गयो
१४६	२१	ग्रोचक	ग्रौचक

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१४६	२४	लौकिकता	लौकिकता
१४६	२५	है	हैं
१५०	३	चपे	चपें
१५०	५	प्रेमघन	प्रेमघन
१५०	१३	वैष्णव	वैष्णव
१५०	१४	निरूपण	निरूपण
१५१	११	को	की
१५१	१३	प्रेमघन	प्रेमघन
१५३	१	'विषमोपयम्'	'विषमोपयम्'
१५३	४	चलाओ	चलायी
१५३	३२	को	की
१५४	१६	उच्छृ खल	उच्छृंखल
१५४	२२	पैशाविक	पैशाचिक
१५६	१	गर्भ पात	गर्भपात
१५६	३	पुनर्विवाह	पुनर्विवाह
१५६	२१	फलया	फैलाय
१५७	११	'वर्षा विन्दु'	'वर्षा विन्दु' के
१५७	१७	प्रेमघन	प्रेमघन
१५८	२०	सम्भत	सम्भव
१६०	७	विवाद	विवाह
१६१	४	इते	इतै
१६१	१२	अवक विज्ञ	सुविज्ञ
१६१	१५	धर्म से	धर्म से पूर्ण
१६१	१६	सहधर्मिणी	सहधर्मिणी
१६३	२७	लेखों	लेखकों
१६४	२५	और आकर्षित	अपनी और आकर्षित
१६६	१०	विलास	विकास
१६७	५	प्रतिवादन	प्रतिपादन
१६८	३३	साहित्यकान	साहित्यकार
१६९	१५	जागरूकता	जागरूकता
१७०	७	पुरावस्था	दुरावस्था
१७१	१३	ढोल	ढोर
१७१	२४	मैथिली	मैथिली
१७१	२६	हमने	प्रति हमने
१७१	३१	क	की
१७४	११	सोरा	द्वारा
१७५	१८	विधवा	विधवा
१७६	१०	व्यंग	व्यंग्य
१७६	२२	वहि	वह्नि

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१७६	२२	आई	घ ई
१७६	२३	चर	घर
१७७	२	पर	वर
१७७	२	जहाँ	यहाँ
१७७	५	ठहराया	ठहराता
१७७	७	मैं	मैंने
१७७	२८	तरसे	तरसैं
१७७	२९	घर	वर
१७८	१४	हूंदा	हूंदी
१८२	१	ठहरोनी	ठहरौनी
१८२	३१	देन्य	दैन्य
१८३	४	परो है	परोहे
१८४	६	गुणमुता	गुणयुता
१८४	६	सम्पादिता	सम्मादिता
१८४	८	सद्भावातरिता	सद्भावातिरता
१८४	९	स्त्रीजाति	स्त्रीजाति
१८४	९	रत्नोप्रभा	रत्नोपमा
१८५	३	चरनत	चरनन
१८५	७	सधन	संघन
१८६	२७	है	हे
१८६	२२	को	की
१८७	१२	इतिहास	इतिहास हमें
१९१	२०	की	का
१९२	२६	चला	चली
१९२	३०	और	ओर
१९३	१०	नैतिक	नीति
१९४	९	अर्जना	अर्चना
१९५	१६	रून	रूप
१९६	२४	वारीं	वारो
१९८	९	अभिल्न	अभिन्न
१९८	११	आहे	चाहे
१९८	१५	सुभना	सुमना
१९८	२०	ओरों	औरों
१९९	२१	विशेध	विशेष
२००	६	वहिव	वहिन
२००	६	क्ला	क्या
२०१	३०	जिनकी मान्वता	जिनकी मान्यता
२०१	१	भरा	मरा
२०२	९	मलभ सघुर	सुलभ मधुर

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२०२	२५	वाल	वाले
२०३	४	पिशाचों	पिशाचों के
२०३	१४	जाती है	जाता है
२०५	३	मामास्विनी	मायास्विनी
२०८	२७	शुग्र	शुभ्र
२०८	७	आह्वान	आह्वान
२०८	१०	मैं	में
२०८	११	तर	तट
२०८	१७-१८	अभिपापों	अभिशापों
२०८	२२	अज्ञेय	अज्ञेय
२०९	११	घोरे	घोरे
२०९	१२	का	पर
२०९	१६	मधुमय	मधुमय
२०९	१२	मधुरता	मधुरता
२१२	६	वह	तब
२१६	२४	है	हैं
२२०	१	व्यंग	व्यंग्य
२२४	१२	ज्योति	ज्योतित
२२४	२४	प्ररित	प्रेरित
२२५	२१	जो	—
२२६	१७	जागरुकता	जागरूकता
२२९	१३	क्रूर	क्रूर
२२९	१८	क्रर	क्रूर
२३०	८	योरपीय	योरुपीय
२३०	२७	योरप	योरुप
२३१	२	भी हो जाती है	का स्वरूप भी माना
२३२	१	खोज	खोज
२३२	२२	निस्सहय	निस्सहाय
२३२	२३	भोग्य और	भोग्या और
२३४	१	मांत	मौन
२३५	१७	मैग्रीन	गैग्रीन
२३६	८	चोहिए	चाहिए
२३६	११	सेक्स	सैक्स
२३७	२९	नदियाँ	नदियाँ
२४०	२३	जागरुकता	जागरूकता
२४२	१०	ध्यान	ध्यान
२४८	१८	तिमिर	तिमिर